संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० १०

श्रीमत्सोमदेवसूरिविरचितम्

नीतिवाक्यामृतम्

अनुवादक

पण्डित सुन्दरलाल शास्त्री

जैनन्याय-प्राचीनन्याय-काव्यतीर्थ

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

नीतिवाक्यामृतम्

कृतिकार : आचार्य सोमदेवसूरि

अनुवादक : पं॰ सुन्दरलाल शास्त्री

संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत्

आवृत्ति : २५४३) ११००

वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म॰ प्र॰) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म॰ प्र॰) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को श्रृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी० लिट्०, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते। यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वासें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

आचार्य सोमदेवसूरि द्वारा रचित यशस्तिलकचम्पू महाकाव्यों की परम्परा में अद्वितीय स्थान रखता है। उन्हीं के द्वारा रचित यह नीतिवाक्यामृतम् ग्रन्थ है, जिसमें देश, काल की लौकिक, राजनैतिक, धार्मिक नीतियों का अच्छा समायोजन है। यह नीति का अद्भुत ग्रन्थ है। इसका पूर्व प्रकाशन आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर से हुआ था। इसके अनुवादक सागर निवासी पं० सुन्दरलालजी जैन हैं। इस ग्रन्थ की उपयोगिता को देखते हुए संयम स्वर्ण महोत्सव पर प्रकाशित किया जा रहा है। एतदर्थ पूर्व प्रकाशक संस्था, अनुवादक एवं पुनः प्रकाशन में सहयोगी सुधी जनों का आभार व्यक्त करते हैं।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

सोमदेवसूरि और उनका नीतिवाक्यामृत

आचार्य सोमदेव महान् तार्किक, सरस साहित्यकार, कुशल राजनीतिज्ञ, प्रबुद्ध तत्त्वचिन्तक और उच्चकोटि के धर्माचार्य थे। उनके लिए प्रयुक्त होने वाले स्याद्वादाचलसिंह, तार्किक चक्रवर्ती, वादीभपञ्चानन, वाक्कल्लोलपयोनिधि, कविकुलराजकुंजर, अनवद्यगद्य-पद्यविद्याधरचक्रवर्ती आदि विशेषण उनकी उत्कृष्ट प्रज्ञा और प्रभावकारी व्यक्तित्व के परिचायक हैं। नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति में उक्त सभी उपाधियाँ प्राप्त होती हैं।[१]

ये नेमिदेव के शिष्य, यशोदेव के प्रशिष्य और महेन्द्रदेव के अनुज थे।

यशोदेव को देवसंघ का तिलक कहा गया है।[२] पर वद्दिग के दानपत्र में गौड संघ का। नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलक की प्रशस्तियों के अनुसार नेमिदेव अनेक महावादियों के विजेता थे। महेन्द्रदेव को भी दिग्विजयी कहा जाता है। सोमदेव भी गुरु और अनुज के समान तार्किक होने के साथ सहृदय कवि भी थे। यशस्तिलक के प्रारम्भ में लिखा है–

आजन्मसमभ्यस्ताच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्याः।
मतिसुरभेरभवदिदं सूक्तिपयः सुकृतीनां पुण्यैः॥[३]

मेरी बुद्धिरूपी गौ ने जीवनभर तर्करूपी घास खायी, पर अब उसी गौ से सज्जनों के पुण्य के कारण यह काव्यरूपी दूध उत्पन्न हो रहा है। पाण्डित्य के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है–

---

१. ''इति सकलतार्किकचक्रचूडामणिचुम्बितचरणस्य रमणीयपञ्चपञ्चाशन्महावादिविजयोपार्जितकीर्तिमन्नाकिनी-पविचित्रत्रिभुवनस्य परतपश्चरणरत्नोदन्वतः श्रीनेमिदेवभगवतः प्रियशिष्येण वादीन्द्रकालानलश्रीमन्महेन्द्रदेव-भट्टारकानुजेन स्याद्वादाचलसिंहतार्किकचक्रवादीभपंचाननवाक्कल्लोलपयोनिधिकविकुलराजकुञ्जरप्रभृति-प्रशस्तिप्रस्तावालङ्करेण षण्णवतिप्रकरण-युक्तिचिन्तामणि-त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प-यशोधरमहाराजचरित-महाशास्त्रवेधसा श्रीमत्सोमदेवसूरिणा विरचितं नीतिवाक्यामृतं नाम राजनीतिशास्त्रं समाप्तम्।''
–नीतिवाक्यामृतम् गोपालनारायण कम्पनी, बुकसेलर्स, सन् १८९१, अन्तिम प्रशस्ति।

२. श्रीमानस्ति स देवसंघतिलको देवो यशःपूर्वकः।
शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधिः श्रीनेमिदेवाह्वयः॥
तस्याश्चर्यतपः स्थितेस्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिनाम्।
शिष्योऽभूदिह सोमदेव इति यस्तस्यैष काव्यक्रमः॥ –यशस्तिलक, खण्ड २, पृ. ४१८

३. वही, १/१७

लोको युक्तिः कलाश्छन्दोऽलङ्काराः समयागमाः।
सर्वसाधारणाः सद्भिस्तीर्थमार्गा इव स्मृताः[१]॥

व्याकरण, प्रमाण, कला, छन्द, अलङ्कार और समयागम–दर्शनशास्त्र तीर्थमार्ग के समान सर्वसाधारण हैं।

सोमदेव के संरक्षक अरिकेशरी नामक चालुक्य राजा के पुत्र वाद्यराज या वद्दिग नामक राजकुमार थे। यह वंश राष्ट्रकूटों के अधीन सामन्त पदवीधारी था। यशस्तिलक का प्रणयन गंगधारा नामक स्थान में रहते हुए किया गया है। धारवाड़, कर्नाटक, महाराष्ट्र और वर्तमान हैदराबाद प्रदेश पर राष्ट्रकूटों का साम्राज्य व्याप्त था। राष्ट्रकूट नरेश आठवीं शती से दशवीं शती तक महाप्रतापी और समृद्ध रहे हैं। इनका प्रभुत्व केवल भारतवर्ष में ही नहीं था, अपितु पश्चिम के अरब राज्यों में भी व्याप्त था। अरबों से उनका मैत्रीव्यवहार था तथा अरब अपने यहाँ उन को व्यापार सुविधाएं दिये हुए थे। इस वंश के राजाओं का विरुद वल्लभराज था। इसका रूप अरबलेखकों में बल्लहरा पाया जाता है।

सोमदेव ने अपने साहित्य में राष्ट्रकूट के साम्राज्यके तत्कालीन अभ्युदय का परिचय प्रस्तुत किया है। वस्तुतः राष्ट्रकूटों के राज्यकाल में साहित्य, कला, दर्शन एवं धर्म की बहुमुखी उन्नति हुई है। कवि का यशस्तिलकचम्पू मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के इतिहास का अपूर्व स्रोत है।

सोमदेवसूरि और कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार

नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलकचम्पू से अवगत होता है कि सोमदेव का सम्बन्ध कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रदेव से रहा है। नीतिवाक्यामृत की संस्कृत टीका से भी ज्ञात होता है कि कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रदेव के आग्रह से इस ग्रन्थ की रचना सम्पन्न हुई थी।[२]

ज्ञात होता है कि सोमदेव का महेन्द्रदेव के साथ सम्बन्ध रहा है। यशस्तिलक के मंगलपद्य में श्लेष द्वारा कन्नौज और महेन्द्रदेव का उल्लेख आया है। यशस्तिलक के ही निम्नलिखित पद्य से भी सोमदेव और महेन्द्रदेव के सम्बन्ध की अभिव्यञ्जना होती है–

सोऽयमाशार्पितयशर महेन्द्रामरमान्यधीः।
देयात्ते सततानन्दं वस्त्वभीष्टं जिनाधिपः[३]॥

---

१. यशस्तिलक १/२०

२. ''अत्र तावदखिलभूपालमौलिलालितचरणयुगलेन रघुवंशावस्थायि पराक्रमपालितकस्य कर्णकुब्जेन महाराज-श्रीमन्महेन्द्रदेवेन पूर्वाचार्यकृतार्थशास्त्रदुःखबोधग्रन्थगौरवखिन्नमानसेन सबोधललितलघुनीतिवाक्यामृत-रचनासु प्रवर्तितः।''–नीतिवाक्यामृत, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, पृ० २, संस्कृतटीका।

३. यशस्तिलक, १/२२०

अब विचारणीय है कि सोमदेव का सम्बन्ध किस महेन्द्रदेव के साथ घटित होता है। कन्नौज के इतिहास में महेन्द्रदेव या महेन्द्रपाल नाम के दो राजा हुए हैं। महेन्द्रपालदेव प्रथम का समय ई. सन् ८८५ से ई. सन् ९०७ तक माना जाता है। यह महाराज भोज (ई. सन् ८३६-८८५) के पश्चात् राजगद्दी पर आसीन हुआ था। महाकवि राजशेखर को बालकवि के रूप में इसका संरक्षण प्राप्त था[१]। राजशेखर त्रिपुरी के युवराज द्वितीय के समय (ई. सन् ९९०) लगभग ९० वर्ष की अवस्था में विद्यमान थे। सोमदेव ने अपने यशस्तिलक में महाकवियों के उल्लेख के प्रसंग में राजशेखर को अन्तिम महाकवि के रूप में निर्दिष्ट किया है।[२] यशस्तिलक को सोमदेव ने ९५९ ई. में समाप्त किया है। यदि राजशेखर को सोमदेव से ८-१० वर्ष भी बड़ा माना जाय, तो राजशेखर को सोमदेव द्वारा महाकवि कहा जाना ठीक प्रतीत होता है। इस प्रकार सोमदेव का आविर्भाव ई. सन् ९०८ के आसपास होना चाहिए, क्योंकि महेन्द्रपाल प्रथम की समसामयिकता तथा नीतिवाक्यामृत के रचे जाने का आग्रह घटित नहीं होता है। इस कारण महेन्द्रपालदेव प्रथम के साथ सोमदेव का सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

महेन्द्रपाल देव द्वितीय का समय ई. सन् ९४५-४६ माना गया[३] है। सोमदेव इस समय सम्भवतः ३५-३६ वर्ष के रहे होंगे। अतएव महेन्द्रपालदेव द्वितीय और सोमदेव के पारस्परिक सम्बन्ध में काल-सम्बन्धी कठिनाई नहीं है।

स्थिति-काल

सोमदेव का समय सुनिश्चित है। इन्होंने यशस्तिलक में उसका रचना-समय शकसंवत् ८८१ (ई. सन् ९५९) दिया है। लिखा है-

''चैत्रशुक्ला त्रयोदशी शक संवत् ८८१ (ई. सन् ९५९) को, जिस समय कृष्णराजदेव पांड्य, सिंहल, चोल, चेर आदि राजाओं को जीतकर मेलपाटी नामक स्थान के सेना-शिविर में थे, उस समय उनके चरणकमलोपजीवी सामन्त वद्दिगकी, जो चालुक्यवंशीय अरिकेशरी के प्रथम पुत्र थे, राजधानी गंगधारा में यह काव्य समाप्त हुआ।[४]

अतः सोमदेव ईस्वी सन् ९५९, अर्थात् दशम शती के विद्वानाचार्य हैं।

रचनाएँ

इनकी तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं-१. नीतिवाक्यामृत, २. यशस्तिलकचम्पू और [४]अध्यात्मतरंगिणी। इनके अतिरिक्त युक्तिचिन्तामणिस्तव, त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प, षण्णवतिप्रकरण और स्याद्वादोपनिषद्

१. The Age of Imperial Kanauj, p.33
२. यशस्तिलक, उत्तरार्द्ध, पृ० ११३
३. The Age of Imperial Kanauj p.37
४. यशस्तिलक, उत्तरा., पृ० ४१८

की भी सूचना मिलती है। वद्दिग के दानपत्र से सोमदेव के एक सुभाषित का भी संकेत मिलता है।

नीतिवाक्यामृत

नीतिवाक्यामृत राजनीति का कौटिल्य के अर्थशास्त्र की तरह उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें राजा, मंत्री, कोषाध्यक्ष और शासन-संचालन के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। नीतिवाक्यामृत मूलरूप में बम्बई से सन् १८९१ में प्रकाशित हुआ था। सन् १९२२ में माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से संस्कृतटीका सहित प्रकाशित हुआ। सन् १९५० में पण्डित सुन्दरलाल शास्त्री ने हिन्दी अनुवाद के साथ इसका प्रकाशन किया। नीतिवाक्यामृत पर दो टीकाएँ हैं। एक प्राचीन संस्कृत टीका है, जिसके लेखक का नाम और समय ज्ञात नहीं है। पर मंगलाचरण के श्लोक से इनका नाम हरिबल ज्ञात होता है–

हरिं हरिबलं नत्वा हरिवर्ण हरिप्रभम्।
हरीज्यं च ब्रुवे टीकां नीतिवाक्यामृतोपरि[१]॥

इससे ऐसा ज्ञात होता है कि जिस प्रकार मूल ग्रन्थ रचयिता ने अपना नाम मंगलपद्य में समाहित कर दिया है, उसी प्रकार हरिबल ने हरि अर्थात् विष्णु को नमस्कार करते हुए अपने नाम को समाहित कर दिया है।

इस ग्रन्थ में ३२ समुद्देश्य हैं। जिनके नाम क्रमशः (१) धर्मसमुद्देश्य, (२) अर्थसमुद्देश्य, (३) कामसमुद्देश्य, (४) अरिषड्वर्ग, (५) विद्यावृद्ध, (६) आन्वीक्षिकी, (७) त्रयी, (८) वार्ता, (९) दण्डनीति, (१०) मंत्री, (११) पुरोहित, (१२) सेनापति, (१३) दूत, (१४) चार, (१५) विचार, (१६) व्यसन, (१७) स्वामि, (१८) अमात्य, (१९) जनपद, (२०) दुर्ग, (२१) कोश, (२२) बल, (२३) मित्र, (२४) राजरक्षा, (२५) दिवसानुष्ठान, (२६) सदाचार, (२७) व्यवहार, (२८) विवाद, (२९) षाड्गुण्य, (३०) युद्ध, (३१) विवाह और (३२) प्रकरण हैं।

धर्मसमुद्देश्य में धर्म का लक्षण बतलाते हुए लिखा है कि–

''यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः''

अर्थात् जिसके साधन से स्वर्ग व मोक्ष की सिद्धि हो वह धर्म है। धर्माधिगमोपाय में शक्ति के अनुसार त्याग, तप को स्थान दिया है। समस्त प्राणियों के प्रति समताभाव के आचरण को परमाचरण बताया है। जो व्यक्ति सभी प्रकार के भेदभाव और पक्षपातों का त्याग कर प्राणिमात्र के प्रति समताभाव का आचरण करता है, संसार में उसका कोई भी शत्रु नहीं रहता, सभी मित्र बन जाते हैं। समताभाव के आचरण से ही राग-द्वेष का अभाव होता है और व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास

१. नीतिवाक्यामृतम् माणिकचन्द्र दिगम्बर जैनग्रन्थमाला, मंगलपद्य।

होता है। अतएव अहिंसाव्रत के आचरण के लिये समताभाव का निर्वाह करना परमावश्यक है। दान देना, शक्ति अनुसार त्याग करना भी धर्माचरण के अन्तर्गत है। ग्रन्थकार ने पात्र तीन प्रकार के बतलाये हैं– १. धर्मपात्र, २. कार्यपात्र और ३. कामपात्र। इन तीनों प्रकार के पात्रों की आर्थिक सहायता करना धर्म के अन्तर्गत है। ग्रन्थकार ने लौकिक जीवन को समृद्ध बनाने के लिये त्याग, तप और समता के आचरण पर विशेष बल दिया है। तप की परिभाषा बताते हुए लिखा है कि इन्द्रिय और मन का नियमानुकूल प्रवर्तन करना तप है, केवल काषाय वस्त्र धारण कर वन में विचरण करना तप नहीं है। यथा–

इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं तपः।

× × ×

विहिताचरणं निषिद्धपरिवर्जनं च नियमः[1]॥

धर्म का स्वरूप और धर्माचरण का महत्त्व सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से प्रतिपादित किया गया है। इसके बाद अर्थपुरुषार्थ का विस्तार से विचार किया है। सोमदेव ने धर्म, अर्थ और काम को समान महत्त्व दिया है। इनका अभिमत है–

धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत ततः सुखी स्यात्।

× × ×

समं वा त्रिवर्गं सेवेत[2]।

जो त्रिवर्ग में से किसी एक को महत्त्व देता है, उसका अहित होता है, सोमदेव ने अर्थ की व्याख्या करते हुए लिखा है–**यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः[3]।**

अर्थात् जिससे सभी कार्यों की सिद्धि होती है, वह अर्थ है। समीक्षा करने से ज्ञात होता है कि सोमदेव की उक्त परिभाषा बहुत ही समीचीन है। यतः द्रव्य (Money) के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से समस्त इच्छाएँ तृप्त नहीं हो सकतीं। जिस एक वस्तु के विनिमय द्वारा आवश्यकतानुसार अन्य वस्तुएँ प्राप्त हो सकें, वही एक वस्तु सब प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन कही जा सकती है। अतः सोमदेव के परिभाषानुसार विनिमय कार्य में प्रयुक्त होने वाली वस्तु ही अर्थ (wealth) है। सोमदेव ने इस ग्रन्थ में अर्थ की महत्ता स्वीकार करते हुए अन्याय और अनर्थ का निषेध किया है। अर्थार्जन, अर्थसंरक्षण और अर्थवृद्धि के कारणों का भी उल्लेख किया गया है। देश और काल के अनुसार अर्थसम्बन्धी विभिन्न व्यवस्थाएँ भी प्रतिपादित हैं। कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को वार्ता कहा है और इस वार्ता की समृद्धि ही राज्य की समृद्धि बतलायी है। राजा को

१. नीतिवाक्यामृत, सूत्र सं० २०, २१
२. वही, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, कामसमुद्देश्य, सूत्रसं० २, ३
३. नीतिवाक्यामृत, अर्थसमुद्देश्य, सूत्रसं० १।

कृषि और वाणिज्य की वृद्धि में किस प्रकार सहयोग देना चाहिए आदि बातों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

जहाँ आर्थिक नीति राष्ट्र की समृद्धि, खुशहाली के लिए आवश्यक है वहाँ राजनीतिक जागरूकता उसकी रक्षा का सबल साधन है। सोमदेव ने इन्हीं दोनों पर इसमें गहरा और विस्तृत विचार किया है। अतः इस ग्रन्थ में वर्णित विचारों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं-(१) आर्थिक विचार और (२) राजनीतिक विचार। राजनीति के अनुसार शासन की बागडोर ऐसे व्यक्ति के हाथ में होती है, जो वंश परम्परा से राज्य का सर्वोच्च अधिकारी चला आ रहा हो। राजा राज्य को स्थायी समझकर सब प्रकार से अपनी प्रजा का विकास करता है। राजा की योग्यता और गुणों का वर्णन करते हुए बताया गया है– ''जो मित्र और शत्रु के साथ शासनकार्य में समान व्यवहार करता है, जिसके हृदय में पक्षपात का भाव नहीं रहता और जो निग्रह–दण्ड, अनुग्रह–पुरस्कार में समानता का व्यवहार करता है, वह राजा होता है। राजा का धर्म दुष्ट, दुराचारी, चोर, लुटेरे आदि को दण्ड देना एवं साधु–सत्पुरुषों का यथोचित रूप से पालन करना है। सिर मुड़ाना, जटा धारण करना, व्रतोपवास करना राजा का धर्म नहीं है। वर्ण, आश्रम, धान्य, सुवर्ण, चाँदी, पशु आदि से परिपूर्ण पृथ्वी का पालन करना राजा का राज्यकर्म[१] है। राजा की योग्यता के सम्बन्ध में सोमदेवसूरि ने लिखा है कि राजा को शस्त्र और शास्त्र का पूर्ण पण्डित होना आवश्यक है। यदि राजा शास्त्रज्ञान रहित हो, और शस्त्रविद्या में प्रवीण हो, तो भी वह कभी–न–कभी धोखा खाता है और अपने राज्य से हाथ धो बैठता है। जो शस्त्रविद्या नहीं जानता वह भी दुष्टों द्वारा पराजित किया जाता है। अतएव पुरुषार्थी होने के साथ–साथ राजा को शस्त्र–शास्त्र का पारगामी होना अनिवार्य है। मूर्ख राजा से राजाहीन पृथ्वी का होना श्रेष्ठ है, क्योंकि मूर्ख राजा के राज्य में सदा उपद्रव होते रहते हैं। प्रजा को नाना प्रकार के कष्ट होते हैं, अज्ञानी नृप पशुवत् होने के कारण अन्धाधुन्ध आचरण करते हैं, जिससे राज्य में अशान्ति रहती है।

राज्यप्राप्ति का विवेचन करते हुए बताया है कि कहीं तो यह राज्य वंश परम्परा से प्राप्त होता है और कहीं पर अपने पराक्रम से राजा कोई विशेष व्यक्ति बन जाता है। अतः राजा का मूल क्रम–वंश परम्परा और विक्रम–पुरुषार्थ शौर्य हैं[२]। राज्य के निर्वाह के लिये क्रम, विक्रम दोनों का होना अनिवार्य है। इन दोनों में से किसी एक के अभाव से राज्य–संचालन नहीं हो सकता है। राजा को

---

१. राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः।

× × ×

न पुनः शिरोमुण्डनं जटाधारणादिकं॥ –नीतिवाक्यामृतम् माणिकचन्द ग्रन्थमाला, वर्णाश्रमवती धान्यहिरण्य–पशुकुप्यकृषिप्रदानफला च पृथ्वी, विद्यावृद्धसमुद्देश्य, सूत्र २, ३, ५

२. वही, सूत्र २६

३. वही, अरिषड्वर्ग, सूत्र १

काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष इन छह अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना आवश्यक[३] है क्योंकि इन विकारों के कारण नृपति कार्य-अकार्य के विचारों से रहित हो जाता है, जिससे शत्रुओं को राज्य हड़पने के लिए अवसर मिल जाता है। राजा के विलासी होने से शासन-प्रबन्ध भी यथार्थ नहीं चलता है, जिससे प्रजा में भी गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है और राज्य थोड़े दिनों में ही समाप्त हो जाता है। शासक की दिनचर्या का निरूपण करते हुए बताया है कि उसे प्रतिदिन राजकार्य के समस्त विभागों, न्याय, शासन, आय-व्यय, आर्थिक दशा, सेना, अन्तर्राष्ट्रीय तथा सार्वजनिक निरीक्षण, अध्ययन, संगीत, नृत्य अवलोकन और राज्य की उन्नति के प्रयत्नों की ओर ध्यान देना चाहिए।

सोमदेवसूरि ने राजा की सहायता के लिए मन्त्री तथा अमात्य नियुक्त किये जाने पर जोर दिया है। मन्त्री, पुरोहित, सेनापति आदि कर्मचारियों को नियुक्त करने वाला नृप आहार्यबुद्धि-राज्य-संचालनप्रतिभा सम्पन्न होता है। जो राजा मन्त्री या अमात्यवर्ग की नियुक्ति नहीं करता उसका सर्वस्व नष्ट हो जाता है। राज्य का संचालन मन्त्रीवर्ग की सहायता और सम्मति से ही यथार्थ हो सकता है। जो शासक ऐसा नहीं करता वह अपने राज्य की अभिवृद्धि एवं संरक्षण सम्यक् रूप से नहीं कर सकता। मन्त्रियों के गुणों का वर्णन करते हुए बताया है कि ''पवित्र, विचारशील, विद्वान्, पक्षपात रहित, कुलीन, स्वदेशज, न्यायप्रिय, व्यसन रहित, सदाचारी, शस्त्रविद्यानिपुण, शासनतन्त्र के विशेषज्ञ को ही मन्त्री बनना चाहिए। मन्त्रिमण्डल राज्य-व्यवस्था का अविच्छेद्य अंग माना गया है। मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की संख्या तीन, पाँच अथवा सात से अधिक नहीं होना चाहिए।

सेना-विभाग—राज्य को सुरक्षित रखने एवं शत्रुओं के आक्रमणों से बचाने के लिये एक सुदृढ़ और बहुत बड़ी सेना की आवश्यकता है।[१] यह विभाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है। राज्य की आय का अधिकांश भाग इसमें खर्च होना चाहिए। इस विभाग की आवश्यक सामग्री एकत्र करने एवं सेना सम्बन्धी व्यवहार के संचालन के लिये एक अध्यक्ष होता है, जिसे सेनापति या महाबलाधिकृत कहा गया है। गजबल, अश्वबल, रथबल और पदातिबल ये चार शाखाएँ सेना की बतायी हैं। इन चारों विभागों के पृथक्-पृथक् अध्यक्ष होते हैं, जो सेनापति के आदेशानुसार कार्य करते हैं। चारों प्रकार की सेना में गजबल सबसे प्रधान[२] है, क्योंकि एक-एक सुशिक्षित हाथी सहस्रों योद्धाओं का संहार करने में समर्थ होता है। शत्रु के नगर को ध्वंस करना, चक्रव्यूह तोड़ना, नदी, जलाशय आदि पर पुल बनाना एवं सेना की शक्ति को सुदृढ़ करने के लिये व्यूह रचना करना

१. द्रविणदानप्रियभाषणाभ्यामरातिनिवारणेन यद्धि हितं स्वामिनं सर्वावस्थासु बलते संवृणोतीति बलम्।–नीतिवाक्यामृतम् माणिकचन्द्र दिगम्बर जैगग्रन्थमाला, बलसमुद्देश्य, सूत्र १

२. बलेषु हस्तिनः प्रधानमङ्गं स्वैरवयवैरष्टायुधा हस्तिनो भवन्ति। -वही, सूत्र २

३. हस्तिप्रधानो विजयो राज्ञां यदेकोऽपि हस्तिसहस्रं योधयति न सीदति प्रहारसहस्रणापि। सुखेन यानमात्मरक्षा परपुरावमर्दनमरिव्यूहविघातो जलेषु सेतुबन्धा वचनादन्यत्र सर्वविनोदहेतवश्चेति हस्तिगुणाः।–वही, सूत्र ३-६

आदि कार्य भी गजबल[3] के हैं। गजबल का निर्वाचन बड़ी योग्यता और बुद्धिमत्ता के साथ करना चाहिए। मन्द, मृग, संकीर्ण और भद्र इन चार प्रकार की जातियों के हाथी तथा ऐरावत, पुण्डरीक, कामन, कुमुद, अञ्जन, पुष्पदन्त, सार्वभौम और सुप्रतिकार इन आठ कुलों के हाथियों को ही ग्रहण करना इस बल के लिये आवश्यक है। गजों के चुनाव के समय जाति, कुल, वन और प्रचार इन चारों बातों के साथ शरीर, बल, शूरता और शिक्षा पर भी ध्यान रखना आवश्यक[1] है। अशिक्षित गजबल राजा के लिये धन और जन का नाशक बतलाया गया है।

अश्वबल की शक्ति भी सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी गयी है। इसे जङ्गम सैन्य-बल बताया है। इससे सेना द्वारा दूरवर्ती शत्रु भी वश में हो जाता है। शत्रु की बढ़ी-चढ़ी शक्ति का दमन, युद्ध-क्षेत्र में नाना प्रकार का रण-कौशल एवं समस्त मनोरथसिद्धि इस बल द्वारा[2] होती है। अश्वबल के निर्वाचन में भी अश्वों के उत्पत्तिस्थान, उनके गुणावगुण, शारीरिक शक्ति, शौर्य, चपलता आदि बातों पर ध्यान देना चाहिए[3]। रथबल का निरूपण करते हुए उसका कार्य, अजेय शक्ति आदि बातों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। इस बल के निर्वाचन में धनुर्विद्या के ज्ञाता योद्धाओं की उपयुक्तता का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। पदातिबल में पैदल सेना का निरूपण किया है। पैदलसेना को अस्त्र-शस्त्र में पारंगत होने के साथ-साथ शूर-वीर, रणानुरागी, साहसी, उत्साही, निर्भय, सदाचारी, अव्यसनी, दयालु होना अनिवार्य बतलाया है। जब-तक सैनिक में उपर्युक्त गुण न होंगे, वह प्रजा के कष्ट निवारण में समर्थ नहीं हो सकता है। सेवाभावी तथा कर्तव्य परायणता होना प्रत्येक प्रकार की सेना के लिये आवश्यक है। सेनापति की योग्यता और गुणों का कथन करते हुए सोमदेवसूरि ने कहा है कि कुलीन आचार-व्यवहार सम्पन्न, पण्डित, प्रेमिल, क्रियावान, पवित्र, पराक्रमशाली, प्रभावशाली, बहुकुटुम्बी, नीति-विद्यानिपुण, सभी अस्त्र-शस्त्र, सवारी, लिपि, भाषाओं का पूर्ण जानकार, सभी का विश्वास और श्रद्धाभाजन, सुन्दर, कष्टसहिष्णु, साहसी, युद्धविद्यानिपुण तथा दया-दाक्षिण्यादि नाना गुणों से विभूषित सेनापति होता है। सेनापति का निर्वाचन मन्त्रियों की सहायता से राजा करता है। सोम देवसूरि ने इस विभाग का बड़ा भारी दायित्व बतलाया है। राज्य की रक्षा करना और उसकी अभिवृद्धि करना इस विभाग का ही काम है।

पुलिस-विभाग—इस विभाग की व्यवस्था के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सोमदेवसूरि ने

---

१. जातिः कुलं वनं प्रचारश्च न हस्तनां प्रधानं किन्तु शरीरं बलं शौर्य शिक्षा च तदुचिता च सामग्री सम्पत्तिः। अशिक्षिता हस्तिनः केवलमर्थप्राणहराः।-नीतिवाक्यामृत, बलसमुद्देश्य, सूत्र ४-५।

२. अश्वबलप्रधानस्य हि राज्ञः कदनकन्दुकक्रीड़ाः प्रसीदन्ति, भवति दूरस्था अपि करस्थाः शत्रव आपत्सु सर्वमनोरथ-सिद्धयस्तुरंगमा एव शरणमवस्कन्दः परानीकभेदनं च तुरंगमसाध्यमेतत्। -वही, सूत्र ८

३. तर्जिका (स्व) स्थलाणा करोखरा गाजिगाणा केकाणा पुष्टाहारा गाव्हरा सादुयारा सिन्धुपारा जात्याश्वानां नवोत्पत्तिस्थानानि। -वही, सूत्र १०

कोट्टपाल–दण्डपाशिक को इस विभाग का प्रधान बतलाया है। चोरी, डकैती, बलात्कार आदि के मामले पुलिस द्वारा सुलझाये जाते थे। पुलिस को बड़े–बड़े मामलों में सेना की सहायता भी लेने को लिखा है। इस विभाग को सुदृढ़ करने के लिये गुप्तचर नियुक्त करना आवश्यक है। गाँवों में मुखिया को ही पुलिस का उच्चाधिकारी बतलाया है। धन–सम्पत्ति, पशु आदि के अपहरण की पूरी तहकीकात मुखिया को ही करनी चाहिए। मुखिया अपने मामलों की जाँच में गुप्तचरों से भी सहायता ले सकता है। पुलिस–विभाग की सफलता बहुत कुछ गुप्तचर सी॰ आई॰ डी॰ पर ही आश्रित मानी गयी[१] है। गुप्तचरों के गुणों का निरूपण करते हुए बताया है कि सन्तोषी, जितेन्द्रिय, सजग, निरोगी, सत्यवादी, तार्किक और प्रतिभाशाली व्यक्ति को इस महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त करना चाहिए। गुप्तचर के लिए कपटी, धूर्त, मायावी, शकुन–निमित्त–ज्योतिष–विशारद, गायक, नर्तक, विदूषक, वैतालिक, ऐन्द्रजालिक होना चाहिए[२]।

यों तो ३४ प्रकार के व्यक्तियों को चर नियुक्त करने पर जोर दिया है। पुलिस विभाग की व्यवस्था के लिए अनेक कानून भी बतलाये गए हैं तथा शासन के लिए अनेक कार्यों एवं पदों का प्रतिपादन किया है।

कोष-विभाग—इस विभाग का वर्णन करते हुए सोमदेवसूरि ने राज्य–संचालन के लिए कोष पर बड़ा जोर दिया है। जो राजा सम्पत्ति–विपत्ति के लिए कोष सञ्चय करता है, वही अपने राज्य का विकास कर सकता है। कोष में सोना, चाँदी द्रम्म [मुद्राएँ] एवं धान्य का संग्रह अपेक्षित[३] है। इन आचार्य ने कोष की महत्ता दिखलाने के लिए कोष को ही राजा बताया है, क्योंकि जिसके पास द्रव्य है वही संग्राम में विजय प्राप्त कर लेता है। धनहीन को संसार में कुटुम्बी–स्त्री, पुत्र आदि भी छोड़ देते हैं, तब राजाओं के लिये धनहीनता किस प्रकार बड़प्पन हो सकती है। कोष संग्रह में प्रमुख धान्य संग्रह को बतलाया है, क्योंकि सबसे अधिक प्रधानता इसी की है। धान्य के होने से ही प्रजा और सेना की जीवन–यात्रा चल सकती है। युद्धकाल में भी धान्य की विशेष आवश्यकता पड़ती है। रस–संग्रह में लवण को प्रधानता दी गयी है।

आय-व्यय—आय–व्यय की व्यवस्था के लिए पाँच प्रकार के अधिकारी नियुक्त करने का नियमन किया है। इन अधिकारियों के नाम आदायक, निबन्धक, प्रतिबन्धक, नीविग्राहक और

---

१. स्वपरमण्डलकार्याकार्यावलोकने चाराश्चक्षूंषि क्षितिपतीनाम् –नीतिवाक्यामृतम्, चारसमुद्देश्य, सूत्र १

२. अलौल्यममान्द्यमृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चेति चारगुणाः।
कापटिकोदास्थितगृहपतिवैदेहिकतापसकितवकिरातयमपट्टिकाहितुण्डिकशौण्डिकशौभिक पाट च्चरविटविदूषक पीठमर्दकनटनर्तकगायक वादकवाग्जीवकगणकशाकुनिकभिषगैन्द्रजालिकनैमित्तिकसूदारालिकसंवाहिक तीक्ष्ण क्रूररसद्जडभूकबधिरान्धच्छद्मान–स्थायियायिभेदेनावसर्पवर्गः–वही, चारसमुद्देश्य, सूत्र २ और ८

३. वही, कोशसमुद्देश्य, सूत्र १, २

राजाध्यक्ष बतलाये हैं। आदायक का कार्य दण्डादिक के द्वारा प्राप्त द्रव्य को ग्रहण करना, निबन्धक का कार्य विवरण लिखना, प्रतिबन्धक का रुपये देना, नीविग्राहक का भांडार में रुपये रखना और राज्याध्यक्ष का कार्य सभी आय-व्यय के विभागों का निरीक्षण करना है। राज्य की आमदनी व्यापार, कर, दण्ड आदि से तो करनी ही चाहिए, पर विशेष अवसरों पर देवमन्दिर, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का संचित धन, वेश्याओं, विधवा स्त्रियों, जमींदारों, धनियों, ग्रामकूटों, सम्पन्न कुटुम्बियों एवं मंत्री, पुरोहित, सेनापति प्रभृति अमात्यों से धन लेना चाहिए।

व्यापारिक उन्नति—जिस राज्य में कृषि, व्यापार और पशुपालन की उन्नति नहीं होती, वह राज्य नष्ट हो जाता है। राजा को अपने यहाँ के माल को बाहर जाने से रोकने के लिए तथा अपने यहाँ बाहर के माल को न आने देने के लिए अधिक कर लगाना चाहिए[१]। अपने यहाँ व्यापार की उन्नति के लिए राजा को व्यापारिक नीति निर्धारित करना, यातायात के साधनों को प्रस्तुत करना एवं वैदेशिक व्यापार के सम्बन्ध में कर लगाना या अन्य प्रकार के नियम निर्धारित करना राजा के लिये आवश्यक है। राज्य की आर्थिक उन्नति के लिए वाणिज्य और व्यवसाय को बढ़ाना माल के आने-जाने पर कर लगाना प्रत्येक राजा के लिए अनिवार्य है।

न्यायालय की व्यवस्था—सोमदेवसूरि ने 'नीतिवाक्यामृत' में न्यायालय-व्यवस्था के लिए अनेक आवश्यक बातें बतलायीं हैं। इन्होंने जनपद-प्रान्त, विषय-जिला, मंडल-तहसील, पुर-नगर और ग्राम इनकी शासन-प्रणाली संक्षेप में बतलायी है। राजा की एक परिषद् होनी चाहिए, जिसका राजा स्वयं सभापति हो और यही परिषद् विवादों-मुकदमों का फैसला करे। परिषद् के सदस्य राजनीति के पूर्ण ज्ञाता, लोभ-पक्षपात से रहित और न्यायी हों। वादी एवं प्रतिवादी के लिए अनेक प्रकार के नियम बतलाते हुए कहा है कि जो वादी या प्रतिवादी अपना मुकद्दमा दायर कर समय पर उपस्थित न हो, जिसके बयान में पूर्वापर विरोध हो, जो बहस द्वारा निरुत्तर हो जाये, या वादी प्रतिवादी को छल से निरुत्तर कर दे, वह सभा द्वारा दण्डनीय है। वाद-विवाद के निर्णय के लिए लिखित साक्षी, भुक्तिअधिकार, जिसका बारह वर्ष तक उपयोग किया जा सका है, प्रमाण है। न्यायालय में साक्षी के रूप में ब्राह्मण से सुवर्ण और यज्ञोपवीत के स्पर्शनरूप शपथ क्षत्रिय से शस्त्र, रत्नभूमि, वाहन के स्पर्शनरूप शपथ, वैश्य से कान, बाल और कांकिणी-(एक प्रकार का सिक्का) के स्पर्शनरूप शपथ एवं शूद्रों से दूध, बीज के स्पर्शनरूप शपथ लेनी चाहिए। इसी प्रकार जो जिस

---

१. ''कृषिः पशुपालनं वणिज्या च वार्ता वैश्यानाम्।''

× × ×

'वार्तासमृद्धौ सर्वाः समृद्धयो राज्ञः॥'

× × ×

शुल्कवृद्धिर्बलात्पण्यग्रहणं च देशान्तरभाण्डानामप्रवेशे हेतुः। -नीतिवाक्यामृतम् वार्तासमुद्देश्य, सूत्र १, २, ११

काम को करता है, उससे उसी कार्य को छुआ कर शपथ लेनी चाहिए। सोमदेव ने शासन व्यवस्था–सम्बन्धी कुछ नियम भी बतलाये हैं।

अवाय—नीति का वर्णन करते हुए सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीकरण और संश्रय इन छह गुणों का तथा राजनीति के साम, उपदान, दण्ड और भेद इन चारों अंगों का विस्तार सहित प्रतिपादन किया है।

सन्धि—'पणबन्धः सन्धिः'–अर्थात् जब राजा को यह विश्वास हो जाये कि थोड़े ही दिन में उसकी सैन्य–संख्या बढ़ जायेगी, तथा उसमें अपेक्षाकृत अधिक बल आ जाये, तो वह क्षति स्वीकार कर भी सन्धि कर ले। अथबा प्रबल राजा से आक्रान्त हो और बचाव का उपाय न हो, तो कुछ भेंट देकर सन्धि कर ले।

विग्रह—'अपराधो विग्रहः'–अर्थात् जब अन्य राजा अपराध करे, राज्य पर आक्रमण करे या राज्य की वस्तुओं का अपहरण करे, तो उस समय उसे दण्ड देने की व्यवस्था करना विग्रह है। विग्रह के समय राजा को अपनी शक्ति, कोष और बल–सेना का अवश्य विचार करना चाहिए।

यान—'अभ्युदयो यानं'–शत्रु के ऊपर आक्रमण करना, या शत्रु को बलवान समझकर अन्यत्र चला जाना यान है।

आसन—'उपेक्षणमासनं'–यह एक प्रकार से विराम–सन्धि का रूपान्तर है। जब उभयपक्ष का सामर्थ्य घट जाये, तो अपने–अपने शिविर में विश्राम के लिए आदेश देना अथवा मन्त्री, परपक्ष और स्वस्वामी की शक्ति एवं सैन्य–संख्या समान देखकर अपने राजा को एकभावस्थान लेने का आदेश देना आसन है।

संश्रय—' परस्यात्मार्पणं संश्रयः'–शत्रु से पीड़ित होने पर या उससे क्लेश पाने की आशंका होने पर अन्य किसी बलवान राजा का आश्रय लेना संश्रय है।

द्वैधीकरण—''एकेन सह सान्ध्यमन्येन सह विग्रहकरणमेकेन वा शत्रौ सन्धानपूर्व विग्रहो द्वैधीभावः''–जब दो शत्रु एक साथ विरोध करें, प्रथम एक के साथ सन्धि कर दूसरे से युद्ध करें और जब वह पराजित हो जाये, तो प्रथम के साथ भी युद्ध कर उसे भी हरा दें। इस प्रकार दोनों को कूटनीतिपूर्वक पराजित करना या मुख्य उद्देश्य गुप्त रखकर बहिरंग में शत्रु से सन्धि कर अवसर प्राप्त होते ही अपने उद्देश्य के अनुसार विग्रह करना द्वैधीकरण है। यह कूटनीति का एक अंग है। इसमें बाहर कुछ और भीतर कुछ भाव रहते हैं।

भेद—जिस उपाय द्वारा शत्रु की सेना में से किसी को बहका कर अपने पक्ष में मिलाया जाये अथवा शत्रुदल में फूट डालकर अपना कार्य साध लिया जाये, भेद है। इस प्रकार चतुरंग राजनीति का भी भेद–प्रभेदपूर्वक नीतिवाक्यामृत में वर्णन आया है। राजा अपनी राजनीति के बल से ब्रह्मा,

विष्णु और महेश बन जाता है। जनता के जान-माल की रक्षा के लिए नियम, उपनियम और विधान भी राजा को ही बनाना होता है। राजा को प्रधानतः नियम और व्यवस्था, परम्परा और रूढ़ियों का संरक्षक होना अनिवार्य है।

सोमदेवसूरि ने राज्य का लक्ष्य धर्म, अर्थ और काम का संवर्द्धन माना है। धर्म संवर्द्धन से उनका अभिप्राय सदाचार और सुनीति को प्रोत्साहन देना तथा जनता में सच्ची धार्मिक भावना का संचार करना है। अर्थ-संवर्द्धन के लिए कृषि, उद्योग और वाणिज्य की प्रगति, राष्ट्रीय साधनों का विकास एवं कृषि-विस्तार के लिए सिंचाई और नहर आदि का प्रबन्ध करना आवश्यक बतलाया है। कामसंवर्द्धन के लिए शान्ति और सुव्यवस्था कर प्रत्येक नागरिक को न्यायपूर्वक सुख भोगने का अवसर देना एवं कला-कौशल की उन्नति करना बताया है। इस प्रकार राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना के लिए जनता का सर्वाङ्गीण, नैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और शारीरिक विकास करना राजा का परम कर्त्तव्य है। इसी कारण राजा के अनेक गुण बतलाये हैं।

राज्याधिकार—बताया है कि सबसे पहले पुत्र का, अनन्तर भाई का, भाई के अभाव में विमाता के पुत्र-सौतेले भाई का, इसके अभाव में चाचा का, चाचा के अभाव में सगोत्री का, सगोत्री के न रहने पर नाती-लड़की के पुत्र का एवं इसके अभाव में किसी आगन्तुक का अधिकार होता है।

इस प्रकार इस 'नीतिवाक्यामृत' में राजनीति और अर्थशास्त्र पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

सोमदेव की काव्यप्रतिभा और पाण्डित्य

सोमदेव अद्वितीय प्रतिभाशाली कवि और दार्शनिक विद्वान् हैं। इनके गद्य और पद्य दोनों में शब्द-रमणीयता के साथ अर्थरमणीयता विद्यमान है। उदात्त वर्णन, नवीन शब्दावलि और उच्च-भावभूमि के कारण ही कवि की 'कविकुलराज' उपाधि रही होगी। अप्रयुक्त और क्लिष्ट शब्दों के प्रयोग के लिए सोमदेव प्रसिद्ध हैं। इनके मत से दोषरहित, माधुर्य आदि गुणयुक्त रसभाव समन्वित एवं अलंकृत रचना ही काव्य की कोटि में परिगणित की जाती है।

अनुक्रम

ॐ

श्रीमत्सोमदेवसूरिविरचित

नीतिवाक्यामृतम्

१. धर्मसमुद्देशः

ग्रन्थकार का मङ्गलाचरण

सोमं सोमसमाकारं सोमाभं सोमसंभवम्।
सोमदेवं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रुवे ॥१॥

अर्थ—अक्षयकीर्तिमान्, चन्द्रमा के सदृश कान्तियुक्त, अन्तरङ्ग लक्ष्मी (अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप आत्मिकलक्ष्मी) और बहिरङ्गलक्ष्मी (समवसरण विभूति आदि) से अलंकृत, सोमवंश (चन्द्रवंश) में उत्पन्न होने वाले और त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पदार्थों को हस्त में रखे हुए आँवले की तरह प्रत्यक्ष जानने वाले (सर्वज्ञ) ऐसे श्री चन्द्रप्रभ तीर्थंकर को नमस्कार करके मैं नीतिवाक्यामृत शास्त्र का[१] प्रतिपादन करता हूँ।

---

१. चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) तथा चारों आश्रमों (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति) में वर्तमान जनता जिसके द्वारा अपने-अपने सदाचारों (सत्कर्तव्यों) में स्थापित की जाती है उसे 'नीति' कहते हैं अथवा विजयलक्ष्मी के इच्छुक राजा को जो धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों से संयोग करावे उसे 'नीति' कहते हैं। उसी नीति को प्रतिपादन करने वाले अमृततुल्य वाक्यसमूह इस शास्त्र में विद्यमान है इसलिए इसे 'नीतिवाक्यामृत' कहते हैं।
अथवा इस शास्त्र के अमृततुल्य वाक्यसमूह विजयलक्ष्मी चाहने वाले राजा की अपने राजनैतिक विषयों (सन्धि, विग्रह, यान और आसन आदि) में उत्पन्न हुई सन्देहरूप महामूर्च्छा का नाश करने वाले हैं: इसलिए इसे 'नीतिवाक्यामृत' कहते हैं। [नीतिवाक्यामृत संस्कृत टीका पृ० २ में]

अनुवादक का मङ्गलाचरण

जो है मोक्षमार्ग का नेता, अरु रागादिक जेता है।
जिसके पूर्णज्ञान-दर्पण में, जग प्रतिभासित होता है ॥१॥
जिसने कर्मशत्रुविध्वंसक, नीतिमार्ग दर्शाया है।
उन श्रीआदिदेव को मैंने, शत शत शीश झुकाया है ॥२॥

अब राज्य का महत्त्व बताते हैं–

अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः।

अर्थ—मैं उस राज्य को आदर की दृष्टि से देखता हूँ जो प्रजा को धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों को उत्पन्न करने में समर्थ है।

अब धर्म का लक्षण बताते हैं–

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥१॥

अर्थ—जिन सत्कर्तव्यों के अनुष्ठान से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है उसे धर्म कहते हैं। समन्तभद्राचार्य ने[१] भी कहा है कि जो प्राणियों को सांसारिक दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख (मोक्ष) में धरता है, उसे धर्म कहते हैं।

आचार्य श्रीसोमदेवसूरि ने यशस्तिलकचम्पू में षष्ठ आश्वास से लेकर अष्टम आश्वास पर्यन्त इस विषय की विशद व्याख्या की है। उपयुक्त होने के कारण उसे यहाँ संक्षेप से लिखते हैं–

जिससे मनुष्यों को भौतिक-सांसारिक एवं पारमार्थिक (मोक्ष) सुख की प्राप्ति होती है, उसे आगम के विद्वान् धर्माचार्यों ने धर्म कहा है[२] ॥१॥

उसका स्वरूप प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप है–अर्थात् मोक्ष के साधन सम्यग्दर्शन आदि में प्रवृत्ति करना और संसार के कारण मिथ्यादर्शन आदि से निवृत्त होना-इनका त्याग करना यही धर्म का स्वरूप है। वह गृहस्थधर्म और मुनिधर्म के भेद से दो प्रकार का है ॥२॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की प्राप्ति मोक्ष का मार्ग है और मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और मिथ्यातप ये संसार के कारण हैं ॥३॥

युक्ति से सिद्ध पदार्थों (जीवादि सात तत्त्वों) का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है एवं उक्त तत्त्वों का संदेह, भ्रान्ति और अनध्यवसाय रहित यथार्थ ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है ॥४॥

और कर्मबंध के कारण हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाप क्रियाओं का त्याग करना सम्यक्चारित्र है ॥५॥ अब उक्त तीनों में से केवल सम्यग्दर्शन आदि मोक्षप्राप्ति का उपाय नहीं है इसे बताते हैं।

---

१. देखो रत्नकरण्डक श्लोक २। २. देखो यशस्तिलक पृष्ठ २६८-२६९॥

मुमुक्षु प्राणियों को केवल तत्त्वार्थों की श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) मोक्ष प्राप्ति में समर्थ नहीं है। क्या भूखे मनुष्य की इच्छा मात्र से ऊमर फल पक जाते हैं ? अर्थात् नहीं पकते।

भावार्थ—जिस प्रकार भूखे मनुष्य की इच्छा मात्र में ऊमर फल नहीं पकते; किन्तु प्रयत्न से पकते हैं। इसी प्रकार तत्त्वार्थों की श्रद्धा मात्र से मुक्ति नहीं होती; किन्तु सम्यक्‌चारित्ररूप प्रयत्न से साध्य है ॥६॥

इसी प्रकार ज्ञान मात्र से पदार्थों का निश्चय हो जाता है; परन्तु अभिलषित वस्तु (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं हो सकती; अन्यथा ''यह जल है'' ऐसा ज्ञान मात्र होने पर प्यास की शान्ति होनी चाहिए[१] ॥७॥

इसी प्रकार केवल चारित्र से मुक्ति नहीं होती; जैसे कि जन्म से अन्धा पुरुष अनार आदि के वृक्षों के नीचे पहुँच भी जावे तो क्या उसे छाया को छोड़कर अनार आदि फल प्राप्त हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते। उसी प्रकार जीवादि सात तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान के बिना केवल आचरण मात्र से मुक्तिश्री की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥८॥

लँगड़े पुरुष को ज्ञान होने पर भी चारित्र (गमन) के बिना वह अभिलषित स्थान में नहीं पहुँच सकता एवं अन्धा पुरुष ज्ञान के बिना केवल गमनादिरूप क्रिया करके भी अभिलषित स्थान में प्राप्त नहीं हो सकता और श्रद्धाहीन पुरुष की क्रिया और ज्ञान निष्फल होते हैं। इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र इन तीनों की प्राप्ति से मुक्ति होती हैं॥९॥

सम्यग्दर्शन से मनुष्य को स्वर्ग लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, सम्यग्ज्ञान से उसकी कीर्ति कौमुदी का प्रसार होता है और सम्यक्‌चारित्र से उसकी इन्द्रादि द्वारा पूजा होती है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥१०॥

जो आत्मारूपी पारा अनादि काल से मिथ्यात्वादि कुधातुओं के सम्बन्ध से अशुद्ध हो रहा है उसे विशुद्ध करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र का अनूठा साधन है—अर्थात् इसे विशुद्ध करने के लिए सम्यक्‌चारित्र अग्नि है और सम्यग्ज्ञान उपाय है तथा सम्यग्दर्शन (चित्त की विशुद्धि) मूलरसौषधि (नींबू के रस में घुटा हुआ सिंग्रप) है—अर्थात् उक्त तीनों की प्राप्ति से यह आत्मारूपी पारा विशुद्ध होकर सांसारिक समस्त व्याधियों को ध्वंस करने और मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है ॥११॥

मनुष्य को[२] सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए अपने चित्त को विशुद्ध बनाना चाहिए। ज्ञानलक्ष्मी की प्राप्ति के लिए शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए एवं सम्यक्‌चारित्र की प्राप्ति के लिए शारीरिक कष्ट सहन करके हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाप क्रियाओं का त्याग करना चाहिए

१. देखो यशस्तिलक छठा आश्वास पृष्ठ २२६।
२. देखो यशस्तिलक षष्ठ आश्वास पृष्ठ ३२६।

एवं न्याय से संचित सम्पत्ति को पात्रदान आदि शुभ कार्यों में लगाना चाहिए ॥१२॥

अब सम्यग्दर्शन का लक्षण कहते हैं–

आप्त–सत्यार्थ ईश्वर आगम और मोक्षोपयोगी जीवादि सात तत्त्वों का लोकमूढ़ता आदि २५

दोषों से रहित और निःशङ्कित आदि आठ अंगों सहित जैसा का तैसा–यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है जो कि प्रशम (क्रोधादि कषायों की मंदता) और संवेग (संसार से भय करना) आदि विशुद्ध परिणामरूप चिह्नों से जाना जाता हैं[१]॥१॥

अब आप्त का स्वरूप कहते हैं–

आप्त के स्वरूप को जानने में प्रवीण शास्त्रकारों ने कहा है कि जो सर्वज्ञ, सर्वलोक का ईश्वर–संसार रूपी दुःख समुद्र से उद्धार करने वाला, क्षुधा और तृषा आदि १८ दोषों से रहित (वीतरागी) एवं समस्त प्राणियों को मोक्षमार्ग का प्रत्यक्ष उपदेश देने वाला है उन ऋषभादि तीर्थङ्करों को आप्त (सच्चा ईश्वर) कहते हैं[२]॥२॥

अब आगम का स्वरूप और भेद कहते हैं–

जो शास्त्र मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में प्रवृत्ति कराने में समर्थ हो तथा हेय (छोड़ने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) का ज्ञान कराकर त्रिकालवर्ती पदार्थों का यथार्थबोध कराने में प्रवीण हो उसे आगम कहते हैं[३]॥१॥

जिस प्रकार लोक में माता और पिता की शुद्धि (पिंडशुद्धि) होने पर उन के पुत्र में शुद्धि देखी जाती हैं उसी प्रकार आप्त की विशुद्धि (वीतरागता और सर्वज्ञता आदि) होने पर ही उस के कहे हुए आगम में विशुद्धता–प्रामाणिकता होती है अतः जो तीर्थङ्करों द्वारा निरूपण किया गया हो उसे आगम कहा है[४]॥५॥

आगम के चार भेद हैं–(१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग (४) द्रव्यानुयोग।

धार्मिक पुरुष जिससे अपने सिद्धान्त को भलीभाँति जानता है, उस पुराण (२४ तीर्थङ्कर आदि ६३ शलाका के पूज्य महापुरुषों का चरित्रग्रन्थ) तथा किसी एक पूज्यपुरुष के चरित्रग्रन्थ को प्रथमानुयोग कहते हैं ॥१॥

जिस में अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक का तथा नरक और तिर्यञ्च आदि चारों गतियों का कथन किया गया है उसे करणानुयोग कहते हैं ॥२॥

"मेरा यह सदाचार (अहिंसा और सत्य आदि व्रत) है और उसकी रक्षा का क्रमिक विधान यह है" इस प्रकार चरित्रनिष्ठ आत्मा चरणानुयोग के आश्रित होती हैं।

---

१. २. देखो यशस्तिलक षष्ठ आ॰ पृ॰ २७४

३. देखो यशस्तिलक आ॰ ६ पृ॰ २७६

४. देखो यशस्तिलक आ॰ ६ पृ॰ २७८

जीव, अजीव, धर्म अधर्म, बन्ध और मोक्षतत्त्व का यथार्थज्ञान होना द्रव्यानुयोगशास्त्र का फल है[१]॥५॥ अब पदार्थों का निरूपण करते हैं–जीव, अजीव, लोक (चतुर्गतिरूपसंसार) बन्ध तथा उस के कारण–मिथ्यात्व आदि मोक्ष और उसके कारण (संवर और निर्जरा) ये पदार्थ आगम में निरूपण किये गये हैं ॥१॥

उक्त आप्त, आगम और पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अब सम्यग्ज्ञान का निरूपण करते हैं–जो वस्तु के समस्त स्वरूप को जैसा का तैसा, हीनाधिकता–रहित तथा संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप मिथ्याज्ञान से रहित निश्चय करता है एवं जो मनुष्यों का तीसरा दिव्य नेत्र है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं[२]॥१॥

वह सम्यग्ज्ञान पवित्र मन वाले मनुष्य को हितकारक और अहितकारक पदार्थों का दिग्दर्शन कराता है। यह हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में कारण होता है इसलिए वह जन्म से अन्धे पुरुष को लाठी के सदृश है[३]॥२॥

मतिज्ञान (इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान) देखे हुए पदार्थों में उत्पन्न होता है। श्रुतज्ञान देखे हुए तथा बिना देखे हुए (अतीन्द्रिय सूक्ष्म धर्माधर्मादि) पदार्थों में भी उत्पन्न होता है। अतएव यदि मनुष्यों का चित्त ईर्ष्याभाव से दूषित नहीं है तो उन्हें तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कठिन नहीं है[४]॥३॥ बाधा रहित वस्तु में भी जो बुद्धि विपरीत हो जाती है उस में ज्ञाता का ही दोष है वस्तु का नहीं। जैसे मन्द दृष्टि मनुष्य को एक चन्द्रमा में जो दो चन्द्रमा का भ्रम होता है वह उस दृष्टि का ही दोष है चन्द्रमा का नहीं[५]॥४॥

जिस मनुष्य में सम्यग्दर्शन नहीं है उसका शास्त्र ज्ञान केवल उस के मुख की खुजली को दूर करता है–अर्थात् वाद–विवाद करने में ही समर्थ होता है; क्योंकि उसमें आत्मदृष्टि नहीं होती एवं जिसमें ज्ञान नहीं है उसका चरित्र धारण करना विधवा स्त्री के आभूषण धारण करने के समान निरर्थक है[६]॥५॥ जो दूध जमा देने से दही हो चुका है, वह फिर दूध नहीं हो सकता उसी प्रकार जो आत्मा तत्त्वज्ञान से विशुद्ध हो चुकी है वह पुनः पापों से लिप्त नहीं होती[७]॥६॥ शरीर अत्यन्त मलिन है और आत्मा अत्यन्त विशुद्ध है इसलिए विवेकी मनुष्य को इसे शरीर से पृथक् और नित्य चिंतवन करना चाहिए[८]॥७॥

जिसकी वाणी व्याकरण, साहित्य, इतिहास और आगमों को पढ़कर विशुद्ध नहीं हुई एवं जिसने नीतिशास्त्रों को पढ़कर अपनी बुद्धि को परिष्कृत और विशुद्ध नहीं बनाया वह केवल दूसरों के सहारे रहकर क्लेश उठाता है और अन्धे के समान है[९]॥८॥

---

१. २. ३. ४. ५. ६. देखो यशस्तिलक आ० ६ पृष्ठ ३२५

७. ८. ९. देखो यशस्तिलक आ० ८ पृष्ठ ३९९

देखो यशस्तिलक आ० ६ पृष्ट २७६

अब सम्यक्चारित्र का कथन किया जाना है–

हिंसादि पापों से निवृत्त होना सम्यक्चारित्र है उसके २ भेद हैं–(१) एकदेश (अणुव्रत) (२) सर्वदेश (महाव्रत)

प्रकृत में श्रावकों के एकदेश चारित्र का निरूपण करते हैं–

श्रावकों का एकदेशचारित्र दो प्रकार का है–(१) मूलगुण (२) उत्तरगुण। मूलगुण ८ होते हैं।

मद्य (शराब), मांस और मधु का त्याग तथा पाँच उदुंबर फलों के भक्षण का त्याग करना ये शास्त्रों में गृहस्थों के ८ मूलगुण कहे गये हैं ॥१॥

अब मद्यत्याग का विवेचन करते हैं–

मद्य पीने से शराबी के समस्त काम और क्रोधादि दोष उत्पन्न होते हैं और उसकी बुद्धि पर अज्ञान का परदा पड़ जाता है एवं यह मद्यपान समस्त पापों में अग्रेसर-प्रधान है ॥२॥

इससे हित और अहित का विवेक नष्ट हो जाता है इसलिए शराबी लोग संसाररूपी जंगल में भटकाने वाले कौन-कौन से पाप नहीं करते ? अर्थात् सभी प्रकार के पाप करते हैं ॥३॥

शराब पीने से यदुवंशी राजा लोग और जुआ खेलने से पांडव लोग नष्ट हुए यह कथानक समस्त लोक में प्रसिद्ध है ॥४॥

महुआ, गुड़ और पानी के मिश्रण से बनाई हुई शराब में निश्चय से अनेक जीव उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते हैं तथा शराब रूप हो जाते हैं। पश्चात् वह शराब समय पाकर शराबियों के मन को मूर्च्छित कर देती है ॥५॥

शराब की एक बिन्दु में इतनी जीव राशि विद्यमान है कि यदि उसके जीव स्थूल होकर संचार करने लगें तो निस्सन्देह समस्त लोक को पूर्ण कर सकते हैं ॥६॥

मद्यपान शराबी के मन को मूर्च्छित करता है और दुर्गति का कारण है; इसलिए सज्जन पुरुषों को इसका सदैव त्याग कर देना चाहिए ॥७॥

अब दूसरा मूलगुण (मांसत्याग) का कथन करते हैं–

सज्जन पुरुष स्वभाव से अपवित्र, दुर्गन्धित, प्राणिहिंसायुक्त और दुर्गति के कारण मांस को किस प्रकार भक्षण कर सकते हैं ? नहीं कर सकते ॥१॥

जिसका मांस मैं यहाँ खाता हूँ वह मुझे भी जन्मान्तर में अवश्य ही खायेगा 'ऐसा मांस' शब्द का अर्थ विद्वानों ने कहा है[१]॥१॥

जो लोग अहिंसाधर्म के माहात्म्य से लोक में सुखसामग्री का उपभोग करते हैं तथापि वे उससे द्वेष करते हैं। यह उनका बड़ा अज्ञान है। क्योंकि कौन बुद्धिमान पुरुष इच्छित वस्तु को देने वाले कल्पवृक्ष से द्वेष करता है ? अर्थात् नहीं करता ॥२॥

---

१. संगृहीत शास्त्रान्तर से।

यदि बुद्धिमान पुरुष थोड़ा-सा क्लेश उठाकर अपने लिए अच्छी तरह सुखी देखना चाहता है तो उसका कर्तव्य हैं कि जिस प्रकार के व्यवहार (मारना विश्वासघात करना आदि) वह अपने लिए बुरा समझता है वैसे व्यवहार दूसरों के साथ न करे ॥३॥

जो विवेकी पुरुष दूसरों का उपघात (हिंसा) न करके अपनी सुखसामग्री का उपभोग करना चाहता है वह इस लोक में सुख भोगता हुआ जन्मान्तर में भी सुखी होता है ॥४॥

जिस प्रकार समस्त प्राणियों को अपना जीवन प्यारा है उसी प्रकार दूसरों को भी अपना जीवन प्यारा है। अतः बुद्धिमान पुरुष को जीव हिंसा छोड़ देनी चाहिए ॥५॥

बुद्धिमान पुरुष शराबी और मांस भक्षी मनुष्यों के गृह में भोजन और पान न करे एवं उसके साथ मंत्रणा (सलाह) भी न करे ॥६॥

जो मनुष्य अव्रतियों-(मांस आदि का त्याग न करने वाले) से भोजनादि कार्यों में संसर्ग रखता है उसकी इस लोक में निन्दा होती है और परलोक में भी उसे कटुफल भोगना पड़ते हैं ॥७॥

व्रती पुरुषों को मशक वगैरह चमड़े की चीजों में रक्खा हुआ पानी, चमड़े की कुप्पियों में रक्खा हुआ घी और तेल का भी उपयोग करना सदा के लिए छोड़ देना चाहिए एवं वह अव्रती कन्याओं से विवाह आदि संसर्ग न करे ॥८॥

आत्मकल्याण के इच्छुक मनुष्यों को बौद्ध, सांख्य और चार्वाक आदि की युक्ति शून्य मान्यता पर ध्यान न देते हुए सदा के लिए मांस भक्षण का त्याग करना चाहिए ॥९॥

निश्चय से एक क्षुद्रमच्छ जो कि स्वयंभूरमण नाम के समुद्र में महामच्छ के कर्णविल में उत्पन्न हुआ था। वह मांसभक्षण रूप आर्तध्यान से नरक में उत्पन्न हुआ[१]।

अब मधु और पाँच उदुम्बर फलों का त्याग बताते हैं-

सज्जन पुरुष, गर्भाशय में स्थित शुक्र और शोणित के सम्मिश्रण के तुल्य आकृति वाले मधु को, जो कि शहद की मक्खियों तथा उनके छोटे-छोटे बच्चों के घात से उत्पन्न होता है; किस प्रकार सेवन कर सकते हैं ? नहीं कर सकते[२]॥१॥

जिसके मध्यभाग में छोटे-छोटे मक्खियों के बच्चे भिन्न रहे हैं ऐसे शहद के छत्ते में वर्तमान मक्खियों के अण्डों के खंडों से युक्त मधु बहेलियों और चिड़ीमारों के लिए प्राणों के समान प्रिय कैसे हो गया ? यह आश्चर्य की बात है ॥२॥

पीपल, गूलर, पाकर, बड़ और ऊमर इन पाँच उदुम्बर फलों में स्थूल त्रस जीव उड़ते हुए दिखाई देते हैं तथा अनेक सूक्ष्म जीव भी आगमप्रमाण से सिद्ध पाये जाते हैं; इसलिए नैतिक पुरुष इनका यावज्जीवन त्याग करें ॥३॥ अब श्रावकों के उत्तरगुणों का निर्देश करते हैं[३]-

---

१. उक्त कथानक यशस्तिलक से जानना चाहिए।

२. देखो यशस्तिलक आ० ७। ३. देखो यशस्तिलक आ० ७ पृ० ३३३।

५ अणुव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत), ३ गुणव्रत (दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदंडविरतिव्रत) और ४ शिक्षाव्रत (सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगापभोगपरिमाण और पात्रदान) ये श्रावकों के १२ उत्तरगुण हैं ॥१॥

उनमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों के एकदेश त्याग को अणुव्रत कहते हैं ॥२॥

प्रशस्त कार्यों (अहिंसा आदि) में प्रवृत्ति करना और अप्रशस्त कार्यों (हिंसा आदि) का त्याग करना उसे व्रत कहा गया है ॥३॥

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाप क्रियाओं में प्रवृत्ति करने से इस लोक में भयानक दु:ख और परलोक में दुर्गति के दु:ख भागने पड़ते हैं ॥४॥ अब अहिंसाणुव्रत का कथन करते हैं–

काम और क्रोधादि कषायों के वश होकर प्राणियों के प्राणों का घात करना या उन्हें मानसिक पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। इसके विपरीत रागद्वेष और मोह आदि कषायों को त्यागकर प्राणियों की रक्षा करना और यत्नाचाररूप प्रवृत्ति करना अहिंसा हैं ॥५॥

जो मनुष्य देवताओं की पूजा, अतिथिसत्कार, पितृकर्म एवं उच्चाटन और मारण आदि के मन्त्रों के लिए तथा औषधि के सेवन में और भयों से बचने के लिए किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना उसका वह अहिंसा नामक अणुव्रत है ॥६॥

दयालु पुरुष आसन, शय्या, मार्ग, अन्न और जो कुछ भी दूसरे पदार्थ हैं उन्हें सेवन करता हुआ भी बिना देखे शोधे सेवन न करे ॥७॥

गृह के कार्य (कूटना और पीसना आदि) देखभाल कर करने चाहिए और समस्त तरल पदार्थ (दूध, घी, तेल और जलादि) कपड़े से छानकर उपयोग में लाने चाहिए ॥८॥

विवेकी मनुष्य अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए और मूलगुणों की विशुद्धि के लिए इस लोक और परलोक में दु:ख देने वाले रात्रिभोजन का त्याग करे ॥९॥

व्रती पुरुष अनेक जीवों की योनि अचार, पत्तों वाली शाक, घुणा हुआ अन्न, पुष्प, मूल और बड़–पीपल आदि उदुम्बर फलों का सेवन न करे एवं त्रसराशि से व्याप्त (ओला आदि) का भक्षण न करे ॥११॥

कोई भी पदार्थ चाहे वह अमिश्र हो या मिश्र यदि वह अपने योग्य काल और पवित्र क्षेत्र की मर्यादा को छोड़ चुका है तो वह अभक्ष्य है ॥१२॥

जो व्यक्ति बहुत आरम्भ और परिग्रह रखता है, दूसरों को धोखा देता है और दुराचारी है वह अहिंसक (दयालु) किस प्रकार हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥१३॥

शास्त्रकारों ने पुण्य को प्रकाशरूप और पाप को अन्धकाररूप माना है इससे जिसके हृदय में दयारूपी सूर्य का प्रकाश हो रहा है उसमें अन्धकाररूप पाप क्या रह सकता है ? नहीं रह सकता ॥१४॥

अहिंसा धर्म के माहात्म्य से मनुष्य दीर्घजीवी, भाग्यशाली, धनाढ्य, सुन्दर और यशस्वी होता है ॥१५॥

अब सत्याणुव्रत का[१] निरूपण करते हैं–

सत्यवादी मनुष्य को प्रयोजन से अधिक बोलना, दूसरों के दोषों को कहना और असभ्य वचनों का बोलना छोड़कर सदा उच्चकुल को प्रकट करने वाले प्रिय, हितकारक और परिमाण युक्त वचन बोले ॥१॥

ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए जिससे दूसरे प्राणियों को और उसे भयानक आपत्तियों का सामना करना पड़े ॥२॥

सत्यवादी को सौम्य प्रकृतियुक्त, सदाचारी, हितैषी, प्रियवादी, परोपकारी और दयालु होना चाहिए ॥३॥

मंत्रभेद (दूसरों के निश्चित अभिप्राय को प्रकाशित करना) परनिन्दा, चुगली करना, झूठे दस्तावेज आदि लिखाना और झूठी गवाही देना इन दुर्गुणों को छोड़ना चाहिए क्योंकि इससे सत्यव्रत नष्ट होता है ॥४॥

जिस वाणी से गुरु आदि प्रमुदित होते हैं वह मिथ्या होने पर भी मिथ्या (झूठी) नहीं समझी जाती ॥५॥

सत्यवादी आत्मप्रशंसा और परनिन्दा का त्यागकर दूसरों के विद्यमान गुणों का घात न करता हुआ अपने अविद्यमान गुणों को न कहे ॥६॥

क्योंकि परनिन्दा और आत्मश्लाघा से मनुष्य को नीचगोत्र और उसका त्याग करने से उच्चगोत्र का बंध होता है ॥७॥

जो व्यक्ति दूसरों के साथ सद्व्यवहार करता है उसे स्वयं वैसा ही व्यवहार प्राप्त होता है; अतएव नैतिक मनुष्य को प्राणीमात्र के साथ कभी भी दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए ॥८॥

जो मनुष्य दूसरे प्राणियों में अज्ञानांधकार का प्रसार करते हैं वे स्वयं अपनी धमनियों में उसके प्रवाह का सिंचन करते हैं ॥९॥

लोक में प्राणियों के चित्तरूपी वस्त्र जब दोषरूपी जल से व्याप्त होते हैं तब गुरु (वजनदार–पापी) हो जाते हैं। परन्तु जब वे गुणरूपी गर्मी से युक्त होते हैं तब लघु (सूक्ष्म–पुण्यशाली) हो जाते हैं ॥१०॥

सत्यवादी पुरुष को सत्य के प्रभाव से वचनसिद्धि प्राप्त होती है एवं उसकी वाणी मान्य होती है ॥११॥

---

१. देखी यशस्तिलक आ० ७।

जो मनुष्य अपनी इच्छा, ईर्ष्या, क्रोध और हर्षादिक के कारण झूठ बोलता हैं वह इस लोक में जिह्वाच्छेदन आदि के दुःख और परलोक में दुर्गति के दुःखों को प्राप्त होता है ॥१२॥

नीति और धर्म से विरुद्ध मार्ग में प्रवृत्त हुए मनुष्य को इस लोक में अमिट अपकीर्ति और परलोक में चिरकालीन दुर्गति के दुःख होते हैं ॥१३॥

वसुराजा ने पर्वत नामक व्यक्ति के साथ जनता के समक्ष असत्यभाषण किया था इससे वह भयंकर अग्नि और भय से व्याप्त नरक भूमि को प्राप्त हुआ ॥१४॥

इति सत्याणुव्रतनिरूपणम्

अब अचौर्याणुव्रत का[1] निरूपण करते हैं।

सर्वसाधारण के उपयोग में आने वाले जल और तृण वगैरह पदार्थों को छोड़कर काम और क्रोधादि कषायवश दूसरों के धन को बिना दिया हुआ ग्रहण करना चोरी है ॥१॥

कुटुम्बियों की मृत्यु हो जाने पर उनका धन बिना दिया हुआ भी ग्राह्य है। इसके विपरीत जो लोग जीवित कुटुम्बियों के धन को लोभवश बिना दिया हुआ ग्रहण करते हैं उनका अचौर्याणुव्रत नष्ट हो जाता है ॥२॥

खजाना और खदान का धन राजा को छोड़कर अन्य का नहीं हो सकता; क्योंकि लोक में जिस धन का कोई स्वामी नहीं होता उसका स्वामी राजा ही समझा जाता है ॥३॥

मनुष्यों का स्वयं कमाया हुआ धन भी जब संदिग्ध (यह मेरा है अथवा दूसरे का है? इस प्रकार संदेहयुक्त) हो जाता है तब उसकी दूसरों का समझना चाहिए। अतः अचौर्याणुव्रती पुरुष को अपने कुटुम्ब के धन को छोड़कर दूसरे के धन को बिना दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥४॥

इसी प्रकार उसे मन्दिर, जल, वन और पहाड़ आदि में पड़े हुए दूसरों के धन को ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥५॥

नापने और तोलने के बाँटों को कमती या बढ़ती रखना, चोरी करने का उपाय बताना, चोरों के द्वारा लाई हुई वस्तु का ग्रहण करना और लड़ाई-झगड़ा करके धन का संग्रह करना इनसे अचौर्याणुव्रत नष्ट होता है ॥६॥

जिनका अचौर्याणुव्रत विशुद्ध है उन्हें रत्न, रत्नाङ्ग, स्त्रीरत्न और रत्नजड़ित वस्त्रादिविभूतियाँ बिना चिंतन किये प्राप्त होती हैं ॥७॥

जो लोग तृष्णा से मलिन बुद्धि युक्त होकर दूसरों की चोरी करते हैं उन्हें ऐहिक और पारलौकिककष्ट होते हैं ॥८॥

इति अचौर्याव्रतनिरूपणम्

अब ब्रह्मचर्याणुव्रत[2] का कथन करते हैं–

१, २ यशस्तिलक के अ. ९ से।

अपनी स्त्री को छोड़कर दूसरी समस्त स्त्रियों में माता, बहिन और पुत्री की बुद्धि होना ब्रह्मचर्याणुव्रत है ॥१॥

ब्रह्मचर्याणुव्रत की रक्षा की जाने पर अहिंसा और सत्य आदि गुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं इसलिए इसे अध्यात्म विद्या विशारदों ने ब्रह्मचर्य कहा है ॥२॥

ब्रह्मचारी को कामोद्दीपक चरित्र, रस और कामोद्दीपक शास्त्रों (कामसूत्र प्रभृति) से अपनी आत्मा में कामविकार की उत्पत्ति नहीं होने देना चाहिए ॥३॥

जिस प्रकार हवन करने योग्य द्रव्यों (घी और धूप आदि) से अग्नि सन्तुष्ट नहीं होती एवं बहुत जल से समुद्र सन्तुष्ट नहीं होता उसी प्रकार यह पुरुष भी सांसारिक भोगों (स्त्री आदि) से संतुष्ट नहीं होता ॥४॥

स्त्री आदि पंचेन्द्रियों के विषय विष फल के समान तत्काल में पुरुषों को मीठे मालूम पड़ते हैं परन्तु अन्त में विपत्तिरूपी फलों को देते हैं; इसलिए सज्जनों की इनमें क्यों आसक्ति होनी चाहिए ? अर्थात् नहीं होनी चाहिए ॥५॥

अनन्तवीर्य को धारण करने वाला यह मनुष्य अत्यन्त कामसेवन से नपुंसक हो जाता है ॥६॥

जब तक यह कामरूपी अग्नि मनुष्य के चित्तरूपी ईंधन में प्रदीप्त होती है तब तक उसमें स्वाध्याय, धर्मध्यान और धार्मिक क्रियाएँ किस प्रकार उत्पन्न हो सकती हैं ? नहीं हो सकतीं ॥७॥

इसलिए कामतत्परता को छोड़कर न्याय प्राप्त भोगों को भोजन के समान शारीरिक दाह की शान्ति के हेतु और खोटे ध्यान को नष्ट करने के लिए सेवन करना चाहिए ॥८॥

परस्त्री के यहाँ आना-जाना, कामसेवन के निश्चित अंगों को छोड़कर दूसरे अंगों से क्रीड़ा करना, दूसरों का विवाह करना, कामसेवन में तीव्र लालसा रखना और विटत्व ये पाँच ब्रह्मचर्य को नष्ट करते हैं ॥९॥

कामरूपी अग्नि से व्याप्त और परस्त्री में अनुरक्त व्यक्तियों को इस लोक में तत्कालीन और परलोक में भी भयानक विपत्तियाँ भोगनी पड़ती हैं ॥१०॥

ब्रह्मचर्य के प्रभाव से आश्चर्यजनक ऐश्वर्य, उदारता, वीरता, धैर्य, सौन्दर्य और विशिष्ट शक्ति आदि गुण प्राप्त होते हैं ॥११॥

॥ इति ब्रह्मचर्याणुव्रतनिरूपणम्॥

अब परिग्रहपरिमाणाणुव्रत का[1] कथन किया जाता है-

बाह्य तथा अभ्यान्तर वस्तुओं में 'यह मेरी है' इस प्रकार की मूर्च्छा करना परिग्रह है उसमें मनुष्य को अपनी चित्तवृत्ति संकुचित-सीमित करनी चाहिए ॥१॥

क्षेत्र, धान्य, धन, गृह, कुप्य (तांबा आदि धातु), शय्या, आसन, द्विपद, चतुष्पद (पशु) और

१. यशस्तिलक पृ० ३७१ से।

भांड ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं ॥२॥

मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ यह १४ प्रकार का अंतरंग परिग्रह है ॥३॥

जो लोग धन के लिए अपनी बुद्धि को प्रेरित करते हैं उनके मनोरथ निष्फल होते हैं; क्योंकि निरर्थक कार्यों में प्रवृत्त हुई बुद्धि फलार्थी पुरुषों की कामना को पूर्ण करने वाली नहीं होती ॥४॥

जबकि साथ उत्पन्न हुआ यह शरीर भी नित्य रहने वाला नहीं है तब महापुरुषों को धन, बच्चे और स्त्रियों में नित्य रहने की श्रद्धा क्यों करनी चाहिए ? अर्थात् नहीं करनी चाहिए ॥५॥

जो मनुष्य दानपुण्यादि धर्म के लिए और न्याय प्राप्त भोगों के भोगने के लिए धन नहीं कमाता वह धनाढ्य होकर के भी दरिद्र है, मनुष्य होकर के भी अधम कोटि का मनुष्य है ॥७॥

जो लोग प्राप्त धन में अभिमान नहीं करते तथा धन की प्राप्ति में वाञ्छा नहीं करते वे दोनों लोकों में लक्ष्मी के स्वामी होते हैं ॥८॥

जिनका मन बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहों में मूर्च्छा रहित है वे अगण्य पुण्य राशि से युक्त होकर सर्वत्र सुख प्राप्त करते हैं ॥९॥

जो उदार मनुष्य सत्पात्रों को दान देता हुआ धनसंचय करता है वह अपने साथ परलोक में धन को ले जाता है; इसलिये लोभियों में महालोभी है ॥१०॥

जो लोभवश परिमाण किये हुए धन से अधिक धन संचय करता है उसका यह व्रत नष्ट हो जाता है ॥११॥

जो मनुष्य उक्त दोनों प्रकार के परिग्रहों में लालसा नहीं रखते वे क्षणभर में स्वर्ग और मोक्षलक्ष्मी के केशपाश पकड़ने में या उसके पार्श्वभाग में रहने को समर्थ होते हैं ॥१२॥

धन की अधिक आकांक्षा रखने वालों का मन अवश्य ही पापों का संचय करता हुआ उन्हें संसाररूपी भंवरों में फँसा देता है ॥१३॥

॥ इति परिग्रहपरिमाणाणुव्रतनिरूपणम्॥

अब ३ गुणव्रतों[१] का निरूपण करते हैं–

गृहस्थव्रतियों के दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदंडव्रत ये तीन गुणव्रत सज्जनों ने निर्दिष्ट किये हैं ॥१॥

गुणव्रती श्रावक ''दशों दिशाओं में से अमुक दिशा में और समस्त देशों में से प्रतिनियत देश में ही मेरा गमन होगा'' ऐसा क्रमशः दिग्व्रत और देशव्रत में नियम करता है ॥२॥

इस प्रकार दिशा और देश का नियम करने वाले का चित्त अवधि से बाहर के पदार्थों में हिंसा, लोभ और उपभोग आदि का त्याग होने के कारण काबू में हो जाता है ॥३॥

१. यशस्तिलक के आधार से।

उक्त व्रत की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करने वाले व्रती श्रावक को परलोक में आज्ञा और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं ॥४॥ अब अनर्थदंडव्रत का[१] निरूपण करते हैं–

मयूर, मुर्गा, बाज, बिलाव, सर्प, नेवला, विष, काँटे, शस्त्र, अग्नि, चाबुक, जाल और रस्सी इन हिंसक प्राणियों के पालने का और कष्टदायक चीजों के रखने का पापयुक्त उपदेश देना, खोटा ध्यान करना, हिंसाप्रधान क्रीड़ा करना, निरर्थक कार्य करना, दूसरों को कष्ट देना, चुगली करना, शोक करना और दूसरों को रुलाना एवं इसी प्रकार के दूसरे कार्य जो कि प्राणियों का वध, बंधन और संरोध करने वाले हैं उनका करना, कषायों की वृद्धि करने से अनर्थदंड कहा गया है ॥१-३॥

अपने आचार को उत्तम बनाने की बुद्धियुक्त देशव्रती श्रावक निर्दयी जीवों का पालन न करें एवं परशु और कृपाण आदि हिंसा के उपकरणों को न देवे ॥४॥

व्रती श्रावक इसके माहात्म्य से अवश्य ही समस्त प्राणियों की मित्रता और उनके स्वामित्व को प्राप्त होता है ॥५॥

खोटा उपदेश देकर दूसरों को धोखा देना, निरर्थक आरंभ और प्राणिहिंसा में प्रवृत्ति करना, घोड़ों आदि पर अधिक बोझा लादना और अधिक कष्ट देना ये पाँच कार्य अनर्थदंडविरतिव्रत को नष्ट करते हैं ॥६॥

॥ इति गुणव्रतनिरूपणम्॥

अब चार शिक्षाव्रतों का[२] निरूपण करते हैं–

सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग नियम और पात्रदान यह चार प्रकार का शिक्षाव्रत है ॥१॥

आत्मा की उन्नति चाहने वाले श्रावकों को ईश्वर भक्ति का उपदेश 'समय' कहलाता है एवं उसमें निर्धारित क्रियाकाण्ड (प्रस्तावना और पुराकर्म आदि) को शास्त्रकारों ने 'सामायिक' कहा है ॥२॥

लोक में साक्षात् ईश्वर–तीर्थंकर के न होने पर भी उनकी मूर्ति की पूजा पुण्यबंध के लिए होती है। क्या गरुड़ की मूर्ति सर्प के विष की मारण शक्ति को नष्ट नहीं करती ? अवश्य करती है ॥३॥

जो व्यक्ति देवपूजा और साधुओं की सेवा न करके गृहस्थ होता हुआ भोजन करता है वह उत्कृष्ट अज्ञानांधकार का भक्षण करता है ॥४॥

अब प्रोषधोपवास का[३] निरूपण करते हैं–

प्रत्येक मास में वर्तमान दो अष्टमी और दो चतुर्दशी पर्वों को 'प्रोषध' कहते हैं। व्रती श्रावक को उनमें देवपूजा और उपवास आदि व्रतों का पालन करके अपनी धार्मिक उन्नति करनी चाहिए ॥१॥

उपवास के दिन उसे स्नान, गंध, अंगसंस्कार, वस्त्राभूषण और स्त्री में आसक्ति न करके समस्त पाप क्रियाओं का त्यागकर चारित्र पालन करने में तत्पर रहना चाहिए ॥२॥

---

१. यशस्तिलक के आधार से। २-३ यशस्तिलक आ० ८ से।

क्योंकि जो पुरुष बहुत आरम्भ में प्रवृत्ति करता है उसका कायक्लेश हाथी के स्नान की तरह निष्फल है ॥३॥

कायक्लेश (उपवासादि) के बिना आत्मा की विशुद्धि नहीं होती। क्या लोक में सुवर्णपाषाण की विशुद्धि के लिए अग्नि को छोड़कर अन्य कोई साधन है? अर्थात् नहीं है ॥४॥

जो पुण्यशाली पुरुष अपने चित्त को चरित्र पालन द्वारा पवित्र बनाता है उसने अपने कर कमलों में चिन्तामणि रत्न प्राप्त कर लिया और दु:खरूपी वृक्ष को जलाने के लिए दावानल अग्नि प्राप्त कर ली ॥५॥

अब भोगोपभोगपरिमाणव्रत का[१] निर्देश करते हैं–

जो अन्न आदि पदार्थ एक बार भोगा जाता है उसे भोग और जो वस्त्र और स्त्री आदि पदार्थ बार-बार सेवन किये जाते हैं उन्हें उपभोग कहते हैं ॥१॥

धार्मिक मनुष्य को अपने चित्त की तृष्णा की निवृत्ति के लिए उनका परिमाण करना चाहिए और प्राप्त और योग्य भोगोपभोग सामग्री के सेवन का नियम समय की मर्यादा से कर लेना चाहिए ॥२॥

यावज्जीवन और परिमितकाल पर्यन्त त्याग को क्रम से यम और नियम कहते हैं ॥३॥

इस व्रत को पालन करने वाले पुरुष को इस लोक में लक्ष्मी और परलोक में स्वर्गश्री प्राप्त होती है और पश्चात् मुक्तिश्री भी दूर नहीं रहती ॥४॥

पात्रदान का निरूपण, इसी धर्म समुद्देश के १० वें सूत्र में किया जावेगा।

॥ इति शिक्षाव्रतनिरूपणम्॥

अब उक्त सूत्र का युक्तिपूर्वक उपसंहार करते हैं–

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० ५० कारिका २४५-२४६) में आचार्यश्री विद्यानन्दि लिखते हैं कि जिस प्रकार ज्वर के निदान-प्रतिनियत कारणों (वात, पित्त और कफ की विषमता आदि) का ध्वंस उसको नष्ट करने वाली औषधि के सेवन से हो जाता है उसी प्रकार मुमुक्षु प्राणी में भी सांसारिक व्याधियों के कारणों (मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम) का ध्वंस भी उनकी औषधि के सेवन से– अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की सामर्थ्य से हो जाता है। ऐसा होने से कोई आत्मा समस्त दु:खों की निवृत्ति रूप मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिए जिन सत्कर्तव्यों (उक्त सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र) के अनुष्ठान से मनुष्य को स्वर्गश्री और मुक्तिश्री की प्राप्ति होती है उसे धर्म कहा गया है ॥१॥

अब अधर्म का निर्देश करते हैं–

अधर्मः पुनरेतद्विपरीतफलः ॥२॥

अर्थ–जो दुष्कर्म (मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम-मद्यपानादि) प्राणियों को स्वर्ग और मोक्ष

---

१. यशस्तिलक से।

से विपरीत फल–नरक और तिर्यंच गति के भयानक दुःख उत्पन्न करते हैं उन्हें अधर्म कहा है। नारद ने[१] भी उक्त बात का समर्थन किया है–

कौलों (नास्तिकों) ने मद्यपान, मांसभक्षण और परस्त्रीसेवन आदि दुष्कर्मों को धर्म माना है; परन्तु उनसे प्राणियों को नरकों के भयानक दुःख होते हैं अतएव विवेकियों को उनसे दूर रहना चाहिए ॥१॥ विशद विवेचन–

शास्त्रकारों ने[२] मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयमरूप असत्प्रवृत्ति को समस्त दुःखों का मूल कारण बताया है और वही अधर्म है; अतः उससे निवृत्त होने के लिए उक्त मिथ्यात्वादि का क्रमशः विवेचन किया जाता है।

(१) मिथ्यात्व का निरूपण–

आप्त, आगम और मोक्षोपयोगी तत्त्वों में श्रद्धान न करना सो मिथ्यात्व है। अथवा आचार्य श्री यशस्तिलक[३] में लिखते हैं–जिन रागी, द्वेषी, मोही और अज्ञानी व्यक्तियों में सत्यार्थ ईश्वर होने योग्य सद्‌गुण (सर्वज्ञता और वीतरागता आदि) नहीं हैं उनको देव–ईश्वर मानना तथा मद्यपान और मांसभक्षण आदि दुराचारों को सदाचार समझना एवं प्रतीतिबाधित तत्त्वों को मोक्षोपयोगी तत्त्व समझना यही मिथ्यात्व है विवेकी को इसका त्याग करना चाहिए ॥१॥

तथापि जो इस मूढ़ता को नहीं छोड़ता वह मिथ्यादृष्टि है उसे अपना सर्वनाश करना अच्छा नहीं ॥२॥

उदाहरणार्थ–नदी और तालाब आदि में धर्म समझकर स्नान करना, पत्थरों के ढेर लगाने में धर्म मानना, पहाड़ से गिरने तथा अग्नि में जल मरने में धर्म मानना, राग, द्वेष और मोहयुक्त देवताओं की ऐहिक धनपुत्रादि की चाह से उपासना करना, संसार में घुमाने वाले दम्भी और पाखण्डियों का सत्कार करना, ग्रहण के समय सूर्य और चन्द्रमा आदि की पूजा के निमित्त से स्नान करना, गौ को अनेक देवताओं का निवास समझकर पूजना तथा उसके मूत्र को पीना, हाथी घोड़ा और रथादिक की पूजा करना और पृथ्वी, यज्ञ, शस्त्र और पहाड़ों की पूजा करना इसे मिथ्यात्व समझना चाहिए। जो व्यक्ति उक्त मिथ्यात्व में प्रवृत्त होता हैं वह दोनों लोकों के सुखों से वंचित रहकर अपना सर्वनाश करता है।

---

१. तथा च नारद–मद्यमांसाशनासंगैर्यो धर्मः कौलसम्मतः। केवलं नरकायैव न स कार्यो विवेकिभिः ॥१॥

२. देखो रत्नकरण्डक श्रावकाचार, श्लोक ३।

३. अदेवे देवताबुद्धिमव्रते व्रतभावनाम्। अतत्त्वे तत्त्वविज्ञानमतो मिथ्यात्वमुत्सृजेत् ॥१॥
तथापि यदि मूढत्वं न त्यजेत् कोऽपि सर्वथा। मिथ्यात्वेनानुमान्योऽसौ सर्वनाशो न सुन्दरः ॥२॥
–यशस्तिलके सोमदेवसूरिः।

(२) अज्ञान का कथन—

अहिंसा धर्म का निरूपण करने वाले आगम ग्रन्थों (प्रथमानुयोग और करणानुयोगादि) तथा। सम्यक्त्व और चारित्र को दूषित न करने वाले लोकोपयोगी कलाओं के समर्थक शास्त्रों को छोड़कर मद्यपान और मांसभक्षणादि असत्प्रवृत्ति के समर्थक शास्त्रों का पढ़ना और सुनना आदि अज्ञान है उसे महाभयानक दु:खों का कारण समझकर त्याग करना चाहिए।

(३) असंयम का निरूपण—

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, यह असंयम है और यह प्राणी को इस लोक तथा परलोक में दु:ख देने वाला है। इसके ३ भेद हैं-(१) मानसिक, (२) वाचनिक और (३) कायिक।

(१) मानसिक असंयम—

अपनी विद्वत्ता, पूजा, कुल, जाति और बल आदि का अभिमान करना, दूसरों के गुणों या सम्पत्ति आदि की बढ़ती देखकर उनसे ईर्ष्या करना और दूसरों का बुरा चिंतन करना आदि मानसिक (मन से पैदा होने वाला) असंयम है।

(२) वाचनिक असंयम—

दूसरों के मर्म को भेदन करने वाले, असत्य, असभ्य और अप्रिय (कठोर) वचन बोलना या आगम से विरुद्ध प्रलाप करना, परनिन्दा, आत्म प्रशंसा और चुगली करना आदि वाचनिक (वचन से पैदा होने वाला) असंयम हैं।

(३) कायिक असंयम—

प्राणियों की हिंसा करना, कुशील, चोरी और जुआ खेलना आदि को कायिक असंयम कहते हैं। एवं शास्त्रकारों ने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप, प्रमाद (कुशल क्रियाओं में अनादर) निर्दयता, तृष्णा वृद्धि और इन्द्रियों की इच्छानुकूल प्रवृत्ति को असंयम कहा है[१]।

निष्कर्ष—विवेकी पुरुष को उक्त प्रकार मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम का त्यागकर, नैतिक कर्तव्य पालन करना चाहिए ॥२॥

अब धर्मप्राप्ति के उपायों को बताते हैं–

आत्मवत् परत्र कुशलवृत्तिचिन्तनं शक्तितस्त्यागतपसी च धर्माधिगमोपाया: ॥३॥

अर्थ—अपने समान दूसरे प्राणियों का हित चिंतन करना, शक्तिपूर्वक पात्रों को दान देना और शक्तिपूर्वक तपश्चर्या (समस्त इन्द्रियों तथा मन की लालसा को रोकना) करना ये धर्म प्राप्ति के

---

१. अव्रतित्त्वं प्रमादित्वं निर्दयत्वमतृप्तता।
इन्द्रियेच्छानुवर्तित्वं सन्त: प्राहुरसंयमम् ॥१॥ यशस्तिलक आ० ६।

उपाय हैं—इनके अनुष्ठान करने से विवेकी मनुष्य का जीवन आदर्श और धार्मिक हो जाता है ॥३॥

नीतिकार शुक्र ने[१] लिखा है कि विवेकी मनुष्य को अपने धन के अनुसार दान करना चाहिए जिससे उसके कुटुम्ब को पीड़ा न होने पावे ॥१॥

जो मूर्ख मनुष्य कुटुम्ब को पीड़ा पहुँचाकर शक्ति से बाहर दान करता है उसे धर्म नहीं कहा जा सकता किन्तु वह पाप है; क्योंकि उससे दान करने वाले को अपना देश छोड़ना पड़ता है ॥२॥

यथाशक्ति तप करने के विषय में गुरु नाम का विद्वान् लिखता है कि ''जो मनुष्य अपने शरीर को कष्ट पहुँचाकर व्रतों का पालन करता है उसकी आत्मा सन्तुष्ट नहीं होती। इसलिए उसे आत्म सन्तोष के अनुकूल तपश्चर्या करनी चाहिए[२] ॥३॥

अब सर्वोत्तम सत्कर्तव्य का विवरण करते है—

सर्वसत्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमं चरणम् ॥४॥

अर्थ—समस्त प्राणियों में समताभाव रखना—उनकी रक्षा करना यह सभी सत्कर्त्तव्यों में सर्वश्रेष्ठ सत्कर्त्तव्य है। शास्त्रकारों ने लिखा है कि संसार में जितने भी दान, शील, जप और तप आदि पुण्य कार्य हैं उन सबमें समता (अहिंसा-प्राणिरक्षा) का स्थान सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि दयारूपी नदी के किनारे अन्य सर्वधर्म (दान और शीलादि) तृण और घास की तरह उत्पन्न होते हैं, इसलिए उसके सूख जाने पर अन्य धर्म किस प्रकार सुरक्षित रह सकते हैं ? नहीं रह सकते[३]।

यशस्तिलक में[४] लिखा है कि जीवदया को एक ओर रक्खा जावे और धर्म के सभी अवान्तर भेदों को दूसरी ओर स्थापित किया जावे, उनमें खेती के फल की अपेक्षा चिन्तामणिरत्न के फल की तरह जीवदया का ही विशेष फल होगा। जिस प्रकार चिन्तामणिरत्न मन में चिंतन किये हुए अभिलषित पदार्थ को देने में समर्थ होने के कारण खेती के फल (धान्यादि) की अपेक्षा पुष्कल फल देता है उसी प्रकार अहिंसा धर्म भी अन्य धर्म के अवान्तर भेदों की अपेक्षा विशेष फल (स्वर्गश्री और मुक्तिश्री के सुख) देता है ॥१॥

पूर्व में भी कहा जा चुका है कि अहिंसा धर्म के प्रभाव से मनुष्य दीर्घजीवी, भाग्यशाली, लक्ष्मीवान सुन्दर और कीर्तिमान होता है[५] ॥२॥

अतः विवेकी पुरुष को सबसे पहले पूर्वोक्त मानसिक, वाचनिक और कायिक असंयम—

उक्तं च यतः शुक्रेण—

१. आत्मवित्तानुसारेण त्यागः कार्यो विवेकिना। कृतेन येन नो पीड़ा कुटुम्बस्य प्रजायते ॥१॥
कुटुम्बं पीडयित्वा तु यो धर्मे कुरुते कुधीः। न स धर्मो हि पापं तद्देशत्यागाय केवलं ॥२॥

२. तथा च गुरु—शरीरं पीड़यित्वा तु यो व्रतानि समाचरेत्। न तस्य प्रीयते चात्मा तत्तुष्यात्तप आचरेत् ॥१॥

३. दयानदीमहातीरे सर्वे धर्मास्तृणाङ्कराः। तस्यां शोषमुपेतायां कियन्नन्दन्ति ते चिरम् ॥१॥ – संगृहीत

४. ५. देखो यशस्तिलक ऊ पृ० ३३७।

अशुभ प्रवृत्ति को त्यागकर अहिंसा व्रत धारण करना चाहिए पश्चात् उसे दान और पूजा आदि पुण्यकार्य करना चाहिए[1] ॥३॥

नीतिकार नारद ने[2] भी कहा है कि ''शिष्टपुरुषों को जूँ, खटमल, डाँस, मच्छर आदि जीवों की भी बच्चों की तरह रक्षा करनी चाहिए; क्योंकि प्राणिरक्षा-सर्वश्रेष्ठ है, इसके त्याग करने से वैरभाव का संचार होता है'' ॥१॥

निष्कर्ष—उक्त प्रमाणों से प्राणि-रक्षा सर्वश्रेष्ठ है; अतः नैतिक पुरुष को उसमें प्रवृत्ति करनी चाहिए ॥४॥

अब निर्दयी पुरुषों की क्रियाएँ निष्फल होती हैं इसे बताते हैं-

न खलु भूतद्रु हां कापि क्रिया प्रसूते श्रेयांसि ॥५॥

अर्थ—प्राणियों की हिंसा करने वाले-निर्दयी पुरुषों की कोई भी पुण्य क्रिया कल्याणों को उत्पन्न नहीं करती-निर्दयी पुरुष कितनी भी शुभ-क्रियाएँ करते हों तथापि उनसे उनका कल्याण नहीं हो सकता ॥५॥

नीतिकार व्यास ने[3] भी उक्त बात का समर्थन किया है कि ''जो व्यक्ति निरपराध प्राणियों का वध करता है वह निर्दयी है उसकी पुण्य क्रिया निष्फल होती है और उसकी आपत्तियाँ बढ़ती रहती हैं'' ॥१॥

निष्कर्ष—अतः सुखाभिलाषी पुरुष कदापि जीव हिंसा में प्रवृत्ति न करे ॥५॥

अब दयालु पुरुषों का कथन करते हैं-

परत्राजिघांसुमनसां व्रतरिक्तमपि चित्तं स्वर्गाय जायते॥ ६॥

अर्थ—दूसरे प्राणियों की रक्षा करने वाले (दयालु) पुरुषों का चित्त व्रतरहित होकर के भी स्वर्ग के सुखों को उत्पन्न करने में समर्थ होता है-जो धार्मिक पुरुष प्राणियों की रक्षा करने में तत्पर रहते हैं वे दूसरे व्रत और नियम वगैरह न भी पालते हों तो भी उन्हें स्वर्ग के मनोज्ञ सुख प्राप्त होते हैं ॥६॥

यशस्तिलक के चतुर्थ आश्वास में भी आचार्य श्री लिखते हैं कि जो राजा दीर्घायु, शक्ति और आरोग्यता चाहता है उसे स्वयं जीवहिंसा न करनी चाहिए और राज्य में प्रचलित जीवहिंसा को रोकना चाहिए ॥१॥

क्योंकि एक पुरुष सुमेरुपर्वततुल्य-विपुल सुवर्णराशि का या समस्त पृथ्वी का दान कर देता है परन्तु यदि कोई दूसरा व्यक्ति एक प्राणी के जीवन की रक्षा करता है तो इस जीव रक्षा के सामने

---

१. देखो यशस्तिलक ऊ पृ० ३३७।

२. तथा च नारद- यूकामत्कुणदंशान्यपि पाल्यानि पुत्रवत्। एतदाचरणं श्रेष्ठं यत्त्यागो वैरसम्भवः ॥१॥

३. तथा च व्यास-अहिंसकानि भूतानि यो हिनस्ति स निर्दयः। तस्य कर्मक्रिया व्यर्था वर्द्धन्ते वापदः सदा ॥१॥

उस महादान की तुलना नहीं हो सकती–अर्थात् अभयदान (जीवरक्षा) करने वाले को विशेष फल मिलेगा ॥२॥

जिस प्रकार लोग अपने शरीर को दुःख नहीं देना चाहते उसी प्रकार यदि दूसरों को भी दुःख देने की इच्छा न करें तो उन्हें कभी किसी प्रकार का कष्ट नहीं हो सकता ॥३॥

व्यास ने[१] भी उक्त बात का समर्थन किया है कि ''जिनका चित्त दूसरों के घात करने में प्रवृत्त नहीं होता वे (दयालु पुरुष) दूसरे व्रतों से शून्य होने पर भी स्वर्ग के सुखों को प्राप्त करते हैं'' ॥१॥

निष्कर्ष–अतः सुखाभिलाषी शिष्टपुरुष सदा प्राणिरक्षा में प्रवृत्ति करे ॥६॥

अब शक्ति से बाहर दान करने का फल बताते हैं–

स खलु त्यागो देशत्यागाय यस्मिन् कृते भवत्यात्मनो दौःस्थित्यम् ॥७॥

अर्थ–जिस दान के करने से दाता के समस्त कुटुम्बीजन दरिद्र होकर दुःखी हो जाते हैं वह दान उसको देश त्याग कराने के लिए है।

भावार्थ–जो मनुष्य अपनी आमदनी आदि पर ध्यान न देकर शक्ति को उल्लंघन करके दान करने में प्रवृत्त होता है उसका दान जघन्य कोटि का समझना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से वह ऋण में फँस जाता है और उसका कुटुम्ब भी दुःखी हो जाता है पुनः कुछ काल के पश्चात् उसे अपना देश छोड़ना पड़ता है। अतएव विवेकी पुरुष को अपनी आमदनी के अनुसार यथाशक्ति दानधर्म में प्रवृत्ति करनी चाहिए ॥७॥

नीतिकार शुक्र ने[२] भी लिखा है कि ''जो व्यक्ति अपनी आमदनी से अधिक दान करता है उसके पुत्रादि कुटुम्बी कर्जा में फँसकर दुःखी हो जाते हैं और अन्त में वह दाता भी कर्ज आदि के भय से उस देश को छोड़कर दूसरे देश में चला जाता है ॥१॥

अमितगति आचार्य ने सुभाषित रत्न संदोह में लिखा है कि जिनमत में श्रद्धा रखने वाला भव्य पुरुष कर्मों का नाश करने के उद्देश्य से पात्र-दान करता है उसके प्रभाव से वह स्वर्गों में देवाङ्गनाओं का स्वामी होकर उनके साथ भोग भोगता है, पुनः वहाँ से चय करके उत्तम कुल में मनोज्ञ शरीर प्राप्त करके जैनधर्म धारण करके ज्ञानावरणादि कर्म शत्रुओं का नाशकर मोक्षसुख को प्राप्त होता है ॥१॥

निष्कर्ष–उक्त प्रमाण से पात्रदान का अनुपम और अचिन्त्य माहात्म्य होने पर भी नैतिक पुरुष को अपनी आमदनी के अनुसार यथाशक्ति पात्रदान में प्रवृत्ति करनी चाहिए जिससे उसके कुटुम्बी कष्ट न पावें और उसके चित्त में भी किसी प्रकार की आकुलता न हो ॥७॥

---

१. तथा च व्यास– येषां परविनाशाय नात्र चित्तं प्रवर्तते। अव्रता अपि ते मर्त्याः स्वर्गे यान्ति दयान्विताः ॥१॥

२. तथा च शुक्र–आगतेरधिकं त्यागं यः कुर्यात् तत्सुतादयः।दुःस्थिताः स्युः ऋणग्रस्ताः सोऽपि देशान्तरं व्रजेत् ॥१॥

अब दरिद्र से याचना करने वाले (भिक्षुक) के विषय में लिखते हैं–

स खल्वर्थी परिपन्थी यः परस्य दौःस्थित्यं जानन्नप्यभिलषत्यर्थम् ॥८॥

अर्थ–जो याचक दूसरे की दरिद्रता को जानता हुआ भी उससे याचना करता है–अपने लिए धनादि माँगता है वह उसका निश्चय से शत्रु है; क्योंकि उस याचक से उस दरिद्र दाता को पीड़ा होती है, इसलिए वह भिक्षुक उस दरिद्र व्यक्ति का शत्रु हुआ।

निष्कर्ष–अतः याचक का कर्तव्य है कि जब वह दूसरे की दरिद्रता का निश्चय कर ले तो उससे कदापि याचना न करे ॥८॥

बृहस्पति[1] नाम के विद्वान् ने भी सूत्रकार के अभिप्राय को व्यक्त किया है कि ''जो भिक्षुक दाता की दरिद्रता को जान करके भी लोभ के कारण उससे अविद्यमान धनादिक की याचना करता है वह उसका शत्रु है; क्योंकि वह बेचारा कष्ट भोगकर उसे कुछ दे देता है'' ॥१॥

अब शक्ति के अनुसार व्रत नियम करने का निर्देश करते हैं–

तद्व्रतमाचरितव्यं यत्र न संशयतुलामारोहतः शरीरमनसी ॥९॥

अर्थ–नैतिक पुरुष को ऐसे व्रत नियम करने चाहिए जिनसे उसके शरीर और मन क्लेशित न हों।

चारायण[2] नाम के विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो मनुष्य शरीर की सामर्थ्य का विचार न करके व्रत वा नियम करता है उसका मन संक्लेशित होता है पुनः वह पश्चात्ताप करने लगता है और इससे उसे व्रत का शुभ फल नहीं मिलता'' ॥१॥

विशदविमर्श–शास्त्रकारों ने[3] व्रत के निम्नप्रकार दो लक्षण किये हैं। न्यायप्राप्त भोगोपभोग सामग्री का कुछ काल की मर्यादा से त्याग करना व्रत है तथा असत् (नीतिविरुद्ध) कार्यों (हिंसा, झूठ, चोरी और कुशीलादि) से निवृत्त होना और अहिंसा तथा सत्य आदि शुभ कर्मों में प्रवृत्ति करना व्रत कहा गया है।

---

१. तथा च बृहस्पति–
असन्तमपि यो लौल्याज्जानन्नपि च याचते। साधुः स तस्य शत्रुहिं, यद्दानौ दुःखश्चायच्छति ? ॥१॥
[नोट–इस श्लोक का चतुर्थ चरण बिल्कुल अशुद्ध है, हमने उसकी निम्न प्रकार नवीन रचना करके संशोधित और परिवर्तित करते हुए अर्थसंगति ठीक की है।]–अनुवादक
असन्तमपि यो लौल्याज्जानन्नपि च याचते। साधुः स तस्य शत्रुर्हि यद्दुःखेन प्रयच्छति ॥१॥
संशोधित और परिवर्तित।

२. तथा च चारायण–
अशक्त्या यः शरीरस्य व्रतं नियममेव वा। करोत्यार्त्तो भवेत् पश्चात् पश्चात्तापात् फलच्युतिः ॥१॥

३. संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमो व्रतमुच्यते। प्रवृत्तिविनिवृत्ती वा सदसत्कर्मसंभवे ॥१॥
यशस्तिलक आ० ७।

प्रकरण में नैतिक व्यक्ति को असत् कार्यों (मद्यपान, मांसभक्षण और परकलत्र सेवन आदि) का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग करना चाहिए एवं शुक्ल कार्य (अहिंसा, सत्य और परोपकार आदि पुण्यकर्म) में प्रवृत्ति करनी चाहिए। तथा न्यायप्राप्त सेवन करने के योग्य इष्टसामग्री का त्याग भी अपनी शारीरिक शक्ति के अनुसार करना चाहिए ताकि उसे मानसिक खेद के कारण पश्चात्ताप न करना पड़े ॥९॥

अब त्याग-दानधर्म का माहात्म्य बताते हैं-

ऐहिकामुत्रिकफलार्थमर्थव्ययस्त्यागः ॥१०॥

अर्थ—इस लोक और परलोक संबंधी सुखों की प्राप्ति के लिए पात्रों को धनादिक का देना त्याग धर्म है।

अर्थात् दाता को जिस दान से ऐहिक (इस लोक संबंधी-कीर्ति, सम्मान और कौटुम्बिक श्रीवृद्धि आदि) और पारलौकिक (परलोकसंबंधी स्वर्ग-आदि) सुख प्राप्त हों उसे दान-त्यागधर्म कहा है।

अभिप्राय यह है कि दान पात्र को देना चाहिए परन्तु जो व्यसनी पुरुष व्यसनों में फँसकर अपने धन को बर्बाद करते हैं वह दान नहीं है किन्तु धन का नाश ही है।

चारायण[1] नाम के विद्वान् ने कहा है कि "नम्रतायुक्त धूर्त पुरुष, पहलवान, खोटा वैद्य, जुआरी, शठ, चाटुकार करने वाले चारण (भाट) और चोरों को जो धन दिया जाता है वह निष्फल है।"

विशद विवेचन—

शास्त्रकारों ने[2] लिखा है कि प्राणियों का मन उत्तम होने पर भी यदि तप, दान और ईश्वरादि की भक्ति (पूजा) से शून्य है तो वह कोठी में रक्खे हुए धान्यादिक के बीज के समान स्वर्ग एवं मोक्षरूप उत्तम फलों को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता। **भावार्थ—**जिस प्रकार धान्यादिक के बीज केवल कोठी में भरे हुए रक्खे रहें तो वे धान्य के अंकुरों को उत्पन्न नहीं कर सकते, परन्तु जब उन्हें खेत में बोया जावेगा और खाद और पानी आदि सामग्री मिलेगी तभी वे धान्यादिक के अंकुरों को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं उसी प्रकार मनुष्यों का प्रशस्त मन भी जब तप, दान और ईश्वर भक्ति से युक्त होगा तभी वह स्वर्गादि के उत्तम सुखों को उत्पन्न कर सकता है, अन्यथा नहीं।

आचार्य श्री यशस्तिलक में लिखते हैं कि विद्वानों ने अभय, आहार, औषधि और ज्ञानदान के

---

१. तथा च चारापण-
   धूर्ते वंदिनि मल्ले च कुवैद्ये कैतवे शठे।
   चाटुचारणचौरेषु दत्तं भवति निष्फलं ॥१॥

२. यशस्तिलक आ० ८ से।

भेद से ४ प्रकार का दान पात्रों में भक्तिपूर्वक यथाशक्ति देने का विधान बताया है[१] ॥१॥

अब प्रत्येक दान का फल भी बताते हैं कि अभयदान (प्राणियों की रक्षा करना) से दाता को मनोज्ञ शरीर, आहारदान से सांसारिक भोगोपभोग सामग्री, औषधिदान से निरोगी शरीर और विद्यादान से श्रुतकेवली पद प्राप्त होता है[२] ॥२॥

सबसे पहले विवेकी पुरुष को सदा समस्त प्राणियों को अभयदान देना चाहिए–अर्थात् उसे समस्त प्राणियों की रक्षा करनी चाहिए; क्योंकि अभयदान से शून्य व्यक्ति परलोक में कल्याण की कामना से कितनी भी शुभ क्रियाएँ (जप और तप प्रभृति) क्यों न करे परन्तु वे सब निष्फल होती हैं[३] ॥३॥

समस्त दानों में अभयदान श्रेष्ठ है इसलिए जो इसे देता है, वह दूसरे दान करता हो या न भी करता हो तथापि उसे उत्तम फल मिलता है[४] ॥४॥

जो व्यक्ति अभयदान देता है उसने समस्त आगम को पढ़ लिया और सर्वोत्कृष्ट तपश्चर्या कर ली तथा समस्त दान कर लिए ॥५॥

निष्कर्ष–नैतिक पुरुष को ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिए पात्रदान में प्रवृत्ति करनी चाहिए ॥१०॥

अब अपात्र को दान देने की निष्फलता बताते हैं–

भस्मनि हुतमिवापात्रेष्वर्थव्ययः ॥११॥

अर्थ–अपात्र–(नीति और धर्म से शून्य) व्यक्ति को दान देना भस्म (राख) में हवन करने के समान निष्फल है ॥११॥

नारद विद्वान्[५] लिखता है कि ''खोटा नौकर, वाहन, शास्त्र, तपस्वी, ब्राह्मण और खोटा स्वामी इनमें धन खर्च करना भस्म में हवन करने के समान निष्फल है।''

यशस्तिलक में लिखा है कि विद्वानों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से शून्य पुरुष को अपात्र कहा है उसमें दिया हुआ अन्न वगैरह का दान ऊसर जमीन में बीज बोने के समान निष्फल है ॥१॥

पात्र में दिया गया अन्नादि का दान श्रावकों की पुण्य वृद्धि का कारण होता है, क्योंकि बादलों का पानी सीप में ही मोती होता है ॥२॥

जिनके मन मिथ्यात्व से दूषित हैं और जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाप क्रियाओं में प्रवृत्ति करते हैं उनको दान देने से पाप बन्ध ही होता है जिस प्रकार सांप को दूध पिलाने

१. २. ३. ४. यशस्तिलक आ० ८ से।

५. तथा च नारद– कुभृत्ये च कुयाने च कुशास्त्रे कुतपस्विनि।
कुविप्रे कुत्सिते नाथे व्ययो भस्मकृतं यथा ॥१॥

से विष हो जाता है ॥३॥

अथवा यदि श्रावक दयालुता से उन्हें कुछ देता है तो अन्न दे देना चाहिए परन्तु अपने गृह में भोजन नहीं कराना चाहिए ॥४॥

क्योंकि उनका सम्मानादि करने से श्रावक का सम्यग्दर्शन दूषित होता है; जिस प्रकार स्वच्छ पानी भी विषैले बर्तन में प्राप्त होने से विषैला हो जाता है ॥५॥

निष्कर्ष—इसलिए अपात्रों को दान देना निरर्थक है ॥११॥

अब पात्रों के भेद बताते हैं—

पात्रं च त्रिविधं धर्मपात्रं कार्यपात्रं कामपात्रं चेति ॥१२॥

अर्थ—पात्रों (दान देने योग्य) के ३ भेद हैं—धर्मपात्र, कार्यपात्र और कामपात्र।

(१) धर्मपात्र[१]—जो बहुश्रुत विद्वान् प्रबल और निर्दोष युक्तियों के द्वारा समीचीन धर्म का व्याख्यान करते हैं और माता के समान कल्याण करने वाली शिक्षा का उपदेश देते हैं उन्हें साधु पुरुषों ने धर्मपात्र कहा है ॥१॥

(२) कार्य पात्र[२]—स्वामी के अनुकूल चलने वाले, प्रतिभाशाली, चतुर और कर्तव्य में निपुण सेवकों को कार्य पात्र कहा गया है ॥२॥

(३) कामपात्र[३]—इन्द्रियजन्य सुख का अनुभव करने वाले मनुष्यों का मन जिसके शरीर के स्पर्श से सुख प्राप्त करता है ऐसी उपभोग के योग्य कमनीय कामिनी को विद्वानों ने कामपात्र कहा है ॥३॥

(४) वशिष्ट ने[४] कहा है कि दाता को धर्मपात्र स्वर्ग के सुख, कार्य पात्र लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि और कामपात्र (अपनी स्त्री) दोनों लोकों के सुख देता है ॥४॥

विशद विवेचन—इन्हीं आचार्यश्री ने यशस्तिलक में[५] पात्रों के पाँच भेद बताये हैं जो विशेषज्ञातव्य हैं।

समयी (जैन सिद्धान्त का विद्वान् चाहे वह गृहस्थ हो या मुनि), श्रावक (प्रतिमारूप चरित्रधर्म को पालने वाला व्रती श्रावक), साधु (मुनिराज), आचार्य और जैनशासन की प्रभावना करने वाला विद्वान् इस प्रकार पाँच प्रकार के पात्र विद्वानों ने माने हैं ॥१॥

उक्त पाँचों पात्रों को दान देने का विधान किया गया है परन्तु विस्तार के भय से हम लिखना

---

१. देखो नीतिवाक्यामृत संस्कृत टीका पृ० ११

२-३. देखो नीतिवाक्यामृत संस्कृत टीका पृ० ११-१२

४. तथा च वशिष्ठ—

स्वर्गाय धर्मपात्रं च कार्यपात्रमिह स्मृतं। कामपात्रं निजा कान्ता लोकद्वयप्रदायकं ॥१॥

५. देखो यशस्तिलक आ० ८ पृ० ४०७।

नहीं चाहते।

अब पात्रों के विषय में दूसरों का मत संग्रह करते हैं–

एवं कीर्तिपात्रमपीति केचित् ॥१३॥

अर्थ–कुछ नीतिकारों ने उक्त पात्रों के सिवाय कीर्तिपात्र (जिसको दान देने पर दाता की संसार में कीर्ति हो) को भी दान देने योग्य पात्र बताया है ॥१३॥

[**नोट**–यह सूत्र नीति. की संस्कृत टीका पुस्तक में नहीं है किन्तु मु. मू. पुस्तक से संग्रह किया गया है]

अब जिन कारणों से मनुष्य की कीर्ति दूषित होती है उसे बताकर कीर्ति के कारण का निर्देश करते हैं–

किं तया कीर्त्या या आश्रितान्न विभर्ति, प्रतिरुणद्धि वा धर्मं भागीरथी-श्री-पर्वतवद्भावानामन्यदेव प्रसिद्धेः कारणं न पुनस्त्यागः यतो न खलु गृहीतारो व्यापिनः सनातनाश्च ॥१४॥

अर्थ–मनुष्य की उस कीर्ति से क्या लाभ है ? अर्थात् कोई लाभ नहीं है–वह निन्द्य है, जो अपने आश्रितों–अधीन में रहने वाले कुटुम्बियों तथा सेवकजनों का पालन नहीं करती और धर्म को रोकती है–नष्ट करती है। आशय यह है कि जो मनुष्य अपने अधीन रहने वालों का पालन पोषण तथा धर्म की रक्षा नहीं करता और ऊपरी नीति-विरुद्ध बातों में धन की बर्बादी करके कीर्ति भाजन बनता है उसकी वह कीर्ति निन्द्य समझनी चाहिए-अर्थात् वह अपकीर्ति है। संसार में गंगा, लक्ष्मी और पार्वती (पर्वत सम्बन्धी स्थान विशेष) की तरह पदार्थों की प्रसिद्धि का कारण दूसरा ही है सामान्य त्याग नहीं; क्योंकि दान लेने वाले पात्र लोग अत्यन्त प्रसिद्ध और सदा रहने वाले नहीं होते।

भावार्थ–मूर्ख और कुकर्मी नास्तिक लोग अपने अधीन रहने वालों को कष्ट देकर और स्वयं मद्यपान और परस्त्रीसेवन आदि कुकृत्यों में फँसकर धर्म को जलांजलि देकर जो कीर्ति प्राप्त करते हैं उनकी वह कीर्ति अपकीर्ति समझनी चाहिए।

विदुर[1] नाम के विद्वान् ने भी लिखा है कि ''मूर्ख लोग अपने अधीनों को सताकर धर्म को दूर छोड़कर जो कीर्ति प्राप्त करते हैं उनकी उस अधिक कीर्ति से भी क्या लाभ है ? अर्थात् कोई लाभ नहीं'' ॥१॥

''जुआरी और शराबी लोग जिसकी प्रशंसा करते हों एवं व्यभिचारिणी स्त्रियाँ जिसकी

---

१. तथा च विदुर–

आश्रितान् पीड़यित्वा च धर्मे त्यक्त्वा सुदूरतः। या कीर्तिः क्रियते मूढैः किं तयापि प्रभूतया ॥१॥

कैतवा यं प्रशंसन्ति यं प्रशंसन्ति मद्यपाः। यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो कीर्तिः साकीर्तिरूपिणी ॥२॥

प्रशंसा करती हों उसकी कीर्ति अपकीर्ति ही समझनी चाहिए ॥२॥

सूत्र की उक्त दृष्टान्त माला का समर्थन–

लोक में गंगा, लक्ष्मी और पर्वत का प्रदेश साधारण त्याग (क्रमशः निर्मल जल देना, धनादिक देना और पान्थों को विश्राम आदि देना) से प्रसिद्ध नहीं हैं किन्तु उस त्याग के साथ-साथ उनमें आश्रितों की रक्षा और पवित्रता के कारण धार्मिक उन्नति में सहायकपन पाया जाता है; इसलिए वे प्रसिद्ध हैं। उसी प्रकार मनुष्य भी जब अपने अधीनों का पालन और धार्मिक प्रगति करता हुआ दान धर्म में प्रवृत्ति करता है तब वह वस्तुतः कीर्ति भाजन होता है। सामान्य त्याग से मनुष्य की कीर्ति नहीं होती; क्योंकि दान लेने वाले पात्र विशेष प्रसिद्ध और चिरस्थायी नहीं होते।

अतएव नैतिक और विवेकी मनुष्य को चन्द्रवन्निर्मल कीर्ति प्राप्त करने के लिए पात्रदान के साथ-साथ अपने अधीनों की रक्षा करते हुए धार्मिक प्रगति करनी चाहिए ॥१४॥

अब कृपण के धन की आलोचना करते हैं–

स खलु कस्यापि माभूदर्थो यत्रासंविभागः शरणागतानाम् ॥१५॥

अर्थ–जिस धन के द्वारा शरण में आये हुए आश्रितों का भरण पोषण नहीं किया जाता उस कृपण का धन व्यर्थ है ॥१५॥

वल्लभदेव नाम के विद्वान ने[1] भी उक्त बात का समर्थन किया है कि ''उस लोभी की सम्पत्ति से क्या लाभ है ? जिसे वह अपनी स्त्री के समान केवल स्वयं भोगता है तथा जिसकी सम्पत्ति वेश्या के समान सर्वसाधारण या पान्थों के द्वारा नहीं भोगी जाती ॥१॥''

अब धन का उपयोग बताकर नैतिक व्यक्ति को अधिक लोभ करना उचित नहीं है इसका कथन करते हैं–

अर्थिषु संविभागः स्वयमुपभोगश्चार्थस्य हि द्वे फले,
नास्त्यौचित्यमेकान्तलुब्धस्य ॥१६॥

अर्थ–सम्पत्ति के दो ही फल हैं। (१) पात्रों को दान देना और (२) स्वयं उपभोग करना। अतएव नैतिक पुरुष को निरन्तर लोभ करना उचित नहीं ॥१६॥

गुरु नाम के[2] विद्वान् ने कहा है ''कि ब्राह्मण भी लोभ के वश होकर समुद्र पार करता है और हिंसा और मिथ्याभाषण आदि पापों में प्रवृत्ति करता है इसलिए अधिक मात्रा में लोभ नहीं करना चाहिए ॥१॥''

---

१. तथा च वल्लभदेव–किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला। या न वेश्येव सामान्या पथिकैरूपभुज्यते ॥१॥
२. तथा च गुरु– लोभात् समुद्रतरणं लोभात् पापनिषेवणं। ब्राह्मणोऽपि करोत्यत्र तस्मात्तं नातिकारयेत् ॥१॥

[1]सुभाषितरत्नभाण्डागार में लिखा है कि कृपण (लोभी) और कृपाण (तलवार) इसमें केवल 'आ' की दीर्घ मात्रा का ही भेद है अर्थात् कृपण शब्द के 'प' में ह्रस्व 'अ' है और 'कृपाण' शब्द के 'पा' में दीर्घ 'आ' विद्यमान है बाकी सर्व धर्म समान हैं; क्योंकि कृपण अपने धन को मुष्टि में रखता है और तलवार भी हाथ की मुट्ठी में धारण की जाती है।

कृपण अपने कोष (खजाने) में बैठा रहता है और तलवार भी कोष (म्यान) में रखी जाती है। कृपण मलिन रहता है और तलवार भी मलिन (काले रंग की) होती है। इसलिए 'कृपण' और 'कृपाण' में केवल आकार का ही भेद है अन्य सर्व धर्म समान हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार तलवार घातक है उसी प्रकार लोभी का धन भी धार्मिक कार्यों में न लगने से उसका घातक है; क्योंकि उससे उसे सुख नहीं मिलता उल्टे दुर्गति के दुःख होते हैं ॥१॥

अब नैतिक व्यक्ति के सत्कर्तव्य का निर्देश करते हैं–

दानप्रियवचनाभ्यामन्यस्य हि सन्तोषोत्पादनमौचित्यम् ॥१७ ॥[2]

अर्थ—दान और प्रिय वचनों के द्वारा दूसरों को सन्तुष्ट करना यह नैतिक मनुष्य का उचित सत्कर्त्तव्य है ॥१७॥

अब सच्चे लोभी की प्रशंसा करते हैं–

स खलु लुब्धो यः सत्सु विनियोगादात्मना सह जन्मान्तरेषु नयत्यर्थम् ॥१८॥

अर्थ—जो मनुष्य सज्जनों को दान देकर अपने साथ परलोक में धन ले जाता है, वही निश्चय से सच्चा लोभी है।

भावार्थ—धन का लोभी लोभी नहीं है किन्तु जो उदार है उसे सच्चा लोभी कहा गया है; क्योंकि पात्रदान के प्रभाव से उसकी सम्पत्ति अक्षय होकर उसे जन्मान्तर-स्वर्गादि में अक्षय होकर मिल जाती है ॥१८॥

वर्ग[3] नाम के विद्वान् ने भी कहा है कि ''इस लोक में दाता के द्वारा दिया गया पात्रदान अक्षय हो जाता है जिससे उसके सभी दूसरे जन्मों में उसके पास रहता है ॥१॥'' अब याचक को दूसरी जगह भिक्षा मिलने में जिस प्रकार विघ्न होता है उसे बताते हैं–

अदातुः प्रियालापोऽन्यस्य लाभस्यान्तरायः ॥१९ ॥[4]

अर्थ—जो व्यक्ति याचक को कुछ नहीं देता केवल उससे मीठे वचन बोलता है वह उसे दूसरे

---

१. सुभाषितरत्नभाण्डागारेच–
दृढ़तरनिबद्धमुष्टेः कोपनिषण्णस्य सहजमलिनस्य। कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ॥१॥

२. यह सूत्र संस्कृत टीका पुस्तक में नहीं है, मु. मू. पुस्तक से संकलन किया गया है।

३. तथा च वर्ग– दत्तं पात्रेऽत्र यद्दानं जायते चाक्षयं हि तत्। जन्मान्तरेषु सर्वेषु दातुश्चैवोपतिष्ठते ॥१॥

४. मु. मू. पुस्तक में ''अदातुः प्रियालापोऽन्यत्र लाभान्तरायः'' ऐसा पाठ है।

स्थान में भिक्षा मिलने में विघ्न उपस्थित करता है; क्योंकि वह बेचारा उसके आश्वासन में फँसकर दूसरी जगह भिक्षा लेने नहीं जा सकता ॥१६॥

वर्ग नाम के विद्वान् ने[1] भी लिखा है कि ''जो मनुष्य याचक को कुछ नहीं देता और स्पष्ट मनाई करके उसे छोड़ देता है, यद्यपि उस समय याचक की आशा भंग हो जाती है परन्तु भविष्य में उसे दुःख नहीं होता ॥१॥''

अब दरिद्र की स्थिति का वर्णन करते हैं–

सदैव दुःस्थितानां को नाम बन्धुः ॥२०॥

अर्थ–सदा दरिद्र रहने वाले पुरुषों का लोक में कौन बन्धु है ? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ–जो लोग कृषि और व्यापार आदि साधनों से धन संचय नहीं करते और सदा आलस्य में पड़े रहने से दरिद्र रहते हैं उनकी लोक में कोई सहायता नहीं करता ॥२०॥

जैमिनि[2] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि ''दरिद्र व्यक्ति यदि किसी गृहस्थ के मकान पर उपकार करने की इच्छा से जाता है तो वह उसे आता हुआ देखकर ''कहीं यह मुझसे कुछ माँग न लेवे'' इस आशंका से छिप जाता है'' ॥१॥ अब याचक का दोष निरूपण करते हैं–

नित्यमर्थयमानात् का नाम नोद्विजते ॥२१॥

अर्थ–सदा माँगने वाले याचक से कौन नहीं ऊब जाता ? सभी ऊब जाते हैं ॥२१॥

व्यास[3] नाम के विद्वान ने भी लिखा है कि ''कोई भी मनुष्य चाहे वह याचक का मित्र या बंधु ही क्यों न हो सदा माँगने वाले से दुःखी हो जाता है। उदाहरण में गाय भी अधिक दूध पीने वाले बछड़े से ऊबकर उसे लात मार देती है ॥१॥''

अब तप का स्वरूप बताते हैं–

इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं तपः ॥२२॥

अर्थ–पाँच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) और मन को वश में करना या बढ़ती हुई लालसाओं को रोकना तप है ॥२२॥

आचार्य श्री यशस्तिलक में लिखते हैं कि जो मनुष्य कायक्लेशरूप तप करता है, मंत्रों का जाप जपता है और देवताओं को नमस्कार करता है परन्तु यदि उसके चित्त में सांसारिक विषयभोगों की लालसा लगी हुई है तो वह तपस्वी नहीं कहा जा सकता और न उसे इस लोक और परलोक

१. तथा च वर्ग– प्रत्याख्यानमदाता ना याचकाय करोति यः। तत्क्षणाच्चैव तस्याशा वृथा स्यान्नैव दुःखदा ॥१॥

२. तथा च जैमिनि–
उपकर्तुमपि प्राप्तं निःस्वं दृष्ट्वा स्वमन्दिरे। गुप्तं करोति चात्मानं गृही याचनशङ्कया ॥१॥

३. तथा च व्यास–
मित्रैवं बन्धुवानौ वातिप्रार्थनार्दितंकुर्यात् ? अपि वत्समतिपिबन्तं विषाणैरधिक्षियति धेनुः ॥१॥

में सुख मिल सकता है। शास्त्रकारों ने[१] लिखा हैं कि जिस प्रकार अग्नि के बिना रसोई में चावल आदि नहीं पकाये जा सकते, मिट्टी के बिना घट नहीं बन सकता तथा तंतुओं के बिना वस्त्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार उत्कट तपश्चर्या के बिना कर्मों का क्षय नहीं हो सकता।

अब नियम का स्वरूप कहते हैं–

विहिताचरणं निषिद्धपरिवर्जनं च नियमः ॥२३॥

अर्थ–सत्यार्थशास्त्र निरूपित सत्कर्त्तव्यों (अहिंसा और सत्य आदि) का पालन और शास्त्रनिषिद्ध दुष्कर्मों (हिंसा और मिथ्याभाषण आदि) का त्याग करना नियम है ॥२३॥

नारद नाम के विद्वान् ने[२] भी कहा है कि–''शास्त्र विहित व्रतों (अहिंसा और सत्य आदि) का निर्विघ्न परिपालन करना और मद्यपानादि शास्त्रनिषिद्ध का त्याग करना नियम है ॥१॥''

अब आगम-शास्त्र का माहात्म्य बताते हैं–

विधिनिषेधावैतिह्यायत्तौ ॥२४॥

अर्थ–विधि-कर्तव्य में प्रवृत्ति और निषेध-अकर्तव्य से निवृत्ति ये दोनों सत्यार्थ आगम (शास्त्र) के अधीन हैं अर्थात् यथार्थ वक्ता के कहे हुए आगम में जिन कर्तव्यों के करने का विधान बताया है विवेकी मनुष्य को उनमें प्रवृत्ति करनी चाहिए और उक्त आगम में जिनके करने का निषेध किया गया है उन्हें त्यागना चाहिए।

भावार्थ–श्रेयस्कर कर्त्तव्य में प्रवृत्ति एवं ऐहिक और पारलौकिक दुःख देने वाले अकर्त्तव्यों से निवृत्ति का निर्णय आगम ही कर सकता है; जन साधारण नहीं ॥२४॥

भागुरि विद्वान् ने[३] कहा है कि ''शास्त्रविहित कर्त्तव्य पालन करने से प्राणी का अत्यन्त कल्याण होता है परन्तु शास्त्रनिषिद्ध कार्य भस्म में हवन करने के समान निष्फल होते हैं ॥१॥

जो मनुष्य पूर्व में किसी वस्तु को छोड़ देता है और पुनः उसे सेवन करने लगता है वह झूठा और पापी है ॥२॥ अब सत्यार्थ आगम-शास्त्र का निर्णय करते हैं–

तत्खलु सद्भिः श्रद्धेयमैतिह्यं यत्र न [४]प्रमाणवाधा पूर्वापरविरोधो वा ॥२५॥

अर्थ–जिसमें किसी भी प्रमाण से बाधा और पूर्वापर विरोध न पाया जाता हो, वही आगम

---

१. देखो कस्तूरी प्रकरण का तपोद्वार।

२. तथा च नारद–
यद्व्रतं क्रियते सभ्यगन्तरायविवर्जितं। न भक्षयेन्निषिद्धं यो नियमः स उदाहृतः ॥१॥

३. तथा च भागुरि–
विधिना विहितं कृत्यं परं श्रेयः प्रयच्छति। विधिना रहितं यच्च यथा भस्महुतं तथा ॥१॥
निषेधं यः पुरा कृत्वा कस्यचिद्वस्तुनः पुमान्। तदेव सेवते पश्चात् सत्यहीनः स पापकृत् ॥२॥

४. मु. मू. पु. 'स्वप्रमाणवाधा' ऐसा पाठ है।

शिष्टपुरुषों के द्वारा श्रद्धा करने योग्य-प्रमाण मानने योग्य है।

भावार्थ—जो आगम श्रेयस्कारक सत्कर्तव्यों की प्रतिष्ठा करने वाला और पूर्वापर के विरोध से रहित हो वही शिष्ट पुरुषों द्वारा प्रमाण मानने योग्य है। आचार्यश्री ने[१] यशस्तिलक में लिखा है कि ''जो शास्त्र पूर्वापर विरोध के कारण युक्ति से बाधित है वह मत्त और उन्मत्त के वचनों के तुल्य है अतः क्या वह प्रमाण हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥१॥

निष्कर्ष—वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी तीर्थंकरों द्वारा भाषित द्वादशाङ्ग आगम अहिंसाधर्म का समर्थक होने से पूर्वापर विरोध रहित होने के कारण अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करता है इसलिए शिष्ट पुरुषों के द्वारा प्रमाण मानने योग्य है ॥२५॥

नीतिकार नारद ने[२] भी लिखा है कि ''जो अपने सिद्धान्त के माहात्म्य को नष्ट न करता हो-उनकी प्रतिष्ठा करता हो, पूर्वापर के विरोध से रहित हो ऐसे आगम की शिष्ट पुरुष प्रशंसा करते हैं ॥१॥''

अब चंचलचित्त वालों का विवरण करते हैं-

हस्तिस्नानमिव सर्वमनुष्ठानमनियमितेन्द्रियमनोवृत्तीनाम् ॥२६॥

अर्थ—जिनकी इन्द्रियाँ और मन काबू में नहीं है उनके समस्त सत्कार्य-दान, जप, तप और संयमादि हाथी के स्नान की तरह निष्फल हैं। जिस प्रकार हाथी स्नान करके पुनः अपने शरीर पर धूलि डाल लेता है अतएव उसका स्नान करना व्यर्थ है उसी प्रकार जो मनुष्य जितेन्द्रिय नहीं हैं उनके समस्त सत्कार्य व्यर्थ हैं; क्योंकि वे चंचलचित्त के कारण पुनः कुकार्यों के गर्त में गिर जाते हैं। ॥२६॥

विशदविवेचन—शास्त्रकार[३] लिखते हैं कि जो व्यक्ति इन्द्रियों को वश में किये बिना ही शुभध्यान (धर्मध्यान) करने की लालसा रखता है वह मूर्ख अग्नि के बिना जलाये ही रसोई बनाना चाहता है। जहाज के बिना केवल भुजाओं के द्वारा ही अगाध समुद्र को पार करना चाहता है एवं खेतों में बीजों के बिना बोये ही धान्य की उत्पत्ति करना चाहता है।

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि आदि के बिना रसोई आदि का पाक नहीं हो सकता उसी प्रकार इन्द्रियों को वश किये बिना धर्मध्यान नहीं हो सकता ॥१॥

इसी प्रकार कोई भी मनुष्य मानसिक शुद्धि के बिना समस्त धार्मिक क्रियाएं करता हुआ भी मुक्तिलक्ष्मी को प्राप्त नहीं कर सकता।

---

१. पूर्वापरविरोधेन यस्तु युक्त्या च वाध्यते। मत्तोन्मत्तवचःप्रख्यः स प्रमाणं किमागमः ॥१॥ यशस्तिलके।

२. तथा च नारद-
स्वदर्शनस्य माहात्म्यं यो न हन्यात् स आगमः। पूर्वापरविरोधश्च शस्यते स च साधुभिः ॥१॥

३. देखो कस्तूरी प्रकरण का इन्द्रिय और मनोद्वार।

अन्धा पुरुष अपने हाथ में शीशे को धारण करता हुआ भी क्या उससे अपनी आकृति को जान सकता है ? नहीं जान सकता ॥२॥

नीतिकार सौनक ने[१] कहा है कि ''अशुद्ध इन्द्रिय और दुष्ट-चित्तवाला पुरुष जो कुछ भी सत्कार्य करता है वह सब हाथी के स्नान की तरह निष्फल है'' ॥१॥

अब जो ज्ञानवान होकर के भी शुभ कार्य में प्रवृत्त नहीं होता उसका विवरण करते हैं–

दुर्भगाभरणमिव देहखेदावहमेव ज्ञानं स्वयमनाचरतः ॥२७॥

अर्थ–जो अनेक शास्त्रों का ज्ञाता विद्वान् हो करके भी शास्त्रविहित सदाचार-अहिंसा और सत्य भाषण आदि में प्रवृत्ति नहीं करता, उसका प्रचुरज्ञान विधवा स्त्री के आभूषण धारण करने के समान शारीरिक क्लेश को उत्पन्न करने वाला-व्यर्थ है।

अर्थात् जिस प्रकार विधवा स्त्री का पति के बिना आभूषण धारण करना व्यर्थ है, उसी प्रकार नैतिक और धार्मिक सत्कर्तव्यों से पराङ्मुख रहने वाले विद्वान् का ज्ञान भी निष्फल है ॥२७॥

नीतिकार राजपुत्र ने[२] भी कहा है कि ''शास्त्रविहित सत्कर्त्तव्यों में प्रवृत्ति न करने वाले विद्वान् का ज्ञान विधवा स्त्री के आभूषण धारण करने के समान व्यर्थ है। अब दूसरों को धर्मोपदेश देने वालों की सुलभता बताते हैं–

सुलभः खलु कथक इव परस्य धर्मोपदेशे लोकः ॥२८॥

अर्थ–दूसरों को धर्मोपदेश देने में कुशल पुरुष कथावाचकों के समान सुलभ हैं। जिस प्रकार स्वयं धार्मिक अनुष्ठान न करने वाले कथावाचक बहुत सरलता से मिलते हैं, उसी प्रकार स्वयं धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन न करने वाले और केवल दूसरों को धर्मोपदेश देने वाले भी बहुत सरलता से मिलते हैं ॥२८॥

वाल्मीकि विद्वान् ने[३] भी कहा है कि ''इस भूतल पर कथावाचकों की तरह धर्म का व्याख्यान करने वाले बहुत पाये जाते हैं, परन्तु स्वयं धार्मिक अनुष्ठान करने वाले सत्पुरुष विरले हैं'' ॥१॥

अब तप और दान से होने वाले लाभ का विवरण करते हैं–

प्रत्यहं किमपि नियमेन प्रयच्छतस्तपस्यतो वा भवन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोकाः ॥२९॥

---

१. तथा च सौनक–
अशुद्धेन्द्रियचित्तो यः कुरुते कांचित् सत्क्रियां। हस्तिस्नानमिव व्यर्थं तस्य सा परिकीर्तिता ॥१॥

२. तथा च राजपुत्र–
यः शास्त्रं जानमानोऽपि तदर्थं न करोति च। तद् व्यर्थं तस्य विज्ञेयं दुर्भगाभरणं यथा ॥१॥

३. तथा च वाल्मीकि–
सुलभा धर्मवक्तारो यथा पुस्तकवाचकाः। ये कुर्वन्ति स्वयं धर्मं विरलास्ते महीतले ॥१॥

अर्थ–''जो धार्मिक पुरुष प्रत्येक दिन नियम से कुछ भी यथाशक्ति पात्रदान और तपश्चर्या करता है, उसे परलोक में स्वर्ग की उत्तमोत्तम सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं'' ॥२९॥

नीतिकार चारायण[१] भी उक्त सिद्धान्त का समर्थन करता है कि ''सदा दान और तप में प्रवृत्त हुए पुरुष को वह पात्र (दान देने योग्य त्यागी व्रती और विद्वान् आदि) और तप में व्यतीत किया हुआ समय उसे सद्गति–स्वर्ग में प्राप्त करा देता है'' ॥२॥

अब संचय–वृद्धि से होने वाले लाभ का कथन करते हैं–

कालेन संचीयमानः परमाणुरपि जायते मेरुः ॥३०॥

अर्थ–तिलतुषमात्र–थोड़ी भी वस्तु (धर्म, विद्या और धनादि) प्रतिदिन चिरकाल तक संचयवृद्धि की जाने से सुमेरु पर्वत के समान महान् हो जाती है ॥३०॥

नीतिकार भागुरि ने[२] लिखा है कि ''जो उद्योगी पुरुष सदा अपने खजाने की वृद्धि कराता रहता है उसका खजाना–धनराशि सुवर्ण के नित्य संचय से सुमेरु की तरह अनन्त–अपरिमित हो जाता है'' ॥१॥ अब धर्म, विद्या और धन की दैनिक वृद्धि करने से होने वाला लाभ बताते हैं–

धर्मश्रुतधनानां प्रतिदिनं लवोऽपि संगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिकः ॥३१॥

अर्थ–धर्म, विद्या और धन का प्रतिदिन थोड़ा–थोड़ा भी संग्रह करने से समय पाकर ये समुद्र से भी अधिक हो जाते हैं ॥३१॥

नीतिकार वर्ग[३] भी उक्त बात की पुष्टि करता है कि ''जो व्यक्ति सदा धर्म, विद्या और धन का संग्रह करता रहता है उसकी वे सब वस्तुएँ पूर्व में अल्प होने पर भी समय पाकर समुद्र के समान अनन्त हो जाती हैं'' ॥१॥

अब धर्म पालन में उद्योग शून्य पुरुषों को संकेत करते हुए कहते हैं–

धर्माय नित्यमनाश्रयमाणानामात्मवंचनं भवति[४] ॥३२॥

अर्थ–जो व्यक्ति धर्म का आचरण नहीं करते वे अपनी आत्मा को ठगते हैं।

वशिष्ठ ने[५] कहा है कि ''जिसने मनुष्य जीवन प्राप्त करके धर्म का आश्रय नहीं लिया, उसने

१. तथा च चारायण–
नित्यं दानप्रवृत्तस्य तपोयुक्तस्य देहिनः। सत्पात्रं वाथ कालो वा स स्याद्येन गतिर्वरा ॥१॥

२. तथा च भागुरि–
नित्यं कोषविवृद्धिं यः कारयेद्यत्नमास्थितः। अनन्तता भवेत्तस्य मेरोर्हेम्नो यथा तथा ॥१॥

३. तथा च वर्ग–
उपार्जयति यो नित्यं धर्मश्रुतधनानि च। सुस्तोकान्यप्यनन्तानि तानि स्युर्जलधिर्यथा ॥२॥

४. मु. मू. पु. में–''धर्माय नित्यमजाग्रतामात्मवञ्चनम्'' ऐसा पाठ है, अर्थभेद कुछ नहीं है।

५. तथा च वशिष्ठ–
मनुष्यत्वं समासाद्य यो न धर्मे समाश्रयेत्। आत्मा प्रवंचितस्तेन नरकाय निरूपितः ॥१॥

अपनी आत्मा को नरक का पात्र बनाकर बड़ा धोखा दिया''॥१॥

विशदविवेचन—शास्त्रकारों ने[१] कहा है कि जिस प्रकार सुगन्धि से शून्य पुष्प, दांतों से रहित मुख और सत्य से शून्य वचन शोभायमान नहीं होता, उसी प्रकार धर्म से शून्य मनुष्य भी शोभायमान नहीं होता ॥१॥

जो पुरुष सांसारिक सुखों के लिए मोक्ष सुख देने वाले धर्म का त्याग कर देता है वह निंद्य उस मूर्ख के सदृश है जो लकड़ी के लिए कल्पवृक्ष को काटता है, चूर्ण के लिए चिंतामणिरत्न को अग्नि में फेंकता है, एक कीले के लिए नौका को नष्ट करता है और गधी को खरीदने के लिए अपनी कामधेनु को दे देता है ॥२॥

अब एककाल में अधिक पुण्यसमूह के संचय की दुर्लभता बताते हैं–

कस्य नामैकदैव सम्पद्यते पुण्यराशिः ॥३३॥

अर्थ—किसको एक ही समय में प्रचुर पुण्य समूह प्राप्त होता है ? नहीं होता।

भावार्थ—लोक में कोई भी व्यक्ति एक काल में पुण्य राशि का संचय नहीं कर सकता किन्तु धीरे-धीरे कर सकता है ॥३३॥

नीतिकार भागुरि ने[२] कहा है कि ''मनुष्यों को मर्त्यलोक में सुख नहीं मिलता उन्हें सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख प्राप्त होता है क्रीड़ा मात्र में नहीं'' ॥१॥

अब आलसी पुरुष के मनोरथों की निष्फलता बताते हैं–

अनाचरतो मनोरथाः स्वप्नराज्यसमाः ॥३४ ॥[३]

अर्थ—उद्योगशून्य पुरुष के मनोरथ (मन में चितवन की हुईं सुख की कामनाएँ) स्वप्न में राज्य मिलने के समान व्यर्थ होते हैं। जिस प्रकार स्वप्न में राज्य की प्राप्ति निरर्थक है उसी प्रकार उद्योग शून्य आलसी मनुष्य की सुख प्राप्ति की कामनाएँ भी व्यर्थ होती हैं।

निष्कर्ष—इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को धर्म, ज्ञान और धनादि के संचय करने में नीतिपूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिए ॥३४॥

वल्लभदेव[४] नाम के विद्वान ने कहा है कि ''उद्योग से ही कार्य सिद्ध होते हैं मन में चाहने

---

१. उक्तं च–
गन्धेन हीनं कुसुमं न भाति, दंतेन हीनं वदनं न भाति। सत्येन हीनं वचनं न भाति, पुण्येन हीनः पुरुषो न भाति ॥१॥
सालं स्वर्गसदां छिनत्ति समिधे चूर्णाय चिन्तामणिं। वन्हौ प्रक्षिपति क्षिणोति तरणीमेकस्य शङ्कोः कृते॥
दत्तेदेवगवीं स गर्दभवधूयाहाय गर्हागृहं। यः संसारसुखाय सून्नितशिवं धर्मे पुमानुज्झति ॥२॥ कस्तूरीप्रकरण से।

२. तथा च भागुरि–
सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखं। न हेलया सुखं नास्ति मर्त्य लोके भवेन्नृणां ॥१॥

३. मु. मू. पु. में ''स्वयमनाचरतां मनोरथाः स्वप्न राज्यसमाः'' ऐसा पाठ है, परन्तु अर्थ भेद कुछ नहीं है।

४. तथा च वल्लभदेव–उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः। न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥१॥

मात्र से नहीं सोते हुए शेर के मुख में हिरण स्वयं नहीं प्रविष्ट होते'' ॥१॥

अब जो व्यक्ति धर्म के फल का उपभोग करता हुआ भी पाप में प्रवृत्ति करता है उसको कहते हैं–

धर्मफलमनुभवतोऽप्य[१] धर्मानुष्ठानमनात्मज्ञस्य ॥३५॥

अर्थ–जो मनुष्य धर्म के फल (मनुष्यजन्म, उच्चकुल, धनादि वैभव, दीर्घायु, विद्वत्ता और निरोगिता आदि) का उपभोग करता हुआ भी पापों में प्रवृत्ति करता है वह मूर्ख है।

विद्वान् सौनक ने[२] कहा है कि ''पूर्वजन्म में किये हुए धर्म से मनुष्यों को सुख मिलता है इसे विद्वान् पुरुष भलीभाँति जानते हैं परन्तु मूर्ख लोग नहीं जानते इससे वे पापों में प्रवृत्त होते हैं ॥१॥

शास्त्रकारों ने[३] कहा है कि जो पुरुष धर्म से उत्पन्न हुए फलों–पूर्वोक्त मनुष्य जन्म आदि को भोगता हुआ भी धर्मानुष्ठान में मन्दबुद्धि युक्त है–अर्थात् धर्म में प्रवृत्ति नहीं करता, वह मूर्ख, जड़, अज्ञानी और जघन्य कोटि का पशु है ॥१॥

जो मनुष्य स्वयं या दूसरों से प्रेरित हुआ भी अधर्म–पाप करने की चेष्टा नहीं करता वह विद्वान्, महाविद्वान्, बुद्धिमान और वास्तविक पंडित है ॥२॥

गुणभद्राचार्य ने[४] कहा है कि ''जो मनुष्य अज्ञान से धर्म को नष्ट करके उसके फलों (धनादि सम्पत्ति और विद्वत्ता आदि का उपभाग करते हैं वे पापी अनार और आम आदि के वृक्षों को जड़ से उखाड़कर उनके फलों को खाते हैं–अर्थात् जिस प्रकार अनार आदि सुन्दर वृत्तों को जड़ से उखाड़कर उनके फलों का खाना महामूर्खता है; क्योंकि इससे भविष्य में उनके फलों से वञ्चित रहना पड़ता है उसी प्रकार धर्म को नष्ट करके उसके फल–सुख का भोगना भी महामूर्खता है; क्योंकि इससे भविष्य में सुख नहीं मिलता ॥१॥

इसलिए हे भव्य प्राणी! तुझे पूर्वजन्म में किये हुए अहिंसा प्रधान दान, शील और तपश्चर्या आदि धार्मिक सत्कर्त्तव्यों के अनुष्ठान से धनादि सुख सामग्री प्राप्त हुई है; इसलिए तुम धर्म का पालन करते हुए न्याय–प्राप्त भोगों को भोगो। जिस प्रकार किसान धान्यादिक के बीज से विपुल धान्य पैदा करता है वह उसमें से भविष्य में धान्य के उत्पादक बीजों को सुरक्षित रखकर धान्य का उपभोग करता

---

१. 'ह्यः' इति मु. मू. पुस्तक में पाठ है।

२. तथा च सौनक–
अन्यजन्मकृताद्धर्मात् सौख्यं संजायते नृणां। तद्विज्ञै र्ज्ञायते नाज्ञैस्तेन ते पापसेवकाः ॥१॥

३. स मूर्खः स जडः सोऽज्ञः स पशुश्च पशोरपि। योऽश्नन्नपि फलं धर्माद्धर्मे भवति मन्दधीः ॥१॥
स विद्वान् स महाप्राज्ञः स धीमान् स च पंडितः। यः स्वतो वान्यतो वापि नाधर्माय समीहते ॥२॥
–यशस्तिलके सोमदेवसूरि

४. कृत्वा धर्मविधातं फलान्यनुभवन्ति ये मोहा–। दाच्छिद्य तरून् मूलात् फलानि गृहन्ति ते पापाः ॥१॥
धर्मादवाप्तविभयो धर्मे प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु। बीजादवाप्तधान्यः कृषीवलस्तस्य बीजमिव ॥२॥
–आत्मानुशासने गुणभद्राचार्यः।

है जिससे उसे भविष्य में धान्य मिलती रहती है उसी प्रकार तुम भी सुख के साधन धार्मिक अनुष्ठानों को करते हुए न्याय प्राप्त भोगों को भोगो; ऐसा न करने पर तुम अज्ञानी समझे जाओगे ॥२॥

अब विवेकी पुरुषों को धर्मानुष्ठान में स्वयं प्रवृत्ति करने का निरूपण करते हैं–

कः सुधीभैषजमिवात्महितं धर्मं परोपरोधादनुतिष्ठति ॥३६॥

अर्थ–कौन बुद्धिमान पुरुष औषधि के समान अपनी आत्मा का कल्याण करने वाले धर्म का पालन दूसरों के आग्रह से करेगा ? नहीं करेगा।

भावार्थ–जिस प्रकार बीमार पुरुष जब औषधि का सेवन स्वयं करता है तभी निरोगी होता है उसी प्रकार बुद्धिमान पुरुष को दुःखों की निवृत्ति के लिए स्वयं धर्मानुष्ठान करना चाहिए। क्योंकि दूसरों के आग्रह से धर्मानुष्ठान करने वाला श्रद्धाहीन होने से सुख प्राप्त नहीं कर सकता ॥३६॥

नीतिकार भागुरि ने[१] लिखा है कि ''जो मनुष्य दूसरों के आग्रह से औषधि और धर्म का सेवन करता है उसे क्रमशः आरोग्यलाभ और स्वर्ग के सुख प्राप्त नहीं होते'' ॥१॥

अब धर्मानुष्ठान करते समय जो बात होती है उसे बताते हैं–

धर्मानुष्ठाने भवत्यप्रार्थितमपि प्रातिलोम्य लोकस्य ॥३७॥

अर्थ–धर्मानुष्ठान करते समय मनुष्यों को अनिच्छित (बिना चाहे) विघ्न उपस्थित हो जाते हैं ॥३७॥

नीतिकार वर्ग ने[२] कहा है कि ''कल्याणकारक कार्यों में महापुरुषों को भी विघ्न उपस्थित होते है, परन्तु पापों में प्रवृत्त हुए पुरुषों के विघ्न नष्ट हो जाते हैं ॥१॥''

अब पाप में प्रवृत्त हुए पुरुष का कथन करते हैं–

अधर्मकर्मणि को नाम नोपाध्यायः पुरश्चारी वा ॥३८॥

अर्थ–पाप कार्य में प्रवृत्ति करने वाले को कौन उपदेश देने वाला अथवा अग्रसर–अगुआ नहीं होता ? सभी होते हैं ॥३८॥

भावार्थ–लोक में सभी लोग पापियों को पाप करने की प्रेरणा करते हैं और मैंने अमुक पाप कार्य किया है तुम भी करो ऐसा कहकर अग्रसर हो जाते हैं।

निष्कर्ष–नैतिक मनुष्य को किसी के बहकाने में आकर पाप कार्यों में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए ॥३८॥

रैभ्य[१] नाम के विद्वान् ने कहा है कि ''पापी को पाप का उपदेश देने वाले लोग बहुत हैं जो

---

१. तथा च भागुरि–
परोपरोधतो धर्मं भैषज्ञं च करोति यः। आरोग्यं स्वर्गगामित्वं न ताभ्यां संप्रजायते ॥१॥

२. तथा च वर्ग–
श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि। अश्रेयसि प्रवृत्तानां यान्ति क्वापि विलीनतां ॥२॥

स्वयं पाप करके उसे उसमें प्रेरित करते है ॥१॥''

अब पाप का निषेध करते हैं–

कण्ठगतैरपि प्राणै र्नाशुभं कर्म समाचरणीयं कुशलमतिभिः। ॥३८॥

अर्थ–बुद्धिमान पुरुषों को प्राणों के कण्ठगत–मरणोन्मुख होने पर भी पाप कार्य में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए, पुनः स्वस्थ अवस्था का तो कहना ही क्या है?

अर्थात् विवेकी पुरुष स्वस्थ अवस्था में पापों में किस प्रकार प्रवृत्ति कर सकते हैं ? नहीं कर सकते ॥३९॥

देवल[२] विद्वान् भी उक्त बात का समर्थन करता है कि ''बुद्धिमानों को अपने प्राणों के त्याग का अवसर आने पर भी पापकर्म नहीं करना चाहिए; क्योंकि उससे इहलोक में निन्दा और परलोक में अधम नीचगति प्राप्त होती है ॥१॥''

अब धूर्त–ठग लोग स्वार्थवश धनाढ्यों को पाप मार्ग में प्रवृत्त कराते हैं। इसका कथन करते हैं–

स्वव्यसनतर्पणाय धूर्तैर्दुरीहितवृत्तयः क्रियन्ते श्रीमन्तः ॥४०॥

अर्थ–धूर्त लोग (ठग) अपने व्यसनों-खोटी आदतों की पूर्ति करने के लिए अथवा अपनी आपत्ति दूर करने के लिए धनाढ्यों को पाप मार्ग में प्रवृत्ति कराते हैं।

भावार्थ–जब ठग लोग धनाढ्यों को परस्त्रीसेवन और मद्यपान आदि पाप कर्मों में प्रेरित कर देते हैं तब उन्हें धनाढ्यों से धनादिक की प्राप्ति होती है; जिससे उनकी स्वार्थसिद्धि के साथ–साथ आपत्तियाँ दूर हो जाती हैं।

निष्कर्ष–धनाढ्य पुरुषों को धूर्तों के बहकाये में आकर पाप मार्ग में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए ॥४०॥

अब दुष्टों की संगति का फल बताते हैं–

खलसंगेन किं नाम न भवत्यनिष्टम्[३] ॥४१॥

अर्थ–दुष्टों की संगति से मनुष्य को कौन–कौन से कष्ट या पाप नहीं होते ? सभी होते हैं ॥४१॥

वल्लभदेव[१] विद्वान् ने कहा है कि ''दुष्टों की संगति के दोष से सज्जन लोग विकार–पाप करने लगते हैं। दुर्योधन की संगति से महात्मा भीष्म पितामह गायों के हरण करने में प्रवृत्त हुए ॥१॥''

१. तथा च रैभ्य–
सुलभाः पापरक्तस्य लोकाः पापोपदेशकः। स्वयं कृत्वा च ये पापं तदर्थं प्रेरयन्ति च ॥१॥

२. तथा च देवलः
धीमद्भिर्नाशुभं कर्म प्राणत्यागेऽपि संस्थिता। इह लोके यतो निन्दा परलोकेऽधमा गतिः ॥१॥

३. ''खलसंसर्गः किं नाम न करोति ?'' ऐसा मु. मू. पु. में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

निष्कर्ष—अतः विवेकी मनुष्य को दुष्टों की संगति छोड़नी चाहिए ॥४१॥

अब दुष्टों का स्वरूप बताते हैं–

अग्निरिव स्वाश्रयमेव दहन्ति दुर्जनाः ॥४२॥

अर्थ—दुष्ट लोग अग्नि के समान अपने आश्रय-कुटुम्ब को भी नष्ट कर देते हैं। पुनः अन्य शिष्ट पुरुषों का तो कहना ही क्या है ? अर्थात् उन्हें अवश्य ही नष्ट करते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार अग्नि जिस लकड़ी से उत्पन्न होती है उसे सबसे पहिले जलाकर पुनः दूसरी वस्तुओं को जला देती है, उसी प्रकार दुष्ट भी पूर्व में अपने कुटुम्ब का पश्चात् दूसरों का क्षय करता है ॥४२॥

वल्लभदेव[२] विद्वान् ने भी उक्त बात का समर्थन किया है कि ''जिस प्रकार धूम अग्नि से उत्पन्न होता है और वह किसी प्रकार बादल होकर जलवृष्टि के द्वारा अग्नि को ही बुझाता है उसी प्रकार दुष्ट भी भाग्य से प्रतिष्ठा को प्राप्त करके प्रायः अपने बन्धु जनों को ही तिरस्कृत करता है'' ॥१॥

अब परस्त्री-सेवन का फल बताते हैं–

वनगज इव [३]तदात्वसुखलुब्धः को नाम न भवत्यास्पदमापदाम् ? ॥४३॥

अर्थ—परस्त्रीसेवन के सुख का लोभी कौन पुरुष जंगली हाथी के समान आपत्तियों का स्थान नहीं होता ? अर्थात् सभी होते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार जंगली हाथी हथिनी को देखकर उसके उपभोग करने की इच्छा से व्याकुलित होकर बंधन का दुःख भोगता है उसी प्रकार परस्त्री के सुख का इच्छुक विविध भाँति के बध-बंधनादि ऐहिक और नरकादि के पारत्रिक दुःख उठाता है ॥४३॥

नीतिकार नारद ने[४] भी कहा है कि ''काम से मत्त जंगली हाथी हथिनी के स्पर्श सुख से बन्धन का कष्ट भोगते हैं, इसलिए नैतिक मनुष्य को परस्त्री का उपभोग संबंधी सुख छोड़ देना चाहिए ॥१॥

अब धर्म के उल्लंघन करने का फल निर्देश करते हैं–

---

१. तथा च वल्लभदेव–
असतां संगदोषेण साधवो यान्ति विक्रियां। दुर्योधनप्रसङ्गेन भीष्मो गोहरणे गतः ॥१॥

२. तथा च वल्लभदेव–
धूमः पयोधरपदं कथमप्यवाप्यै–। षोऽम्बुभिः शमयति ज्वलनस्य तेजः॥
दैवादवाप्य खलु नीचजनः प्रतिष्ठां। प्रायः स्वयं बन्धुजनमेव तिरस्करोति ॥१॥

३. 'तादात्विकेति' ऐसा मु. मू. पु. में पाठ है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

४. तथा च नारदः–
करिणीस्पर्शसौख्येन प्रमत्ता वनहस्तिनः। बन्धमायान्ति तस्माञ्च तदास्वं वर्जयेत् सुखम् ॥१॥

धर्मातिक्रमाद्धनं परेऽनुभवन्ति, स्वयं तु परं पापस्य भाजनं सिंह इव सिन्धुरवधात्॥४४॥

अर्थ—धर्म-न्याय का उल्लंघन करके संचित किये हुए धन को कुटुम्बीजन ही खाते हैं और कमाने वाला केवल पाप का ही भागी होता है। जैसे शेर हाथी का शिकार करता है उससे शृगाल वगैरह को ही भोजन मिलता है उसे कोई लाभ नहीं होता, वह केवल पाप का ही संचय करता है ॥४४॥

नीतिकार विदुर ने[१] कहा है कि "यह जीव अकेला ही पाप करता है और कुटुम्बी लोग उसका उपभोग करते हैं वे लोग तो छूट जाते हैं, परन्तु कर्ता दोष से लिप्त होता है-दुर्गति के दुःख भोगता है ॥१॥

अब पापी की हानि बताते हैं–

बीजभोजिनः कुटुम्बिन इव नास्त्यधार्मिकस्यायत्यां किमपि शुभम्॥ ४५॥

अर्थ-बीज खाने वाले कुटुम्ब युक्त किसान की तरह पापी मनुष्य का उत्तरकाल-भविष्य में कुछ भी कल्याण नहीं होता। जिस प्रकार किसान यदि अपने खेत में बोने लायक संचित बीज राशि को खा जावे तो उसका भविष्य में कल्याण नहीं होता, क्योंकि बीजों के बिना उसके अन्न उत्पन्न नहीं होगा उसी प्रकार पापी भी सुख के कारण धर्म से विमुख रहता है अतएव उसका भी भविष्य में कल्याण नहीं हो सकता॥ ४५॥

भागुरि[२] विद्वान् ने भी उक्त बात का समर्थन किया है कि "बीज खाने वाले किसान को जिस प्रकार भविष्य वसन्त और शरद ऋतु आने पर सुख प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार पापी को भी परलोक में सुख प्राप्त नहीं हो सकता ॥१॥"

अब काम और अर्थ को छोड़कर केवल धर्म में प्रवृत्त हुए व्यक्ति का कथन करते हैं–

यः कामार्थावुपहत्य धर्ममेवोपास्ते स पक्वक्षेत्रं परित्यज्यारण्यं कृपति॥ ४६॥

अर्थ—जो व्यक्ति काम-न्याय प्राप्त कामिनी आदि भोगोपभोग सामग्री और अर्थ-धनादि सम्पत्ति या उसके साधन कृषि और व्यापार आदि को छोड़कर केवल धर्म का ही सतत सेवन करता है वह पके हुए काटने योग्य धान्यादि के खेत को छोड़कर जंगल को जोतता है।

भावार्थ—जिस प्रकार पकी हुई धान्य से परिपूर्ण खेत को छोड़कर पहाड़ की जमीन जोतना विशेष लाभदायक नहीं है उसी प्रकार काम और अर्थ (जीविका) छोड़कर केवल धर्म का सेवन गृहस्थ

१. तथा च विदुर–
एकाकी कुरुते पाप फलं भुङ्क्ते महाजनः। भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते ॥१॥

२. तथा च भागुरि–
पापासक्तस्य नो सौख्यं परलोके प्रजायते। बीजाशिहालिकस्येव वसन्ते शरदि स्थिते ॥१॥

के लिए विशेष लाभदायक नहीं है। आशय यह है कि यद्यपि पहाड़ की जमीन को जीतने से अतिवृष्टि आदि उपद्रवों के अभाव में धान्य की उत्पत्ति हो सकती है तथापि पके हुए खेत को काटकर उसके फल खाना उत्तम है उसी प्रकार गृहस्थ श्रावक को धर्मरूपी वृक्ष के फलस्वरूप काम और अर्थ के साथ धर्म का सेवन करना उचित है।

रैभ्य[१] विद्वान् भी लिखता है कि ''काम और अर्थ के साथ धर्म का सेवन करने से मनुष्य को क्लेश नहीं होता। अतएव सुखाभिलाषी पुरुष को काम और अर्थ से सहित ही धर्म का सेवन करना चाहिए ॥१॥''

आचार्य वादीभसिंह ने[२] भी लिखा है कि परस्पर की बाधारहित धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थों का सेवन किया जावे तो बाधारहित स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा अनुक्रम से मोक्ष भी प्राप्त होता है ॥१॥

निष्कर्ष—नैतिक पुरुष काम और अर्थ के साथ धर्म का सेवन करे ॥४६॥

अब बुद्धिमान मनुष्य का कर्तव्य निर्देश करते हैं–

स खलु सुधी[३]र्योऽमुत्र सुखाविरोधेन सुखमनुभवति॥ ४७॥

अर्थ—निश्चय से वही मनुष्य बुद्धिमान है जो पारलौकिक सुख का घात न करता हुआ सुखों का अनुभव करता है–न्याय प्राप्त भोगों को भोगता है।

भावार्थ—परस्त्री सेवन और मद्यपान आदि दुष्कृत्य पारलौकिक–स्वर्ग संबंधी सुख के घातक हैं, इस लिए उनको छोड़कर जो व्यक्ति न्याय प्राप्त सुख–स्वस्त्री संतोष और पात्रदान आदि करता है वही बुद्धिमान है।

वर्ग[४] नाम के विद्वान् ने कहा है कि ''बुद्धिमान पुरुष को कौल और नास्तिकों के द्वारा कहे हुए धर्म(मद्यपान, मांसभक्षण और परस्त्रीसेवन–आदि) में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इस धर्माभास (नाममात्र का धर्म) से निश्चय से नरकगति के भयंकर दुःख होते हैं ॥१॥''

अब अन्याय के सुखलेश से होने वाली हानि बताते हैं–

इदमिह परमाश्चर्यं यदन्यायसुखलवादिहामुत्रचानवधिर्दुःखानुबन्धः॥ ४८॥

अर्थ—अन्याय के सुखलेश से मनुष्यों को ऐहिक और पारलौकिक निस्सीम–सीमारहित अनन्त

---

१. तथा च रैभ्यः–
कामार्थसहितो धर्मो न क्लेशाय प्रजायते। तस्मात्ताभ्यां समेतस्तु कार्यएव सुखार्थिभिः ॥१॥

२. तथा च वादीभसिंहः–
परस्पराविरोधेन त्रिवर्गोयदि सेव्यते। अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥१॥

३. 'सुखी' ऐसा मु. मू. पु. में पाठ है, जिसका अर्थ–वही मनुष्य सुखी है।

४. तथा च वर्गः–
सेवनाद्यस्य धर्मस्य नरकं प्राप्यते ध्रुवं। धीमता तन्न कर्तव्यं कौलनास्तिककीर्तितम् ॥१॥

दुःख भोगने पड़ते हैं परन्तु मूर्खों को इस का ज्ञान नहीं होता यह संसार में बड़े आश्चर्य की बात है।

भावार्थ—जो लोग चोरी और छल-कपट आदि अन्याय करके धनसंचय करते हुए संसार में किञ्चिन्मात्र सुख भोगते हैं उन्हें इस का परिणाम महाभयंकर होता है अर्थात् इस लोक में उन्हें राजदण्ड आदि और परलोक में नरकसम्बन्धी अनंत दुःख भोगने पड़ते हैं, इस बात को बुद्धिमान पुरुष भली-भाँति जानते हैं परन्तु मूर्खों को इस का ज्ञान नहीं होता इसलिए आचार्यश्री ने आश्चर्य प्रकट किया है ॥४८॥

वशिष्ट[1] विद्वान ने भी उक्त बात का समर्थन किया है कि ''मूर्खों को अन्याय की कमाई से किञ्चिन्मात्र, नश्वर और शान्ति रहित सुख होता है, परन्तु ऐसी दुष्प्रवृत्ति से उन्हें ऐहिक और पारलौकिक महाभयंकर दुःख भोगने पड़ते हैं यह बड़ा आश्चर्य है''।

निष्कर्ष—नैतिक व्यक्ति को कदापि अन्याय में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए ॥४८॥

अब पूर्वजन्म में किये हुए धर्म और अधर्म का अकाट्य और प्रबल युक्तियों द्वारा समर्थन करते हैं–

सुखदुःखादिभिः प्राणिनामुत्कर्षापकर्षौ धर्माधर्मयोर्लिङ्गम् ॥४९॥

अर्थ—संसार में प्राणियों की सुख सामग्री—धनादि वैभव और विद्वत्ता आदि से उन्नति और दुःखसामग्री—दरिद्रता और मूर्खता आदि से अवनति देखी जाती है, वही उन्नति और अवनति उनके पूर्वजन्म में किये हुए धर्म और अधर्म का बोध कराती है अर्थात् लोक में प्राणियों की सुखसामग्री उनके पूर्वजन्मकृत धर्म का और दुःखसामग्री अधर्म का निश्चय कराती हैं।

भावार्थ—संसार में कोई राजा, कोई रङ्क, कोई धनाढ्य, कोई दरिद्र, कोई विद्वान् और कोई मूर्ख इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार की विषमताएँ (भेद) दृष्टिगोचर हो रही हैं, इससे निश्चय होता है कि जिस व्यक्ति ने पूर्वजन्म में धर्म किया था उसे सुख सामग्री प्राप्त हुई और जिसने पाप किया था उसे दुःख सामग्री प्राप्त हुई।

दक्ष[2] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि ''प्राणियों की सुख की वृद्धि उनके पूर्वजन्म में किये हुए धर्म का और दुःख की वृद्धि पाप का प्रकट निश्चय कराती है ॥१॥

समन्तभद्राचार्य ने[1] भी कहा है कि ''संसार में प्राणियों की अनेक प्रकार की सुख-दुःखरूप विचित्र-सृष्टि—कोई राजा, कोई रङ्क, कोई विद्वान् और कोई मूर्ख आदि उनके पूर्वजन्म में किये हुए पुण्य और पापकर्म के अधीन है। क्योंकि जिन-जिन कार्यों में विचित्रता—भिन्नता होती है, वे भिन्न-

---

१. तथा च वशिष्ठः–
चित्रमेतद्धिमूर्खाणां यदन्यायार्जनात् सुखं। अल्पं प्रान्तं विहीनं च दुःखं लोकद्वये भवेत् ॥१॥

२. तथा च दक्षः–
धर्माधर्मौ कृतं पूर्वं प्राणिनां ज्ञायते स्फुटं। विवृद्धया सुखदुःखस्य चिह्नमेतत् परं तयोः ॥१॥

भिन्न कारणों से उत्पन्न हुए देखे जाते हैं। जैसे शाल्यङ्कुरादिरूप विचित्र कार्यों के उत्पादक अनेक प्रकार के शालिबीजादिक उपलब्ध हैं अर्थात् शाल्यङ्कुर–धान्याङ्कुर के उत्पादक शालिबीज–धान्यबीज और गेहूँ के अंकुरों के उत्पादक गेहूँ बीज लोक में उपलब्ध हैं उसी प्रकार सुखरूपसृष्टि का कारण प्राणियों के पुण्यकर्म और दु:खरूप सृष्टि का कारण पापकर्म युक्तिसिद्ध हैं; क्योंकि इसमें किसी भी प्रमाण से बाधा नहीं आती; क्योंकि कारण को एक मानने पर कार्य में नानात्व नहीं आ सकता ॥१॥

निष्कर्ष—सुखसामग्री द्वारा उत्कर्ष चाहने वाले प्राणी को सदा नैतिक और धार्मिक सत्कर्त्तव्यों का अनुष्ठान करना चाहिए ॥४६॥

अब धर्माधिष्ठाता-भाग्यशाली का माहात्म्य वर्णन करते हैं–

किमपि हि तद्वस्तु नास्ति यत्र नैश्वर्यमदृष्टाधिष्ठातु: ॥५०॥

अर्थ—निश्चय से संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे भाग्यशाली प्राप्त न कर सकता है।

भावार्थ—भाग्यवान् धार्मिक व्यक्ति को संसार में सभी अभिलषित वस्तुएँ (धनादि वैभव विद्वत्ता आदि) प्राप्त होती हैं ॥५०॥

भृगु[२] नाम का विद्वान् लिखता है कि ''जिस प्राणी का कोई रक्षक नहीं है उसकी दैव-पूर्वजन्मकृत पुण्य रक्षा करता है। परन्तु जिसका भाग्य फूट गया हैं-जिसका आयुकर्म बाकी नहीं है वह सुरक्षित (अच्छी तरह रक्षा किया गया) होने पर भी नष्ट हो जाता हैं। उदाहरण-अनाथ प्राणी भी भाग्य के अनुकूल होने पर वन में छोड़ दिया जाने पर भी जीवित रहता है परन्तु जिसका भाग्य प्रतिकूल हैं उसकी गृह में अनेक उपायों द्वारा रक्षा की जा ने पर भी जीवित नहीं रहता ॥१॥''

शास्त्रकारों ने[३] लिखा है कि ''जिस मनुष्य के पूर्वजन्म में किये हुए प्रचुर पुण्य का उदय है–भाग्यशाली है उसको भयंकर वन भी प्रधान नगर हो जाता है। सभी लोग उससे सज्जनता का व्यवहार करते हैं। समस्त पृथिवी उसे निधियों और रत्नों से परिपूर्ण मिलती है ॥१॥''

संसारी प्राणियों को मनुष्य पर्याय, उच्चवंश, ऐश्वर्य, दीर्घायु, निरोगी शरीर, सज्जन मित्र,

---

१. कामादिप्रभवश्चित्र: कर्मबन्धानुरूपत:।
—देवागमस्तोत्रे स्वामी समन्तभद्राचार्य:।

२. तथा च भृगु:—अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं। सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति॥
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जित:। कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥१॥

३. तथा च भर्तृहरि:—भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं। सर्वोजन: सुजनतामुपयाति तस्य॥
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा। यस्वास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥१॥
मानुष्यं वरवंशजन्म विभवो दीर्घायुरारोग्यता। सन्मित्रं सुसुतं सती प्रियतमा भक्तिश्च तीर्थंकरे॥
विद्वत्वं सुजनत्वमिन्द्रियजय: सत्पात्रदाने रति:। एते पुण्यबिना त्रयोदशगुणा: संसारिणां दुर्लभा: ॥२॥

सुयोग्य पुत्र, धर्मात्मा–पतिव्रता स्त्री, तीर्थंकरों में भक्ति, विद्वत्ता, सज्जनता, जितेन्द्रियता और पात्रों को दान देना ये १३ प्रकार के सद्‌गुण (सुखसामग्री) पुण्य के बिना दुर्लभ हैं–जिसने पूर्वजन्म में पुण्य संचय किया है उस भाग्यशाली पुरुष को प्राप्त होते हैं ॥२॥

यह धर्म धनाभिलाषियों को धन, इच्छित वस्तु चाहने वालों को इच्छित वस्तु, सौभाग्य के इच्छुकों को सौभाग्य, पुत्राभिलाषियों को पुत्र और राज्य की कामना करने वालों को राज्यश्री प्रदान करता है। अधिक क्या कहा जावे संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे यह देने में समर्थ न हो, यह प्राणियों को स्वर्गश्री और मुक्तिश्री को भी देने में समर्थ है ॥१॥

जैनधर्म, धनादि ऐश्वर्य, सज्जन महापुरुषों की संगति, विद्वानों की गोष्ठी, वक्तृत्वकला, प्रशस्तकार्य पटुता, लक्ष्मी के सदृश सुन्दर पतिव्रता स्त्री, गुरुजनों के चरण कमलों की उपासना, शुद्धशील और निर्मलबुद्धि ये सब इष्टसामग्री भाग्यशाली पुरुषों की प्राप्त होती है ॥१॥

भगवान् जिनसेनाचार्य ने[१] कहा है कि यह धर्म आत्मा को समस्त दुःखों से छुड़ाकर ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाले मोक्षसुख को उत्पन्न करता है। इस के माहात्म्य से यह प्राणी देवेन्द्र, चक्रवर्ती, गणधर और तीर्थंकर के ऐश्वर्य को प्राप्त कर के पुनः अमृतपद–मोक्षपद को प्राप्त होता है ॥१–२॥

धर्म ही इस जीव का सच्चा बन्धु, मित्र और गुरु है। अतएव प्रत्येक प्राणी को स्वर्ग और मोक्ष देने वाले धार्मिक सत्कर्मों के अनुष्ठान में अपनी बुद्धि को प्रेरित करनी चाहिए ॥३॥

धर्म से सुख मिलता है और अधर्म से दुःख इसलिए विद्वान् पुरुष दुःखों से छूटने की इच्छा से धर्म में प्रवृत्ति करता है[२] ॥४॥

जीवदया, सत्य, क्षमा, शौच, संतोष–(मूर्च्छा का त्याग) सम्यग्ज्ञान और वैराग्य ये धर्म हैं और इनके विपरीत हिंसा, झूठ, क्रोध, लोभ, मूर्च्छा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये अधर्म हैं ॥१॥

जिस प्रकार[१] पागल कुत्ते का विष वर्षाकाल आने पर प्राणी को दुःख देता है उसी प्रकार पाप

धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः कामार्थिनां कामदः। सौभाग्यार्थिषु तत्प्रदः किमपरः पुत्रार्थिनां प्रत्रदः॥
राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमथवा नानाविकल्पैर्नृणां। तत्किं यन्न करोति किं च कुरुते स्वर्गापवर्गावपि ॥१॥
–संगृहीत

जैनो धर्मः प्रकटविभवः संगतिः साधुलोके। विद्वद्‌गोष्ठी वचनपटुता कौशलं सत्क्रियासु॥
साध्वी लक्ष्मी चरणकमलोपासना सद्‌गुरुणां। शुद्धं शीलं मतिविमलता प्राप्यते भाग्यवद्भिः ॥१॥ –सगृहीत

१. धर्मः प्रपाति दुखेभ्यो धर्मः शर्म तनोत्ययं। धर्मो नैश्रेयसं सौख्यं दत्ते कर्मक्षयोद्भवम् ॥१॥
धर्मादेव सुरेन्द्रत्वं नरेन्द्रत्वं गणेन्द्रता। धर्मातीर्थंकरत्वं च परमानन्त्यमेव च ॥२॥
धर्मो बंधुश्व मित्रं च धर्मोऽयं गुरुरंगिनां। तस्माद्धर्मे मति धत्स्व स्वर्मोक्षत्सुखदायिनि ॥३॥
धर्मात्सुखमधर्माच्च दुःखमित्यविगानतः। धर्मकपरतां धत्ते बुद्धोऽनर्थजिहासया ॥४॥ –आदिपुराण पर्व १०

२. धर्मः प्राणिदया सत्यं क्षान्तिः शौचं वितृप्तता। ज्ञानवैराग्यसंपत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः ॥१॥ –आदिपुराण पर्व १०

भी समय आने पर जीव को नरकगति के भयानक दु:ख देता है ॥२॥

जिस प्रकार अपथ्य सेवन से ज्वर वृद्धिंगत होता हुआ जीव को क्लेशित करता हे उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि का पाप अशुभाशय से वृद्धि को प्राप्त होकर भविष्य में नानाप्रकार के शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक दु:खों को देता है ॥३॥

धर्म के प्रभाव से समुद्र का अथाहपानी स्थल और स्थल जलरूप होकर सन्ताप दूर करता है। धर्म आपत्तिकाल में जीव की रक्षा करता है और दरिद्र को धन देता है इसलिए प्रत्येक प्राणी को तीर्थंकरों के द्वारा निरूपण किये हुए धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए ॥४॥

जिनेन्द्रभक्ति, स्तुति और सपर्या–पूजा यह प्रथमधर्म या पुण्य है। लोभकषाय को त्यागकर पात्रदान करना यह दूसरा धर्म है। एवं यह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रह इन पाँच व्रतों के अनुष्ठान से तथा इच्छानिरोधरूप तप से होता है। अत: विवेकी और सुखाभिलाषी पुरुषों को सदा धर्म में प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥५॥

निष्कर्ष–नैतिक पुरुष को पापों से पराङ्मुख होकर नीतिपूर्ण पुरुषार्थ–उद्योग से समस्त सुखों को देने वाले धर्म में प्रवृत्ति करते हुए भाग्यशाली बनना चाहिए; क्योंकि सांसारिक सभी मनोज्ञतम वस्तुएँ उसे प्राप्त होती हैं ॥५०॥

॥ इति धर्मसमुद्देश:॥

१. आदिपुराण के आधार से।

(२) अर्थसमुद्देशः

अब अर्थसमुद्देश के आरम्भ में अर्थ–धन का लक्षण करते हैं–

यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः ॥१॥

अर्थ–जिससे मनुष्यों के सभी प्रयोजन–लौकिक और पारलौकिक सुख आदि कार्य सिद्ध हों उसे अर्थ–धन कहते हैं।

भावार्थ–उदार नररत्न का धन ही वास्तविक धन है, क्योंकि उससे उसके समस्त प्रयोजन–कार्य सिद्ध होते हैं परन्तु कृपणों के द्वारा जमीन में गाड़ा हुआ धन वास्तविक धन नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह उनके लौकिक और पारलौकिक सुखरूप प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकता ॥१॥

वल्लभदेव[1] नाम के विद्वान् ने कहा है कि ''यदि गृह के मध्य में गाढ़े हुए धन से कृपणों को धनिक कहा जाता है तो उनके उसी धन से हम लोग (निर्धन) धनिक क्यों नहीं हो सकते ? अवश्य हो सकते हैं ॥१॥

जमीन के मध्य में वर्तमान कृपणों द्वारा सुरक्षित धन न तो धार्मिक सत्कार्य (पात्रदान) में उपयोग किया जाता है और न सांसारिक भोगोपभोग में। अन्त में उसे चोर और राजा लोग खा जाते हैं॥२॥

विशद विवेचन–

मनुष्य को ऐहिक एवं पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिए–अर्थ–धन अनूठा साधन है। विवेकी और उदार मनुष्य इससे दानपुण्यादि धर्म, सांसारिक सुख और स्वर्गश्री को प्राप्त कर सकता है। परन्तु दरिद्र व्यक्ति धन के बिना अपनी प्राणयात्रा–प्राणरक्षा ही नहीं कर सकता, पुनः दानपुण्यादि करना तो असंभव ही है क्योंकि जिस प्रकार पहाड़ से नदियाँ निकलती हैं उसी प्रकार धन से धर्म उत्पन्न होता है। लोक में निर्धन मनुष्य स्थूलकाय (मोटा–ताजा) होने पर भी दुर्बल, और धनाढ्य कृशकाय–कमजोर होने पर भी बलिष्ठ समझा जाता है। संसार में जिसके पास धन है उसे लोग कुलीन, पण्डित,

१. उक्तं च वल्लभदेवेनः–
गृमध्यनिखातेन धनेन धनिनो यदि। भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥१॥
यन्न धर्मस्य कृते प्रयुज्यते यन्न कामस्य च भूमिमध्यगम्। तत् कदर्यपरिरक्षितं धनं चौरपार्थिवग्रहेषु भुज्यते॥ २॥

शास्त्रज्ञ, गुणवान्, गुणज्ञ, वक्ता और मनोज्ञ मानते हैं, इसलिए शास्त्रकारों ने जीविकोपयोगी साधनों द्वारा न्याय से धनसंचय करने का उपदेश दिया है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने[१] कहा है कि इतिहास के आदिकाल में जब प्रजा की जीवनरक्षा के साधन कल्पवृक्ष नष्टप्राय हो चुके थे उस समय प्रजा की प्राणरक्षा के इच्छुक प्रजापति भगवान् ऋषभदेव तीर्थंकर ने सबसे पहले उसे खेती और व्यापार आदि जीविकोपयोगी साधनों में प्रेरित किया था।

भगवज्जिनसेनाचार्य ने[२] भी कहा है कि उस समय भगवान् ऋषभदेव ने प्रजा की जीवनरक्षा के लिए उसे असि-शस्त्रधारण, मषि-लेखनकला, कृषि-खेती, विद्या, वाणिज्य-व्यापार और शिल्पकला इन जीविकोपयोगी ६ साधनों का उपदेश दिया था।

नीतिकार कामन्दक ने[३] कहा है कि ''कोष (खजाना) वाले राजा को धर्म और धन के लिए एवं भृत्यों के भरणपोषणार्थ और संकटों से बचने के लिए अपने कोष की रक्षा करनी चाहिए ॥१॥

उसे प्रमाणिक अर्थशास्त्री कुशलपुरुषों के द्वारा अपने खजाने की वृद्धि करनी चाहिए तथा धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों की वृद्धि के लिए समय-समय पर कोष में से सम्पत्ति खर्च करनी चाहिए[४]॥२॥

जिस प्रकार देवताओं के द्वारा जिसका अमृत पी लिया गया है ऐसा शरद ऋतु का चन्द्रमा शोभायमान होता है उसी प्रकार वह राजा भी जिसने अपना खजाना धर्म की रक्षा के लिए खाली कर दिया है, शोभायमान होता[५] है॥३॥

निष्कर्ष—उक्त न्यायोचित साधनों द्वारा संचित किये हुए उदार-स्वार्थ त्यागी व्यक्ति के धन को वास्तविक धन कहा गया है; क्योंकि उससे उसके सभी प्रयोजन सिद्ध होते हैं ॥१॥

अब धनाढ्य होने का उपाय बताते हैं—

सोऽर्थस्य भाजनं योऽर्थानुबन्धेनार्थमनुभवति॥२॥

अर्थ—जो मनुष्य सदा सम्पत्तिशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार-अर्थानुबन्ध-(व्यापारादि साधनों से अविद्यमान धन का संचय, संचित की रक्षा और रक्षित की वृद्धि करना) से धन का अनुभव करता है उसके संचय आदि में प्रवृत्ति करता है वह उस का पात्र-स्थान होता है-धनाढ्य हो जाता है।

---

१. प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः १/२
बृहत्स्वयंभूस्तोत्रे स्वामी समन्तभद्राचार्यः।

२. असिर्मषिः कृषिविद्या वाणिज्यं शिल्पमेव वा। कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥१॥
आदिपुराणे भगवज्जिनसेनाचार्यः।

३. देखो नीतिसार सर्ग ४ श्लोक ६४।

४. ५. देखो नीतिसार पृ० ६३ श्लोक ८६-८७।

वर्ग[1] विद्वान् ने भी आचार्यश्री के अभिप्राय को व्यक्त किया है कि ''निश्चय से वह व्यक्ति कभी भी निर्धन-दरिद्र नहीं होता जो सदा अविद्यमान धन की प्राप्ति, प्राप्त किये हुए धन की रक्षा और रक्षा किये गये की वृद्धि में प्रयत्नशील रहता है ॥१॥''

अब अर्थानुबन्ध का लक्षण करते हैं-

अलब्धलाभो लब्धपरिरक्षणं रक्षितपरिवर्द्धनं चार्थानुबन्धः॥ ३॥

अर्थ—व्यापार और राज्यशासन आदि में किये जानेवाले साम, दाम, दंड और भेद आदि उपायों से अविद्यमान धन का कमाना और प्राप्त किये हुए धन की रक्षा करना (पात्रदानपूर्वक कौटुम्बिक निर्वाह करना, परोपकार करते हुए निरर्थक धन को बर्बाद न करना, आमदनी के अनुकूल खर्च करना और चोरों से बचाना आदि) और रक्षा किये हुए धन की ब्याज आदि से वृद्धि करना यह अर्थानुबन्ध है।

निष्कर्ष—नैतिक व्यक्ति को उक्त अप्राप्त धन की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा और रक्षित की वृद्धि करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से वह उत्तरकाल में सुखी रहता है। ३॥

अविद्यमान धन को प्राप्त करने के विषय में नीतिकार हारीत ने[2] कहा है कि ''जिसके पास कार्य की उत्तम सिद्धि करने वाला धन विद्यमान है उसे इस लोक में कोई वस्तु अप्राप्य नहीं है-उसे सभी इच्छित वस्तुएं प्राप्त हो सकती हैं, इसलिए मनुष्य को साम, दाम, दंड और भेदरूप उपायों से धन कमाना चाहिए ॥१॥''

प्राप्तधन की रक्षा के विषय में व्यास[3] नाम के विद्वान् ने कहा है कि ''जिस प्रकार पानी में रहने वाला मांस खंड मगरमच्छ आदि जलजन्तुओं से, जमीन पर पड़ा हुआ शेर वगैरह हिंसक जन्तुओं से और आकाश में रहने वाले पक्षियों द्वारा खा लिया जाता है उसी प्रकार धन भी मनुष्यों (चोरों आदि द्वारा) अपहरण कर लिया जाता हैं ॥२॥''

एवं रक्षित धन की वृद्धि के विषय में गर्ग[4] विद्वान् ने कहा है कि ''धनाढ्य पुरुष को धन की वृद्धि करने के लिए उसे सदा ब्याज पर दे देना चाहिए, इससे वह बढ़ता रहता है अन्यथा नष्ट हो जाता है ॥३॥''

---

१. तथा च वर्गः-
अर्थानुबन्धमार्गेण योऽर्थं संसेवते सदा। स तेन मुच्यते नैव कदाचिदिति निश्चयः ॥१॥

२. उक्तं च यतो हारीतेनः-
असाध्यं नास्ति लोकेऽत्र यस्यार्थं साधनं परम्। सामादिभिरूपायैश्च तस्मादर्थमुपार्जयेत् ॥१॥

३. तथा च व्यासः-
यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि। आकाशे पक्षिभिश्चैव तथाऽर्थोऽपि च मानवैः॥ २॥

४. उक्तं च यतो गर्गेणः-
वृद्धे तु परिदातव्यः सदार्थो धनिकेन च। ततः स वृद्धिमायाति तं बिना क्षयमेव च॥ ३॥

अब संचितधन के नाश का कारण बताते हैं–

तीर्थमर्थेनासंभावयन् मधुच्छत्रमिव सर्वात्मना विनश्यति॥ ४॥

अर्थ–जो लोभी पुरुष अपने धन से तीर्थों–पात्रों का सत्कार नहीं करता–उन्हें दान नहीं देता उस का धन शहद के छत्ते के समान बिल्कुल नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार शहद की मक्खियाँ चिरकाल तक पुष्पों से शहद इकट्ठा करती हैं और भौरों को नहीं खाने देतीं, इसलिए उन का शहद भील लोग छत्ते को तोड़कर ले जाते हैं उसी प्रकार लोभी के धन को भी चोर और राजा वगैरह छीन लेते हैं।

वर्ग[१] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि ''जो कृपण–लोभी अपना धन पात्रों के लिए नहीं देता वह उसी धन के साथ राजाओं और चोरों के द्वारा मार दिया जाता है ॥१॥''

अब तीर्थ–पात्र का लक्षण करते हैं–

धर्मसमवायिन: कार्यसमवायिनश्च पुरुषास्तीर्थम्॥ ५॥

अर्थ–धार्मिक कार्यों में सहायक–त्यागी व्रती और विद्वान् पुरुषों और व्यवहारिक कार्यों में सहायक सेवकजनों को तीर्थ कहते हैं।

भावार्थ–उक्त दोनों प्रकार के तीर्थों–पात्रों को दान देने से नैतिक मनुष्य का धन बढ़ता है। परन्तु जो अपने धन द्वारा उक्त तीर्थों का सत्कार नहीं करता उस का धन बिल्कुल नष्ट हो जाता है ॥५॥

बृहस्पति[२] नाम के विद्वान् ने कहा है कि ''धनाढ्य पुरुषों की सम्पत्तियाँ तीर्थों–पात्रों को दी जाने से वृद्धि को प्राप्त होती हैं ॥१॥

अब धन को नष्टकर ने वाले साधनों का निर्देश करते हैं–

तादात्विक–मूलहर–कदर्येषु नासुलभ: प्रत्यवाय:॥ ६॥

अर्थ–तादात्विक (जो व्यक्ति बिना सोचे समझे आमदनी से भी अधिक धन खर्च करता है) मूलहर (पैतृक सम्पत्ति को उड़ाने वाला और बिल्कुल न कमाने वाला) और कदर्य (लोभी) इन तीनों प्रकार के मनुष्यों का धन नष्ट हो जाता है ॥६॥

नीतिकार शुक्र ने[३] लिखा है कि ''बिना सोच विचार के धन को खर्च करने वाला, दूसरों की

---

१. तथा च वर्ग:–
यो न यच्छति पात्रेभ्य: स्वधनं कृपणो जन:। तेनैव सह भूपालैश्चौराद्यै व स हन्यते ॥१॥

२. तथा च बृहस्पति–
तीर्थेषु योजिता अर्था धनिन वृद्धिमानुयु:। १/२

३. तथा च शुक्र:–
अचिन्तितार्थमश्नाति योऽन्योपार्जितभक्षक:। कृपणश्च त्रयोऽप्येते प्रत्यवायस्य मन्दिरम् ॥१॥

कमाई हुई सम्पत्ति को खाने वाला और लोभी ये तीनों व्यक्ति धन के नाश के स्थान हैं। ॥१॥

अब तादात्विक का लक्षण करते हैं–

यः किमप्यसंचिन्त्योत्पन्नमर्थं व्ययति स तादात्विकः ॥७॥

अर्थ—जो मनुष्य कुछ भी विचार न कर के कमाए हुए धन का अपव्यय-निष्प्रयोजन खर्च करता है उसे 'तादात्विक' कहते हैं अर्थात् जो यह नहीं सोचता कि मेरी इतनी आय है अतएव मुझे आवश्यक प्रयोजनीभूत और आमदनी के अनुकूल खर्च करना चाहिए परन्तु बिना सोचे समझे आमदनी से अधिक धन का अपव्यय करता है उसे तादात्विक कहते हैं ॥७॥

शुक्र[१] नाम का विद्वान् लिखता है कि "जिस व्यक्ति को दैनिक आमदनी चार रुपये और खर्च साढ़े पाँच रुपया है उसकी सम्पत्ति अवश्य नष्ट हो जाती है चाहे वह कितना ही धनाढ्य क्यों न हो ॥१॥"

अब मूलहर का लक्षण कहते हैं–

यः पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहरः[२] ॥८॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने पिता और पितामह (पिता के पिता) की सम्पत्ति को अन्याय (जुआ और वेश्यासेवन आदि) से भक्षण करता है-खर्च करता है और नवीन धन बिल्कुल नहीं कमाता उसे 'मूलहर' कहते हैं। ॥८॥

नीतकार गुरु[३] ने कहा है कि "जो व्यक्ति पैतृक सम्पत्ति को द्यूत क्रीड़ा (जुआ खेलना) और वेश्यासेवन आदि अन्यायों में अपव्यय करता है और नवीन धन बिल्कुल नहीं कमाता वह निश्चय से दरिद्र हो जाता है ॥१॥

अब कदर्य-लोभी का लक्षण निर्देश करते हैं–

यो भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थं संचिनोति स कदर्यः॥९॥

अर्थ—जो व्यक्ति सेवकों तथा अपने को कष्ट पहुँचाकर धन का संचय करता है उसे कदर्य-लोभी कहते हैं।

भावार्थ—जिसके पास बहुत सी सम्पत्ति है परन्तु वह न तो स्वयं उस का उपभोग करता है और न नौकरों को उसमें से कुछ देता है किन्तु जमीन में गाड़ देता है उसे 'कदर्य' कहते हैं, उसके पास भी धन नहीं रह सकता; क्योंकि अवसर पड़ने पर राजा या चोर उसके धन को अपहरण (छीन

१. तथा च शुक्रः–
आगमे यस्य चत्वारो निर्गमे सार्धपंचमः। तस्यार्थाः प्रक्षयं यान्ति सुप्रभूतोऽपि चेत्स्थितः ॥१॥

२. "यः पितृपैतामहमन्यायेनानुभवति स मूलहरः" ऐसा पाठ मु. मू. पु. में है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

३. तथा च गुरुः–
पितृपैतामहं वित्तं व्यसनैर्यस्तु भक्षयेत्। अन्यन्नोपार्जयेत् किंचित् स दरिद्रो भवेद् ध्रुवम् ॥१॥

लेना) कर लेते हैं और वह पश्चाताप करके रह जाता है ॥६॥

अब तादात्विक और मूलहर को होने वाली–हानि बताते हैं–

तादात्विकमूलहरयोरायत्यां नास्ति कल्याणम् ॥१०॥

अर्थ—तादात्विक और मूलहर मनुष्यों का भविष्य में कल्याण नहीं होता।

भावार्थ—तादात्विक (अपनी आमदानी से अधिक धन का अपव्यय करने वाला) एवं मूलहर (पैतृक सम्पत्ति को अन्याय मार्ग में बर्बाद करने वाला) ये दोनों सदा दरिद्र रहते हैं इसलिए आपत्ति से अपनी रक्षा नहीं कर सकते अतः सदा दुःखी रहते हैं ॥१०॥

कपिपुत्र[१] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि "जो आमदनी से अधिक खर्च करता है एवं पूर्वजों के कमाये हुए धन को भक्षण करता है और नया धन बिल्कुल नहीं कमाता वह दुःखी रहता है ॥१॥"

अब लोभी के धन की अवस्था बताते हैं–

कदर्यस्यार्थसंग्रहो राजदायादतस्कराणामन्यतमस्य निधिः ॥११॥

अर्थ—लोभी का संचित धन राजा, कुटुम्बी और चोर इन में से किसी एक का है।

भावार्थ—लोभी के धन को अवसर पाकर राजा, कुटुम्बी या चोर अपहरण कर लेते हैं।

निष्कर्ष—अतएव लोभ करना उचित नहीं ॥११॥

बल्लभदेव[२] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि "पात्रों को दान देना, उपभोग करना और नाश होना इस प्रकार धन की तीन गति होती हैं। जो व्यक्ति न तो पात्रदान में धन का उपयोग करता है और न स्वयं तथा कुटुम्ब के भरण पोषण में खर्च करता है उसके धन की तीसरी गति (नाश) निश्चित है अर्थात् उस का धन नष्ट हो जाता है ॥१॥"

निष्कर्ष—इसलिए नैतिक व्यक्ति को धन का लोभ कदापि नहीं करना चाहिए ॥११॥

॥ इति अर्थसमुद्देशः॥

---

१. तथा च कपिपुत्रः–
आगमाभ्यधिकं कुर्याद्यो व्ययं यश्च भक्षति। पूर्वजोपार्जितं नान्यदर्जयेच्च स सीदति ॥१॥

२. तथा च बल्लभदेवः–
दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वितस्य। यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥१॥

(३) कामसमुद्देशः

अब कामसमुद्देश के आरम्भ में काम का लक्षण करते हैं–

आभिमानिकरसानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः ॥१॥

अर्थ–जिससे समस्त इन्द्रियों (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन) में बाधारहित प्रीति उत्पन्न होती है उसे काम कहते हैं।

उदाहरण–कामी पुरुष को अपनी स्त्री के मधुर शब्द सुनने से श्रोत्रेन्द्रिय में, मनोज्ञरूप का अवलोकन करने से चक्षुरिन्द्रिय में और सुकोमल अंग के स्पर्श से स्पर्शनेन्द्रिय में बाधारहित प्रीति–(आह्लाद) उत्पन्न होती है इत्यादि। अतः समस्त इन्द्रियों में बाधारहित प्रीति का उत्पादक होने से स्वस्त्री सम्बन्ध को कामपुरुषार्थ कहा है।

निष्कर्ष–परस्त्रीसेवन से धर्म का तथा वेश्यासेवन से धर्म और धन का नाश होता है। अतः वह कामपुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता। अतः नैतिक पुरुष को उक्त दोनों अनर्थों को छोड़कर कुलीन संतान की उत्पत्ति के आदर्श से स्वस्त्री में सन्तुष्ट रहना चाहिए ॥१॥

राजपुत्र[१] विद्वान् ने कहा है कि ''जिसके (अपनी सती स्त्री के) उपभोग से समस्त इन्द्रियों में अनुराग उत्पन्न होता है उसे काम समझना चाहिए, इससे विपरीत प्रवृत्ति–परस्त्री और वेश्यासेवन आदि कुचेष्टामात्र है ॥१॥

जो कोई मनुष्य इन्द्रियों को संतुष्ट किये बिना ही स्त्री का सेवन करता है उसकी वह कामक्रीड़ा मनुष्य के वेष में पाशविक समझनी चाहिए ॥२॥

जो लोग अपनी इन्द्रियों को सन्ताप उत्पन्न करने वाला कामसेवन करते हैं उनका वह कार्य अन्धे के सामने नाचना और बहरे के सामने गीत गाने के समान व्यर्थ है ॥३॥''

धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत ततः[२] सुखी स्यात् ॥२॥

---

१. तथा च राजपुत्रः–
सर्वेन्द्रियानुरागः स्यात् यस्याः संसेवनेन च। स च कामः परिज्ञेयो यत्तदन्यद्विचेष्टितम् ॥१॥
इन्द्रियाणामसन्तोषं यः कश्चित् सेवते स्त्रियं। स करोति पशोः कर्म नररूपस्य मोहनं ॥२॥
यदिन्द्रियविरोधेन मोहनं क्रियते जनैः। तदन्धस्य पुरे नृत्यं सुगीतं बधिरस्य च ॥३॥

२. 'न निःसुखः स्यात्' इस प्रकार मु. मू. पुस्तक में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

अर्थ—नैतिक व्यक्ति धर्म और अर्थ की अनुकूलतापूर्वक-सुरक्षा करता हुआ कामसेवन करे उससे सुखी होता है, अन्यथा नहीं ॥१॥

भावार्थ—परस्त्रीसेवन से धार्मिक और वेश्यासेवन से साम्पत्तिक-धन की क्षति होती है अतः उनका त्याग करते हुए अपनी स्त्री में ही संतोष करना चाहिए तभी सुख मिल सकता है ॥२॥

हारीत[1] विद्वान् भी उक्त बात की पुष्टि करता है कि ''जो मनुष्य परस्त्री और वेश्यासेवन का त्याग करता है उसे कामजन्यदोष-धार्मिक क्षति और धन का नाश नहीं होता तथा सुख मिलता है ॥१॥''

अब तीनों पुरुषार्थों के सेवन करने की विधि बताते हैं–

समं वा त्रिवर्गं सेवेत ॥३॥

अर्थ—अथवा नैतिक व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों को समय का समान विभाग करके सेवन करे।

भावार्थ—विवेकी मनुष्य को दिन के १२ घंटों में से एकत्रिभाग-४ घंटे धर्मसेवन में, एकत्रिभाग अर्थपुरुषार्थ-न्याय से धनसंचय करने में और एकत्रिभाग कामपुरुषार्थ-(न्याय प्राप्त भोगों को उदासीनता से भोगना) के अनुष्ठान में व्यतीत करना चाहिए। इसके विपरीत जो व्यक्ति काम सेवन में ही अपने समय के बहुभाग को व्यतीत कर देता है, वह अपने धर्म और अर्थपुरुषार्थ को नष्ट करता है। जो केवल सदा धर्मपुरुषार्थ का ही सेवन करता है, वह काम और अर्थ की क्षति करता है और जो दिन-रात सम्पत्ति के संचय करने में व्यग्र रहता है, वह धर्म और काम से विमुख हो जाता है। इस प्रकार के व्यक्ति अपने जीवन को सुखी बनाने में समर्थ नहीं हो सकते। अतएव सुखाभिलाषी विवेकी पुरुष तीनों पुरुषार्थों को परस्पर की बाधारहित समय का समान विभाग करके सेवन करे।

विद्वान् नारद[2] भी आचार्यश्री की उक्त मान्यता का समर्थन करता है कि ''मनुष्य को दिन के तीन विभाग करके पहले विभाग को धर्मानुष्ठान में और दूसरे को धन कमाने में एवं तीसरे को कामसेवन में उपयोग चाहिए ॥१॥''

वादीभसिंहसूरि ने[3] कहा है कि ''यदि मनुष्यों के द्वारा धर्म, अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ परस्पर की बाधारहित सेवन किये जायें तो इससे उन्हें बिना रुकावट के स्वर्गलक्ष्मी प्राप्त होती है

१. तथा च हारीतः–
परदारांस्त्यजेद्यस्तु वेश्यां चैव सदा नरः। न तस्य कामजो दोषः सुखिनो न धनक्षयः ॥१॥

२. तथा च नारदः–
प्रहरं सत्रिभागं च प्रथमं धर्ममाचरेत्। द्वितीयं तु ततो वित्तं तृतीयं कामसेवने ॥१॥

३. परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते। अनर्गसमतः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥१॥
क्षत्रचूड़ामणौ वादीभसिंहसूरिः १ म लम्ब॥

और क्रम से मोक्षसुख भी प्राप्त होता है ॥१॥''

निष्कर्ष—नैतिक व्यक्ति को धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों को परस्पर की बाधारहित समय का समान विभाग करते हुए सेवन करना चाहिए ॥३॥

अब तीनों पुरुषार्थों में से केवल एक के सेवन से होने वाली हानि बताते हैं–

एकोह्यं[1]त्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति ॥४॥

अर्थ—जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों में से केवल एक को ही निरन्तर सेवन करता है और दूसरे को छोड़ देता है वह केवल उसी पुरुषार्थ की वृद्धि करता है और दूसरे पुरुषार्थों को नष्ट कर डालता है।

भावार्थ—जो व्यक्ति निरन्तर धर्म पुरुषार्थ का ही सेवन करता है वह दूसरे अर्थ और कामपुरुषार्थों को नष्ट कर देता है; क्योंकि उसका समस्त समय धर्म के पालन में ही लग जाता है। इसी प्रकार केवल धनसंचय करने वाला, धर्म और काम से और कामासक्त धर्म और धन से पराङ्मुख रहता है। अतएव नैतिक मनुष्य को केवल एक पुरुषार्थ ही अत्यन्त आसक्ति से सेवन नहीं करना चाहिए।

बृहस्पति[2] विद्वान् ने लिखा है कि ''जिनकी चित्तवृत्तियाँ धार्मिक अनुष्ठानों में सदा लगी हुई हैं वे काम से तथा अर्थ से विशेष विरक्त रहते हैं; क्योंकि धनसंचय करने में पाप लगता है ॥१॥''

निष्कर्ष—नैतिक व्यक्ति को वास्तविक सुख की प्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों में से केवल एक का ही सेवन नहीं करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से वह अन्य पुरुषार्थों के मधुर फलों से वंचित रह जाता है ॥४॥

अब कष्ट सहकर धन कमाने वाले का कथन करते हैं–

परार्थं भारवाहिन इवात्मसुखं निरुन्धानस्य धनोपार्जनम् ॥५॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने सुख को छोड़कर-अत्यन्त कष्टों को सहकर धनसंचय करता है वह दूसरों के भार को ढोने वाले मनुष्य या पशु की तरह केवल दुःखी ही रहता है अर्थात् जिस प्रकार कोई मनुष्य या पशु दूसरों के भार-धान्यादि बोझ को धारण कर ले जाता है किन्तु उसे कोई लाभ नहीं होता; क्योंकि वह उसे अपने उपयोग (भक्षण आदि) में नहीं लाता, उसी प्रकार अनेक कष्टों को सहन करके धन कमा ने वाला मनुष्य भी दूसरों के लिए कष्ट सहता है परन्तु उस सम्पत्ति का स्वयं उपभोग नहीं करता, अतएव उसे कोई सुख नहीं होता।

व्यास[3] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि ''अत्यन्त कष्टों को सहकर धर्म को उल्लंघन करके

---

१. 'ह्यत्यास्क्त्या' इस प्रकार मु. मू. पुस्तक में पाठ है अर्थ अत्यन्त आसक्ति से।

२. यथा च बृहस्पतिः– धर्मसंसक्तमनसां कामे स्यात्सुविरागता। अर्थे चापि विशेषेण यतः स स्यादधर्मतः ॥१॥

३. तथा च व्यासः– अतिक्लेशेन ये चार्था धर्मस्यातिक्रमेण च। शत्रूणां प्रतिपातेन मात्मन् तेषु मनः कृथाः ॥१॥

एवं शत्रुओं को नष्ट करके जो सम्पत्ति संचय की जाती है। हे आत्मन्! इस प्रकार की अन्याय और छल-कपट से कमाई जाने वाली सम्पत्ति को संचय करने में अपने मन की प्रवृत्ति मत करो ॥१॥''

अब सम्पत्तियों की सार्थकता बताते हैं-

इन्द्रियमनःप्रसादनफला हि विभूतयः ॥६॥

अर्थ—समस्त इन्द्रियों (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) तथा मन को प्रसन्न करना सुखी करना यही सम्पत्तियों का फल है। अर्थात् जिस सम्पत्ति से धनिक व्यक्तियों की सभी इन्द्रियों और मन में आह्लाद-सुख उत्पन्न हो वही सम्पत्ति है।

निष्कर्ष—कृपण लोग सम्पत्ति प्राप्त करके भी अपनी प्रियतमा (स्त्री) के स्पर्श, उसके सुन्दर रूप का अवलोकन और मिष्ठान्न का आस्वाद आदि से वंचित रहते हैं, क्योंकि ये बहुधा धन को पृथ्वी में गाड़ देते हैं, अतः वे लोग अपनी इन्द्रियाँ और मन को प्रसन्न करने में असमर्थ हैं, इसलिए उनकी सम्पत्ति निष्फल है।

व्यास[1] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि ''जो धन पंचेन्द्रियों के विषयों का सुख उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है वह (कृपणों का धन) नपुंसकों के यौवन की तरह निष्फल है अर्थात् जिस प्रकार नपुंसक व्यक्ति जवानी को पाकर, प्रियतमा के उपभोग से वंचित रहता है अतएव उसकी जवानी-युवावस्था पाना निरर्थक है, उसी प्रकार कृपणों का धन भी सांसारिक सुखों का उत्पादक न होने से निरर्थक है ॥१॥

चारायण[2] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि ''जो व्यक्ति धनाढ्य होकर दूसरों की नौकरी आदि करके मानसिक कष्ट उठाता है उसका धन ऊसर जमीन को घर्षण करने की तरह निष्फल है ॥१॥''

अब इन्द्रियों को काबू में न करने वालों की हानि बताते हैं-

नाजितेन्द्रियाणां काऽपि कार्यसिद्धिरस्ति ॥७॥

अर्थ—जिनकी इन्द्रियाँ वश (काबू) में नहीं हैं उन्हें किसी भी कार्य में थोड़ी भी सफलता नहीं मिलती-उनके कोई भी सत्कार्य सिद्ध नहीं हो सकते।

भावार्थ—जो व्यक्ति श्रोत्रेन्द्रिय को प्रिय संगीत के सुनने का इच्छुक है वह उसके सुनने में अपना सारा समय लगा देता है इसलिए अपने धार्मिक और आर्थिक (जीविका संबंधी) आदि आवश्यक कार्यों में विलम्ब कर देता हैं, इसी कारण वह अपने कार्यों में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार अपनी प्रियाओं के आलिंगन के इच्छुक या लावण्यवती ललनाओं के देखने के

१. तथा च व्यासः-
यद्धनं विषयाणां च नैवाल्दादकरं परम्। तत्तेषां निष्फलं ज्ञेयं षंढानामिव यौवनम् ॥१॥

२. तथा च चारायणः-
सेवादिभिः परिक्लेशैर्विद्यमानधनोऽपि यः। सन्तापं मनसः कुर्यात्ततस्योषरघर्षणम् ॥१॥

इच्छुक तथा मिष्ठान्न स्वाद के लोलुपी व्यक्ति भी उन्हीं में आसक्त होने के कारण दूसरे आवश्यकीय कार्यों में विलंब करते हैं, अतएव उनके सत्कार्य सफल नहीं हो पाते।

शुक्र[1] नाम के विद्वान ने लिखा है कि यदि मनुष्य उत्तम फल वाले कार्य को शीघ्रता से न कर उसमें विलंब कर देवे तो समय उस कार्य के फल को पी लेता है अर्थात् फिर वह कार्य सफल नहीं हो पाता ॥१॥

ऋषिपुत्रक[2] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि ''विषयों में आसक्त पुरुष अपने आवश्यक कार्यों में विलम्ब कर देते हैं इससे शीघ्रता न करने से उन्हें उनका फल नहीं मिलता ॥१॥''

विशद विवेचन–नैतिक सज्जन को विषयरूपी भयानक वन में दौड़ने वाले इन्द्रियरूपी हाथियों को जो कि मन को विक्षुब्ध–व्याकुल करने वाले हैं, सम्यग्ज्ञानरूपी अंकुश से वश में करना चाहिए। मुख्यता से मन से अधिष्ठित इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त हुआ करती हैं, इसलिए मन को वश में करना ही जितेन्द्रियपन कहा गया है, क्योंकि विषयों में अंधा व्यक्ति महाभयानक विपत्ति के गर्त में पड़ता है ॥७॥

अब इन्द्रियों के वश करने का उपाय बताते हैं–

इष्टेऽर्थेऽनासक्तिर्विरुद्धे चाप्रवृत्तिरिन्द्रियजयः ॥८॥

अर्थ–इष्टपदार्थ-प्रियवस्तु (कमनीय कान्ता आदि) में आसक्ति न करने वाले और विरुद्ध शिष्टाचार और प्रकृति से प्रतिकूल वस्तु में प्रवृत्त न होने वाले व्यक्ति को जितेन्द्रिय कहते हैं।

भावार्थ–यद्यपि इष्ट पदार्थों का सेवन बुरा नहीं है परन्तु आसक्तिपूर्वक उनका अधिक सेवन करना बुरा है। जैसे मिष्ठान्न का भक्षण करना बुरा नहीं है किन्तु आसक्त होकर उसका अधिक मात्रा में सेवन करना बुरा-व्याधिकारक है। अथवा अजीर्णवस्था में पथ्य अन्न भी रोगवर्द्धक है। अतः इष्ट पदार्थों में आसक्त न होना और प्रकृति तथा ऋतु के विरुद्ध या शिष्टाचार से प्रतिकूल पदार्थ के सेवन में अज्ञान और लोभ आदि से प्रवृत्ति न करना इन्द्रियजय है।

निष्कर्ष–नैतिक और जितेन्द्रिय पुरुष को अपना कल्याण करने के लिए इष्ट पदार्थ में आसक्त न होकर शिष्टाचार से प्रतिकूल पदार्थ में प्रवृत्ति न करनी चाहिए ॥८॥

भृगु[3] विद्वान् ने कहा है कि ''यदि मनुष्य शिष्ट पुरुषों के मार्ग का पूर्ण अनुसरण-पालन न

---

१. तथा च शुक्रः–
यस्य तस्य च कार्यस्य सफलस्य विशेषतः। क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तत्फलम् ॥१॥

२. तथा च ऋषिपुत्रकः–
स्वकृतेषु विलम्बन्ते विषयासक्तचेतसः। क्षिप्रमक्रियमाणेषु तेषु तेषां न तत्फलम् ॥१॥

३. तथा च भृगुः–
अनुगन्तुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते। स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं येन स्यात् स्वविनिर्जयः ॥१॥

कर सके तो उसे थोड़ा भी अनुसरण करना चाहिए, इससे वह जितेन्द्रिय होता है ॥१॥''

अब इन्द्रियों के जय का दूसरा उपाय या उसका लक्षण करते हैं–

अर्थशास्त्राध्ययनं वा ॥९॥

अर्थ—मनुष्य को इन्द्रियों के जय करने के लिए नीतिशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। अथवा नीतिशास्त्र का अध्ययन ही इन्द्रियाँ का जय-वश में करना है।

नीतिकार वर्ग ने[१] कहा है कि ''जिस प्रकार लगाम के आकर्षण-खींचना आदि क्रिया से घोड़े वश में कर लिए जाते हैं उसी प्रकार नीतिशास्त्रों के अध्ययन से मनुष्य की चंचल इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं ॥१॥''

अब उक्त बात (नीतिशास्त्र के अध्ययन को ही इन्द्रियों का जय कहना) का समर्थन करते हैं–

कारणे कार्योपचारात्[२] ॥१०॥

अर्थ—कारण में कार्य का उपचार (मुख्यता न होने पर भी किसी प्रयोजन या निमित्त के वश वस्तु में मुख्य की कल्पना करना) करने से नीतिशास्त्र के अध्ययन को ही 'इन्द्रियजय' कहा गया है।

भावार्थ—जिस प्रकार चश्मे को दृष्टि में सहायक-निमित्त होने से नेत्र माना जाता है उसी प्रकार नीतिशास्त्र के अध्ययन को भी इन्द्रियों के जय-वश करने में निमित्त होने से 'इन्द्रियजय' माना गया है ॥१०॥

अब काम के दोषों का निरूपण करते हैं–

योऽनङ्गेनापि जीयते स कथं [३]पुष्टाङ्गानरातीन् जयेत् ॥११॥

अर्थ—जो व्यक्ति काम से जीता जाता है–काम के वशीभूत है वह राज्य के अंगों-स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और सेना आदि से शक्तिशाली शत्रुओं पर किस प्रकार विजय प्राप्त कर सकता है ? नहीं कर सकता।

भावार्थ—क्योंकि जब वह अनङ्ग (अंगहीनता के कारण निर्बल कामदेव) से ही हार गया तब अंगों-अमात्य आदि से बलिष्ठ शत्रुओं को कैसे जीत सकता है ? नहीं जीत सकता ॥११॥

नीतिकार भागुरि ने[४] भी उक्त बात की पुष्टि की है कि ''काम के वशीभूत राजाओं के राज्य

---

१. तथा च वर्ग–
नीतिशास्त्राण्यधीते यस्तस्य दुष्टानि स्वान्यपि। वशगानि शनैर्यान्ति कशाधातैर्हया यथा ॥१॥

२. उक्त सूत्र सं. टीका पुस्तक में नहीं है किन्तु मु. मू. पुस्तक से संकलन किया गया है।

३. मु. मू. पुस्तक में 'पुष्टान्नरादन्' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ बलिष्ठ मनुष्य आदि को होता है।

४. तथा च भागुरिः–
ये भूपाः कामसंसक्ता निजराज्याङ्गदुर्बलाः। दुष्टाङ्गास्तान् पराहन्युः पुष्टाङ्गा दुर्बलानि च ॥१॥

के अंग (स्वामी और अमात्य आदि) निर्बल-कमजोर या दुष्ट-विरोध करने वाले होते हैं; इसलिए उन्हें और उनकी कमजोर सेनाओं को बलिष्ठ अंगों (अमात्य और सेना आदि) वाले राजा लोग मार डालते हैं ॥१॥''

निष्कर्ष—विजयलक्ष्मी के इच्छुक पुरुष को कदापि काम के वश नहीं होना चाहिए ॥११॥

अब कामी पुरुष की हानि का निर्देश करते हैं–

कामासक्तस्य नास्ति चिकित्सितम् ॥१२॥

अर्थ—कामी पुरुष को सन्मार्ग पर लाने के लिए लोक में कोई औषधि (काम को छुड़ाने वाला हितोपाय) नहीं है; क्योंकि वह हितैषियों के हितकारक उपदेश को अवहेलना-तिरस्कार या उपेक्षा करता हैं ॥१२॥

नीतिकार जैमिनि ने[१] भी कहा है कि ''कामी पुरुष पिता माता और हितैषी के वचन को नहीं सुनता इससे नष्ट हो जाता है ॥१॥''

अब स्त्री में अत्यन्त आसक्ति करने वाले पुरुष की हानि बताते हैं–

न तस्य धनं धर्मः शरीरं वा यस्यास्ति स्त्रीष्वत्यासक्तिः ॥१३॥

अर्थ—स्त्रियों में अत्यन्त आसक्ति करने वाले पुरुष का धन, धर्म और शरीर नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—क्योंकि स्त्रियों में लीन रहने वाला पुरुष कृषि और व्यापार आदि जीविकोपयोगी कार्यों से विमुख रहता है; अतः निर्धन-दरिद्र हो जाता है। इसी प्रकार कामवासना की धुन में लीन होकर दान पुण्य आदि धार्मिक अनुष्ठान नहीं करता इससे धर्मशून्य रहता है। एवं अत्यन्त वीर्य के क्षय से राजयक्ष्मा-तपेदिक आदि असाध्य रोगों से व्याप्त होकर अपने शरीर को काल कवलित कराने वाला-मृत्यु के मुख में पहुँचाने वाला होता है ॥१३॥

निष्कर्ष—अतएव साम्पत्तिक-आर्थिक, धार्मिक और शारीरिक उन्नति चाहने वाले नैतिक पुरुष को स्त्रियों में अत्यन्त आसक्ति नहीं करनी चाहिए ॥१३॥

नीतिकार कामन्दक ने[२] कहा है कि ''सदा स्त्रियों के मुख को देख ने में आसक्ति करने वाले मनुष्यों की सम्पत्तियाँ जवानी के साथ निश्चय से नष्ट हो जाती हैं ॥१॥''

वल्लभदेव[३] विद्वान् ने लिखा है कि ''जो कामी पुरुष निरन्तर अपनी प्यारी स्त्री का सेवन

---

१. तथा च जैमिनिः–
न श्रृणोति पितुर्वाक्यं न मातुर्न हितस्य च। कामेन विजितो मर्त्यस्ततो नाशं प्रगच्छति ॥१॥

२. तथा च कामन्दकः–
नितान्तं संप्रसक्तानां कान्तामुखविलोकने। नाशमायान्ति सुव्यक्तं यौवनेन समं श्रियः ॥१॥

३. तथा च वल्लभदेवः–
यः संसेवयते कामी कामिनीं सततं प्रियाम्। तस्य संजायते यक्ष्मा धृतराष्ट्रपितुर्यथा॥ २॥

करता है उसे धृतराष्ट्र के पिता के समान राजयक्ष्मा-तपेदिक रोग हो जाता है ॥१॥''

अब नीतिशास्त्र से विरुद्ध कामसेवन से होने वाली हानि बताते हैं-

विरुद्धकामवृत्तिः समृद्धोऽपि न चिरं नन्दति ॥१४॥

अर्थ—जो मनुष्य नीतिशास्त्र से विरुद्ध कामसेवन में प्रवृत्त होता है-परस्त्री और वेश्यासेवन आदि अन्याय के भोगों में प्रवृत्ति करता है वह पूर्व में धनाढ्य होने पर भी पश्चात् चिरकाल तक धनाढ्य नहीं हो सकता-सदा दरिद्रता के कारण दुःखी रहता है।

भावार्थ—क्योंकि ऐसी असत्-नीतिविरुद्ध काम प्रवृत्ति से पूर्वसंचित प्रचुर सम्पत्ति बर्बाद-नष्ट हो जाती है तथा व्यापार आदि से विमुख रहने के कारण उत्तरकाल में भी सम्पत्ति नहीं प्राप्त होती अतः दरिद्रता का कष्ट उठाना पड़ता है।

निष्कर्ष—अतः नैतिक पुरुष को नीतिविरुद्ध कामसेवन-परस्त्री और वेश्यासेवन का सदा त्यागकर देना चाहिए ॥१४॥

ऋषिपुत्रक ने[1] भी उक्त बात का समर्थन किया है कि ''लोक में परस्त्रीसेवन करने वाला मनुष्य धनाढ्य होने पर भी दरिद्र हो जाता है और सदा अपकीर्ति को प्राप्त करता है ॥१॥

अब एक काल में प्राप्त हुए धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों में से किस का अनुष्ठान पूर्व में करना चाहिए? इसका समाधान किया जाता है-

धर्मार्थकामानां युगपत्समवाये पूर्वः पूर्वो गरीयान् ॥१५॥

अर्थ—एककाल में कर्तव्यरूप से प्राप्त हुए धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों में से पूर्व का पुरुषार्थ ही श्रेष्ठ है।

भावार्थ—नैतिक गृहस्थ पुरुष को सबसे प्रथम धर्म तत्पश्चात् अर्थ और अन्त में कामपुरुषार्थ का सेवन करना चाहिए ॥१५॥

भागुरि[2] विद्वान् ने लिखा है कि ''मनुष्य को दिन के तीन भागों में से एक भाग धर्मसाधन में, एक भाग धनार्जन में और एक भाग कामपुरुषार्थ में व्यतीत करना चाहिए ॥१॥''

अब समय की अपेक्षा से पुरुषार्थ का अनुष्ठान बताते हैं-

कालासहत्वे[3] पुनरर्थ एव ॥१६॥

---

१. तथा च ऋषिपुत्रकः- परदाररतो योऽत्र पुरुषः संप्रजायते। [धनाढ्योऽपि दरिद्रः स्याद्दुष्कीर्तिं लभते सदा ॥१॥]
इस श्लोक का उत्तरार्द्ध संस्कृत टीका पुस्तक में नहीं है अतः हमने नवीन रचना करके उसकी पूर्ति की है।
-सम्पादकः

२. तथा च भागुरिः- धर्मचिन्तां तृतीयांशं दिवसस्य समाचरेत्। ततो वित्तार्जने तावन्मात्रं कामार्ज ने तथा ॥१॥

३. मु. मू. पुस्तक में 'कालसहत्वेपुनरर्थ एव' ऐसा पाठ है-
जिसका अर्थ-धर्म और काम दूसरे समय में भी किये जा सकते हैं, अतएव तीनों में अर्थ ही श्रेष्ठ है ॥१६॥

अर्थ—समय (जीविकोपयोगी व्यापार आदि का काल) का सहन न होने से दूसरे धर्म और कामपुरुषार्थ की अपेक्षा अर्थपुरुषार्थ (न्याय से जीविकोपयोगी व्यापार और कृषि आदि साधनों द्वारा धन का संचय करना) का अनुष्ठान करना ही श्रेष्ठ है।

भावार्थ—यदि किसी मनुष्य को न्याय से धनसंचय करने का अवसर प्राप्त हुआ हो और उसके निकल जाने पर उसे ऐसी आर्थिक क्षति होती हो, जिससे वह दरिद्रता के कारण अपना कौटुम्बिक निर्वाह करने में असमर्थ होकर दुःखी होता हो, तो उसे धर्म और कामपुरुषार्थों की अपेक्षा पूर्व में अर्थपुरुषार्थ का अनुष्ठान करना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि ''अर्थबाह्यो धर्मो न भवति'' अर्थात् धन के बिना धर्म नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि गृहस्थ पुरुष दरिद्रता के कारण न धर्म प्राप्त कर सकता है और न सांसारिक सुख। अतः अर्थपुरुषार्थ मुख्य होने के कारण पूर्व में उसका अनुष्ठान करना ही श्रेष्ठ है ॥१६॥

नारद[१] विद्वान् ने भी उक्त बात की पुष्टि की है कि ''दरिद्र पुरुषों के धर्म और कामपुरुषार्थ सिद्ध नहीं होते; अतः विद्वानों ने धर्म और कामपुरुषार्थों की अपेक्षा अर्थपुरुषार्थ को श्रेष्ठ कर्तव्य बताया है ॥१॥''

विमर्श—धर्माचार्यों ने[२] कहा है कि ''विवेकी मनुष्य को पूर्व में धर्मपुरुषार्थ का ही अनुष्ठान करना चाहिए। उसे विषयों की लालसा, भय, लोभ और जीवरक्षा के लोभ से कभी भी धर्म नहीं छोड़ना चाहिए। परन्तु आचार्यश्री का अभिप्राय यह है कि आर्थिक संकट में फँसा हुआ दरिद्र व्यक्ति पूर्व में अर्थ–जीविकोपयोगी व्यापार आदि करे, पश्चात् उसे धर्म और कामपुरुषार्थ का अनुष्ठान करना चाहिए; क्योंकि लोक की धर्मरक्षा, प्राणयात्रा और लौकिकसुख आदि सब धन द्वारा ही सम्पन्न होते हैं ॥१६॥

अब तीनों पुरुषार्थों में अर्थ पुरुषार्थ की मुख्यता बताते हैं–

धर्म कामयोरर्थमूलत्वात्[३] ॥१७॥

अर्थ—धर्म और काम पुरुषार्थ का मूल कारण अर्थ है अर्थात् बिना अर्थ (धन) के धर्म और कामपुरुषार्थ प्राप्त नहीं हो सकते ॥१७॥

॥ इति कामसमुद्देशः॥

---

१. तथा च नारदः–
अर्थकामौ न सिध्येते दरिद्राणां कथंचन। तस्मादर्थोगुरुस्ताभ्यां संचिन्त्यो ज्ञायते बुधैः ॥१॥

२. न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मे त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ॥१॥ –संगृहीतः

३. यह सूत्र संस्कृत टीका पुस्तक में नहीं है किन्तु मु. मू. पुस्तक से संकलन किया गया है।

(४) अरिषड्वर्ग-समुद्देशः

अब राजाओं के अन्तरङ्ग शत्रुसमूह-काम और क्रोधादि का निरूपण करते हैं-

अयुक्तितः प्रणीताः काम-क्रोध-लोभ-मद-मान-हर्षाः क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः ॥१॥

अर्थ—अन्याय से किये गये काम, क्रोध, लोभ, मद, मान और हर्ष ये राजाओं के ६ अंतरंग शत्रुसमूह हैं ॥१॥

विशदविवेचन—

नीतिकार कामन्दक[१] लिखता है कि "सुखाभिलाषी राजाओं को काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान और मद इन ६ शत्रुवर्गों का सदा त्याग कर देना चाहिए ॥१॥

राजा दण्डक[२] काम के वशीभूत होकर-शुक्राचार्य की कन्या के उपभोग की इच्छा से नष्ट हुआ। राजा जनमेजय[३] ब्राह्मणों पर क्रोध करने से उनके शाप से रोगी होकर नष्ट हुआ। राजा ऐल लोभ से और वातापि[४] नाम का असुर अपने अभिमान से अगस्त्य द्वारा नष्ट हुआ ॥२॥

पुलस्त्य का बेटा और रावण मान से और दम्भोद्भव राजा मद से नष्ट हुआ अर्थात् ये राजा लोग शत्रुषड्वर्ग-उक्त काम और क्रोधादि के अधीन होने से नष्ट हो गये ॥३॥

इसके विपरीत-काम और क्रोधादि शत्रुषड्वर्ग पर विजय प्राप्त करने वाले जितेन्द्रिय परशुराम और महान् भाग्यशाली राजा अम्बरीष ने चिरकाल तक पृथ्वी को भोगा है ॥४॥

जो राजा जितेन्द्रिय और नीतिमार्ग का अनुसरण करने वाला-सदाचारी है उसकी लक्ष्मी प्रकाशमान और कीर्ति आकाश को स्पर्श करने वाली होती है ॥५॥"

---

१. कामन्दकः प्राहः-

कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा। षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिन् त्यक्ते सुखी नृपः ॥१॥

दण्ड को नृपतिः कामात् क्रोधाच्च जनमेजयः। लोभादैलस्तु राजर्षिर्वातापिर्दर्पतोऽसुरः ॥२॥

पौलस्त्यो राक्षसो मानान्मदाद्दम्भोद्भवो नृपः। प्रयाता निधनं ह्येते शत्रुषड्वगमाश्रिताः ॥३॥

शत्रुषड्वर्गमुत्सृज्य जामदग्न्यो जितेन्द्रियः। अम्बरीषो महाभागो बुभुजाते चिरं महीम् ॥४॥

जितेन्द्रियस्य नृपते र्नीतिमार्गानुसारिणः। भवन्ति ज्वलिता लक्ष्म्यः कीर्त्तयश्च नभःस्पृशः ॥५॥

कामन्दकीय नीतिसार पृष्ठ १२-१३।

२. ३. ४. उक्त कथानक कामन्दकीय नीतिसार पृष्ठ १२ से जान लेनी चाहिए।

निष्कर्ष—विजिगीषु राजाओं तथा सुखाभिलाषी मनुष्यों को अनुचित स्थान में किये जाने वाले उक्त काम और क्रोधादि शत्रुषड्वर्गों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए; क्योंकि इनके अधीन हुए व्यक्ति को कदापि ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्त नहीं हो सकता ॥१॥

अब काम-शत्रु का विवेचन करते हैं–

परपरिगृहीतास्वनूढासु च स्त्रीषु दुरभिसन्धिः कामः ॥२॥

अर्थ—परस्त्रियों, वेश्याओं और कन्याओं से विषयभोग करना यह कामशत्रु प्राणियों को महादुःखदायक है।

गौतम[1] विद्वान् ने लिखा है कि ''जो मनुष्य परस्त्री और कन्या का सेवन करता है उसकी यह भोग लालसा अत्यन्त दुःख, बंधन तथा मरण को उत्पन्न करती है ॥१॥''

निष्कर्ष—उक्त नीतिविरुद्ध असत् काम-परस्त्री, वेश्या और कन्या का सेवन करना दुःखदायक कामशत्रु है; परन्तु धर्मपरम्परा को अक्षुण्ण चलाने के लिए कुलीन सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से अपनी स्त्री का सेवन काम नहीं है। अतएव नैतिक व्यक्ति को असत्-नीतिविरुद्ध कामसेवन का त्याग करना चाहिए ॥२॥

अब क्रोध-शत्रु का निरूपण करते हैं–

अविचार्य परस्यात्मनो वापायहेतुः क्रोधः ॥३॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपनी और शत्रु की शक्ति को न जानकर क्रोध करता है, वह क्रोध उसके विनाश का कारण है।

भागुरि[2] विद्वान् ने भी उक्त बात की पुष्टि की है कि ''जो राजा अपनी और शत्रु की शक्ति को बिना सोचे समझे क्रोध करता है वह नष्ट हो जाता है ॥१॥

विशदविमर्श—राजनीति के विद्वानों ने विजिगीषु राजा को अप्राप्तराज्य की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा और रक्षित की वृद्धि करने के लिए तथा प्रजापीड़क कण्टकों-शत्रुओं पर विजय पाने के लिए न्याययुक्त-अपनी और शत्रु की शक्ति को सोच विचार कर तदनुकूल-उपयुक्त क्रोध करने का विधान किया है तथा अन्याययुक्त का निषेध किया है। इसी प्रकार गृहस्थ पुरुष भी चोरों आदि से अपनी सम्पत्ति की रक्षार्थ उचित-न्याययुक्त क्रोध कर सकता है, अन्याययुक्त नहीं। परन्तु धार्मिक आदर्शतम दृष्टि से शास्त्रकारों ने कहा है कि क्रोध-शत्रु आत्मा को पतन की ओर ले जाता है। जिस प्रकार अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है उसी प्रकार क्रोध भी व्रत, तप, नियम और उपवास आदि

१. तथा च गौतमः–
अन्याश्रितां च यो नारीं कुमारीं वा निषेवते। तस्य कामः प्रदुःखाय वन्धाय मरणाय च ॥१॥

२. तथा च भागुरिः–
अविचार्यात्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः। यः कोपं याति भूपालः स विनाशं प्रगच्छति ॥१॥

से उत्पन्न हुई प्रचुर पुण्यराशि को नष्ट कर देता है इसलिए जो महापुरुष इसके वश में नहीं होते उनका पुण्य बढ़ता रहता है[१] ॥१॥

क्रोधी पुरुष के महीनों तक के उपवास, सत्यभाषण, ध्यान, बाहरी जंगल का निवास, ब्रह्मचर्य धारण और गोचरीवृत्ति आदि सब निष्फल हैं[२] ॥२॥

जिस प्रकार खलिहान में एकत्रित धान्यराशि अग्निकण के द्वारा जला दी जाती है उसी प्रकार नानाप्रकार के व्रत, दया, नियम और उपवास से संचित पुण्यराशि को क्रोध नष्ट कर देता है[३] ॥३॥

अतएव जिस प्रकार कोई मनुष्य जिस समय दूसरों के जलाने के लिए अग्नि को अपने हाथ में धारण करता है उस समय सबसे पहले उसका हाथ जलता है उसी प्रकार यह क्रोधरूपी अग्नि जिसके उत्पन्न होती है उसकी आत्मा के सम्यग्ज्ञान, सुख और शान्ति आदि सद्‌गुणों को नष्ट कर देती है[४] ॥१॥

निष्कर्ष—अतः विवेकियों को क्रोध नहीं करना चाहिए॥ ३॥

अब लोभ का लक्षण निर्देश करते हैं–

दानार्हेषु स्वधनाप्रदानं परधनग्रहणं वा लोभः[५] ॥४॥

अर्थ—दान करने योग्य धर्मपात्र और कार्यपात्र आदि को धन न देना तथा चोरी, छलकपट और विश्वासघात आदि अन्यायों से दूसरों की संपत्ति को ग्रहण (हड़प) करना लोभ है॥ ४॥

अत्रि[६] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि ''जब धनाढ्य पुरुष तृष्णा के वशीभूत होकर दूसरों के धन को चोरी वगैरह अन्यायों से ग्रहण करता है एवं दान करने योग्य पात्रों को दान नहीं देता उसे लोभ कहा गया है ॥१॥''

अब मान का लक्षण करते हैं–

दुरभिनिवेशामोक्षो यथोक्ताग्रहणं वा मानः ॥५॥

---

१. पुण्यं चितं व्रततपोनियमोपवासैः। क्रोधः क्षणेन दहतीन्धनवद्धुताशः॥
मत्वेति तस्य वशमेति न यो महात्मा। तस्याभिवृद्धिमुपयाति नरस्य पुण्यं ॥१॥

२. मासोपवासनिरतोऽस्तु तनोतु सत्यं। ध्यानं करोतु विदधातु वहिर्निवासं॥
ब्रह्मव्रतं धरतु भैक्ष्यरतोऽस्तु नित्यं। रोषं करोति यदि सर्वमनर्थकं तत् ॥२॥

३. दुःखार्जितं खलगतं वलभीकृतं च। धान्यं यथा दहति वह्निकणः प्रविष्टः॥
नानाविधव्रतदयानियमोपवासैः। रोषोऽर्जितं भवभृतां पुरुपुण्यराशिम् ॥३॥
सुभाषितरत्नसंदोहे अमितगत्याचार्यः।

४. दहेत् स्वमेव रोषाग्निनापरं विषयं ततः। क्रुध्यन्निक्षिपति स्वाङ्गे वह्निमन्यदिधक्षया ॥१॥
क्षत्रचूड़ामणौ वादीभसिहसूरिः।

५. ''दानार्थेषु स्वधनाप्रदानमकारणं परवित्तग्रहणं वा लोभः।'' ऐसा मु. मू. पु. में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

६. तथा चात्रिः–परस्वहरणं यत्तु तद्धनाढ्यः समाचरेत्। तृष्णयाऽर्हेषु चादानं स लोभ परकीर्तितः ॥१॥ –संशोधित

अर्थ—शिष्टाचार से विरुद्ध प्रवृत्ति को न छोड़ना—पापकार्यों में प्रवृत्ति करना तथा आप्त-हितैषी पुरुषों की शास्त्रविहित बात को न मानना इसे मान कहते हैं॥ ५॥

व्यास[१] विद्वान् ने कहा है कि ''पाप कार्यों का न छोड़ना और कही हुई योग्य बात को न मानना उसे मान कहते हैं जिस प्रकार दुर्योधन का मान प्रसिद्ध है अर्थात् उसने पाण्डवों को न्याय प्राप्त राज्य न देकर महात्मा कृष्ण और विदुरजी आदि आप्त पुरुषों के द्वारा कही हुई बात की उपेक्षा की थी ॥१॥

अब मद का लक्षण करते हैं–

कुलबलैश्वर्यरूपविद्यादिभिरात्माहंकारकरणं परप्रकर्षनिबन्धनं वा मदः ॥६॥

अर्थ—जो अपने कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप और विद्या आदि के द्वारा अहंकार (मद) करना, अथवा दूसरों की वृद्धि-बढ़ती को रोकना, उसे मद कहते हैं॥ ६॥

जैमिनि[२] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि ''अपने कुल, वीर्य, रूप, धन और विद्या से जो गर्व किया जाता है अथवा दूसरों को नीचा दिखाया जाता है उसे मद कहते हैं ॥१॥''

अब हर्ष का लक्षण किया जाता है–

निर्निमित्तमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्यार्थसंचयेन वा मनःप्रतिरज्जनो हर्षः ॥७॥

अर्थ—बिना प्रयोजन दूसरों को कष्ट पहुँचाकर मन में प्रसन्न होना या इष्ट वस्तु-धनादि की प्राप्ति होने पर मानसिक प्रसन्नता का होना हर्ष है।

भारद्वाज[३] नामक विद्वान् ने लिखा है कि ''जो व्यक्ति बिना प्रयोजन दूसरों को कष्ट पहुँचाकर हर्षित होता है एवं अपनी इष्ट वस्तु की प्राप्ति में किसी प्रकार का संदेह न होने पर हर्षित होता है उसे विद्वानों ने हर्ष कहा है।

भावार्थ—यद्यपि नैतिक मनुष्य को अपने शारीरिक और मानसिक विकास के लिए सदा प्रसन्नचित्त-हर्षित रहना उत्तम है। परन्तु बिना प्रयोजन दूसरे प्राणियों को सताकर-कष्ट पहुँचाकर हर्षित होना इसे अन्याययुक्त होने के कारण त्याज्य बताया गया है, क्योंकि इससे केवल पापबंध ही नहीं होता, किन्तु साथ में वह व्यक्ति भी (जिस को निरर्थक कष्ट दिया है) इसका अनर्थ करने तत्पर रहता है एवं धनादि अभिलषित वस्तु के मिल ने पर, अधिक हर्षित होना भी क्षुद्रता का सूचक है; क्योंकि इससे नैतिक व्यक्ति की गम्भीरता नष्ट होती है एवं लोक में दूसरे लोग ईर्ष्या करने लगते हैं, साथ में आध्यात्मिक दृष्टि से भी संपत्ति की प्राप्ति में हर्ष करना बहिरात्म बुद्धि का प्रदर्शन है ॥७॥

॥ इत्यरिषड्वर्गसमुद्देशः॥

---

१. तथा च व्यासः– पापकृत्यापरित्यागो युक्तोक्तपरिवर्जनम्। यत्तन्मानाभिधानं स्याद्यथा दुर्योधनस्य च ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः– कुलवीर्यस्वरूपार्थैर्यो गर्वो ज्ञानसम्भवः। स मदः प्रोच्यतेऽन्यस्य येन वा कर्षणं भवेत् ॥१॥

३. तथा च भारद्वाजः– प्रयोजनं बिना दुःख यो दत्त्वान्यस्य हृष्यति। आत्मनोऽनर्थसंदेहैः स हर्षः प्रोच्यते बुधैः ॥३॥

(५) विद्यावृद्ध-समद्देशः

अब राजा का लक्षण करते हैं–

योऽनुकूलप्रतिकूलयोरिन्द्रयमस्थानं स राजा ॥१॥

अर्थ–जो अनुकूल चलने वालों (राजकीय आज्ञा मानने वालों) की इन्द्र के समान रक्षा करता है तथा प्रतिकूल चलने वालों-अपराधियों को यमराज के समान सजा देता है उसे राजा कहते हैं ॥१॥

भार्गव[1] नाम के विद्वान् ने भी कहा है कि ''राजा शत्रुओं के साथ काल के सदृश और मित्रों के साथ इन्द्र के समान प्रवृत्ति (क्रम से निग्रह और अनुग्रह का बर्ताव करना) करने वाला होता है, कोई व्यक्ति केवल अभिषेक और पट्ट बंधन से राजा नहीं हो सकता–उसे प्रतापी और शूरवीर होना चाहिए। अन्यथा अभिषेक (जल से धोना) और पट्ट बंधन-पट्टी बाँधना आदि चिह्न तो व्रण-घाव के भी किये जाते हैं उसे भी राजा कहना चाहिए ॥१॥

अब राजा का कर्त्तव्य निर्देश करते हैं–

राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः॥ २॥

अर्थ–पापियों-अपराधियों को सजा देना और सज्जन पुरुषों की रक्षा करना, राजा का धर्म है ॥२॥

वर्ग[2] विद्वान् ने लिखा है कि ''शिष्टों की रक्षा करना और पापियों प्रजाकण्टकों–अपराधियों को सजा देना, राजा का प्रधान धर्म समझना चाहिए। इससे दूसरे कर्तव्य उसके लिए गौण कहे गये हैं ॥१॥''

अब जो कर्तव्य राजा के नहीं होते उनका निरूपण करते हैं–

न पुनः शिरोमुण्डनं जटाधारणादिकम्॥ ३॥

अर्थ–शिर मुड़ाना और जटाओं का धारण करना आदि राजा का धर्म नहीं।

भावार्थ–क्योंकि राजा को प्रजा पालनरूप सत्कर्त्तव्य के अनुष्ठान से ही धर्म, अर्थ और

१. तथा च भार्गवः–
वर्तते योऽरिमित्राभ्यां यमेन्द्राभः भूपतिः। अभिषेको व्रणस्यापि व्यञ्जनं पट्टमेव वा ॥१॥

२. तथा च वर्गः–
विज्ञेयः पार्थिवो धर्मः शिष्टानां परिपालनं। दण्डश्च पापवृत्तीनां गौणोऽन्यः परिकीर्तितः ॥१॥

काम इन तीनों पुरुषार्थों की सिद्धि हो जाती है, अतएव उसे उस अवस्था में शिर का मुण्डन आदि कर्त्तव्य नहीं करना चाहिए॥ ३॥

भागुरि[1] विद्वान् ने लिखा है कि ''व्रत नियम आदि का पालन करना राजाओं को सुखदायक नहीं है, क्योंकि उनका धर्म तो प्रजा की रक्षा और उसकी पीड़ा पहुँचाने वालों को नष्ट करना है ॥१॥

अब राज्य का लक्षण किया जाता है–

राज्ञः पृथ्वीपालनोचितं कर्म राज्यं ॥४॥

अर्थ–राजा का पृथ्वी की रक्षा के योग्य कर्म-षाड्गुण्य (संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव) को राज्य कहते हैं।

भावार्थ–राजा लोग राज्य की श्रीवृद्धि के लिए दूसरे शत्रुभूत राजाओं से संधि-बलवान् शत्रु को धनादि देकर उससे मित्रता करना, विग्रह-कमजोर से लड़ाई करना, यान-शत्रु पर चढ़ाई करना, आसन-शत्रु की उपेक्षा करना, संश्रय-आत्मसमर्पण करना और द्वैधीभाव-बलवान् से संधि और कमजोर से युद्ध करना इस षाड्गुण्य का यथोचित प्रयोग करते हैं, क्योंकि इन राजनैतिक उपायों से उनके राज्य की श्रीवृद्धि होती है, अतएव पृथिवी की रक्षा में कारण उक्त षाड्गुण्य के प्रयोग को राज्य कहा गया है ॥४॥

वर्ग[2] विद्वान् ने भी लिखा है कि ''काम विलास आदि को छोड़कर षाड्गुण्य-संधि और विग्रहादि के उचित प्रयोग को राज्य कहा गया है ॥१॥''

''जो राजा कामासक्त होकर विषयों का लोलुपी हुआ उक्त षाड्गुण्य का चिंतन-समुचित प्रयोग नहीं करता उसका राज्य तथा वह शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥२॥''

अब पुनः राज्य का लक्षण करते हैं–

वर्णाश्रमवती धान्यहिरण्यपशुकुप्यवृष्टिप्रदानफला च पृथ्वी[3]॥५॥

अर्थ–वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और आश्रमों-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति से युक्त तथा धान्य, सुवर्ण, पशु और ताँबा लोहा आदि धातुओं को प्रचुर मात्रा में देने वाली पृथिवी को राज्य कहते हैं परन्तु जिसमें ये बातें न पाई जावें वह राज्य नहीं।

---

१. तथा च भागुरिः–
व्रतचर्यादि को धर्मो न भूपानां सुखावहः। तेषां धर्मः प्रदानेन प्रजासंरक्षेण च ॥१॥

२. तथा च वर्गः–
षाड्गुण्यचिन्तनं कर्म राज्यं यस्संप्रकथ्यते। न केवलं विलासाद्य तेन बाह्यं कथंचन ॥१॥
यो राजा चिन्तयेन्नैव विलासैकमनाः सदा। षाड्गुण्यं तस्य तद्राज्यं सोऽचिरेण प्रणश्यति ॥२॥ 'संशोधित'

३. ''वर्णाश्रमवती धान्य-हिरण्य-पशु-कुप्य-विशिष्टफलदा च पृथिवी'' ऐसा मु. मू. पु. में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

भावार्थ—केवल उत्तषाड्गुण्य-संधि चौर विग्रह आदि के यथास्थान प्रयोग को ही राज्य नहीं कहा जा सकता, किन्तु जिसके राज्य की पृथ्वी वर्ण और आश्रमधर्म से युक्त तथा धान्य और सुवर्ण आदि इष्ट सामग्री से सम्पन्न हो उसे राज्य कहते है ॥५॥

भृगु[१] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि जिस राजा की पृथ्वी वर्ण और आश्रमों से युक्त एवं धान्य और सुवर्ण आदि द्वारा प्रजाजनों के मनोरथों को पूर्ण करने बाली हो उसे राज्य कहते हैं। अन्यथा जहाँ पर ये चीजें नहीं पाई जावें वह राज्य नहीं किन्तु दुःख मात्र ही है ॥१॥''

अब वर्णों का भेदपूर्वक लक्षण करते हैं–

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्च वर्णाः[२]॥ ६॥

अर्थ—वर्ण चार हैं–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

विशदविवेचन–भगवान् जिनसेनाचार्य ने[३] आदिपुराण में लिखा है कि इतिहास के आदिकाल में आदि ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव ने मनुष्य जाति में तीन वर्ण–क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्रकट किये थे और वे आगे कहे हुए क्षतत्राण–शस्त्रशक्ति से प्रजा की शत्रुओं से रक्षाकरना आदि अपने-अपने गुणों से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाते थे ॥१॥

उस समय जो शस्त्र धारण कर जीविका करते थे वे क्षत्रिय और जो खेती, व्यापार और पशुपालन कर जीविका करते थे वे वैश्य कहलाते थे ॥२॥

जो क्षत्रिय तथा वैश्यों की सेवा शुश्रूषा कर जीविका करते थे वे शूद्र कहलाते थे, उनके भी २ भेद प्रकट किये गये थे–(१) कारू (२) अकारू। धोबी और नाई वगैरह 'कारू' और उन से भिन्न 'अकारू' कहलाते थे ॥३॥

१. तथा च भृगुः–
वर्णाश्रमसमोपेता सर्वकामान् प्रयच्छति। या भूमिर्भूपते राज्यं प्रोक्ता सान्या विडम्बना ॥१॥

२. ''ब्राह्मणः क्षत्रिया विशः शूद्राश्च वर्णाः'' ऐसा पाठ मु. मू. पुस्तक में है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

३. उत्पादितास्त्रयो वर्णस्तदा तेनादिवेधसा। क्षत्रिया वणिजः शूद्राः क्षत्तत्राणादिभिर्गुणैः ॥१॥
क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वमनुभूय तदऽभवन्। वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपशुपाल्योपजीविनः ॥२॥
तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः। कारवो रजकाद्याः स्युस्ततोऽन्ये स्युरकारवः ॥३॥
कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः। तत्रास्पृश्याः प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्युः कर्त्तकादयः ॥४॥
यथास्वं स्वोचितं कर्म प्रजा दध्युरसंकरं। विवाहज्ञातिसंबंधव्यवहारश्च तन्मतं ॥५॥
स्वदोर्भ्यां धारयन् शास्त्रं क्षत्रियानसृजद्विभुः। क्षत्तत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः ॥६॥
ऊरुभ्यां दर्शयन् यात्रामस्राक्षीद्वणिजः प्रभुः। जलस्थलादियात्राभिस्तद्वृत्तिर्वार्त्तया यतः ॥७॥
न्यग्वृत्तिनियतान् शाद्रान् पद्भ्यामेवासृजत् सुधीः। वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता ॥८॥
मुखतोऽध्यापयन् शास्त्रं भरतः स्त्रक्ष्यति द्विजान्। अधीत्यध्याप ने दानं प्रतीक्ष्येज्येति तत्क्रियाः ॥६॥
ब्राह्मणाः व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्। वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ॥१०॥
आदिपुराणे भगवज्जिनसेनाचार्यः–१६ वां पर्व।

कारू शूद्र भी दो प्रकार के थे एक स्पृश्य–स्पर्श करने योग्य और दूसरे अस्पृश्य–स्पर्श करने के अयोग्य। जो प्रजा से अलग निवास करते थे वे अस्पृश्य और नाई वगैरह स्पृश्य कहलाते थे ॥४॥

उक्त तीनों वर्ण के लोग अपना-अपना कार्य-जीविका करते थे। वैश्य का कार्य क्षत्रिय वा शूद्र नहीं करता था और न क्षत्रिय और शूद्र का कार्य कोई दूसरा करता था। विवाह, जातिसंबंध और व्यवहार ये सब कार्य भगवान् ऋषभदेव की आज्ञानुसार ही सब लोग करते थे ॥५॥

उस समय भगवान् ऋषभदेव ने अपनी भुजाओं से शस्त्रधारण कर क्षत्रियों की रचना की– उन्हें शस्त्रविद्या सिखाई, सो ठीक ही है; क्योंकि जो हाथों में शस्त्रधारण कर दूसरे सबल या शत्रु के प्रहार से जीवों की रक्षा करें उन्हें ही क्षत्रिय कहते हैं ॥६॥

तदनन्तर भगवान् ने अपने ऊरुओं-पैरों-से यात्रा करना-परदेश जाना दिखलाकर वैश्यों की सृष्टि की, सो भी ठीक ही है; क्योंकि समुद्र आदि जल प्रदेशों में तथा स्थल प्रदेशों में यात्रा करके व्यापार करना वैश्यों की मुख्य जीविका है ॥७॥

सदा नीच कामों में तत्पर रहने वाले शूद्रों की रचना भगवान् ने अपने पैरों से ही की, सो ठीक ही है; क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन उत्तम वर्णों के पैर दाबना, सब प्रकार से उनकी सेवा शुश्रूषा करना और उनकी आज्ञा का पालन करना आदि शूद्रों की आजीविका अनेक प्रकार की कही गई है ॥८॥

इस प्रकार तीनों वर्णों की सृष्टि तो प्रथम ही हो चुकी थी, उसके बाद भगवान् ऋषभदेव के पुत्र महाराज भरत अपने मुख से शास्त्रों का अध्ययन कराते हुए ब्राह्मणों की रचना करेंगे और पढ़ना, पढ़ाना, दान देना, दान लेना और पूजा करना कराना आदि उनकी आजीविका के उपाय होंगे ॥९॥

उक्त वर्णों के विषय में आचार्यश्री ने लिखा है कि व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्रधारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक द्रव्य कमाने से वैश्य और नीचवृत्ति का आश्रय करने से शूद्र कहलाते हैं ॥१०॥

इस प्रकार इतिहास के आदिकाल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों की सृष्टि हुई थी अतः आचार्यश्री सोमदेवसूरि ने भी उक्त चारों वर्णों का निरूपण किया है ॥६॥

अब आश्रमों के भेदों का वर्णन करते हैं–

ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिरित्याश्रमाः ॥७॥

अर्थ–ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति ये चार आश्रम हैं ॥७॥

विशदव्याख्या–अन्य जैनाचार्यों ने[1] भी लिखा है कि उपासकाध्ययन नाम के सप्तम अंग में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति इन चार आश्रमों का निर्देश किया गया है ॥१॥

---

१. ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः। इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमाङ्गाद्विनिसृताः ॥१॥ –सागारधर्मामृते।

यशस्तिलक में[१] उक्त आश्रमों के निम्न प्रकार लक्षण निर्दिष्ट किये गये हैं–

जिस पुरुष ने सम्यग्ज्ञान, जीवदया–प्राणिरक्षा और काम का त्यागरूप ब्रह्म–स्त्रीसेवनादि विषयभोग का त्यागरूप ब्रह्म– को भले प्रकार धारण किया है वह ब्रह्मचारी है ॥१॥

जो मनुष्य क्षमारूप स्त्री में आसक्त, सम्यग्ज्ञान और अतिथियों–दान देने योग्य त्यागी और व्रती आदि पात्रों–में अनुरागयुक्त और मनरूपी देवता का साधक–वश में करने वाला–जितेन्द्रिय है वह निश्चय से गृहस्थ है ॥२॥

जिसने ग्राम्य–ग्रामीण पुरुषों की अश्लीलता–नीतिविरुद्ध असत् प्रवृत्ति, बाह्य–धन धान्यादि और अंतरंगपरिग्रह–कामक्रोधादि कषाय का त्यागकर संयम–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग आदि चारित्रधर्म–को धारण किया है उसे 'वानप्रस्थ' समझना चाहिए परन्तु इसके विपरीत जो स्त्री आदि कुटुम्बयुक्त होकर वन में निवास करता है उसे वानप्रस्थ नहीं कहा जा सकता॥ ३॥

जिस महात्मा ने सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति से अपनी मानसिक विशुद्धि, चरित्र पालन द्वारा शारीरिक दीप्ति और नियमों के पालन द्वारा जितेन्द्रियता प्राप्त की है उसे 'तपस्वी' कहते हैं, किन्तु केवल बाह्य भेष धारण करने वाले को तपस्वी नहीं कहा जा सकता ॥४॥

श्रावकों की ११ प्रतिमाओं–चारित्र पालन की श्रेणियों– में से प्रारम्भ से ६ प्रतिमाओं के चारित्र को धारण करने वाले गृहस्थाश्रमी, सातमी से नवमी तक के चारित्रपालक 'ब्रह्मचारी' और दशमी और ग्यारहवीं प्रतिमा पालक 'वानप्रस्थ' कहे गये हैं और उन से आगे सर्वोत्तम चारित्र के धारक महात्मा 'मुनि' कहलाते हैं ॥५॥

अब उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी का लक्षण कहते हैं–

स उपकुर्वाणको ब्रह्मचारी यो वेदमधीत्य स्नायात् ॥८॥

अर्थ–जो वेद–अहिंसाधर्म का निरूपण करने वाले–निर्दोष शास्त्र–पढ़कर विवाह संस्कार करता है उसे उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी कहते हैं ॥८॥

अब उक्त सूत्र में वर्तमान स्नान शब्द का अर्थ किया जाता है–

स्नानं विवाहदीक्षाभिषेकः[२]॥९॥

---

१. ज्ञानं ब्रह्म दयाब्रह्म ब्रह्म कामविनिग्रहः। सम्यगत्र वसन्नात्मा ब्रह्मचारी भवेन्नरः ॥१॥
क्षान्तियोषिति यो सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः। स गृहस्थो भवेन्नूनं मनोदैवतसाधकः ॥२॥
ग्राम्यमर्थं वहिश्चान्तर्यः परित्यज्य संयमी। वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वनस्थः कुटुम्बवान्॥ ३॥
ज्ञानैर्मनो वपुर्वृत्तैर्नियमैरिन्द्रियाणि च। नित्यं यस्य प्रदीप्तानि स तपस्वी न वेषवान्॥ ४॥
षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः। भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात् सर्वतो यतिः॥ ५॥
–यशस्तिलक आ० ८ सोमदेवसूरि।

२. ''स्नानं विवाहदीक्षाविशेषः'' इस प्रकार मु. मू. पुस्तक में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

अर्थ—विवाह संस्कार रूप दीक्षा से अभिषिक्त होना स्नान है॥ ९॥

अब नैष्ठिक ब्रह्मचारी का लक्षण निर्देश करते हैं–

स नैष्ठिको ब्रह्मचारी यस्य प्राणान्तिकमदारकर्म ॥१०॥

अर्थ—जो जीवन पर्यन्त विवाह न करके कामवासना से विरक्त रहता है उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं।

भारद्वाज[1] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि ''जिस ब्रह्मचारी का समय जीवन पर्यन्त स्त्री रहित कष्ट से व्यतीत होता है वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी है ॥१॥''

भावार्थ—जैनाचार्यों ने[2] उपनय ब्रह्मचारी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी आदि ५ प्रकार के ब्रह्मचारी निर्दिष्ट किये हैं, उनमें से नैष्ठिक ब्रह्मचारी को छोड़कर बाकी चार प्रकार के ब्रह्मचारी शास्त्रों के अध्ययन के पश्चात् विवाह करते हैं ॥१०॥

अब पुत्र का लक्षण निर्देश करते हैं–

य उत्पन्नः पुनीते वंशं स पुत्रः ॥११॥

अर्थ—जो उत्पन्न होकर नैतिक सदाचाररूप प्रवृत्ति से अपने कुल को पवित्र करता है वही सच्चा पुत्र है।

भागुरि[3] विद्वान् ने लिखा है कि ''जो माता-पिता की सेवा में तत्पर होकर अपने सदाचाररूप धर्म के पालन से कुल को पवित्र करता है वही पुत्र है ॥१॥''

शास्त्रकारों ने[4] कहा है ''जो अपना पालन पोषण करने वाले माता पिता का सुविधि[5] राजा के केशव[6] नाम पुत्र की तरह उपकार (सेवा भक्ति आदि) करता है वही सच्चा पुत्र है–और जो इससे विपरीत चलता है उसे पुत्र के छल–बहाने–से शत्रु समझना चाहिए ॥१॥

निष्कर्ष—अतः पुत्र को माता–पिता और गुरुजनों की आज्ञा को पालने वाला, सदाचारी और वंश की रक्षा करने वाला होना चाहिए ॥११॥

अब कृतुपद ब्रह्मचारी का लक्षण निर्देश करते हैं–

१. तथा च भारद्वाजः–
कलत्ररहतिस्यात्र यस्य कालोऽतिवर्तते। कष्टेन मृत्युपर्यन्तो ब्रह्मचारी स नैष्ठिकः ॥१॥

२. तथा चोक्तमार्षे:–
प्रथमाश्रमिणः प्रोक्ता ये पंचोपनयादयः। तेऽधीत्य शास्त्रं स्वीकुर्युर्दारानन्यत्र नैष्ठिकात् ॥१॥

३. तथा च भागुरिः–
कुलं पाति समुत्थो यः स्वधर्मे प्रतिपालयेत्। पुनीते स्वकुलं पुत्रः पितृमातृपरायणः ॥१॥

४. पुत्रः पुपूषोः स्वात्मानं सुविधेरेव केशवः। य उपस्कुरुते वप्तुरब्यः शत्रुः सुतच्छलात् ॥१॥

–सागारधर्मामृत।

५.–६. देखो आदिपुराण १० वां पर्व।

कृतोद्वाहः ऋतुप्रदाता कृतुपदः[१] ॥१२॥

अर्थ—जो विवाहित होकर केवल सन्तान की प्राप्ति के लिए ऋतुकाल—चतुर्थ दिन में स्नान करने के पश्चात् रात्रि—में स्त्री का उपभोग करता है उसे 'कृतुपद' ब्रह्मचारी कहते हैं। ॥१२॥

वर्ग[२] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो कामवासना की पूर्ति को छोड़कर केवल सन्तान प्राप्ति के लिए ऋतुकाल में ही स्त्रीसेवन करता है वह उत्तमोत्तम और सब बातों को जानने वाला 'कृतुपद' ब्रह्मचारी है ॥१॥''

अब पुत्रशून्य ब्रह्मचारी या पुरुष जिस प्रकार का होता है उसे बताते हैं—

अपुत्रः ब्रह्मचारी पितॄणामृणभाजनम्[३] ॥१३॥

अर्थ—नैष्ठिक ब्रह्मचारी-बालब्रह्मचारी-को छोड़कर दूसरे ब्रह्मचारी पुत्र के बिना अपने पिताओं के ऋणी रहते हैं।

स्पष्टीकरण—प्रत्येक मनुष्य अपने माता-पिता के अनन्त उपकार से उपकृत होता है। अतएव वह कर्त्तव्यदृष्टि से जीवनपर्यन्त उनकी सेवा शुश्रूषा करता रहता है, तथापि उनके उपकार का बदला नहीं दे सकता; अतः वह उनके ऋण से मुक्त नहीं हो पाता। इसलिए उसके उस अत्यन्त आवश्यकीय सत्कर्त्तव्य को उसका उत्तराधिकारी पुत्र पूरा करता है-उनकी पवित्र स्मृति के लिए दानपुण्य आदि यशस्य सत्कार्य करता हुआ अपने कुल को उज्ज्वल बनाता है। अतः वह पुत्र युक्त पुरुष अपने पैतृक ऋण से छुटकारा पा लेता है। उसके फलस्वरूप लोक में उसकी चन्द्रवन्निर्मल कीर्तिकौमुदी का प्रसार होता है। परन्तु पुत्रशून्य पुरुष पूर्ण प्रत्युपकार न करने के कारण अपने पिताओं का ऋणी बना रहता है।

निष्कर्ष—कृतज्ञ सद्गृहस्थ पुरुष को पैतृक ऋण से मुक्त होने एवं वंश और धर्म की मर्यादा को अक्षुण्ण चलाने के लिए पुत्रयुक्त होना चाहिए ॥१३॥

अब शास्त्रों का अध्ययन न करने वाले पुरुष की हानि बताते हैं—

अनध्ययनो ब्रह्मणः[४] ॥१४॥

अर्थ—जो मनुष्य शास्त्र का अध्ययन नहीं करता वह आदिब्रह्मा-ऋषभदेव तीर्थंकर का

---

१. उक्त सूत्र मु. मू. पु. में नहीं है, केवल सं. टी. पु. में है।

२. तथा च वर्गः—
सन्तानाय न कामाय यः स्त्रियं कामयेदृतौ। कृतुपदः स सर्वेषामुत्तमोत्तमसर्ववित् ॥१॥

३. ''अपुत्रः पुमान्पितॄणामृणभाजनम्'' ऐसा पाठ मु. मू. पुस्तक में है जिसका अर्थ यह है कि पुत्रशून्य पुरुष पिताओं का ऋणी होता है। [नोट—यह पाठ संस्कृत टीका पुस्तक के पाठ से अच्छा प्रतीत होता है। —सम्पादक]

४. ''अनध्ययनो ब्रह्मर्षीणाम्'' इस प्रकार मु. मू. पु. में पाठ है जिसका अर्थ यह है कि जो मनुष्य शास्त्रों का अध्ययन नहीं करता वह गणधरादि ऋषियों का ऋणी है।

ऋणी है।

ऋषिपुत्रक[१] विद्वान् ने कहा है कि ''जो ब्रह्मचारी अज्ञान से वेदों का अध्ययन नहीं करता उसका ईश्वरऋण ब्याज युक्त होने से बढ़ता रहता है ॥१॥''

भावार्थ—ऋषभादि महावीरपर्यन्त चतुर्विंशति-२४ तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि के आधार से ही द्वादशाङ्ग-अहिंसाधर्म का निरूपण करने वाले शास्त्रों-की रचना हुई है, अतएव उन्हें मनुष्य जाति को सम्यग्ज्ञान निधि समर्पण करने का श्रेय प्राप्त है। इसलिए जो उनके शास्त्रों को पढ़ता है वह उनके ऋण से मुक्त हो जाता है और जो नहीं पढ़ता वह उनका ऋणी रहता है।

निष्कर्ष—यद्यपि उक्त निरूपण लौकिक व्यवहाररूप है। तथापि श्रेय की प्राप्ति, ऋषभादि तीर्थंकरों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शन करने और अज्ञान निवृत्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को निर्दोष-अहिंसाधर्म निरूपक शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए ॥१४॥

अब ईश्वरभक्ति न करने वाले की हानि बताते हैं-

अयजनो देवानाम्[२] ॥१५॥

अर्थ—जो मनुष्य देवों-ऋषभादि महावीरपर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों-की भक्ति-पूजा-नहीं करता वह उनका ऋणी है।

भावार्थ—आचार्यश्री विद्यानन्दि ने[३] श्लोकवार्तिक में कहा है कि आत्यन्तिक दुःखों की निवृत्ति-मोक्ष की प्राप्ति-सम्यग्ज्ञान से होती है और वह-सम्यग्ज्ञान-निर्दोष द्वादशाङ्ग के अध्ययन से प्राप्त होता है एवं उन द्वादशाङ्ग शास्त्रों के मूल जन्मदाता (आदिवक्ता) ऋषभादि महावीर पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थंकर पूज्य हैं; क्योंकि सज्जन लोग किये हुए उपकार को नहीं भूलते। अतः उन्होंने मनुष्यों के हृदय मन्दिरों में सद्बुद्धि और सदाचार के दीपक जलाकर उनका अनन्त और अपरिमित उपकार किया है ॥१॥

इसलिए जो व्यक्ति मूर्खता या मद के वश में होकर उनकी भक्ति-पूजा-नहीं करता वह उन तीर्थंकरों का ऋणी है।

निष्कर्ष—प्रत्येक मनुष्य को देवऋण से मुक्ति-छुटकारा एवं श्रेय की प्राप्ति के लिए ईश्वरभक्ति करनी चाहिए ॥१५॥

---

१. तथा च ऋषिपुत्रकः-
ब्रह्मचारी न वेदं यः पठते मौढ्यमास्थितः। स्वायंभुवमृणं तस्य वृद्धिं याति कुसीदकम् ॥१॥

२. 'अयजमानो देवानाम्' इस प्रकार मु. मू. पुस्तक में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

३. अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः। प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति प्रभवति स पूज्यस्त्वत्प्रसादप्रबुद्धयै। न हि कृतमुपकारं सद्धवो विस्मरन्ति ॥१॥
श्लोकवार्तिक पृष्ठ ३ विद्यानन्दि-आचार्य।

अब लोकसेवा न करने वाले मनुष्य की हानि बताते हैं–

अहन्तकरो मनुष्याणाम्[१] ॥१६॥

अर्थ–दूसरों को शोक उत्पन्न न करने वाला मनुष्यों का ऋणी है–अर्थात् जिस की मृत्यु हो जाने पर भी जनता को किञ्चिन्मात्र–थोड़ा–सा भी–शोक उत्पन्न न हो वह मनुष्य जाति का ऋणी है। अथवा इस सूत्र का यह अर्थ भी हो सकता है कि जो मनुष्य दूसरों को दु:खी देखकर 'हन्त' इस प्रकार खेद सूचक शब्द प्रकट नहीं करता–दूसरों के दु:ख में संवेदना प्रकट नहीं करता–वह मनुष्यों का ऋणी है।

भावार्थ–लोक में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं। उत्तम–स्वार्थत्यागी और अधम–स्वार्थान्ध। स्वार्थत्यागी मनुष्य अपने जीवन को काँच की शीशी के समान क्षणभंगुर समझकर स्वार्थ को ठुकराकर जनता की भलाई करते हैं और अपने जीवन को विशुद्ध बनाते हैं, अत: उनकी लोक में चन्द्रवन्निर्मल कीर्ति होती है। वे अपने कर्तव्य पालन–लोकसेवा से जनता के ऋण से मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि उसके फलस्वरूप जनता उनके वियोग हो जाने पर शोकाकुल होती है। परन्तु दूसरे स्वार्थान्ध पुरुष परोपकार नहीं करते और जनता को कष्ट देते हैं, अत: उनके मर जाने पर भी किसी को जरा भी शोक नहीं होता, इसलिए वे लोग मनुष्य जाति के ऋणी समझे जाते हैं ॥१६॥

अब नैष्ठिक ब्रह्मचारी पुत्रशून्य होने पर भी ऋणी नहीं होता इसे बताते हैं–

आत्मा वै पुत्रो नैष्ठिकस्य ॥१७॥

अर्थ–नैष्ठिक ब्रह्मचारी का आत्मा ही पुत्र समझा जाता है।

ऋषिपुत्रक[२] विद्वान् ने लिखा है कि ''जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी अपनी आत्मा में परमात्मा का प्रत्यक्ष कर लेता है उस ने शास्त्र पढ़ लिए, ईश्वरभक्ति कर ली और पुत्र के मुख को भी देख लिया अर्थात् वह पितृऋण से मुक्त समझा जाता है ॥१॥''

निष्कर्ष–नैष्ठिक ब्रह्मचारी–जन्मपर्यन्त ब्रह्मचर्य से रहने वाला होता है अत: उसे पुत्र की कामना द्वारा पितृऋण से मुक्त होने की आवश्यकता नहीं रहती ॥१७॥

अब नैष्ठिक ब्रह्मचारी का महत्त्व बताते हैं–

अयमात्मात्मानमात्मनि संदधान: परां पूततां सम्पद्यते ॥१८॥

अर्थ–यह नैष्ठिक ब्रह्मचारी–आत्मा के द्वारा आत्मा को आत्मस्वरूप में प्रत्यक्ष करता हुआ अत्यन्त विशुद्धि को प्राप्त करता है ॥१८॥

---

१. उक्त सूत्र सं. टी. पु. में नहीं है किन्तु मु. मू. पुस्तक से संकलन किया गया है।

२. तथा च ऋषिपुत्रक:–
तेनाधीतं च यष्टं च पुत्रस्यालोकित मुखं। नैष्ठिको वीक्ष्यते यस्तु परमात्मानमात्मनि ॥१॥

नारद[१] विद्वान् ने भी लिखा है कि ''जिस नैष्ठिक ब्रह्मचारी को आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है उसे समस्त प्रकार के ब्रह्मचर्य के फल-स्वर्गादि-प्राप्त हो जाते हैं ॥१॥''

निष्कर्ष—नैष्ठिक ब्रह्मचारी का पद उच्च और श्रेयस्कारक है, क्योंकि वह कामवासना से विरक्त जितेन्द्रिय, आत्मदर्शी और विशुद्ध होता है ॥१८॥

अब गृहस्थ का लक्षण निर्देश करते हैं–

नित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्थो गृहस्थः ॥१८॥

अर्थ—जो व्यक्ति शास्त्रविहित नित्य अनुष्ठान-सत्कर्त्तव्य (१. इज्या[२]-तीर्थंकर और महर्षियों की पूजाभक्ति, २. वार्ता[३]-न्यायवृत्ति से असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन जीविकोपयोगी कार्यों को करना, ३. दत्ति[४]-दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति, ४. स्वाध्याय[५] निर्दोष शास्त्रों का अध्ययन मनन आदि, ५ संयम[६]-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और तृष्णा का त्याग, इन व्रतों का पालन करना तथा ६ तप[७]-अनशन आदि तप करना) और नैमित्तिक अनुष्ठान (वीर जयन्ती आदि निमित्त को लेकर किये जाने वाले धार्मिक प्रभावना आदि सत्कार्य) का पालन करता है उसे गृहस्थ कहा है ॥१६॥

भागुरि[८] विद्वान् ने कहा है कि ''जो मनुष्य उत्कृष्ट श्रद्धा से युक्त होकर नित्य और नैमित्तिक सत्कर्त्तव्यों का पालन करता है उसे विद्वानों ने गृहस्थ कहा है किन्तु इससे विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाला बिना सींगों का पशु है ॥१॥''

सोमदेवाचार्य ने[९] लिखा है कि जिनेन्द्र भक्ति, गुरुओं की उपासना, शास्त्र स्वाध्याय, संयम-अहिंसा और सत्य आदि व्रतों का धारण-अनशनादि तप और पात्रदान ये ६ सत्कर्त्तव्य गृहस्थों के

१. तथा च नारदः–
आत्मावलोकनं यस्य जायते नैष्ठिकस्य च। ब्रह्मचर्याणि सर्वाणि यानि तेषांफलं भवेत् ॥१॥

२. तथा चोक्तमार्षे-कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत्पूजादिवर्णनं''
इज्यः वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः। श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥१॥

३. वार्ता विशुद्धवृत्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः।
असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च। कर्माणीमानि षोढ़ा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥१७१॥ पर्व १६
चतुर्द्धा वर्णिता दतिर्दयापात्रसमन्वये॥ १/२

५. 'स्वाध्यायः श्रुतभावना'

६.-७.''तपोऽनशनवृत्त्यादि संयमो व्रतधारणं'' इति आदिपुराणे भगवान् जिनसेनाचार्यः पर्व ३८।

८. तथा च भागुरिः–
नित्यनैमित्तिकपरः श्रद्धया परया युतः। गृहस्थः प्रोच्यते सद्भिरशृङ्गः पशुरम्यथा ॥१॥

९. देवसेवा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः। दानं चैव गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥१॥
क्षान्तियोषिति यो सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः। स गृहस्थो भवेन्नूनं मनोदैवतसाधकः ॥२॥
–यशस्तिलके सोमदेवसूरिः।

प्रत्येक दिन करने योग्य हैं ॥१॥

जो मानव क्षमा रूप स्त्री में आसक्त, सम्यग्ज्ञान और अतिथियों-पात्रों- में अनुरागयुक्त और जितेन्द्रिय है उसे गृहस्थ कहते हैं॥ २॥

निष्कर्ष—ऐहिक और पारलौकिक सुख चाहने वाले गृहस्थ व्यक्ति को उक्त नित्य और नैमित्तिक सत्कर्त्तव्यों के पालन करने में सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए ॥१९॥

अब गृहस्थों के नित्य अनुष्ठान-सदा करने योग्य सत्कार्य- का निर्देश करते हैं–

ब्रह्मदेवपित्रतिथिभूतयज्ञा हि नित्यमनुष्ठानम्॥२०॥

अर्थ—ब्रह्मयज्ञ-ब्रह्मर्षिगणधरों की पूजा, देवयज्ञ-ऋषभादि महावीरपर्यन्त तीर्थंकर देवों का स्नपन, पूजन, स्तुति, जप और ध्यान आदि, पितृयज्ञ-भाता पिता की आज्ञा का पालन और उनकी सेवा शुश्रूषा आदि, अतिथियज्ञ-अतिथि सत्कार और भूतयज्ञ-प्राणीमात्र की सेवा करना ये गृहस्थ के नित्य करने योग्य सत्कार्य हैं॥ २०॥

अब नैमित्तिक-तीर्थंकरों की जयन्ती आदि के निमित्त को लेकर किये जानेवाले-सत्कार्यों का निर्देश करते हैं–

दर्शपौर्णमास्याद्याश्रयं नैमित्तिकम् ॥२१॥

अर्थ—अमावस्या और पूर्णमासी आदि शुभतिथियों में किये जाने वाले धार्मिक उत्सव आदि प्रशस्त कार्यों को नैमित्तिक अनुष्ठान कहते हैं।

भावार्थ—जिन शुभ तिथियों में धर्मतीर्थ के प्रवर्तक ऋषभादि तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष कल्याणक हुए हों या पूज्य महापुरुषों का जन्म हुआ हो उनमें धार्मिक पुरुष जो महावीर जयन्ती आदि उत्सव करते हैं उसे नैमित्तिक अनुष्ठान कहते हैं ॥२१॥

अब अन्यमतों की अपेक्षा से गृहस्थों के भेद कहते हैं–

वैवाहिकः शालीनो जायावरोऽघोरो गृहस्थाः[१] ॥२२॥

अर्थ—गृहस्थ चार प्रकार के हैं–वैवाहिक, शालीन, जायावर और अघोर[२] ॥२२॥

---

१. उक्त सूत्र न तो मु. मू. पुस्तक में और न गवर्न. लायब्ररी पूना की हस्तलिखित मूल प्रतियों में है किन्तु केवल सं. टी. पुस्तक में पाया जाता है।

२. [नोट–जैनसिद्धान्त में उक्त गृहस्थों के भेद नहीं पाये जाते परन्तु इस ग्रन्थ में आचार्यश्री ने जिस प्रकार कुछ स्थलों में अन्य नीतिकारों की मान्यताओं का संकलन किया है उसी प्रकार यहाँ भी अन्य मतों की अपेक्षा गृहस्थों के भेद संकलन किये हैं अथवा उक्त सूत्र किसी भी मूल प्रति में न होने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का संस्कृत टीकाकार अजैन विद्वान् था; इसलिए उस ने अपने मत की अपेक्षा से कुछ सूत्र अपनी रुचि से रचकर मूलग्रन्थ में शामिल कर दिये हैं, अन्यथा यही आचार्यश्री यशस्तिलक में गृहस्थ का लक्षण (क्षान्तियोषिति यो सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः। स गृहस्थो भवेन्नूनं मनोदैवतसाधकः ॥१॥) ''क्षमारूप स्त्री में आसक्त, सम्यग्ज्ञान और अतिथियों में अनुरागयुक्त और जितेन्द्रिय'' न करते।

जो गृह में रहकर श्रद्धापूर्वक केवल गार्हपत्य अग्नि में ही हवन करता है उसे 'वैवाहिक' समझना चाहिए ॥१॥

जो पूजा के बिना केवल अग्निहोत्र करता हुआ पाँचों अग्नियों की पूजा करता है उसे 'शालीन' जानना चाहिए ॥२॥

जो एक अग्नि की अथवा पाँचों अग्नियों की पूजा करने में तत्पर है और जो शूद्र की धनादि वस्तु को ग्रहण नहीं करता वह सात्विक प्रकृति युक्त 'जायावर' है ॥३॥

जो दक्षिणा-दान-पूर्वक अग्निष्टोम आदि यज्ञ करता है वह सौम्य प्रकृति युक्त और रूपवान् 'अघोर' कहा गया है ॥४ ॥[१]

अब परमत की अपेक्षा वानप्रस्थ का लक्षण निर्देश करते हैं-

यः खलु यथाविधि जनपदमाहारं संसारव्यवहारं च परित्यज्य सकलत्रोऽकलत्रो वा वने प्रतिष्ठते स वानप्रस्थः ॥२३॥

अर्थ—जो शास्त्र की आज्ञा के अनुसार लौकिक आहार-नागरिक या ग्रामीण पुरुषों का अन्न आदि का तथा सांसारिक व्यवहार-गाय, भैंस पुत्र और पौत्रादि-का त्याग करके स्त्रीसहित या स्त्रीरहित होकर वन को प्रस्थान करता है उसे वानप्रस्थ कहते हैं।

विशेष विमर्श—इन्हीं आचार्यश्री ने[२] यशस्तिलकचम्पू में कहा है कि "जो ग्रामीण पुरुषों की नीतिविरुद्ध प्रवृत्ति और धनधान्यादि बाह्य तथा काम-क्रोधादि अन्तरङ्ग परिग्रह का त्याग कर अहिंसा और सत्य आदि संयमधर्म को धारण करता है उसे वानप्रस्थ समझना चाहिए। परन्तु इसके विपरीत जो स्त्री आदि कुटुम्बयुक्त होकर वन में रहता है उसे वानप्रस्थ नहीं कहा जा सकता ॥१॥

चारित्रसार में ग्यारहवीं प्रतिमा के चरित्र को पालने वाले क्षुल्लक और ऐलक को 'वानप्रस्थ' कहा है[३]।

विश्लेषण और परीक्षण—

उक्त प्रमाणों से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि उक्त लक्षण जैनसिद्धान्त की अपेक्षा से नहीं है; अतः आचार्यश्री ने परमत की अपेक्षा से वानप्रस्थ का लक्षण संकलन किया है अथवा

---

१. देखो नीतिवाक्यामृत संस्कृत टीका पृ० ४६।

२. ग्राम्यमर्थं वहिश्चान्तर्यः परित्यज्य संयमी। वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वनस्थः कुटुम्बवान् ॥१॥
यशस्तिलके सोमदेवसूरिः आ० ८

३. "वानप्रस्था अपरिगृहीतजिनरूपा वस्त्रखण्डधारिणो निरतिशयतपःसमुद्यता भवन्ति"—चारित्रसारे। अर्थ—मुनि मुद्रा-दिगम्बर अवस्था-को धारण न करके वस्त्र या खंड वस्त्र को धारण करने वाले (खंड चादर और लंगोटी के धारक क्षुल्लक और केवल लंगोटी के धारक ऐलक) महात्माओं को जो कि साधारण तपश्चर्या में प्रयत्नशील हैं उन्हें 'वानप्रस्थ' कहते हैं।

अन्यमतानुयायी संस्कृत टीकाकार ने ऐसा किया है; क्योंकि यशस्तिलक में वानप्रस्थ को स्त्री सहित वन में रहने का स्पष्ट निषेध किया गया है ॥२३॥

अब परमत की अपेक्षा से वानप्रस्थ के भेद कहते हैं–

वालिखिल्य औदम्बरी वैश्वानराः सद्यःप्रक्षल्यकश्चेति वानप्रस्थाः[१] ॥२४॥

वानप्रस्थ चार प्रकार के हैंः–वालिखिल्य, औदम्बरी, वैश्वानर और सद्यःप्रक्षल्यक[२]।

जो प्राचीन गार्हपत्य अग्नि को त्यागकर केवल अरणी–समिधविशेष–को साथ ले जाकर बिना स्त्री के वन को प्रस्थान करता है वह वन में रहने वाला 'वालिखिल्य' है ॥१॥

जो स्त्री सहित वन में रहकर पाँचों अग्नियों से विधिपूर्वक पाँच यज्ञ–पितृयज्ञ, देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, अतिथियज्ञ और ऋषियज्ञ– करता है उसे विद्वानों ने 'औदुम्बर' कहा है ॥२॥

जो यज्ञपूर्वक त्रिकाल स्नान करता है और अतिथियों की पूजा करके–उन्हें खिलाकर–कंदमूल और फलों का भक्षण करता है वह 'वैश्वानर' कहा गया है ॥३॥

जो केवल खाने मात्र को धान्य विशेष और घृत का संग्रह करता है और अग्नि की पूजा करता है उसे 'सद्यःप्रक्षालक'[३] कहते हैं ॥२४॥

अब यति–साधु का लक्षण निर्देश किया जाता है–

यो देह मात्रारामः सम्यग्विद्यानौलाभेन तृष्णासरित्तरणाय योगाय यतते यतिः ॥२५॥

अर्थ–जो शरीर मात्र से अपनी आत्मा को सन्तुष्ट रखता है–शरीर के सिवाय दूसरे बहिरङ्ग–धन–धान्यादि और अंतरंग–काम–क्रोधादि–परिग्रह का त्याग किए हुए है एवं सम्यग्ज्ञानरूपी नौका की प्राप्ति से तृष्णारूपी नदी को पार करने के लिए ध्यान करने का प्रयत्न करता है उसे 'यति' कहते हैं।

हारीत[४] विद्वान् ने भी उक्त बात की पुष्टि की है कि ''जो आत्मा में लीन हुआ विद्या के अभ्यास में तत्पर है और संसाररूपी समुद्र से पार होने के लिए ध्यान का अभ्यास करता है उसे यति कहते हैं ॥१॥''

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने[५] भी कहा है कि जो पंचेन्द्रियों के विषयों की लालसा से रहित,

१. उक्त सूत्र न तो मु. मू. पुस्तक में और न हस्तलिखित गवर्न. लायब्रेरी पूना की दोनों पुस्तकों में पाया जाता है किन्तु संस्कृत टीका पुस्तक में है।

२. **नोट–**उक्त कथन का भी जैनसिद्धान्त से समन्वय नहीं होता; अतएव संस्कृत टीकाकार की रचना या आचार्यश्री का परमत की अपेक्षा से संकलन जानना चाहिए। –सम्पादक।

३. देखी नीति. संस्कृत टीका पृष्ठ ५०।

४. तथा च हारीतः– आत्मारामो भवेद्यस्तु विद्यासेवनतत्परः। संसारतरणार्थाय योगभाग् यतिरुच्यते ॥१॥

५. विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः। ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते॥ २॥

–रत्नकरण्डे स्वामी समन्तभद्राचार्यः।

कृष्यादि आरंभ और बहिरङ्ग (धन-धान्यादि) एवं अन्तरंग-क्रोधादि-परिग्रह का त्यागी होकर ज्ञान, ध्यान और तपश्चर्या में लीन रहता है उसे यति-तपस्वी-कहते हैं ॥१॥

इसी के जितेन्द्रिय, क्षपणक, आशाम्बर, नग्न, ऋषि, यति, तपस्वी और अनगार आदि अपने गुणनिष्पन्न-सार्थक-नाम यशस्तिलक में आचार्यश्री ने व्यक्त किये हैं परन्तु विस्तार के भय से हम उनका संकलन करना नहीं चाहते ॥२५॥

अब अन्यमत की अपेक्षा से यतियों के भेद बताते हैं-

कुटीचरवव्होदकहंसपरमहंसा यतयः[1]॥ २६॥

अर्थ—यति-साधु-चार प्रकार के होते हैं-कुटीचर, वव्होदक, हंस और परमहंस। जो त्रिदण्डी (ऐसे दंड विशेष को धारण करने वाला जिसमें चोटी और जनेऊ बँधे हुए हों अथवा न भी बँधे हुए हों), शिर पर केवल चोटी रखने वाला, यज्ञोपवीत-जनेऊ-का धारक, झोपड़ी में रहने वाला और जो एकबार पुत्र के मकान पर स्नान करता हो तथा झोपड़ी में निवास करता हो उसे 'कुटीचर' कहते हैं। ॥१॥

जो झोपड़ी में रहकर गोचरीवृत्ति से आहार करता हो और विष्णु की जाप जप ने में तत्पर हो उसे 'वव्होदक' कहते हैं ॥२॥

जो गाँवों में एक रात और शहरों में तीन रात तक निवास करता हो और धूप और अग्नि से शून्य ब्राह्मणों के मकानों में जाकर थाली आदि में या हस्तपुट में स्थापित किये हुए आहार को ग्रहण करता हो एवं जिसे शरीर और इन्द्रियादि प्रकृति से भिन्न पुरुष तत्त्व-आत्मतत्त्व-का बोध उत्पन्न हुआ हो उसे 'हंस' समझना चाहिए ॥३॥

जो अपनी इच्छा से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों का गोचरीवृत्ति से आहार ग्रहण करता हो, दंड विशेष का धारक, समस्त कृषि और व्यापार आदि आरंभ का त्यागी और वृक्षों के मूल में बैठकर भिक्षा द्वारा लाये हुए आहार को ग्रहण करता हो उसे 'परमहंस' कहते हैं ॥२६॥[2]

---

१. उक्त सूत्र भी मु. मू. पुस्तक में और गवर्न. लायब्रेरी पूना की हस्तलिखित मू. दोनों प्रतियों में नहीं है किन्तु केवल संस्कृत टीका पुस्तक में है।

२. **नोट—**उक्त सूत्र में जो चार प्रकार के यतियों का निर्देश किया गया है उसका जैनसिद्धान्त से समन्वय नहीं होता,क्योंकि जैनाचार्यों ने ''पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकाः निर्ग्रन्थाः'' आचार्य उमास्वामीकृत मोक्षशास्त्र अ०९-अर्थात् पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इस प्रकार यतियों के ५ भेद निर्दिष्ट किये हैं और उनके कर्त्तव्यों का भी पृथक्-पृथक् निर्देश किया है एवं स्वयं इन्हीं आचार्यश्री ने यशस्तिलक में यतियों के जितेन्द्रिय, क्षपणक, ऋषि, यति आदि गुणनिष्पन्न-सार्थक नामों की विशद व्याख्या की है, अतएव इनको अन्य सांख्य योग आदि दार्शनिकों की मान्यताओं का संग्रह समझना चाहिए। इसमें आचार्यश्री की राजनैतिक उदारदृष्टि या संस्कृत टीकाकार के अजैन होने से उसके द्वारा की हुई अपने मत की अपेक्षा नवीन रचना ही कारण है। -सम्पादक

अब राज्य का मूल बताते हैं–

राज्यस्य मूलं क्रमो विक्रमश्च[१] ॥२७॥

अर्थ—पैतृक-वंश परम्परा से चला आया राज्य या सदाचार और विक्रम-सैन्य और खजाने की शक्ति-ये दोनों गुण राज्यरूपी वृक्ष के मूल हैं-इन दोनों गुणों से राज्य की श्रीवृद्धि होती है।

भावार्थ—जिस प्रकार जड़ सहित वृक्ष शाखा, पुष्प और फलादि से वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार राज्य भी क्रम-सदाचार तथा पराक्रम से वृद्धि को प्राप्त होता है-हस्ति, अश्वादि तथा धनधान्यादि से समृद्धिशाली हो जाता है ॥२७॥

शुक्र विद्वान् ने[२] भी लिखा है कि "जिस प्रकार जड़ सहित होने से वृक्ष की वृद्धि होती है उसी प्रकार क्रम-सदाचार और विक्रम गुणों से राज्य की वृद्धि-उन्नति-होती है और उनके बिना नष्ट हो जाता है ॥१॥"

निष्कर्ष—राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने राज्य (चाहे वह वंशपरम्परा से प्राप्त हुआ हो या अपने पुरुषार्थ से प्राप्त किया गया हो) को सुरक्षित, वृद्धिंगत और स्थायी बनाने के लिए क्रम-सदाचार लक्ष्मी से अलंकृत होकर अपनी सैनिक और खजाने की शक्ति का संचय करता रहे, अन्यथा दुराचारी और सैन्यहीन होने से राज्य नष्ट हो जाता है ॥२७॥

अब राज्य की वृद्धि का उपाय बताते हैं–

आचारसम्पत्तिः क्रमसम्पत्तिं करोति ॥२८॥

अर्थ—सदाचारलक्ष्मी वंशपरम्परा से या पुरुषार्थ से प्राप्त हुई राज्यलक्ष्मी को चिरस्थायी बनाने में कारण है।

शुक्र[३] विद्वान् ने लिखा है कि "जो राजा अपने नैतिकज्ञान की वृद्धि करके लोकव्यवहार में निपुण होता है इससे उसके वंशपरम्परा से चले आये राज्य की श्रीवृद्धि होती है ॥१॥"

निष्कर्ष—नीतिविरुद्ध असत् प्रवृत्ति-दुराचार-से राज्य नष्ट हो जाता है; अतएव जो राजा अपने राज्य को चिरस्थायी बनाने का इच्छुक है उसे सदाचारी होना चाहिए ॥२८॥

अब जिस गुण से पराक्रम सुशोभित होता है उसका वर्णन करते हैं–

अनुत्सेकः खलु विक्रमस्यालङ्कारः ॥२८॥

अर्थ—विनय-अभिमान न करने से पराक्रम सुशोभित होता है।

---

१. "राज्यमूलं क्रमो विक्रमश्च" इस प्रकार मु. मू. पुस्तक में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

२. तथा च शुक्रः–
क्रमविक्रममूलस्य राज्यस्य तु यथा तरोः। समूलस्य भवेद्वृद्धिस्ताभ्यां हीनस्य संक्षयः ॥१॥

३. तथा च शुक्रः–
लौकिकं व्यवहारं यः कुरुते नयवृद्धितः। तद्वृद्ध्या वृद्धिमायाति राज्यं तत्र क्रमागतम् ॥१॥

गुरु[1] विद्वान् ने लिखा है कि ''मनुष्य सुवर्णादि के आभूषणों से रहित होने पर भी यदि विनयशील है तो वह विशेष सुशोभित होता है, परन्तु घमण्डी पुरुष अनेक आभूषणों से अलंकृत होने पर भी लोक में हँसी का पात्र होता है ॥१॥

जो राजा ''मैं ही बड़ा शूरवीर हूँ'' ऐसा समझ कर अभिमान के वश होकर अपने अमात्य, गुरुजन और बन्धुजनों का सत्कार नहीं करता वह रावण की तरह नष्ट हो जाता है॥ २॥''

निष्कर्ष—अतः नैतिक पुरुष को कदापि अभिमान नहीं करना चाहिए॥ २६॥

अब राज्य की क्षति का कारण बताते हैं–

क्रमविक्रमयोरन्यतरपरिग्रहेण राज्यस्य दुष्करः परिणामः[2] ॥३०॥

अर्थ—राजा क्रम (सदाचार और राजनैतिक ज्ञान) और पराक्रम सैनिक शक्ति–इनमें से केवल एक ही गुण प्राप्त करता है उसका राज्य चिरस्थायी नहीं रहता–नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—पैतृक राज्य के मिल जाने पर भी जो राजा भीरु होता है–पराक्रम नहीं करता–सैनिक शक्ति को संगठित–शक्तिशाली नहीं बनाता उसका राज्य नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार जो पराक्रम शक्ति–सैनिक शक्ति से राज्य संपादन कर लेता है परन्तु राजनैतिक ज्ञान–संधि, विग्रह, यान और आसन आदि का उचित स्थान, देश और काल के अनुसार प्रयोग करना–नहीं जानता उसका राज्य भी नष्ट हो जाता है।

शुक्र[3] विद्वान् ने लिखा है कि ''जो राज्य जल के समान (जिस प्रकार पाताल का जल यंत्र द्वारा खींच लिया जाता है) पराक्रम–सैनिक शक्ति–से प्राप्त कर लिया गया हो। परन्तु बुद्धिमान राजा जब उसे नष्ट होता हुआ देखे तब उसे राजनीति (संधि, विग्रह, यान और आसन आदि उपाय) से उस राज्य को पूर्व की तरह सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिए ॥१॥

नारद[4] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि ''जो राजा पराक्रम से शून्य होने के कारण संग्राम–युद्ध–से विमुख हो जाता है–सैनिक शक्ति का समुचित प्रयोग नहीं करता–उसका भी कुलपरम्परागत राज्य नष्ट हो जाता है ॥१॥

---

१. तथा च गुरुः–
भूषणैरपि संत्यक्तः स विरेजे विगर्वकः। सगर्वो भूषणाढ्योऽपि लोकेऽस्मिन् हास्यतां ब्रजेत् ॥१॥
योऽमात्यान् मन्यते गर्वान्न गुरून् न च वांधवान्। शूरोऽहमिति विज्ञेयो म्रियते रावणो यथा॥ २॥

२. ''क्रमविक्रमयोरन्यतमपरिग्रहेण राज्यस्य दुःकरः परिणामः'' ऐसा मु. मू. पुस्तक में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

३. तथा च शुक्रः–
राज्यं हि सलिलं यद्वद्यद्वलेन समाहृतम्। भूयोऽपि तत्ततोऽभ्येति लब्ध्वाकालस्य संक्षयम् ? ॥१॥

४. तथा च नारदः–
पराक्रमच्युतो यस्तु राजा संग्रामकातरः। अपि क्रमागतं तस्य नाशं राज्यं प्रगच्छति ॥१॥

निष्कर्ष—कोई भी राजा केवल आचार सम्पत्ति से अपने राज्य को नष्ट होने से बचा नहीं सकता, क्योंकि आचारवान्-शान्त-राजा को शत्रु लोग आक्रमण करके पराजित कर देते हैं। अतएव प्राप्त राज्य को सुरक्षित रखने के लिए उसे आचार सम्पत्ति के साथ-साथ अपनी सैनिक शक्ति को मजबूत बनाकर पराक्रमशाली होना चाहिए। इसी प्रकार केवल पराक्रम-सैनिकशक्ति-से ही कोई साम्राज्य चिरस्थायी नहीं रह सकता, क्योंकि सदा पराक्रम दिखा ने वाले-हमेशा तीक्ष्ण दंड देने वाले-राजा से सभी लोग द्रोह करने लगते हैं, अतः उससे समस्त प्रजा क्षुब्ध हो जाती है और ऐसा होने से उसका राज्य नष्ट हो जाता है ॥३०॥

अब कौन-सा राजा राजनैतिक ज्ञान और पराक्रम का स्थान होता है ? इसका समाधान किया जाता है–

क्रमविक्रमयोरधिष्ठानं बुद्धिमानाहार्यबुद्धिर्वा॥ ३१॥

अर्थ—वही राजा राजनीति और पराक्रम का स्थान हो सकता है जो स्वयं राजनैतिक ज्ञानवान हो अथवा जो अमात्य के द्वारा बताये हुए राजनीति के सिद्धान्तों का पालन करने वाला हो।

शुक[१] विद्वान् ने लिखा है कि जो राजा स्वयं बुद्धिमान है अथवा जो अमात्य की बुद्धि के अनुकूल प्रवृत्ति करता है वही राजनीति और पराक्रम का स्थान है परन्तु जिस राजा में राजनैतिक ज्ञान नहीं है वह नष्ट हो जाता है-अपने राज्य को खो बैठता है ॥१॥''

निष्कर्ष—राजा को राजनीति और पराक्रम की प्राप्ति के लिए या तो स्वयं बुद्धिमान होना चाहिए अथवा उसे मन्त्री के द्वारा कही हुई बात को माननी चाहिए। उसे कदापि दुराग्रही नहीं होना चाहिए ॥३१॥

अब बुद्धिमान राजा का लक्षण निर्देश किया जाता है–

यो विद्याविनीतमतिः स बुद्धिमान॥ ३२॥

अर्थ—जिसने नीतिशास्त्रों के अध्ययन से राजनीतिज्ञान और नम्रता प्राप्त की है उसे बुद्धिमान कहते हैं।

गुरु[२] विद्वान ने लिखा है कि जिस की बुद्धि नीतिशास्त्रों के अध्ययन से विशुद्ध है वह बुद्धिमान है परन्तु जो नीतिशास्त्र के ज्ञान से शून्य और केवल शूरवीर है वह नष्ट हो जाता है-अपने राज्य को खो बैठता है ॥१॥''

अब शास्त्र ज्ञान से शून्य केवल शूरवीरता बताने वाले राजा की अवस्था बताते हैं–

---

१. तथा च शुक्रः–
स बुद्धिसहितो राजा नीतिशौर्यगृहं भवेत्। अथवाऽमात्यबुद्धिस्तु बुद्धिहीनो विनश्यति ॥१॥

२. तथा च गुरुः–
शास्त्रानुगा भवेद्बुद्धिर्यस्य राज्ञः स बुद्धिमान्। शास्त्रबुद्ध्या विहीनस्तु शौर्ययुक्तो विनश्यति ॥१॥

सिंहस्येव केवलं पौरुषावलम्बिनो न चिरं कुशलम्॥ ३३॥

अर्थ—जो राजा नीतिशास्त्र के ज्ञान से शून्य है और केवल शूरवीरता ही दिखाता है उसका सिंह की तरह चिरकाल तक कल्याण नहीं होता–अर्थात् जिस प्रकार आक्रमण करने वाला सिंह मार डाला जाता हे उसी प्रकार नीतिज्ञान से शून्य और केवल तीक्ष्ण दंड देने वाला राजा भी दुष्ट समझ कर मार दिया जाता है।

शुक्र[१] विद्वान् ने लिखा है कि केवल आक्रमण करने के कारण मृगों के स्वामी-शेर-को मनुष्य 'हरि' (हन्यते इति हरिः-मार डालने योग्य) कहते हैं उसी प्रकार नीतिशास्त्र के ज्ञान से शून्य केवल क्रूरता दिखाने वाला भी नाश को प्राप्त होता है ॥१॥

अब नीतिशास्त्र के ज्ञान से शून्य पुरुष की हानि बताते हैं–

अशस्त्रः शूर इवाशास्त्रः प्रज्ञावानपि भवति विद्विषां वशः[२]॥ ३४॥

अर्थ—जिस प्रकार बहादुर मनुष्य भी हथियारों के बिना शत्रुओं से पराजित कर दिया जाता है उसी प्रकार बुद्धिमान मनुष्य भी नीतिशास्त्र के ज्ञान के बिना शत्रुओं के वश हो जाता है–उनके द्वारा पराजित कर दिया जाता है।

गुरु[३] विद्वान् ने लिखा है कि "जिस प्रकार बलवान् मनुष्य भी शस्त्रों-हथियारों-से रहित होने के कारण चोरादिकों से मार दिया जाता है उसी प्रकार बुद्धिमान मनुष्य भी नीतिशास्त्र का ज्ञान न होने से चोरादिकों या शत्रुओं से मार डाला जाता है ॥१॥"

निष्कर्ष—अतएव नीतिशास्त्र का ज्ञान होना मनुष्य मात्र को अत्यन्त आवश्यक है ॥३४॥

अब पुरुषों को शास्त्रज्ञान से होने वाले लाभ का वर्णन करते हैं–

अलोचनगोचरे ह्यर्थे शास्त्रं तृतीयं लोचनं पुरुषाणाम् ॥३५॥

अर्थ—जो पदार्थ या प्रयोजन नेत्रों से प्रतीत नहीं होता उसको प्रकाश करने के लिए शास्त्र मनुष्यों का तीसरा नेत्र है।

भावार्थ—किसी भी कर्तव्य अथवा उसके फल में यदि संदेह उपस्थित हो जावे कि यह कार्य योग्य है ? अथवा अयोग्य ? इसका फल अच्छा है ? या बुरा ? तो उसको दूर करने में शास्त्रज्ञान ही समर्थ हो सकता है, ऐसे विषय में चक्षु कुछ नहीं कर सकते ॥३५॥

गुरु[४] विद्वान् ने लिखा है कि "जो कार्य चक्षुओं के द्वारा प्रतीत न हो और उसमें संदेह

---

१. तथा च शुक्रः–पौरुषान्मृगनाथस्तु इरिः स प्रोच्यते जनैः। शास्त्रबुद्धिविहीनस्तु यतो नाशं स गच्छति ॥१॥

२. "अनस्त्रशूर इवाशास्त्रः प्रज्ञावानपि भवति सर्वेषां गोचरः" इस प्रकार मु. मू. पुस्तक में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

३. तथा च गुरुः– नीतिशास्त्रविहीनो यः प्रज्ञावानपि हन्यते। परैः शस्त्रविहीनस्तु चौराद्यैरपि वीर्यवान् ॥१॥

४. अदृश्यो निजचक्षुभ्यो कार्ये सन्देहमागते। शास्त्रेण निश्चयः कार्यस्तदर्थे च क्रिया ततः ॥१॥

उपस्थित हो जावे तो शास्त्रज्ञान से उसका निश्चय कर उसमें प्रवृत्ति या निवृत्ति करनी चाहिए ॥१॥''

अब शास्त्रज्ञान से शून्य पुरुष का विवरण किया जाता है–

अनधीतशास्त्रश्चक्षुष्मानपि पुमानन्ध एव ॥३६॥

अर्थ–जिस पुरुष ने शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया वह चक्षु सहित होकर के भी अन्धा ही है अर्थात् जिस प्रकार अन्धे मनुष्य को साम ने रक्खे हुए इष्ट और अनिष्ट पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता उसी प्रकार शास्त्रों के ज्ञान से शून्य-मूर्ख मनुष्य-को भी धर्म और अधर्म-कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य-का ज्ञान नहीं हो सकता ॥३६॥

विद्वान् भागुरि[१] भी उक्त बात का समर्थन करता है कि ''जिस प्रकार अंधा मनुष्य साम ने रक्खी हुई शुभ-अशुभ वस्तु को नहीं देख सकता उसी प्रकार शास्त्र ज्ञान से हीन पुरुष-मूर्ख-भी धर्म और अधर्म को नहीं जान सकता ॥१॥''

अब मूर्ख मनुष्य की हीनता बताते हैं–

न ह्यज्ञानादपरः[२] पशुरस्ति ॥३७॥

अर्थ–संसार में मूर्ख को छोड़कर दूसरा कोई पशु नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार पशु घास आदि भक्षण करके मलमूत्रादि क्षेपण करता है और धर्म-अधर्म-कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य- को नहीं जानता उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी खान-पानादि क्रिया करके मलमूत्रादि क्षेपण करता है और धर्म-अधर्म-कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य-को नहीं जानता।

वशिष्ठ[३] विद्वान् ने भी कहा है कि ''अत्यन्त मूर्ख लोग शास्त्रज्ञान से पराङ्मुख-रहित-होने के कारण धर्म और अधर्म को नहीं जानते इसलिए बिना सींगों के पशु हैं ॥१॥''

नीतिकार महात्मा भर्तृहरि ने[४] कहा है कि ''जिसे साहित्य और संगीत आदि कलाओं का ज्ञान नहीं है–जो मूर्ख है–वह बिना सींग और पूंछ का साक्षात-यथार्थ-पशु है। इसमें कई लोग यह शङ्का करते हैं कि यदि मूर्ख मनुष्य यथार्थ में पशु है तो वह घास क्यों नहीं खाता ? इसका उत्तर यह है कि वह घास न खा करके भी जीवित है, इसमें पशुओं का उत्तम भाग्य ही कारण है, नहीं तो वह घास भी खाने लगता ॥१॥''

१. तथा च भागुरिः–
शुभाशुभं न पश्येच्च यथान्धः पुरतः स्थितं। शास्त्रहीनस्तथा मर्त्यो धर्म्माधर्मौ न विन्दति ॥१॥

२. 'अन्यः' इस प्रकार मु. मू. पुस्तक में पाठ है किन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

३. तथा च वशिष्ठः–
मर्त्या मूर्खतमा लोकाः पशवः शृङ्गवर्जिताः। धर्माधर्मौ न जानन्ति यतः शास्त्रपराङ्मुखाः ॥१॥

४. तथा च भर्तृहरिः–
साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः। तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥१॥
भर्तृहरिशतक से।

निष्कर्ष—इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को कर्त्तव्य बोध और श्रेय की प्राप्ति के लिए नीतिशास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ॥३७॥

अब जिस प्रकार के राजा से राज्य को क्षति होती है उसे बताते हैं–

वरमराजकं भुवनं न तु मूर्खो राजा॥ ३८॥

अर्थ—पृथ्वी पर राजा का न होना किसी प्रकार अच्छा कहा जा सकता है परन्तु उसमें मूर्ख राजा का होना अच्छा नहीं कहा जा सकता।

भावार्थ—जिस देश में मूर्ख राजा का शासन होता है वह नष्ट हो जाता है ॥३८॥

गुरु[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''संसार में जिन देशों में राजा नहीं होते वे परस्पर एक दूसरे की रक्षा करते रहते हैं परन्तु जिन में राजा मूर्ख होता है वे नष्ट हो जाते हैं ॥१॥''

अब युवराज होने के अयोग्य राजपुत्र का कथन करते हैं–

असंस्कारं[2] रत्नमिव सुजातमपि राजपुत्रं न नायकपदायामनन्ति साधवः ॥३९॥

अर्थ—जो राजपुत्र कुलीन होने पर भी संस्कारों–नीतिशास्त्र का अध्ययन और सदाचार आदि सद्गुणों–से रहित है उसे राजनीति के विद्वान् शिष्ट पुरुष संस्कारहीन–(सान) पर न चढ़ाये हुए–रत्न के समान युवराज–पद पर आरूढ़ होने के योग्य नहीं मानते।

भावार्थ—जिस प्रकार समुद्र आदि उत्तम स्थान से उत्पन्न हुआ भी रत्न (सान) पर घर्षणादि क्रिया संस्कार–के बिना भूषण के योग्य नहीं होता, उसी प्रकार राजपुत्र भी जब तक राजनीतिज्ञ बहुश्रुत शिष्ट पुरुषों के द्वारा किये गये नैतिक ज्ञान और सदाचार आदि संस्कारों से सुसंस्कृत नहीं होता तब तक वह युवराजपद के अयोग्य समझा जाता है।

निष्कर्ष—राजपुत्र को राजनैतिक ज्ञान और सदाचाररूप संस्कारों से सुसंस्कृत होना चाहिए जिससे वह युवराज पद पर आरूढ़ हो सके ॥३६॥

अब दुष्ट राजा से होने वाली प्रजा की क्षति बताते हैं–

न दुर्विनीताद्राज्ञः प्रजानां विनाशादपरोऽस्त्युत्पातः[3] ॥४०॥

अर्थ—दुष्ट राजा से प्रजा का विनाश ही होता है, उसे छोड़कर दूसरा कोई उपद्रव नहीं हो सकता।

भावार्थ—लोक में भूकम्प आदि से भी प्रजा की क्षति होती है परन्तु उससे भी अधिक क्षति

---

१. तथा च गुरुः–
अराजकनि राष्ट्राणि रक्षन्तीह परस्परं। मूर्खो राजा भवेद्येषां तानि गच्छन्तीह संक्षयं ॥१॥

२. 'अकृतसंस्कारं' ऐसा मु. मू. पुस्तक में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

३. ''न पुनर्दुर्विनीताद्राज्ञः प्रजाविनाशायापरोऽस्त्युत्पातः''
इस प्रकार मु. और हस्तलि. मूलप्रतियों में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

दुष्ट राजा से हुआ करती है ॥४०॥

हारीत[१] विद्वान् ने भी कहा है कि ''भूकम्प से होने वाला उपद्रव शान्ति कर्मों से, पूजन, जप और हवन आदि से शान्त हो जाता है परन्तु दुष्ट राजा से उत्पन्न हुआ उपद्रव किसी प्रकार भी शान्त नहीं हो सकता ॥१॥''

अब दुष्ट राजा का लक्षण निर्देश करते हैं–

यो युक्तायुक्तयोरविवेकी विपर्यस्तमतिर्वा स दुर्विनीतः[२] ॥४१॥

अर्थ–जो योग्य और अयोग्य पदार्थों के विषय में ज्ञानशून्य है अर्थात् योग्य को योग्य और अयोग्य को अयोग्य न समझ कर अयोग्य पुरुषों को दान और सम्मानादि से प्रसन्न करता है और योग्य व्यक्तियों का अपमान करता है तथा विपरीत बुद्धि से युक्त है अर्थात् शिष्ट पुरुषों के सदाचार की अवहेलना करके पाप कर्मों में प्रवृत्ति करता है उसे दुष्ट कहते हैं ॥४१॥

नारद[३] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो राजा योग्य और अयोग्य के भेद को नहीं जानता और विपरीत बुद्धि से युक्त है–शिष्टाचार से विरुद्ध मद्यपान आदि में प्रवृत्ति करता है उसे दुर्वृत्त–दुष्ट–कहते हैं ॥१॥''

अब राज्यपद के योग्य पुरुष द्रव्य का लक्षण बताते हैं–

यत्र सद्भिराधीयमाना गुणा संक्रामन्ति तद्द्रव्यं ॥४२॥

अर्थ–जिस पुरुष द्रव्य में राजनीतिज्ञ विद्वान् शिष्ट पुरुषों के द्वारा नीति, आचार सम्पत्ति और शूरता आदि प्रजापालन में उपयोगी सद्‌गुण सिखाये जाकर स्थिर हो गये हों–जो इन सद्‌गुणों से अलंकृत हो गया हो–वह पुरुष राजा होने के योग्य है ॥४२॥

भागुरि[४] विद्वान् ने भी लिखा है कि ''वही पुरुष द्रव्य राजा होने के योग्य है जिसमें राजनीतिज्ञ विद्वानों के द्वारा सद्‌गुण–नीति, सदाचार और शूरता आदि–स्थिर हो गये हों। ॥१॥''

अब द्रव्य प्रकृति युक्त–राज्य पद के योग्य राजनैतिक ज्ञान, आचार सम्पत्ति और शूरवीरता आदि सद्‌गुणों से युक्त–पुरुष जब अद्रव्य प्रकृति युक्त–अर्थात् उक्त गुणों से शून्य और मूर्खता,

---

१. तथा च हारीतः–
उत्पातो भूमिकम्पाद्यः शांतिकैर्याति सौम्यतां। नृपदुर्वृत्तः उत्पातो न कथंचित् प्रशाम्यति ॥१॥

२. ''युक्तायुक्तयोगवियोगयोरविवेकमतिर्वा स दुर्विनीतः'' इस प्रकार मु. मू. और ह. लि. मू. प्रतियों में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

३. तथा च नारदः–
युक्तायुक्तविवेकं यो न जानाति महीपतिः। दुर्वृत्तः स परिज्ञेयो यो वा वाममतिर्भवेत् ॥१॥

४. तथा च भागुरिः–
योज्यमाना उपाध्यायैर्यत्र पुंसि स्थिराश्च ते। भवन्ति नरि द्रव्यं तत् प्रोच्यते पार्थिवोचितम् ॥१॥

विषयलम्पटता और कायरता आदि दोषों से युक्त-हो जाता है उससे होने वाली हानि बताते हैं–

यतो द्रव्याद्रव्यप्रकृतिरपि कश्चित् पुरुषः सङ्कीर्णगजवत्[१] ॥४३॥

अर्थ–जब मनुष्य द्रव्य प्रकृति-राज्यपद के योग्य राजनैतिक ज्ञान और आचार सम्पत्ति आदि सद्गुणों- से अद्रव्यप्रकृति-उक्त सद्गुणों को त्याग कर मूर्खता, अनाचार और कायरता आदि दोषों-को प्राप्त हो जाता है तब वह पागल हाथी की तरह राज्यपद के योग्य नहीं रहता-अर्थात् जिस प्रकार पागल हाथी जनसाधारण को भयंकर होता है उसी प्रकार जब मनुष्य में राजनैतिक ज्ञान, आचार सम्पत्ति और शूरवीरता आदि गुण नष्ट होकर उनके स्थान में मूर्खता अनाचार और कायरता आदि दोष घर कर जाते हैं, तब वह पागल हाथी की तरह भयंकर हो जाने से राज्यपद के योग्य नहीं रहता॥ ४३॥

वल्लभदेव[२] विद्वान ने लिखा है कि ''राजपुत्र शिष्ट और विद्वान् होने पर भी यदि उसमें द्रव्य (राज्यपद के योग्य गुण) से अद्रव्यपन-मूर्खता अनाचार और कायरता आदि दोष-हो गया हो तो वह मिश्र गुण (पागल) हाथी के सदृश भयंकर होने के कारण राज्य के योग्य नहीं है ॥१॥''

गुरु[३] विद्वान् ने कहा है कि ''जो मनुष्य समस्त गुणों(राजनैतिक ज्ञान, सदाचार और शूरता आदि) से अलंकृत है उसे राजद्रव्य कहते हैं–उसमें राजा होने की योग्यता है-वे गुण राजाओं को समस्त सत्कर्त्तव्यों में सफलता उत्पन्न करते हैं ॥१॥''

अब गुणवान् पुरुष का वर्णन करते हैं–

द्रव्यं हि क्रियां विनयति नाद्रव्यं ॥४४॥

अर्थ–द्रव्य-गुणों से अलंकृत योग्य पुरुष-राज्यपद को प्राप्त कर सकता है निर्गुण-मूर्ख-नहीं।

भावार्थ–जिस प्रकार अच्छी किस्म के पत्थर (सान) पर रक्खे जाने से संस्कृत होते हैं साधारण नहीं, उसी प्रकार गुणवान् और कुलीन पुरुष ही राज्य आदि उत्तम पद के योग्य है मूर्ख नहीं ॥४४॥

भागुरि[४] विद्वान् ने लिखा है कि प्रायः करके गुणवान् पुरुषों के द्वारा राजाओं के महान् कार्य

---

१. उक्त सूत्र मु. और हस्त लि. मूलप्रतियों से संकलन किया गया है; क्योंकि सं. टी. पुस्तक में ''यतौ द्रव्यप्रकृतेरप्यस्ति पुरुषः संकीर्णगजवत् ऐसा अपूर्ण सूत्र होने से उसका अर्थ भी यथार्थ नहीं होता था। –सम्पादक

२. तथा च वल्लभदेवः–
शिष्टात्मजो विदग्धोऽपि द्रव्याद्रव्यस्वभावकः। न स्याद्राज्यपदार्होऽमौ गजो मिश्रगुणो यथा ॥१॥

३. तथा च गुरुः–
यः स्यात् सर्वगुणोपेतो राजद्रव्यं तदुच्यते। सर्वकृत्येषु भूपानां तदर्हे कृत्यसाधनम् ॥१॥

४. तथा च भागुरिः–
गुणाढ्यैः पुरुषैः कृत्यं भूपतीनां प्रसिद्ध्यति। महत्तरमपि प्रायो निर्गुणैरपि नो लघु ॥१॥

सफल होते हैं, परन्तु मूर्खों से छोटा-सा कार्य भी नहीं हो पाता ॥१॥''

अब बुद्धि के गुण और उनके लक्षणों का कथन करते हैं–

शुश्रूषा-श्रवण-ग्रहण-धारणाविज्ञानोहापोह[१] तत्त्वाभिनिवेशा बुद्धिगुणाः ॥४५॥

श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा ॥४६॥

श्रवणमाकर्णनम् ॥४७॥

ग्रहणं शास्त्रार्थोपादानं ॥४८॥

धारणमविस्मरणम्[२] ॥४९॥

मोहसन्देहविपर्यासव्युदासेन ज्ञानं विज्ञानम् ॥५०॥

विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु व्याप्त्या तथाविधवितर्कणमूहः ॥५१॥

उक्तियुक्तिभ्यां विरुद्धादर्थात् प्रत्यवायसंभावनया व्यावर्तनमपोहः ॥५२॥

अथवा ज्ञानसामान्यमूहो ज्ञानविशेषोऽपोहः ॥५३॥

विज्ञानोहापोहानुगमविशुद्धमिदमित्थमेवेति निश्चयस्तत्त्वाभिनिवेशः॥ ५४॥

अर्थ–शुश्रूषा-शास्त्र और शिष्ट पुरुषों के हितकारक उपदेश को सुनने की इच्छा, श्रवण-हितकारक उपदेश को सुनना, ग्रहण-शास्त्र के विषय को ग्रहण करना, धारण-अधिक समय तक शास्त्रादि के विषय को याद रखना, विज्ञान-संशय; विपर्यय और अनध्यवसायरूप मिथ्याज्ञान से रहित पदार्थ का यथार्थ निश्चय करना, ऊह–व्याप्तिज्ञान अर्थात् निश्चय किये हुए धूमादि हेतुरूप पदार्थों के ज्ञान से अग्नि आदि साध्यरूप पदार्थों का ज्ञान करना, अपोह-शिष्ट पुरुषों के उपदेश तथा प्रबल युक्तियों से प्रकृति, ऋतु और शिष्टाचार से विरुद्ध पदार्थों में अपनी हानि या नाश का निश्चय करके उनका त्याग करना और तत्त्वाभिनिवेश उक्त विज्ञान और ऊहापोह आदि से हितकारक पदार्थ का दृढ़ निश्चय करना-ये आठ बुद्धि के गुण हैं ॥४५॥

अब शास्त्र कार स्वयं उक्त गुणों का लक्षण करते हैं–

अर्थ–शास्त्र या महापुरुषों के हितकारक उपदेश को श्रवण करने की इच्छा करना यह 'शुश्रूषा' है ॥४६॥

हितकारक बात को सुनना यह 'श्रवण' है ॥४७॥

शास्त्र आदि के हितकारक विषय को ग्रहण करना 'ग्रहण' है ॥४८॥

---

१. 'तस्वाभिनिवेशविद्या' इति बुद्धिगुणाः' इस प्रकार मु. पु. में पाठ है किन्तु अर्थ भेद कुछ नहीं है।

२. धारणं कालान्तरेष्वविस्मरणम् इस प्रकार मु. मू. पुस्तक में और पूना लायब्रेरी की ह. लिखित प्रति में ''धारणं कालान्तरादविस्मणम्'' ऐसा पाठ है, परन्तु अर्थभेद नहीं है।

शास्त्र आदि के विषय को ऐसा याद रखना जिससे कि बहुत समय तक भूल न सके इसे 'धारण' गुण कहते हैं ॥४९॥

मोह-अनिश्चय, सन्देह (संशय अर्थात् एक पदार्थ में दो प्रकार का ज्ञान होना जैसे स्थाणु- ठूँठ- में वह ठूँठ है ? या पुरुष है? इस प्रकार अनेक कोटि का ज्ञान होना) और विपरीत ज्ञान इन मिथ्याज्ञानों से रहित यथार्थ ज्ञान होना इसे 'विज्ञान' कहते हैं ॥५०॥

निश्चय किये हुए पदार्थों-धूम आदि हेतुरूप वस्तुओं-के आधार से-उनका ज्ञान होने से दूसरे पदार्थों (जिनका पूर्व निश्चित धूमादि साधनों के साथ अविनाभाव संबंध है ऐसे अग्नि आदि साध्यरूप वस्तुओं) का उसी प्रकार निश्चय करना उसे 'ऊह' कहते हैं ॥५१॥

महापुरुषों के उपदेश और प्रबल युक्तियों द्वारा प्रकृति, ऋतु और शिष्टाचार से विरुद्ध पदार्थों- अनिष्ट भोजन और परस्त्रीसेवन आदि विषयों-में अपनी हानि या नाश की संभावना-निश्चय- करके उनका त्याग करना यह 'अपोह' नाम का बुद्धि गुण है।

भावार्थ—परस्त्रीसेवन आदि दुष्कृत्य आगम और अनुमान प्रमाण से विरुद्ध हैं; क्योंकि इनमें प्रवृत्ति करने वाला मनुष्य रावण आदि की तरह ऐहिक-राजदंड आदि और पारलौकिक नरकादि के भयंकर दुःखों को भोगता है, अतएव नैतिक पुरुष इनमें अपनी हानि या नाश का निश्चय करके उनका त्याग करता है यह उसका 'अपोह' नाम का बुद्धिगुण है ॥५२॥

अथवा किसी पदार्थ के सामान्य ज्ञान को ऊह और विशेषज्ञान को अपोह कहते हैं, उदाहरण में जल को देखकर ''यह जल है'' इस प्रकार के साधारण ज्ञान को 'ऊह' और इससे प्यास बुझती है इस प्रकार का विशेष ज्ञान होना 'अपोह' है ॥५३॥

उक्त विज्ञान, ऊह और अपोह आदि के संबंध से विशुद्ध हुए ''यह ऐसा ही है अन्य प्रकार नहीं है? इस प्रकार के दृढ़ निश्चय को 'तत्त्वाभिनिवेश' कहते हैं ॥५४॥

भगवज्जिनसेनाचार्य ने[१] भी उक्त आठ प्रकार के श्रोताओं के सद्गुणों का उल्लेख किया है कि शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, स्मृति, ऊह, अपोह और निर्णीति ये श्रोताओं के ८ गुण जान ने चाहिए ॥१॥

अब विद्याओं का स्वरूप बताते हैं-

याः[२] समधिगम्यात्मनो हितमवैत्यहितं चापोहति ता विद्याः ॥५५॥

अर्थ—मनुष्य जिन्हें जानकर अपनी आत्मा को हित-सुख और उसके मार्ग की प्राप्ति तथा

---

१. शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धरणं तथा। स्मृत्यूहापोनिर्णीतीः श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः ॥१॥

आदिपुराण पर्व १ श्लोक १४६॥

२. 'यां समधिगम्य' इस प्रकार मु. मू. वाह. मू. प्रतियों में पाठ है परन्तु अर्थभेद नहीं है, केवल एकवचन बहुवचन का ही भेद है।

अहित दुःख और उसके कारणों का परिहार-त्याग करता है उन्हें विद्याएँ कहते हैं।

निष्कर्ष—जो सुख की प्राप्ति और दुःखों के परिहार करने में समर्थ है उसे सत्यार्थ विद्या समझनी चाहिए और जिसमें उक्त गुण नहीं है वह अविद्या है ॥५५॥

भागुरि[१] विद्वान् ने भी उक्त बात का समर्थन किया है कि ''जो विद्वान् विद्या को पढ़कर अपनी आत्मा को सुख में प्रवृत्त और दुःखों से निवृत्त करता है उसकी वे विद्याएँ हैं और इससे विपरीत जो विद्याएँ हैं वे केवल कष्ट देने वाली मानी गई हैं ॥१॥''

अब राज विद्याओं के नाम और संख्या का कथन करते हैं–

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्रो राजविद्याः॥ ५६॥

अर्थ—राजविद्याएँ चार हैं, आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति।

आन्वीक्षिकी-जिसमें अध्यात्मतत्त्व-आत्मतत्त्व तथा उसके पूर्वजन्म और अपर जन्म आदि की अकाट्य युक्तियों द्वारा सिद्धि की गई हो उसे 'आन्वीक्षिकी' विद्या कहते हैं इसे दर्शनशास्त्र-न्यायशास्त्र भी कहते हैं।

त्रयी—(चरणानुयोग शास्त्र) जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति इन चार आश्रमों के कर्तव्यों का निर्देश किया गया हो एवं धर्म और अधर्म का स्वरूप वर्णन किया गया हो उसे 'त्रयी' विद्या कहते हैं इसका दूसरा नाम 'आचारशास्त्र' भी है।

वार्ताः—जिस लौकिक शास्त्र में प्रजाजन के जीविकोपयोगी (जीवन निर्वाह के साधन-असि-खड्ग धारण करना, मषि-लेखन कला, कृषि-खेती करना, विद्या, वाणिज्य-व्यापार और शिल्प-चित्रकला-कर्तव्यों का विवेचन किया गया हो उसे 'वार्ता' विद्या कहते हैं।

दण्डनीतिः—जिसमें प्रजाजनों की रक्षा के लिए दुष्टों-प्रजापीड़क आततायियों-के निग्रह (दण्ड देने) का विधान हो उसे 'दण्डनीति' कहते हैं।

इस प्रकार आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये चार राजविद्याएँ हैं ॥५६॥

अब आन्वीक्षिकी विद्या पढ़ने से होने वाले लाभ का निरूपण करते हैं–

अधीयानो ह्यान्वीक्षिकीं कार्याकार्याणां बलाबलं हेतुभिर्विचारयति, व्यसनेषु न विषीदति, नाभ्युदयेन विकार्यते समधिगच्छति प्रज्ञावाक्यवैशारद्यम्[२] ॥५७॥

अर्थ—आन्वीक्षिकी विद्या-दर्शनशास्त्र-का वेत्ता विद्वान् प्रबल युक्तियों के द्वारा कर्त्तव्य (अहिंसा

---

१. तथा च भागुरिः–

यस्तु विद्यामधीत्याथ हितमात्मनि संचयेत्। अहितं नाशयेद्विधास्ताश्चान्याः क्लेशदाः मताः ॥१॥

२. ''समधिगच्छति च प्रज्ञावान् वैशारद्यं'' इस प्रकार मु. मू. पुस्तक और गवर्न. लायब्रेरी पूना की ह. लि. मू. दोनों पुस्तकों में पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि आन्वीक्षिकी विद्या का विद्वान् चतुराई प्राप्त करता है।

और ब्रह्मचर्य आदि) को प्रधान या हितकारक और अकर्त्तव्य (मद्यपान और परकलत्र सेवन आदि) को अप्रधान-सुख को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित-अर्थात् अहितकारक निश्चय करता है एवं विपत्ति में विषाद-खेद-और सम्पत्ति में विकार-मद और हर्ष-नहीं करता तथा सोचने विचारने और बोलने में चतुराई प्राप्त करता है ॥५७॥

अब त्रयी विद्या के पढ़ने से होने वाले लाभ का निरूपण करते हैं-

त्रयीं पठन् वर्णाश्रमाचारेष्वतीव प्रगल्भते, जानाति च समस्तामपि धर्माधर्मस्थितिम् ॥५८॥

अर्थ—त्रयी विद्या-चरणानुयोग शास्त्र-का वेत्ता विद्वान् वर्ण (ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि) और आश्रमों (ब्रह्मचारी और गृहस्थ आदि) के ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है तथा समस्त धर्म-अधर्म अर्थात् कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की मर्यादा को भलीभाँति जानता है ॥५८॥

अब वार्ता विद्या में निपुणता प्राप्त करने से होने वाले लाभ का वर्णन करते हैं-

युक्तितः प्रवर्तयन् वार्तां सर्वमपि जीवलोकमभिनन्दयति लभते च स्वयं सर्वानपि कामान् ॥५९॥

अर्थ—लोक में वार्ता विद्या-कृषि आदि की शिक्षा-की समुचित प्रवृत्ति-प्रचार-कराने वाला राजा प्रजा को सुखी बनाता है तथा स्वयं भी समस्त अभिलषित भौतिक सुखों को प्राप्त करता है॥ ५९॥

अब दंडनीति में प्रवीण राजा को होने वाले लाभ का निरूपण करते हैं-

यम इवापराधिषु दण्डप्रणयनेन[१] विद्यमाने राज्ञि न प्रजाः स्वमर्यादामतिक्रामन्ति प्रसीदन्ति च त्रिवर्गफलाः विभूतयः ॥६०॥

अर्थ—राजा को यमराज के समान कठोर होकर अपराधियों को दंडविधान करते रहने पर प्रजा के लोग अपनी-अपनी मर्यादा (कर्त्तव्य-पालन की सीमा) को उल्लंघन नहीं करते-अर्थात् अपने २ वर्णाश्रम धर्म पर आरूढ़ होकर दुष्कृत्यों में प्रवृत्ति नहीं करते, अतः उसे धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों को उत्पन्न करने वाली विभूतियाँ प्राप्त होती हैं ॥६०॥

अब अन्य-नीतिकारों की मान्यता के अनुसार आन्वीक्षि की विद्या के प्रतिपादन करने वाले दर्शनों का निरूपण करते हैं-

सांख्यं योगो लोकायतिकं चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात् (नान्वीक्षिकीत्वम्) इति नैत्यानि मतानि[२]॥ ६१॥।

---

१. 'दंडप्रणयिनि राज्ञि' ऐसा मु. मू. और ह. लि. मूल प्रतियों में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

२. यह सूत्र केवल मु. सं. टी. पुस्तक में नहीं है परन्तु अन्य सभी पुस्तकों-सरस्वती भवन आरा की ह. लि. सं. टी. पुस्तक, गवर्न. लायब्रेरी पूना की ह. लि. मू. दो पुस्तकें और मु. मू. पुस्तक-में वर्तमान है; इसलिए हमने उक्त

अर्थ—सांख्य, योग और चार्वाकदर्शन-नास्तिकदर्शन-ये आन्वीक्षिकी-अध्यात्म विद्याएँ हैं अर्थात् अध्यात्मविद्या-प्रतिपादक दर्शन हैं। बौद्ध और आर्हद्दर्शन-जैनदर्शन-वेदविरोधी होने के कारण अध्यात्म विद्याएँ नहीं हैं, इस प्रकार अन्य नीतिकारों की मान्यताएँ हैं।

विशदविमर्श—यहाँ पर आचार्यश्री ने अन्य नीतिकारों की मान्यता-मात्र का उल्लेख किया है। क्योंकि अध्यात्म-विद्या का समर्थक आर्हद्दर्शन वेदविरोधी होने मात्र से आन्वीक्षि की विद्या से बहिर्भूत नहीं हो सकता, अन्यथा उनके ऊपर प्राप्त हुआ अतिप्रसङ्ग दोष निवारण नहीं किया जा सकता अर्थात् सांख्य और नैयायिक आदि दर्शन भी आर्हद्दर्शन-जैनदर्शन-के विरोधी होने के कारण आन्वीक्षि की विद्या से बहिर्भूत समझे जा सकते हैं। किसी के द्वारा निरर्थक निन्दा की जाने पर क्या शिष्टपुरुष निन्दा का पात्र हो सकता है ? नहीं हो सकता। इन्हीं आचार्यश्री ने[१] अपने यशस्तिलकचम्पू

प्रतियों से संकलन किया है।

उक्त सूत्र के पाठ के विषय में स्पष्टीकरण-

(क) ''सांख्यं योगो लोकावतं चान्वीक्षि की बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षित्वात्'' ऐसा पाठ भाण्डारकर रिसर्च गवर्न. लायब्रेरी पूना की हस्तलिखित मू. प्रति [नं. ७३७ जो कि सन् १८७५-७६ में लिखी गई है] में है।

(ख) ''सांख्यं योगो लोकायतं चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात्'' ऐसा पाठ उक्त पूना लायब्रेरी की ह. लि. मू. प्रति [नं. १०१२ जो कि सन् १८८७ से १८९१ में लिखी गई है] में है।

(ग) ''सांख्यं योगो लोकायतं चान्वीक्षि की बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात् इति नैत्यानि मतानि'' ऐसा पाठ सरस्वतीभवन आरा की हस्तलिखित संस्कृत टी. पुस्तक में है।

(घ) सांख्ययोगौ लोकायतं चान्वीचि की बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात् ? ऐसा पाठ मु. मू. पुस्तक में है जो कि बम्बई के गोपालनारायण प्रेस में मुद्रित हुई है एवं श्रद्धेय प्रेमीजी ने प्रेषित की है। सम्पादक

१. सांख्यं योगो लोकायतं चान्वीक्षिकी, तस्यो स्यादस्ति स्यान्नास्तीति नग्नश्रमणक इति बृहस्पतिराखण्डलस्य पुरस्तं समयं कथं प्रत्यवतस्थे ? (यशस्तिलके सोमदेवसूरिः आ० ४. पृ० १११)

अर्थात् यशोधर महाराज अपनी माता चन्द्रमती के द्वारा जैनधर्म पर किये हुए आक्षेपों (यह अभी चला हुआ है इत्यादि) का समाधान करते हुए अन्य नीतिकारों के प्रमाणों से उसकी प्राचीनता सिद्ध करते हैं कि ''सांख्य, योग और चार्वाक दर्शन ये अन्वीक्षिकी विद्याएँ हैं और उसी आन्वीक्षिकी-अध्यात्मविद्या- में अनेकान्त (वस्तु अपने स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा सद्रूप-विद्यमान-है और परचतुष्टय की अपेक्षा असद्रूप-अविद्यमान-है इत्यादि) का समर्थक नग्नश्रमणक-आर्हद्दर्शन (जैनदर्शन) भी अंतर्भूत-शामिल-है'' इस प्रकार बृहस्पति-सुराचार्य ने इन्द्र के समक्ष उस अनेकान्त समर्थक जैनदर्शन को कैसे समर्थन किया ? अर्थात् यदि जैनदर्शन नवीन प्रचलित-अभी का चला हुआ-होता तो क्यों बृहस्पति ने इन्द्र के समक्ष उसे आन्वीक्षिकी विद्या में स्वीकार किया ?

निष्कर्ष—आचार्यश्री के उक्त प्रमाण से यह बात निर्विवाद प्रमाणित-सत्य-सिद्ध होती है कि अन्यनीतिकार-बृहस्पति आदि-जैनदर्शन को आन्वीक्षिकी-अध्यात्मविद्या-स्वीकार करते हैं।

विमर्श—'अमृत' में आचार्यश्री कहते हैं कि केवल वेद विरोधी होने के कारण कुछ नीतिकार बौद्ध और जैनदर्शन को आन्वीक्षिकी विद्या नहीं मानते। परन्तु आचार्यश्री के यशस्तिलक के आधार से सिद्ध है कि अन्य निष्पक्ष नीतिकारों ने भी जैनदर्शन को आन्वीक्षिकी विद्या स्वीकार किया है। सम्पादक

में प्राचीन नीतिकारों के प्रमाणों द्वारा आर्हद्दर्शन को अध्यात्मविद्या-आन्वीक्षिकी-सिद्ध किया है।

अब आन्वीक्षिकी-अध्यात्मविद्या (दर्शनशास्त्र) के ज्ञान से होने वाले लाभ का निरूपण करते हैं-

प्रकृतिपुरुषज्ञो हि राजा सत्वमवलम्बते रजःफलं चापलं[१] च परिहरति तमोभिर्नाभिभूयते[२] ॥६२॥

अर्थ—प्रकृति-शरीर और इन्द्रियादिक स्थूल तथा ज्ञानावरणादि कर्मरूप सूक्ष्म प्रकृति और पुरुष आत्मतत्त्व-के स्वरूप को जानने वाला-भेदज्ञानी-राजा सात्विक-प्रकृति को धारण कर रजोगुण से होने वाली चपलता-काम और क्रोधादि विकारों से होने वाली उच्छृंखलता (नीति-विरुद्धप्रवृत्ति) का त्याग कर देता है और तामसिक भावों-अज्ञानादि भावों-से पराजित नहीं होता।

भावार्थ—दर्शनशास्त्र का अध्ययन मनुष्य को अज्ञानांधकार से पृथक् कर ज्ञान के प्रकाश में लाता है और काम क्रोधादि राजसिक भावों से होने वाली दानवता को नष्टकर सात्विक प्रकृति द्वारा शुक्लकर्म-संसार की सर्वोत्तम सेवा आदि-करने के लिए प्रेरित करता है जिससे वह सच्ची मानवता को प्राप्त कर लेता है।

निष्कर्ष—अतएव प्रत्येक मनुष्य को उक्त, सद्गुणों से अलंकृत होने के लिए एवं राजा को भी शिष्टपालन और दुष्टनिग्रह में उपयोगी आन्वीक्षिकी विद्या-दर्शनशास्त्र- का वेत्ता होना चाहिए ॥६२॥

अब उक्त चारों विद्याओं का प्रयोजन बताते है-

आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये, त्रयी-वेदयज्ञादिषु, वार्ता कृषिकर्मादिका, दण्डनीतिः शिष्टपालन दुष्टनिग्रहः[३] ॥६३॥

अर्थ—आन्वीक्षिकी-दर्शनशास्त्र-आत्मतत्त्व का, त्रयी-वेद (अहिंसा धर्म के प्रतिपादक द्वादशाङ्ग शास्त्र) और यज्ञादि-ईश्वरभक्ति, पूजन, हवन, जप आदि अहिंसामय क्रियाकाण्ड आदि-की, वार्ता-असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प आदि जीविकोपयोगी कर्त्तव्यों का और दण्डनीतिविद्या शिष्टों की रक्षा और दुष्टों का निग्रहरूप राजधर्म का निरूपण करती है।

---

१. यह सूत्र सं. टी. पुस्तक में नहीं है किन्तु मु. मू. और गवर्न. लायब्रेरी पूना की ह. लि. दोनों मूल प्रतियों (नं. १०१२. और नं. ७३१) में से संकलन किया गया है।

२. मु. मू. और उक्त पूना लायब्रेरी की नं. ७३७ की ह. लि. मूल प्रति में भी 'चाफलं' ऐसा अशुद्ध पाठ था परन्तु उक्त ला. पूना की नं. १०१२. में 'चापलं' ऐसा शुद्ध पाठ मिल गया जिससे सन्देह दूर हुआ।

—सम्पादक

३. यह सूत्र मु.ओर ह. लि. किसी भी मू. प्रति में नहीं है परन्तु संस्कृत टी. पुस्तक से संकलन किया गया है।

—सम्पादक

गुरु[१] विद्वान् ने भी कहा है कि ''आन्वीक्षिकी विद्या में आत्मज्ञान का, त्रयी में धर्म और अधर्म का, वार्ता में कृषि करने से होने वाले उत्तम फल और न करने से कुफल का एवं दण्डनीति में नीति और अनीति अर्थात् सन्धि और विग्रह आदि षाड्गुण्य के औचित्य और अनौचित्य का प्रतिपादन किया गया है ॥१॥''

उक्त विद्याओं पर अन्य लोगों की मान्यता और ऐतिहासिक विमर्श–

मनु के अनुयायी त्रयी, वार्ता और दंडनीति, बृहस्पति के सिद्धान्त को मानने वाले वार्ता और दंडनीति तथा शुक्राचार्य को मानने वाले केवल दंडनीति विद्या को मानते हैं, परन्तु आचार्यश्री आन्वीक्षिकी त्रयी, वार्ता और दंडनीति इन चारों विद्याओं को मानते हैं। क्योंकि वे भिन्न-भिन्न विषयों को दीपक की तरह प्रकाशित करती हुई लोक का उपकार करती हैं। आर्य चाणक्य[२] को भी उक्त चारों विद्याएँ अभिमत हैं; क्योंकि वे कहते है कि ''विद्याओं की वास्तविकता यही है कि उनसे धर्म-अधर्म (कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य) का बोध हो''।

आगमानुकूल ऐतिह्य-इतिहास-प्रमाण से विदित होता है कि इतिहास के आदिकाल में भगवान् ऋषभदेव ने प्रजा में उक्त चार विद्याओं में से वार्ता-कृषि और व्यापार आदि की जीविकोपयोगी शिक्षा-का प्रचार किया था। आदिपुराण में भगवज्जिनसेनाचार्य[३] ने लिखा है कि भगवान् ऋषभदेव तीर्थंकर ने इतिहास के आदि काल में-जब कि प्रजा के जीवन निर्वाह के साधन कल्पवृक्ष नष्ट हो चुके थे, अतएव जीविका के बिना प्रजा के लोग मृत्यु की आशंका से त्राहि-त्राहि कर रहे थे, उस समय उनकी जीविका के साधन असि, मषि, कृषि, विद्या वाणिज्य और शिल्प आदि की शिक्षा दी थी। समन्तभद्राचार्य[४] ने भी यही बात लिखी है क्योंकि जिस प्रकार ऊसर जमीन में धान्य पैदा नहीं होतीं उसी प्रकार जीविका के बिना भूखी और व्याकुल जनता भी आन्वीक्षिकी और त्रयी आदि ललित कलाओं को सीखकर अपनी उन्नति नहीं कर सकती।

इसलिए जब प्रजा के लोग आजीविका से निश्चिन्त हुए तब भगवान् ऋषभदेव ने उनकी योग्यता तथा शरीर-जन्म की दृष्टि से उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की स्थापना की। पश्चात् उनके जीविकोपयोगी भिन्न-भिन्न कर्तव्य निर्देश किये। इसके बाद धार्मिक आचार-विचार की दृष्टि से उनमें खासकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन त्रिवर्णों में ब्रह्मचारी,

---

१. तथा च गुरुः–

आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ। अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ॥१॥

२. देखो कौटिलीय अर्थशास्त्र पृष्ठ ८ से ९ तक।

३. असिर्मषिः कृषिर्विद्यावाणिज्यं शिल्पमेव वा। कर्माणीमानि पोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥१॥

आदिपुराणे भगवज्जिनसेनाचार्यः पर्व १६

४. प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः। शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः॥ १/२॥

बृहत्स्वयंभूस्तोत्रे समन्तभद्राचार्यः।

गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति इन चारों आश्रमों की व्यवस्था कर उन्हें उनके धार्मिक सत्कर्त्तव्य पालन करने का उपदेश दिया।

इस प्रकार भगवान् ने वर्ण और आश्रमों के कर्त्तव्यों को निर्देश करने वाली 'त्रयी' विद्या का प्रजा में प्रचार किया।

तत्पश्चात् कृषि और व्यापारादि से संचित सम्पत्ति आदि की रक्षार्थ एवं वर्ण और आश्रमों के कर्तव्यों को भलीभाँति सुरक्षित, वृद्धिंगत और पल्लवित करने के लिए 'दंडनीति' का प्रचार किया गया अर्थात् कृषि और व्यापार आदि से उत्पन्न होने वाली आय का कुछ (१६ वां) हिस्सा राजकोष में दिये जाने का विधान बना। उसके द्वारा संचित-कोष की शक्ति से सैनिक संगठन किया गया, इस प्रकार दंडनीति विद्या का प्रचार हुआ।

इससे प्रजा की शत्रुवर्ग से रक्षा होने लगी एवं त्रयीविद्या भी वृद्धिंगत और सुरक्षित होने लगी। दंडनीति से चोर, अन्यायी, प्रजापीड़क और आततायी दुष्टपुरुषों को दंड (सजा) दिया जाने लगा अर्थात् शिष्टपालन और दुष्टनिग्रहरूप तथा सन्धि, विग्रह, यान और आसनादि षाड्गुण्य का प्रयोगरूप राजनीति का प्रादुर्भाव हुआ।

तत्पश्चात् भगवान् ने प्रजा में आन्वीक्षि की विद्या का प्रचार किया-वर्ण और आश्रमों में विभाजित प्रजा को अपने-अपने कर्त्तव्य पथ में आरूढ़ करने और अन्यायी प्रजापीड़क आततायियों से उसकी रक्षा करने के लिए विधान-फौजदारी और दीवानी के कानून बनाये गये। इस प्रकार व्यवहारोपयोगी आन्वीक्षिकी विद्या का प्रचार किया गया।

एवं इसके साथ कर्त्तव्य कर्म करने और अकर्त्तव्य को त्याग ने में प्राणी का शाश्वत कल्याण क्यों होता है ? शरीर और इन्द्रियादिक प्रकृति से भिन्न स्वतन्त्र आत्मद्रव्य है। वह पूर्वजन्म और अपर जन्म धारण करता है और अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों के अच्छे और बुरे फल भोगता है इत्यादि गूढ़ विषयों पर अनेक प्रबल और अबाधित युक्तियों का प्रचार किया, इस प्रकार प्रभु ने प्रजा में सर्व विद्याओं की प्रदीपभूत आन्वीक्षिकी विद्या का प्रचार किया।

पश्चात् इसी आन्वीक्षिकी विद्या की विस्तृत व्याख्या केवलज्ञान उत्पन्न होने पर की! अहिंसा, स्याद्वाद, कर्मसिद्धान्त और ईश्वर-विषयक उत्कृष्ट विचार तथा ९ पदार्थ आदि विषयों पर अपनी दिव्यध्वनि द्वारा प्रबल, एवं अकाट्य-अबाधित-युक्तियों से परिपूर्ण दिव्य संदेश दिया-युक्तिपूर्ण भाषण दिये यह विद्याओं के प्रचार का संक्षिप्त इतिवृत्त-इतिहास-है। इनका वेत्ता विद्वान् कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र और विश्व के उद्धार करने में समर्थ होता है ॥६३॥

अब पुनः आन्वीक्षिकी-दर्शनशास्त्र- से होने वाले लाभ को बताते हैं-

चेतयते[1] च विद्यावृद्धसेवायाम्॥ ६४॥

१. 'उत्सहते' ऐसा पाठ मु. और ह. मू. प्रतियों में है।

अर्थ—आन्वीक्षिकी विद्या में निपुण मनुष्य विद्याओं के अभ्यास और बहुश्रुत विद्वान् पुरुषों की सेवा में प्रवृत्त होता है ॥६४॥

भावार्थ—उक्त सूत्र में जो वृद्ध शब्द आया है उससे राजनीति और धर्मनीति आदि के विद्वान् को 'वृद्ध' कहते हैं न कि केवल सफेद बालों वाले बुड्ढों को।

निष्कर्ष—अतएव विवेकी पुरुष और राजा का कर्तव्य है कि वह विद्याओं के अध्ययन और विद्वानों की सेवा में सदा प्रयत्नशील रहे ॥६४॥

नीतिकार नारद[१] ने कहा है कि "केवल शिर पर सफेद बालों के हो जाने से मनुष्य को वृद्ध नहीं कहा जाता किंतु जो जवान हो करके भी विद्याओं का अभ्यास करता है उसे विद्वानों ने स्थविर-वृद्ध-कहा है ॥१॥

अब विद्याओं का अभ्यास और विद्वानों की संगति न करने वाले की हानि का निरूपण करते हैं—

अजातविद्यावृद्धसंयोगो हि राजा निरङ्कुशो गज[२] इव सद्यो विनश्यति॥६५॥

अर्थ—जो राजा न तो विद्याओं का अभ्यास करता है और न विद्वानों की संगति करता है वह निश्चय से उन्मार्गगामी होकर बिना अंकुश के हाथी के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

ऋषिपुत्र[३] विद्वान् ने भी उक्त बात का समर्थन किया है कि "विद्याओं को न जानने वाला और वृद्धों ज्ञानवृद्धों (विद्वानों) की संगति न करने वाला राजा बिना अंकुश के हाथी के समान उन्मार्गगामी होकर शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है ॥१॥"

निष्कर्ष—अतएव ऐहिक और पारलौकिक श्रेय-कल्याण-चाहने वाले पुरुषों तथा राजा को विद्याओं का अभ्यास तथा बहुश्रुत विद्वानों की संगति करनी चाहिए ॥६५॥

अब शिष्ट पुरुषों-सदाचारी विद्वानों-की संगति से होने वाले लाभ का निर्देश करते हैं—

अनधीयानोऽपि विशिष्टजनसंसर्गात् परां व्युत्पत्तिमवाप्नोति[४] ॥६६॥

अर्थ—विद्याओं का अभ्यास न करने वाला-मूर्ख मनुष्य-भी विशिष्ट पुरुषों-विद्वानों-की संगति से उत्तमज्ञान को प्राप्त कर लेता है-विद्वान् हो जाता है।

---

१. तथा च नारदः—
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः। यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥१॥

२. 'वनगज इव' ऐसा पाठ मु. और ह. लि. मूल प्रतियों में पाया जाता है जिसका **अर्थ—**"जंगली हाथी के समान है, विशेष अर्थभेद नहीं है।

३. तथा च ऋषिपुत्रः—
यो विद्यां वेति नो राजा वृद्धान्नैवोपसेवते। स शीघ्रं नाशमायाति निरंकुश इव द्विपः ॥१॥

४. "अनधीयानोऽप्यान्वीक्षिकीं विशिष्टसंसर्गात् परां व्युत्पतिमवाप्नोति" ऐसा पाठ मु. और ह. लि. मू. प्रतियों में है जिसका अर्थ—आन्वीक्षिकी—"दर्शनशास्त्र को न पढ़ने वाला भी" है।

विद्वान् व्यास ने[१] भी लिखा है कि ''जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों के संसर्ग से जड़रूप-जलरूप-भी समुद्र वृद्धि को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार जड़-मूर्ख-मनुष्य भी निश्चय से शिष्ट पुरुषों की संगति से ज्ञानवान हो जाता है ॥१॥''

निष्कर्ष—अतएव उक्त आन्वीक्षिकी और त्रयी आदि विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को विद्वानों की संगति करनी चाहिए ॥६६॥

अब दृष्टान्त द्वारा उक्त बात का समर्थन किया जाता है—

अन्यैव काचित्[२] खलु छायोपजलतरूणाम् ॥६७॥

अर्थ—जिस प्रकार जल के समीप वर्तमान वृक्षों की छाया निश्चय से कुछ अपूर्व-विलक्षण (शीतल और सुखदायक) ही हो जाती है उसी प्रकार विद्वानों के समीप वर्तमान पुरुषों की कान्ति भी अपूर्व-विलक्षण-हो जाती है-अर्थात् वे भी विद्वान् होकर सुशोभित होने लगते हैं।

निष्कर्ष—इसलिए प्रत्येक मनुष्य को व्युत्पन्न-विद्वान्-होने के लिए विद्वज्जनों का संसर्ग करना चाहिए ॥६७॥

वल्लभदेव[३] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो राजा मूर्ख होने पर भी शिष्ट पुरुषों की संगति करता है उसकी कान्ति जल के समीप रहने वाले वृक्ष के समान अपूर्व हो जाती है ॥१॥''

अब राजगुरुओं के सद्गुण बताते हैं—

वंशवृत्तविद्याभिजनविशुद्धा हि राज्ञामुपाध्यायाः ॥६८॥

अर्थ—जो वंश परम्परा से विशुद्ध हों-जिन के पूर्वज-पिता आदि-राजवंश के गुरु रह चुके हों-तथा सदाचार (अहिंसा, सत्य और अचौर्य आदि चरित्र-धर्म)विद्या-राजनैतिक तथा धार्मिक आदि विविध विषयों का ज्ञान-और कुलीनता-उच्चकुल में उत्पन्न होकर सत्कर्त्तव्यों का पालन-इन सद्गुणों से अलंकृत हो वे ही विद्वान् निश्चय से राजाओं के गुरु हो सकते हैं ॥६८॥

नीतिकार नारद ने[४] भी उक्त सिद्धान्त का समर्थन किया है कि ''जिन के पूर्वज राजवंश में अध्यापक रह चुके हों, जो सदाचारी, विद्वान् और कुलीन हों वे ही राजाओं के गुरु हो सकते हैं ॥१॥''

---

१. तथा च व्यासः—
विवेकी साधुमङ्गेन जड़ोऽपि हि प्रजायते। चन्द्रांशुसेवनान्नूनं यद्वच्च कुमुदाकरः ॥१॥

२. मु. और ह. लिखित प्रतियों में ''काचित् शब्द नहीं है और उसके न होने पर भी अर्थभेद कुछ नहीं होता।

३. तथा च वल्लभदेवः—
अन्यापि जायते शोभा भूपस्यापि जड़ात्मनः। साधुसङ्गाद्धि वृक्षस्य सलिलादूरवर्तिनः ॥१॥

४. तथा च नारदः—
पूर्वेषां पाठका येषां पूर्वजा वृत्तसंयुताः। विद्याकुलीनतायुक्ता नृपाणां गुरवश्च ते॥ १॥

अब शिष्टों के साथ नम्रता का बर्ताव करने वाले राजा का लाभ बताते हैं–

शिष्टानां[१] नीचैराचरन्नरपतिरिहलोके स्वर्गे च महीयते ॥६९॥

अर्थ—जो राजा शिष्टपुरुषों के साथ नम्रता का व्यवहार करता है वह इस लोक में और स्वर्ग में पूजा जाता है ॥६६॥

हारीत[२] विद्वान् ने भी लिखा है कि "जो राजा शिष्ट पुरुषों की भक्ति करने में तत्पर है वह परलोक में माहात्म्य-बड़प्पन-को प्राप्त होकर स्वर्ग में देवों और इन्द्रादिकों से पूजा जाता है ॥१॥"

अब राजा का माहात्म्य बताते हैं–

राजा हि परमं[३] दैवतं नासौ कस्मैचित् प्रणमत्यन्यत्र गुरुजनेभ्यः ॥७०॥

अर्थ—राजा अत्यन्त भाग्यशाली होता है, इसलिए यह पूज्यजनों (देव, गुरु, धर्म और माता-पिता आदि) के सिवाय किसी को नमस्कार नहीं करता।

भावार्थ—शास्त्रकारों[४] ने कहा है कि पूज्यों की पूजा का उल्लंघन करने से कल्याण के मार्ग में रुकावट आ जाती है इसलिए देव, गुरु और धर्म तथा माता-पिता आदि गुरुजनों की भक्ति करना प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है ॥७०॥

अब दुष्टपुरुष से विद्या प्राप्त करने का निषेध करते हैं–

वरमज्ञानं नाशिष्टजनसेवया विद्या ॥७१॥

अर्थ—मनुष्य को मूर्ख रहना अच्छा है परन्तु दुष्टपुरुष की सेवा करके विद्या प्राप्त करना अच्छा नहीं है ॥७१॥

हारीत[५] विद्वान् ने कहा है कि "जिसके संसर्ग से राजा पापी हो जाता है ऐसे दुष्ट की संगति से विद्वत्ता प्राप्त करना अच्छा नहीं उसकी अपेक्षा मूर्ख रहना अच्छा है ॥१॥

अब दृष्टान्त द्वारा उक्त बात का समर्थन करते हैं–

अलं तेनामृतेन यत्रास्ति विषसंसर्गः ॥७२॥

अर्थ—जिसमें जहर मिला हुआ हो उस अमृत से क्या लाभ है ? कोई लाभ नहीं।

---

१. "शिष्टषु नीचैराचरन्नरपतिरिह परत्र च महीयते" ऐसा पाठ मु. और ह. लि. मू. प्रतियों में है परन्तु विशेष अर्थ भेद कुछ नहीं है।

२. तथा च हारीतः–
साधुपूजापरो राजा माहात्म्यं प्राप्य भूतले। स्वर्गगतस्ततो देवैरिन्द्राद्यैरपि पूज्यते ॥१॥

३. 'परमं दैवं' ऐसा पाठ पूना लायब्रेरी की ह. लि. मू. प्रति में है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

४. भगवज्जिनसेनाचार्यः प्राहः–प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।–आदिपुराण से

५. तथा च हारीतः–
वरं जनस्य मूर्खत्वं नाशिष्टजनसेवया। पांडित्यं यस्य संसर्गात् पापात्मा जायते नृपः ॥१॥

भावार्थ—जिस प्रकार विष-मिश्रित अमृत के पीने से मृत्यु होती है उसी प्रकार अमृत के समान विद्या भी दुष्ट पुरुष से प्राप्त की जाने पर हानिकारक होती है—उससे शिष्य को पारलौकिक कष्ट भोगने पड़ते हैं।

नारद[१] विद्वान् ने कहा है कि ''शिष्य नास्तिकों के सिद्धान्त को अमृत के समान मानता है परन्तु यदि वह उसे परलोक में विष की तरह घातक और दुःखदायक न होता तब उसका उसे अमृत के तुल्य प्रिय लाभदायक-मानना उचित था ॥१॥''

निष्कर्ष—नैतिक मनुष्य को विष-मिश्रित अमृत के समान दुष्ट पुरुष से विद्या प्राप्त नहीं करना चाहिए अथवा नास्तिकों-चार्वाक आदि के हानिकारक मत को स्वीकार नहीं करना चाहिए ॥७२॥

अब शिष्य गुरुजनों के अनुकूल होते हैं। इसका विवेचन करते हैं—

गुरुजनशीलमनुसरन्ति प्रायेण शिष्याः ॥७३॥

अर्थ—शिष्य लोग बहुधा अपने गुरुजनों के शील-आचार-विचार-का अनुसरण करते हैं अर्थात् यदि शिक्षक नैतिक, सदाचारी और विचारवान होता है तो उसका शिष्य भी उसके अनुकूल प्रवृत्ति करने वाला-नैतिक सदाचारी और विचारवान हो जाता है। परन्तु यदि वह नीतिविरुद्ध प्रवृत्ति करने वाला, दुराचारी और मूर्ख होगा तो उसका शिष्य भी वैसा-दुराचारी आदि-होगा।

वर्ग[२] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जिस प्रकार वायु जैसे-सुगन्धि या दुर्गन्धि देश को स्पर्श करती है उसी के अनुकूल सुगन्धि या दुर्गन्धि को प्राप्त कर लेती है उसी प्रकार मनुष्य भी जैसे शिष्ट या दुष्ट पुरुष की सेवा करता है उसकी वैसी ही-सत् या असत्-अच्छी या बुरी-प्रवृत्ति हो जाती है ॥१॥''

निष्कर्ष—अतएव शिक्षक-गुरुजन-विद्वान्, नीतिज्ञ, सदाचारी और भद्रप्रकृति-युक्त होने चाहिए जिससे उनके शिष्य भी तदनुकूल-उनके समान-होकर संसार की सर्वोत्तम सेवा करते हुए ऐहिक एवं पारत्रिक सुख प्राप्त कर सके ॥७३॥

अब कुलीन और सदाचारी शिक्षकों से होने वाला लाभ बताते हैं—

नवेषु मृद्भाजनेषु लग्नः संस्कारो ब्रह्मणाप्यन्यथा कर्तुं न शक्यते ॥७४॥

अर्थ—जिस प्रकार नवीन मिट्टी के बर्तनों में किया हुआ संस्कार-रचना-ब्रह्मा के द्वारा भी

---

१. तथा च नारदः—
नास्तिकानां मतं शिष्यः पीयूषमिव मन्यते। दुःखावहं परे लोके नोचेद्विषमिव स्मृतम् ॥१॥

२. तथा च वर्गः—
यादृशान् सेवते मर्त्यस्तादृक् चेष्ट प्रजायते। यादृशं स्पृशते देशं वायुस्तद्गन्धमावहेत् ॥१॥

बदला नहीं जा सकता उसी प्रकार बच्चों के कोमल हृदयों में किया गया संस्कार भी बदला नहीं जा सकता।

भावार्थ—बाल्यकाल में बालकों के हृदय नवीन मिट्टी के बर्तनों की तरह अत्यंत कोमल होते हैं, इसलिए उनके मानसिक क्षेत्र में जैसे-प्रशस्त या अप्रशस्त (अच्छे या बुरे) संस्कारों का बीजारोपण किया जाता है वह स्थायी-अमिट-होता है, अतएव उनके शिक्षक-गुरुजन-उत्तम संस्कार-युक्त-सदाचारी, कुलीन और विद्वान् होने चाहिए।

वर्ग[1] विद्वान् ने भी कहा है ''जो मनुष्य बाल्यकाल में जिस प्रकार की अच्छी या बुरी विद्या पढ़ लेता है वह उसी के अनुकूल कार्यों को करता रहता है और पुनः किसी प्रकार उनसे निवृत्त नहीं होता ॥१॥''

निष्कर्ष—अतः उत्तम संस्कार-युक्त-भद्र प्रकृति (सदाचारी)होने के लिए शिष्यों के शिक्षक-गुरुजनकुलीन, सदाचारी और विद्वान् होने चाहिए ॥७४॥

अब दुराग्रही-हठी-राजा का होना अच्छा नहीं है इसे बताते हैं-

अन्ध इव वरं परप्रणेयो[2] राजा न ज्ञानलवदुर्विदग्धः ॥७५॥

अर्थ—जो राजा जन्मान्ध-जन्म से अन्धे पुरुष-के समान मूर्ख है परन्तु यदि वह दूसरे मन्त्री और अमात्य आदि द्वारा कर्त्तव्य मार्ग-सन्धि, विग्रह यान और आसन आदि षाड्गुण्य-में प्रेरित किया जाता है तो ऐसे राजा का होना किसी प्रकार अच्छा है। परन्तु जो थोड़े से राजनैतिक-ज्ञान को प्राप्त कर दुराग्रही-हठी-है-अर्थात् सुयोग्य मन्त्री और अमात्य आदि की समुचित सलाह को नहीं मानता उसका राजा होना अच्छा नहीं है-हठी राजा से राज्य को क्षति होने के सिवाय कोई लाभ नहीं।

गुरु[3] विद्वान् ने कहा है कि ''मूर्ख राजा मंत्र-सलाह-में कुशल मंत्रियों के द्वारा राजनैतिक कर्त्तव्यों-सन्धि और विग्रह आदि षाड्गुण्य-में प्रेरित कर दिया जाता है, इसलिए वह कुमार्ग में प्रवृत्त नहीं होता परन्तु थोड़े से ज्ञान को प्राप्त करने वाला राजा उसमें प्रवृत्त हो जाता है ॥१॥''

निष्कर्ष—राजा का कर्त्तव्य है कि वह राजनीति के विद्वान् और कुशल मन्त्रियों की उचित सलाह को सदा माने और कदापि दुराग्रह न करे ॥७५॥

---

१. तथा च वर्गः-
कुविद्यां वा सुविद्यां वा प्रथमं यः पठेन्नरः। तथा कृत्यानि कुर्वाणो न कथंचिन्निवर्तते ॥१॥

२. मु. मू. प्रति में 'परमप्राज्ञो' और गवर्न. लायब्रेरी पूना की ह. लि. मू. प्रति में 'परप्रायो' ऐसा पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं, तथापि विचार करने से संस्कृत टी. पु. का पाठ सुन्दर प्रतीत हुआ।

३. तथा च गुरुः-
मंत्रिभिर्मत्रकुशलैरन्धः संचार्यते नृपः। कुमार्गेण न स याति स्वल्पज्ञानस्तु गच्छति ॥१॥

अब मूर्ख और दुराग्रही राजा का वर्णन करते हैं–

नीलीरक्ते वस्त्र इव को नाम दुर्विदग्धे राज्ञि रागान्तरमाधत्ते ॥७६॥

अर्थ–मूर्ख और दुराग्रही-हठी-राजा के अभिप्राय को नीले रंग से रंगे हुए वस्त्र के समान कौन बदलने में समर्थ हो सकता है ? कोई नहीं।

भावार्थ–जिस प्रकार नीले रंग से रंगे हुए वस्त्र पर दूसरा रंग नहीं चढ़ाया जा सकता उसी प्रकार मूर्ख और हठी राजा का अभिप्राय-विचार-भी किसी के द्वारा बदला नहीं जा सकता।

नारद[१] विद्वान् ने भी उक्त बात का समर्थन किया है कि "नील रंग से रंगे हुए वस्त्र के समान दुराग्रही राजा की बात किसी के द्वारा बदली नहीं जा सकती ॥१॥"

निष्कर्ष–मूर्ख और दुराग्रही राजा से राष्ट्र की हानि-क्षति-होती है, क्योंकि वह आप्त-हितैषी पुरुषों की पथ्य-हितकारक-बात की अवहेलना करता है जिससे राष्ट्र की श्रीवृद्धि नहीं हो पाती ॥७६॥ अब पथ्य-हितकारक-उपदेश देने वाले विद्वानों के प्रति संकेत करते हुए उन्हें कर्त्तव्य मार्ग बताते है–

यथार्थवादो विदुषां श्रेयस्करो यदि न राजा गुणप्रद्वेषी ॥७७॥

अर्थ–यदि राजा गुणों से द्वेष नहीं रखता-गुणग्राही है, तो उसके समक्ष यथार्थ वचन बोलना-तत्काल अप्रिय होने पर भी भविष्य में कल्याणकारक वचन बोलना-विद्वानों के लिए कल्याणकारक है, अन्यथा नहीं।

हारीत[२] विद्वान् ने भी कहा है कि "राजा के समक्ष विद्वानों के द्वारा कहे हुए यथार्थ वचन-पथ्यरूप उपदेश-उन्हें तब कल्याणकारक हो सकते हैं जब राजा गुणों से द्वेष न करता हो ॥१॥"

अब स्वामी के प्रति विद्वानों का कर्तव्य निर्देश करते हैं–

वरमात्मनो मरणं नाहितोपदेशः स्वामिषु ॥७८॥

अर्थ–शिष्ट पुरुष को एक बार मर जाना उत्तम है परन्तु उसे अपने स्वामी के प्रति अहितकारक मार्ग का उपदेश देना अच्छा नहीं ॥७८॥

व्यास[३] विद्वान् ने कहा है कि "यदि राजा अपनी हितकारक बात को ध्यान देकर नहीं भी

---

१. तथा च नारदः–
दुर्विदग्धस्य भूपस्य भावः शक्येत नान्यथा। कर्तुं वर्णोऽत्र यद्वच्च नीलीरक्तस्य वाससः ॥१॥

२. तथा च हारीतः–
श्रेयस्कराणि वाक्यानि स्युरुक्तानि यथार्थतः। विद्वद्भिर्यदि भूपालो गुणद्वेषी न चेद्भवेत् ॥१॥

३. तथा च व्यासः–
अशृण्वन्नपि वोद्धव्यो मंत्रिभिः पृथिवीपतिः। यथात्मदोषनाशाय विदुरेणाम्बिकासुतः ॥१॥

सुनता हो, तथापि मन्त्रियों को उसे कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ करने के लिए हित की बात समझाते रहना चाहिए।

उदाहरणार्थ—जिस प्रकार महात्मा विदुर ने धृतराष्ट्र को उसके दोषों के नाश करने के लिए-अन्यायपूर्ण राज्य तृष्णा का त्याग करने के लिए-समझाया था[१] ॥१॥

॥ इति विद्यावृद्ध-समुद्देशः॥

१. महात्मा विदुर ने धृतराष्ट्र को अनेक बार उसे हितकारक उपदेश दिया था कि हे राजन्! अब पांडवों की वनवास आदि की अवधि पूरी हो गई है, अतः आप उनका न्याय-प्राप्त राज्य लौटा दें, आपको अन्याय-पूर्ण राज्य-लिप्सा या तृष्णा छोड़ देनी चाहिए, अन्यथा आपके कुरुवंश का भविष्य खतरे से खाली न रहेगा, तुम्हें आप्त पुरुषों की बात की अवहेलना न करनी चाहिए। मैं आपको तात्कालिक अप्रिय परन्तु भविष्य में हितकारक बात कह रहा हूँ इत्यादि रूप से विदुरजी ने उसे हितकारक वचन कहे थे, परन्तु उस ने उनकी बात न मानी इससे वह महाभारत के भयंकर युद्ध में सकुटुम्ब नष्ट होकर अपकीर्ति का पात्र बना।

(६) आन्वीक्षिकी-समुद्देशः

अब अध्यात्मयोग-आत्मध्यान-का लक्षण निर्देश करते हैं-

आत्ममनोमरुत्तत्वसमतायोगलक्षणो ह्यध्यात्मयोगः ॥१॥

अर्थ—आत्मा, मन, शरीर में वर्तमान प्राण वायु-कुम्भक (प्राणायाम की शक्ति से शरीर के मध्य में प्रविष्ट की जाने वाली घटाकार-वायु), पूरक (उक्त विधि से पूर्ण शरीर में प्रविष्ट की जाने वाली हवा) और रेचक (उक्त विधि से शरीर से बाहर की जाने वाली वायु) तथा पृथिवी, जल, अग्नि और वायु आदि तत्त्वों की समान और दृढ़ निश्चलता-स्थिरता-को अध्यात्मयोग-आत्मध्यान (धर्मध्यान) कहते हैं।

ऋषिपुत्रक[1] विद्वान् ने कहा है कि ''जिस समय आत्मा, मन और प्राण वायु की समानता-स्थिरता होती है उस समय मनुष्य को सम्यग्ज्ञान का जनक अध्यात्मयोग प्रकट होता है ॥१॥''

व्यास[2] ने भी लिखा है कि ''समस्त इन्द्रिय और मन की चंचलता न होने देना ही योग-ध्यान-है केवल पद्मासन लगा कर बैठना वा नासाग्र-दृष्टि रखना योग नहीं है ॥१॥

उक्त अध्यात्मयोग-धर्मध्यान-के शास्त्रकारों ने[3] चार भेद निर्दिष्ट किये हैं। पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

पिंडस्थ ध्यान में विवेकी और जितेन्द्रिय मनुष्य को पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती इन पाँच धारणाओं-ध्येय तत्त्वों-का ध्यान दुःखों की निवृत्ति के लिए करना चाहिए।

पार्थिवी-धारणा में मध्यलोकगत स्वयंभूरमण नाम समुद्रपर्यन्त तिर्यग्लोक के बराबर, निःशब्द, तरङ्गों से रहित और बर्फ के सदृश शुभ्र ऐसे क्षीर समुद्र का ध्यान करे। उसके मध्य में सुन्दर रचना-युक्त, अमित दीप्ति से सुशोभित, पिघले हुए सुवर्ण के समान प्रभायुक्त, हजार पत्तों वाला, जम्बूद्वीप

---

१. तथा च ऋषिपुत्रकः-
आत्मा मनो मरुत्तत्वं सर्वेषां समता यदा। तदा त्वध्यात्मयोगः स्यान्नराणां ज्ञानदः स्मृतः ॥१॥

२. तथा च व्यासः-
न पद्मासनतो योगो न च नासाग्रवीक्षणात्। मनसश्चेन्द्रियाणां च संयोगो योग उच्यते ॥१॥

३. तथा च शुभचन्द्राचार्यः (ज्ञानार्णवे)
पिंडस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्। चतुर्द्धा ध्यानमाख्यातं भव्यराजीवभास्करैः ॥१॥

के बराबर और मनरूपी भ्रमर को प्रमुदित करने वाला ऐसे कमल का चिंतन करे। तत्पश्चात् उस कमल के मध्य में सुमेरूपर्वत के समान पीतरंग की कान्ति से व्याप्त ऐसी कर्णिका का ध्यान करे। पुनः उसमें शरत्कालीन चन्द्र के समान शुभ्र और ऊँचे सिंहासन का चिंतन कर उसमें आत्मद्रव्य को सुखपूर्वक विराजमान, शान्त और क्षोभरहित, राग, द्वेष और मोह आदि समस्त पाप कलङ्क को क्षय करने में समर्थ और संसार में उत्पन्न हुए ज्ञानावरण आदि कर्म समूह को नष्ट करने में प्रयत्नशील चितवन करे।

इति पार्थिवी धारणा।

आग्नेयी धारणा में निश्चल अभ्यास से नाभिमंडल में सोलह उन्नत पत्तों वाले एक मनोहर कमल का और उसकी कर्णिका में महामंत्र (र्हं)का, तथा उक्त सोलह पत्तों पर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं और अः इन सोलह अक्षरों का ध्यान करे।

पश्चात् हृदय में आठ पांखुड़ी वाले एक ऐसे कमल का ध्यान करे, जो अधोमुख-उल्टा (ओंधा) और जिस पर ज्ञानावरण और दर्शनावरण आदि ८ कर्म स्थित हों।

पश्चात् पूर्व चिन्तित नाभिस्थ कमल की कर्णिका के महामंत्र की रेफ से मन्द-मन्द निकलती हुई धुएँ की शिखा का और उससे निकलती हुई प्रवाह रूप स्फुलिङ्गों की पंक्ति का पश्चात् उससे निकलती हुई ज्वाला की लपटों का चिंतवन करे। इसके अनन्तर उस ज्वाला (अग्नि) के समूह से अपने हृदयस्थ कमल और उसमें स्थित कर्म-राशि को जलाता हुआ चिंतवन करे। इस प्रकार आठों कर्म जल जाते हैं। यह ध्यान की ही सामर्थ्य है।

पश्चात् शरीर के बाह्य ऐसी त्रिकोण वह्नि (अग्नि) का चिंतन करे जो कि ज्वालाओं के समूह से प्रज्वलित बड़वानल के समान, अग्निबीजाक्षर 'र' से व्याप्त वा अन्त में साथियाँ के चिह्न से चिन्हित, ऊर्ध्व मण्डल से उत्पन्न, धूमरहित और सुवर्ण के समान कान्ति युक्त हो। इस प्रकार धगधगायमान फैलती हुई लपटों के समूह से देदीप्यमान बाहर का अग्निपुर अंतरंग की मंत्राग्नि को दग्ध करता है।

तत्पश्चात् यह अग्निमंडल उस नाभिस्थ कमल आदि को भस्मीभूत करके दाह्य-जलाने योग्य पदार्थ- का अभाव होने के कारण स्वयं शान्त हो जाता है।

इति आग्नेयी धारणा।

मारुती-धारणा में ध्यान करने वाले संयमी पुरुष को आकाश में पूर्ण होकर संचार करने वाले, महावेगयुक्त, महाबलवान, देवों की सेना को चलायमान और सुमेरूपर्वत को कम्पित करने वाला, मेघों के समूह को बिखेरने वाला, समुद्र को लुब्ध करने वाला दशों दिशाओं में संचार करने वाला, लोक के मध्य में संचार करता हुआ और संसार में व्याप्त ऐसे वायुमंडल का चिंतवन करे। तत्पश्चात् उस वायुमंडल के द्वारा कर्मों के दग्ध होने से उत्पन्न हुई भस्म को उड़ाता हुआ ध्यान करे।

पुनः उस वायुमंडल को स्थिर चिंतन कर उसे शान्त करे। इति मारुती धारणा।

वारुणी धारणा में ध्यानी व्यक्ति ऐसे आकाश तत्त्व का चिंतवन करे जो इन्द्रधनुष और बिजली की गर्जनादि चमत्कार से युक्त मेघों के समूह से व्याप्त हो। इसके बाद अर्द्धचन्द्राकार, मनोज्ञ और अमृतमय जल के प्रवाह से आकाश को बहाते हुए वरुणमंडल-जलतत्त्व-का ध्यान करके उसके द्वारा उक्त कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाली भस्म को प्रक्षालन करता हुआ चिंतवन करे।

इति वारुणी धारणा।

तत्त्वरूपवती-धारणा में संयमी और ध्यानी पुरुष सप्तधातु रहित, पूर्णचन्द्र के सदृश कान्तियुक्त और सर्वज्ञ के समान अपनी विशुद्ध आत्मा का ध्यान करे। इस प्रकार अभी तक पिंडस्थ ध्यान का संक्षिप्त विवेचन किया गया है, अन्य पदस्थ आदि का स्वरूप ज्ञानार्णव-शास्त्र से जानना चाहिए, विस्तार के भय से हम उनका विवेचन नहीं करना चाहते ॥१॥

अब अध्यात्मज्ञ-आत्मज्ञानी-राजा का लाभ बताते हैं-

अध्यात्मज्ञो हि राजा सहज-शारीरिक-मानसागन्तुभिर्दोषैर्नवाध्यते ॥२॥

अर्थ—जो राजा अध्यात्म-विद्या का विद्वान् होता है वह सहज (कषाय और अज्ञान से उत्पन्न होने वाले राजसिक और तामसिक दुःख), शारीरिक (बुखार-गलगण्डादि बीमारियों से होने वाली पीड़ा), मानसिक (परकलत्र आदि की लालसा से होने वाले कष्ट) एवं आगन्तुक दुःखों (भविष्य में होने वाले-अतिवृष्टि, अनावृष्टि और शत्रुकृत अपकार आदि कारणों से होने वाले दुःख) से पीड़ित नहीं होता॥ २॥

नारद[१] विद्वान् ने लिखा है कि ''अध्यात्म-विद्या का जानने वाला राजा सहज-राजसिक और तामसिक दुःख, आगन्तुक-भविष्य काल में होने वाले कष्ट, शारीरिक-बुखार-आदि और मानसिक-परकलत्रादि के चिंतन से होने वाला कष्ट इत्यादि समस्त दुःखों से पीड़ित नहीं होता ॥१॥

अब आत्मा के क्रीड़ा योग्य स्थानों का विवेचन किया जाता है-

इन्द्रियाणि मनो विषया ज्ञानं भोगायतनमित्यात्मारामः। ३॥

अर्थ—इन्द्रियाँ-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र-मन, विषय (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द) ज्ञान और शरीर ये सब आत्मा की क्रीड़ा के स्थान हैं॥ ३॥

विर्भिटीक[२] विद्वान् ने कहा है कि ''इन्द्रियाँ, मन, ज्ञान और इन्द्रियों के स्पर्श आदि विषय तथा शरीर ये सब आत्मा के क्रीड़ा करने के स्थान हैं ॥१॥''

---

१. तथा च नारदः-
अध्यात्मज्ञो हि महीपालो न दोषैः परिभूयते। सहजागन्तुकैश्चापि शारीरैर्मानसैस्तथा ॥१॥

२. तथा च विर्भिटीकः-
इन्द्रियाणि मनो ज्ञानं विषया भोग एव च। विश्वरूपस्य चैतानि क्रीडास्थानानि कृत्स्नशः ॥१॥

अब आत्मा के स्वरूप का कथन किया जाता है–

यत्राहमित्यनुपचरितप्रत्ययः[१] स आत्मा ॥४॥

अर्थ–जिस पदार्थ में मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ और मैं इच्छावान हूँ''आदि वास्तविक प्रत्यय-ज्ञान हो वही आत्मा है अर्थात् ''मैं सुखी हूँ या मैं दुःखी हूँ'' इस प्रकार के ज्ञान के द्वारा जो प्रत्येक प्राणी को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा जाना जावे वही शरीर इन्द्रिय और मन से पृथक्, चैतन्यात्मक और अनादिनिधन आत्मद्रव्य है।

अब युक्तिपूर्वक आत्मद्रव्य की शरीरादिक से पृथक सिद्धि करते हैं–

असत्यात्मनः प्रेत्यभावे विदुषां विफलं खलु सर्वमनुष्ठानम्॥ ५॥

अर्थ–यदि आत्मद्रव्य का पुनर्जन्म-परलोक (स्वर्गादि) में गमन न माना जावे तो संसार में विद्वानों की जो पारलौकिक धार्मिक-कर्त्तव्यों (प्राणि रक्षा, दान, तप और जपादि) में प्रवृत्ति होती है वह व्यर्थ-निष्फल-होगी, क्योंकि आत्मा का परलोक-गमन न मानने से उन्हें आगे जन्म में उक्त पारलौकिक अनुष्ठानों का स्वर्ग आदि सुखरूप फल प्राप्त न होगा। अतएव विद्वानों की पारलौकिक-दान-पुण्य आदि धार्मिक अनुष्ठानों में प्रवृत्ति आत्मद्रव्य के परलोक-गमन को सिद्ध करती है॥ ५॥

''प्रेक्षापूर्वकारिणां प्रवृत्तेः प्रयोजनेन व्याप्तत्वात्'' अर्थात् प्रेक्षापूर्वकारी-विद्वान् मनुष्यों-की सत्कार्य-पारलौकिक दान-पुण्यादि-में प्रवृत्ति निष्फल नहीं हो सकती-किन्तु सफल ही होती है, इस नियमित सिद्धान्त के अनुसार उनकी दीक्षा और व्रतादि में देखी जाने वाली सत्प्रवृत्ति आत्मद्रव्य का पुनर्जन्म परलोक में गमन-सिद्ध करती है।

याज्ञवल्क्य[२] विद्वान् ने लिखा है कि सब की आत्मा मरने के बाद अपने कर्मों के अनुसार नवीन शरीर को धारण कर पूर्व में किये हुए शुभ और अशुभ कर्मों के अच्छे और बुरे फलों को भोगता है ॥१॥''

अब मन का स्वरूप बताते हैं–

यतः स्मृतिः प्रत्यवमर्षणमूहापोहनं शिक्षालापक्रियाग्रहणं च भवति तन्मनः॥६॥

अर्थ–जिससे प्राणी को स्मरण (मैंने अमुक कार्य किया था और अमुक कार्य करूंगा इत्यादि स्मृतिज्ञान) व्याप्ति-ज्ञान (उदाहरणार्थ-जैसे जिस-जिस मनुष्य में व्यवहार कुशलता होती है उस-उस में अवश्य बुद्धिमत्ता होती है जैसे अमुक व्यक्ति एवं जिस-जिस में बुद्धिमत्ता नहीं होती उसमें व्यवहार कुशलता भी नहीं होती जैसे अमुक मूर्ख व्यक्ति। इस प्रकार साधन के होने पर साध्य का

---

१. 'इत्युपचरितप्रत्ययः' ऐसा पाठ मु. मू. पुस्तक में है, परन्तु अर्थभेद कुछ न होने पर भी सं. टी. पुस्तक का उक्त

२. तथा च याज्ञवल्क्यः–
आत्मा सर्वस्य लोकस्य सर्वे भुंक्ते शुभाशुभं। मृतस्यान्यत्समासाद्य स्वकर्माहं कलेवरम् ॥१॥ पाठ उत्तम है।

होना और साध्य की गैर मौजूदगी में साधन का न होना इसे व्याप्ति ज्ञान कहते हैं), ऊह-(संदेह युक्त पदार्थ का विचार), अपोह (संदिग्ध पदार्थ का निश्चय), किसी के द्वारा दी जाने वाली शिक्षा का ग्रहण और किसी से की हुई बातचीत का ध्यान से सुनना ये सब ज्ञान होते हों उसे 'मन' कहते हैं॥६॥

गुरु[1] विद्वान् ने भी कहा है कि जिससे मनुष्यों को ऊह-संदिग्ध पदार्थ का विचार, अपोह-उसका करना ये ज्ञान उत्पन्न हों उसे मन कहते हैं ॥१॥''

अब इन्द्रियों का लक्षण निर्देश करते हैं-

आत्मनो विषयानुभवनद्वाराणीन्द्रियाणि ॥७॥

अर्थ—यह आत्मा जिनकी सहायता से विषयों-स्पर्श, रस और गंधादि-का सेवन करता है उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं ॥७॥

रैभ्य[2] विद्वान् ने लिखा है कि ''जिस प्रकार स्वामी शिष्ट सेवकों की सहायता से कार्य कराता है उसी प्रकार आत्मा भी इन्द्रियों की सहायता से पृथक्-पृथक् विषयों के सेवन में प्रवृत्ति करता है ॥१॥''

अब इन्द्रियों के विषयों का निरूपण करते हैं-

शब्दस्पर्शरसरूपगन्धा हि विषयाः॥८॥

अर्थ—शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध ये इन्द्रियों के विषय हैं॥ ८॥

अब ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करते हैं-

समाधीन्द्रियद्वारेण विप्रकृष्टसन्निकृष्टावबोधो ज्ञानं॥९॥

अर्थ—ध्यान और इन्द्रियों के द्वारा क्रमशः परोक्ष (देश, काल और स्वभाव से सूक्ष्म-पदार्थ-जैसे सुमेरु, राम-रावण तथा परमाणु वगैरह पदार्थ जो इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जा सकते) और प्रत्यक्ष वस्तुओं समीपवर्ती पदार्थों-के जानने को 'ज्ञान' कहते हैं।

अब सुख का लक्षण करते हैं-

सुखं प्रीतिः[3] ॥१०॥

अर्थ—जिससे आत्मा, मन और इन्द्रियों को आनन्द हो उसे 'सुख' कहते हैं ॥१०॥

---

१. तथा च गुरुः-
ऊहापोहौ तथा चिन्ता परालापावधारणं। यतः संजायते पुंसां तन्मनः परिकीर्तितम् ॥१॥

२. तथा च रैभ्यः-
इद्रियाणि निजान् ग्राह्यविषयान् स पृथक् पृथक्। आत्मनः संप्रयच्छन्ति सुभृत्याः सुप्रभोर्यथा ॥१॥

३. यहाँ पर सं. टी. पुस्तक में सूत्रों का प्राकरणिक एवं क्रमवद्ध-आनुपूर्वी-संकलन नहीं था, अतएव हमने मु. और ह. लि. मूल प्रतियों के आधार से उनका क्रमबद्ध संकलन किया है। -सम्पादक

हारीत[1] विद्वान् ने लिखा है कि ''जिस पदार्थ के देख ने या भक्षण करने पर मन और इन्द्रियों को आनन्द प्राप्त हो उसे 'सुख' कहा गया है ॥१॥''

अब दु:ख का लक्षण निर्देश करते हैं–

तत्सुखमप्यसुखं यत्र नास्ति मनोनिवृत्तिः ॥११॥

अर्थ–जिस पदार्थ–पुत्र–कलत्रादि–में मन संतुष्ट न हो किन्तु उल्टा वैराग्य उत्पन्न हो वह सुख भी दु:ख समझना चाहिए ॥११॥

वर्गविद्वान्[2] ने कहा है कि ''मन के सन्तुष्ट रहने से सुख मिलता है, अतः जिस धनाढ्य पुरुष का भी मन इष्ट–पदार्थों–स्त्री–पुत्रादि–को देखकर वैराग्य धारण करता हो–उनकी नीतिविरुद्ध प्रवृत्ति को देखकर उदास–खेद–खिन्न रहता हो उसे दु:खी समझना चाहिए ॥१॥''

अब सुख प्राप्ति के उपायों का निर्देश करते हैं–

अभ्यासाभिमानसंप्रत्ययविषयाः सुखस्य कारणानि ॥१२॥

अर्थ–अभ्यास (शास्त्रों को अध्ययन और शास्त्र विहित कर्तव्यों के पालन में परिश्रम करना), अभिमान (समाज से अथवा राजा–आदि के द्वारा आदर–सम्मान का मिलना), संप्रत्यय (व्यवहारज्ञान से अपनी इन्द्रियादिक की सामर्थ्य से वाद्य (वीणा आदि) आदि के शब्दों में प्रिय और अप्रिय–का निर्णय करना) और विषय–(इन्द्रिय और मन को संतुष्ट करने वाले विषयों की प्राप्ति) ये चार सुख के कारण हैं ॥१२॥

विद्वानों[3] ने कहा है कि ''मनुष्य को शास्त्रों के अभ्यास से विद्या प्राप्त होती है तथा अपने कर्त्तव्यों का भली भाँति परिश्रमपूर्वक पालन करने से वह चतुर समझा जाता है, उससे उसका सत्कार होता है, अतः वह सदा सुखी रहता है ॥१॥

आदर के साथ होने वाला थोड़ा भी धनादिक का लाभ, सुख का कारण है। परन्तु जहाँ पर

---

१. तथा च हारीतः–
मनसश्चेन्द्रियाणां च यत्रानन्दः प्रजायते। दृष्टं वा भक्षिते वापि तत्सुखं सम्प्रकीर्तितम् ॥१॥

२. तथा च वर्गः–
समृद्धस्यापि मर्त्यस्य मनो यदि विरागकृत्। दु:खी स परिज्ञेयो मनस्तुष्ट्या मुखं यतः ॥१॥

३. च विद्वांसः–
अभ्यासविषये–अभ्यासाच्च भवेद्विद्या तथा च निजकर्मणः। तया पूजामवाप्नोति तस्याः स्यात् सर्वदा सुखी ॥१॥
मानविषये–सम्मानपूर्वको लाभः सुस्तोकोऽपि सुखावहः। मानहीनः प्रभूतोऽपि साधुभिर्न प्रशस्यते॥ २॥
संप्रत्ययविषये–हारीत आह–अविद्योऽपि गुणान्मर्त्यः स्वशक्त्या यः प्रतिष्ठियेत्।
तत्सुखं जायते तस्य स्वप्रतिष्ठासमुद्भवम् ॥३॥
विषये–सेवनं विषयाणां यत्तन्मितं सुखकारणम्। अमितं च पुनस्तेषां दारिद्रयकारणं परं॥ ४॥

मनुष्य का आदर न हो वहाँ पर अधिक धनादिक का लाभ भी सज्जनों से प्रशंसा के योग्य नहीं-वह दुःख का कारण है ॥२॥

विद्या से हीन मनुष्य भी किसी चतुराई आदि गुण विशेष के कारण अपनी शक्ति से प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है ऐसा होने से उसको सुख मिलता है ॥३॥

इन्द्रियों के विषयों (शब्दादि) का सेवन थोड़ी मात्रा में किये जाने पर सुख का कारण है परन्तु अधिक मात्रा में विषयों के सेवन से दरिद्रता उत्पन्न होती है ॥४॥

अब अभ्यास का लक्षण बताते हैं-

क्रियातिशयविपाकहेतुरभ्यासः ॥१३॥

अर्थ—विद्या की प्राप्ति आदि कार्यों में सहायक परिश्रम करना यह अभ्यास है ॥१३॥

हारीत[1] का कहना है कि शास्त्रों के अभ्यास-निरन्तर मन लगाकर पढ़ने-से विद्या प्राप्त होती है और उससे धन मिलता है एवं उसकी प्राप्ति से मनुष्य सुखी होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं ॥१॥''

अब अभिमान का लक्षण निर्देश किया जाता है-

प्रश्रयसत्कारादिलाभेनात्मनो यदुत्कृष्टत्वसंभावनमभिमानः ॥१४॥

अर्थ—शिष्ट मनुष्य को सज्जनों के मध्य में उनके द्वारा जो विनय या सम्मान-सामाजिक या राजकीय आदर और धन्यवाद आदि प्रशंसावाचक शब्द मिलते हैं जिन से वह अपने को सुखी समझता है उसे 'अभिमान' कहते हैं ॥१४॥

नारद[2] ने कहा है कि ''आदर के साथ थोड़ा भी धनादिक मिलना सुख देने वाला है, क्योंकि ऐसा होने से उस मनुष्य की सज्जनों के मध्य में प्रतिष्ठा होती है ॥१॥

अब 'संप्रत्यय' के लक्षण का निर्देश करते हैं-

अतद्गुणे वस्तुनि तद्गुणत्वेनाभिनिवेशः सम्प्रत्ययः ॥१५॥

अर्थ—निर्गुण पदार्थ में नैतिक चातुर्य से परीक्षा करके उसमें गुण की प्रतिष्ठा करना संप्रत्यय है ॥१५॥

उदाहरणार्थ—वीणा आदि के शब्दों को सुनकर परीक्षा करके यह निर्णय करना कि यह सुन्दर है या नहीं। स्पर्शनेन्द्रिय से छूकर यह कोमल है ? या कठोर है ? नेत्रों से रूप को देखकर यह प्रियरूप है या अप्रिय इत्यादि ज्ञानशक्ति के बल से पदार्थ में गुण का निश्चय करना 'संप्रत्यय' कहा गया है ॥१५॥

---

१. तथा च हारीतः- अभ्यासाद्धार्यते विद्या विद्यया लभ्यते धनम्। धनलाभात्सुखी मर्त्यो जायते नात्र संशयः ॥१॥

२. तथा च नारदः- सत्कारपूर्वको यो लाभः स स्तोकोऽपि सुखावहः। अभिमानं ततो धत्ते साधुलोकस्य मध्यतः ॥१॥

नारद[1] विद्वान् ने लिखा है कि ''जो पदार्थ परोक्ष (इन्द्रियों से न जानने योग्य-राम, रावण, सुमेरु और परमाणु आदि) है वह ध्यान के द्वारा जाना जाता है एवं जो समीपवर्ती प्रत्यक्ष पदार्थ है वह इन्द्रियों द्वारा जाना जाता है ॥१॥

निष्कर्ष—प्रत्यक्ष और परोक्ष पदार्थों में ज्ञानशक्ति से निर्गुण या सगुण का निश्चय करना यह 'संप्रत्यय' सुख का कारण है ॥१५॥

अब विषय के स्वरूप का निर्देश करते हैं–

इन्द्रियमनस्तर्पणो भावो विषयः ॥१६॥

अर्थ—जिस वस्तु से इन्द्रियाँ और मन संतुष्ट हों उसे विषय कहते हैं ॥१६॥

शुक्र[2] विद्वान् ने लिखा है कि ''जिस पदार्थ से मन और इन्द्रियों को संतोष होता है वह पदार्थ विषय कहा जाता है जो कि प्राणियों को सुख देने वाला है ॥१॥''

निष्कर्ष-जिस पदार्थ-स्त्री पुत्रादि-से इन्द्रियाँ और मन संतुष्ट न हो वह सुखदायक नहीं होता किन्तु जिससे इन्द्रियाँ और मन प्रसन्न हों-संतुष्ट हों वह सुखदायक होता है ॥१६॥

अब दुःख के लक्षण का निर्देश करते हैं–

दुःखमप्रीतिः ॥१७॥

अर्थ—जिस वस्तु के देखने पर अप्रीति (संतोष न हो-वैराग्य हो) हो वही दुःख है ॥१७॥

शुक्र[3] विद्वान् ने लिखा है कि ''जिस वस्तु के देख ने पर या धारण करने पर प्रीति उत्पन्न नहीं होती वह वस्तु अच्छी होने पर भी प्राणियों को दुःख देने वाली है ॥१॥''

अब सुख का लक्षण निर्देश करते हैं–

तद्दुःखमपि न दुःखं यत्र न संक्लिश्यते मनः ॥१८॥

अर्थ—जिस वस्तु के देखने पर मन को संक्लेश-कष्ट-न हो वह वस्तु दुःखद हो करके भी सुखकर है ॥१८॥

अब चार प्रकार के दुःखों का निरूपण किया जाता है–

दुःखं चतुर्विधं सहजं दोषजमागन्तुकमन्तरंगं चेति ॥१९॥

सहजं क्षुत्तृषामनोभूभवं चेति[4]॥२०॥

---

१. तथा च नारदः– परोक्षे यो भवेदर्थः स ज्ञेयोऽव समाधिना। प्रत्यक्षश्चेन्द्रियैः सर्वैर्निजगोचरमागतः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः– मनसश्चेन्द्रियाणां च सन्तोषो येन जायते। स भावो विषयः प्रोक्तः प्राणिनां सौख्यदायकः ॥१॥

३. तथा च शुक्रः– यत्र नो जायते प्रीतिर्दृष्टे वाञ्छादितेऽपि वा। तच्छ्रेष्ठमपि दुःखाय प्राणिनां सम्प्रजायते ॥१॥

४. ''सहज क्षुत्तर्ष-पीड़ा-मनोभूभवमिति'' ऐसा पाठ मु. और ह. लि. मू. प्रतियों में है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

दोषजं वातपित्तकफवैषम्यसम्भूतं[१] ॥२१॥

आगन्तुकं वर्षातपादिजनितं[२] ॥२२॥

यच्चिन्त्यते दरिद्रैर्न्यक्कारजं[३] ॥२३॥

न्यक्कारावज्ञेच्छाविघातादिसमुत्थमन्तरङ्गजम् ॥२४॥

अर्थ—दुःख चार प्रकार के होते हैं—सहज, दोषज आगन्तुक और अन्तरङ्गज ॥१९॥

भूख-प्यास सम्बन्धी तथा मानसिक भूमि में पैदा होने वाले (काम-क्रोधादि विकारों से उत्पन्न परस्त्री-सेवन आदि की अभिलाषा और उसका चिंतन आदि से उत्पन्न हुए) दुःखों को 'सहज' दुःख कहते हैं॥ २०॥

प्रकृति-ऋतु के विरुद्ध आहार विहार करने से जो वात, पित्त और कफ कुपित-विकृत-होते हैं उससे होने वाले बुखार-गलगंडादिरूप शारीरिक रोगों को 'दोषज' दुःख कहा गया है॥ २१॥

अतिवृष्टि, अनावृष्टि और आतप (गर्मी) आदि आकस्मिक-घटनाओं से उत्पन्न होने वाले दुःखों-दुर्भिक्ष (अकाल) आदि सम्बन्धी पीड़ाओं को 'आगन्तुक' दुःख कहा गया है ॥२२॥

दरिद्र-निर्धन-मनुष्यों से अनुभव किये जाने वाले और तिरस्कार आदि से उत्पन्न हुए दुःख-बध-बंधन और कारावास-जेलखाना-आदि की सजा से उत्पन्न हुए कष्टों को 'न्यक्कारज' दुःख कहते हैं अर्थात् दरिद्र लोग चोरी वगैरह अपराध करने से जो राजदंड-जेलखाने की सजा आदि-भोगते हैं, उनके उन दुःख-बध-बंधन आदि कष्टों-को न्यक्कारज-तिरस्कार से उत्पन्न-दुःख कहा गया है ॥२३॥

धिक्कार, अनादर और इच्छाविघात-अभिलषित वस्तु न मिलना-आदि से होने वाले दुःखों को 'अन्तरंगज' दुःख कहा गया है ॥२४॥

अब जिस प्रकार का व्यक्ति दोनों लोकों में दुःखी रहता है उसका वर्णन करते हैं—

न तस्यैहिकमामुष्मिकं च फलमस्ति यः क्लेशायासाभ्यां भवति विप्लवप्रकृतिः ॥२५॥

---

१. २. **नोट**—२१ और २२ नं. के सूत्र मु. मू. और ह. लि. मू. प्रतियों में नहीं हैं परन्तु स. टी. पुस्तक में वर्तमान हैं एवं प्राकरणिक और क्रम प्राप्त भी हैं।

३. **नोट**—नं. २३. का सूत्र न तो मु. मू. प्रति में और न गवर्न. लायब्रेरी पूना की ह. लि. मूलप्रतियों में है, केवल सं. टी. पुस्तक में वर्तमान है। विमर्शः—उक्तसूत्र में न्यक्कारज-तिरस्कार से होने वाले-दुखों का निरूपण है, जिन्हें आचार्यश्री ने 'अंतरंगज' दुःखों में अंतर्भूत-शामिल-कर दिया है एवं दुःखों में भी उक्त दुःख को स्वतन्त्र नहीं माना, तब यह अप्राकरणिक और असम्बद्ध-सूत्र न मालूम कहाँ से बीच में आ घुसा ? इससे या तो सं. टीकाकार की मनगढन्त रचना अथवा लेखकों की असावधानी से संस्कृत टीका का कोई अंश जो कि अन्तरंग दुःखों के निरूपण सम्बन्धी है। यहाँ लिखा हुआ प्रतीत होता है। यह आचार्यश्री का रचा हुआ प्रतीत नहीं होता। —सम्पादक

अर्थ—जिसकी बुद्धि निरन्तर दु:ख और खेद के द्वारा नष्ट हो गई है उस मनुष्य को ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्त नहीं हो सकते॥ २५॥

व्यास[१] विद्वान् ने भी लिखा है कि "जो कुत्सित पुरुष दु:ख और खेदपूर्वक जीवन व्यतीत करता है उसको इस मर्त्यलोक में कोई सुख नहीं मिलता, पुन: उसे स्वर्ग में किस प्रकार सुख मिल सकता है ? नहीं मिल सकता ॥१॥"

अब कुलीन पुरुष का माहात्म्य तथा कुत्सित की निन्दा का निरूपण करते हैं–

स किंपुरुषो यस्य महाभियोगे सुवंशधनुष इव नाधिकं जायते बलम्[२]॥ २६॥

अर्थ—जिस मनुष्य में उत्तम बाँस वाले धनुष के समान युद्ध आदि आपत्तिकाल आने पर अधिक पौरुष-वीरता शक्ति-का संचार नहीं होता वह निन्द्य पुरुष है अर्थात् जिस प्रकार उत्तम-बाँस वाले धनुष में बाण-स्थापन-काल में अधिक दृढ़ता-मजबूती-आ जाती है उसी प्रकार कुलीन पुरुष में भी आपत्तिकाल में अधिक वीरता-शक्ति का संचार हो जाता है। एवं जिस प्रकार खराब बाँस वाला धनुष बाण-स्थापन-काल में टूट जाता है या शिथिल हो जाता है उसी प्रकार कायर व्यक्ति भी युद्धादि आपत्तिकाल में कायरता धारण कर लेता है उसमें वीरता नहीं रहती॥ २६॥

गुरु[३] विद्वान् ने भी लिखा है कि "युद्धकाल में कुलीन पुरुषों के वीरता-शक्ति की वृद्धि होती है और जो पुरुष उस समय वीरता छोड़ देते हैं-युद्ध से मुख मोड़ लेते हैं–उन्हें नपुंसक समझना चाहिए ॥१॥

अभिलाषा-इच्छा का लक्षण निर्देश–

आगामिक्रियाहेतुरभिलाषो वेच्छा[४]॥२७॥

अर्थ—जो भविष्य में होने वाले कार्य में हेतु है उसे अभिलाषा या इच्छा कहते हैं ॥२७॥

गुरु[५] विद्वान् ने लिखा है कि "जो भविष्य में होने वाले कार्य में हेतु है उसे अभिलाषा कहते हैं, इच्छा और संधा उसी के नामान्तर हैं यह सदा प्राणियों के होती है ॥१॥"

अथ दोषों की शुद्धि का उपाय बताते हैं–

---

१. तथा च व्यास:– जीयते क्लेशखेदाभ्यां सदा कापुरुषोऽत्र य:। न तस्य मर्त्ये यो लाभ: कुत: स्वर्गसमुद्भव: ॥१॥

२. "स किम्पुरुष:, यस्य महायोगेष्वपि धनुष इवाधिकं न जायते बलम्" ऐसा मु. और ह. लि. मू. प्रतियों में पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि "जिस प्रकार अचेतन-जड़-धनुष में अल्प या अधिक युद्ध-आदि के अवसर पर थोड़ी या अधिक शक्ति का संचार नहीं होता उसी प्रकार जिस पुरुष में महान् कार्य-युद्ध आदि-के अवसर पर अधिक शक्ति का संचार नहीं होता वह निन्द्य है।

३. तथा च गुरु:–युद्धकाले सुवंश्यानां वीर्योत्कर्ष: प्रजायते। येषां च वीर्यहानि: स्यातेऽत्र शेया नपुंसका: ॥१॥

४. 'वाञ्छा' इस प्रकार मु. मू. प्रति में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

५. तथा च गुरु:–भाविकृत्यस्य यो हेतुरभिलाष: स उच्यते। इच्छा वा तस्य सन्धा या भवेत् प्राणिनां सदा ॥१॥

आत्मनः प्रत्यवायेभ्यः प्रत्यावर्तनहेतुर्द्वेषोऽनभिलाषो वा ॥२८॥

अर्थ—आत्मा से होने वाले दोषों को नाश करने के दो उपाय हैं। (१) अपनी निन्दा करना (२) भविष्य में उनके करने की इच्छा न करना।

गुरु[१] विद्वान् ने लिखा है कि ''आत्मा से यदि अपराध हो जावें तो विद्वानों को उनकी निन्दा करनी चाहिए अथवा उनको करने की कभी भी इच्छा नहीं करनी चाहिए ॥१॥

अथ उत्साह का लक्षण निर्देश करते हैं—

हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतुरुत्साहः ॥२९॥

अर्थ—जिस कर्तव्य के करने में हित-अभीष्ट-की प्राप्ति तथा अहित-अनिष्ट-का त्याग होता है उसे उत्साह कहते हैं ॥२६॥

वर्ग[२] विद्वान् ने लिखा है कि ''जिस कर्तव्य के करने में शुभ की प्राप्ति और पापों का त्याग होकर हृदय को संतोष होता है उसे उत्साह कहते हैं ॥१॥''

अब प्रयत्न के स्वरूप का विवरण—

प्रयत्नः परनिमित्तको भावः॥ ३०॥

अर्थ—''मुझे इसका अमुक कार्य अवश्य करना चाहिए'' इस प्रकार दूसरों की भलाई के लिए की जाने वाली चित्त की निश्चित प्रवृत्ति को प्रयत्न कहते हैं ॥३०॥

गर्ग[३] विद्वान् ने लिखा है कि गर्ग के वचनों की तरह ''दूसरों की भलाई करने में जो निश्चय करके चित्त की प्रवृत्ति की जाती है उसे प्रयत्न कहते हैं अर्थात् जिस प्रकार गर्ग नाम के नीतिकार विद्वान् के वचन परोपकार के लिए हैं उसी प्रकार शिष्ट पुरुष जो दूसरों की भलाई के लिए अपनी मानसिक प्रवृत्ति करते हैं उसे 'प्रयत्न' समझना चाहिए ॥१॥''

संस्कार का स्वरूप निर्देश—

सातिशयलाभः संस्कारः॥ ३१॥

अर्थ—सज्जन पुरुषों तथा राजा-आदि के द्वारा किये गये सम्मान से जो मनुष्य की प्रतिष्ठा होती है उसे 'संस्कार' कहते हैं ॥३१॥

गर्ग[४] विद्वान् ने लिखा है कि ''राजकीय सम्मान से'' सज्जनों के आदर से तथा प्रशस्त भक्ति से जो मनुष्य को सम्मान आदि मिलता है उससे उसकी प्रतिष्ठा होती है ॥१॥

---

१. तथा च गुरुः—आत्मनो यदि दोषाः स्युस्ते निन्द्या विबुधैर्जनैः। अथवा नैव कर्त्तव्या वाञ्छा तेषां कदाचन ॥१॥

२. तथा च वर्गः—शुभाप्तिर्यत्र कर्त्तव्या जायते पापवर्जनम्। हृदयस्य परा तुष्टिः स उत्साहः प्रकीर्तितः ॥१॥

३. तथा च गर्गः—वरस्य करणीये यश्चित्तं निश्चित्य धार्यते। प्रयत्नः स च विज्ञेयो गर्गस्य वचनं यथा ॥१॥

४. तथा च गर्गः—सम्मानाद्भूमिपालस्य यो लाभः संप्रजायते। महाजनाच्च सद्भक्तेः प्रतिष्ठा तस्य सा भवेत् ॥१॥

संस्कार-ज्ञानविशेष-का लक्षण निर्देश-

अनेककर्माभ्यासवासनावशात् सद्योजातादीनां स्तन्यपिपासादिकं येन क्रियत इति संस्कारः[१] ॥३२॥

अर्थ—इस प्राणी ने आयुष्य कर्म के आधीन होकर पूर्व जन्मों में अनेक बार दुग्धपानादि में प्रवृत्ति की थी, उससे इसकी आत्मा में दुग्धपानादि विषय का धारणारूप संस्कार उत्पन्न हो गया था। उस संस्कार की वासना के वश से जो स्मरण-यह दुग्धपान मेरा इष्ट साधन है इस प्रकार का स्मृतिज्ञान-उत्पन्न होता है वही संस्कार से उत्पन्न हुआ स्मरण उत्पन्न हुए बच्चों को दुग्धपान आदि में प्रवृत्त करता है॥ ३२॥

गौतम[२] नाम के दार्शनिक विद्वान् ने भी अपने गौतम सूत्र में कहा है कि ''यह प्राणी पूर्व शरीर को छोड़कर जब नवीन शरीर धारण करता है उस समय-उत्पन्न हुए बच्चे की अवस्था में-क्षुधा से पीड़ित हुआ पूर्वजन्म में अनेक बार किये हुए अभ्यस्त आहार को ग्रहण करके ही दुग्धपानादि में प्रवृत्ति करता है, क्योंकि इसके दुग्धपान में प्रवृत्ति और इच्छा बिना पूर्वजन्म सम्बन्धी अभ्यस्त आहार-स्मरण के कदापि नहीं हो सकती क्योंकि वर्तमान समय में जब यह प्राणी क्षुधा से पीड़ित होकर भोजन में प्रवृत्ति करता है उसमें पूर्व-दिन में किये हुए आहार सम्बन्धी-संस्कार से उत्पन्न हुआ स्मरण ही कारण है ॥१॥''

शरीर का स्वरूप-

भोगायतनं शरीरम्॥ ३३॥

अर्थ—जो शुभ-अशुभ भोगों का स्थान है वह शरीर है॥ ३३॥

हारीत[३] विद्वान् ने भी कहा है कि ''यह प्राणी शरीर से शुभ-अशुभ कर्म या उसके फल-सुख-दुःख को भोगता है इसलिए इस पृथ्वीतल पर जितने सुख-दुःख कहे गये हैं, उनका शरीर गृह-स्थान है ॥१॥

नास्तिक-दर्शन का स्वरूप-

ऐहिकव्यवहारप्रसाधनपरं लोकायतिकम्॥ ३४॥

अर्थ—जो केवल इस लोक सम्बन्धी कार्यों-मद्यपान और मांसभक्षण आदि का निरूपण करता है उसे नास्तिक-दर्शन कहते हैं।

---

१. उक्त सूत्र मु. और ह. लि. मू. प्रतियों से संकलन किया गया है, क्योंकि सं. टी. पु. में नहीं है।

२. तथा च गौतमः-
प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥१॥ गौतमसूत्र अ. ३. आ॰ १. सूत्र २२. वां।

३. तथा च हारीतः-
सुखदुःखानि यान्यत्र कीर्त्यन्ते धरणीतले। तेषां गृहं शरीरं तु यतः कर्माणि सेवते॥ १॥

गुरु[1]–नास्तिक मत के अनुयायी (मानने वाले) बृहस्पति-ने कहा है कि ''मनुष्य को जीवनपर्यन्त सुख से रहना चाहिए-इच्छानुकूल मद्यपान और मांसभक्षण आदि करते हुए सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिए–कोई भी मृत्यु से बच नहीं सकता। भस्म हुए शरीर का पुनरागमन-पुनर्जन्म कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥१॥

अग्नि में हवन करना, तीनों वेदों का पढ़ना, दीक्षा धारण करना, नग्न रहना और शिर मुड़ाना ये सब कार्य मूर्ख और आलसी पुरुषों के जीवन-निर्वाह के साधन हैं ॥२॥

अर्थ–धन कमाना और काम-विषयभोग-ये दो ही पुरुषार्थ-पुरुष के कर्त्तव्य हैं। शरीर ही आत्मा हैं इत्यादि।

भावार्थ–नास्तिक दर्शन उक्त प्रकार केवल इस लोक सम्बन्धी कार्यों का निर्देश करता है, वह पारलौकिक सत्कर्त्तव्यों-अहिंसा, परोपकार और सत्य आदि का निरूपण करने में असमर्थ होने के कारण शिष्ट पुरुषों के द्वारा उपेक्षणीय त्याज्य (छोड़ने योग्य) है॥ ३४॥

नास्तिक-दर्शन के ज्ञान से होने वाला राजा का लाभ–

लोकायतज्ञो हि राजा राष्ट्रकण्टकानुच्छेदयति ॥३५॥

अर्थ–जो राजा नास्तिक-दर्शन को भली-भाँति जानता है वह निश्चय से राष्ट्रकण्टकों-प्रजा को पीड़ित करने वाले जार-चोर आदि दुष्टों-को जड़-मूल से नष्ट कर देता है।

भावार्थ–यद्यपि नास्तिकों के सिद्धान्त को पढ़ ने से मनुष्यों के हृदय में क्रूरता-निर्दयता-उत्पन्न होती है एवं वे पारलौकिक सत्कर्त्तव्यों-दान-पुण्यादि- से पराङ्मुख हो जाते हैं; अतएव नास्तिक-दर्शन शिष्ट-पुरुषों के द्वारा त्याज्य-छोड़ने योग्य-होने पर भी राजा को उसका ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है; क्योंकि उससे उसके हृदय में निर्दयता उत्पन्न होती है जिससे वह राष्ट्र के कल्याण के लिए अपनी विशाल सैनिक-शक्ति से प्रजा-पीड़क और मर्यादा का उल्लंघन करने वाले जार-चौर आदि दुष्टों के मूलोच्छेद करने में समर्थ होता है और इसके फलस्वरूप वह अपने राष्ट्र को सुरक्षित एवं वृद्धिंगत करता है ॥३५॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो राजा देश को पीड़ित करने वाले दुष्टों पर दया का बर्ताव करता है उसका देश निस्सन्देह नष्ट हो जाता है इससे वह अपने राज्य को भी खो बैठता है ॥१॥''

---

१. तथा च गुरुः– यावज्जीवं सुखं जीवेत् नास्ति मृत्योरगोचरः। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥१॥
अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः प्रवृज्या नग्नमुण्डतां। बुद्धिपौरुषहीनानां जीवितेऽदो मतंगुरुः॥ २॥
अर्थकामावेव पुरुषार्थौ, देहएव आत्मा इत्यादि।

२. तथा च शुक्रः– दयां करोति यो राजा राष्ट्रसन्तापकारिणां। स राज्यभ्रंशमाप्नोति [राष्ट्रोच्छेदाद्यसंशयं] ॥१॥
नोट–उक्त श्लोक का चतुर्थ-चरण सं. टी. पुस्तक में 'राष्ट्रोच्छेदादिसंशयं' ऐसा अशुद्ध था जिससे अर्थ समन्वय ठीक नहीं होता था; अतः हमने उसे संशोधित एवं परिवर्तित करके अर्थ समन्वय किया है। –सम्पादक

मनुष्यों के कर्त्तव्य सर्वथा निर्दोष नहीं होते इसका निरूपण–

न खल्वेकान्ततो यतीनामप्यनवद्यास्ति क्रिया ॥३६॥

अर्थ—जितेन्द्रिय साधु महापुरुषों के भी कर्त्तव्य–अहिंसा और सत्य आदि–सर्वथा निर्दोष नहीं होते–उनके कर्त्तव्यों में भी कुछ न कुछ दोष पाया जाता है, पुनः साधारण पुरुषों के कर्त्तव्यों का तो कहना ही क्या है? अर्थात् उनके कर्त्तव्यों में दोष–त्रुटि–होना साधारण बात है ॥३६॥

वर्ग[१] विद्वान् ने भी कहा है कि ''साधुओं की क्रिया–अनुष्ठान–भी सर्वथा निर्दोष नहीं होती; क्योंकि वे भी अपने कर्त्तव्य से विचलित हो जाते हैं ॥१॥''

सर्वथा दया का बर्ताव करने वाले की हानि का निर्देश–

एकान्तेन कारुण्यपरः करतलगतमप्यर्थं रक्षितुं न क्षमः ॥३७॥

अर्थ—जो मनुष्य सदा केवल दया का बर्ताव करता है वह अपने हाथ में रखे हुए धन को भी बचा ने में समर्थ नहीं हो सकता ॥३७॥

शुक्र[२] विद्वान् ने भी कहा है कि ''राजा को साधु पुरुषों और दुःखी प्राणियों पर दया का बर्ताव करना चाहिए, परन्तु जो दुष्टों पर दया करता है वह अपने पास के धन को भी खो बैठता है ॥१॥''

सदा शान्त रहने वाले की हानि–

प्रशमैकचित्तं को नाम न परिभवति ? ॥३८॥

अर्थ—सदा शान्तचित्त रहने वाले मनुष्य का लोक में कौन पराभव–सताना और अनादर करना–नहीं करता ? अर्थात् सभी लोग उसका अनादर करते हैं ॥३८॥

भृगु[३] विद्वान् ने भी उक्त बात की पुष्टि की है ''कि जो मनुष्य सदा शान्तचित्त रहता है उसकी स्त्री भी कदापि उसके चरणों का प्रक्षाल नहीं करती ॥१॥''

राजा का कर्त्तव्य निर्देश–

अपराधकारिषु प्रशमो यतीनां भूषण न महीपतीनाम् ॥३९॥

---

१. तथा च वर्गः–अनवद्या सदा तावन्न खल्वेकान्ततः क्रिया। यतीनामपि विद्येत तेषामपि यतश्च्युतिः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः–दया साधुषु कर्त्तव्यां सीदमानेषु जन्तुषु। असाधुषु दया शुक्रः [स्ववित्तादपि भ्रश्यति] ॥१॥
नोट—उक्त श्लोक के चतुर्थ–चरण में 'स्वचित्तादपि भ्रश्यति' ऐसा अशुद्ध पाठ था जिससे अर्थ–समन्वये ठीक नहीं होता था, अतएव हमने उक्त संशोधन और परिवर्तन करके अर्थ–समन्वय किया है। –सम्पादक

३. तथा च भृगुः–
[सदा तु शान्तचित्तो यः पुरुषः सम्प्रजायते। तस्य भार्याऽपि नो पादौ प्रक्षालयति कर्हिचित् ॥१॥
नोट—उक्त श्लोक के प्रथम चरण में ''सदा तु शान्तचित्तस्य'' ऐसा अशुद्ध पाठ था उसे हमने संशोधित एवं परिवर्तित करके अर्थ–समन्वय किया है। –सम्पादक

अर्थ—अपराधियों-प्रजा-पीड़क दुष्टों-पर क्षमा धारण करना-उन्हें दंड न देना-यह साधु पुरुषों का भूषण-शोभा देने वाला- है, न कि राजाओं का। अतः दुष्टों का निग्रह करना-अपराध के अनुकूल दंड देना-राजा का मुख्य कर्त्तव्य है ॥३६॥

किसी नीतिकार[१] ने कहा है कि ''जो राजा दुष्टों का निग्रह करता है-उन्हें अपराध के अनुकूल दंड देता है-वह सुशोभित होता है-उसके राज्य की उन्नति होती है और जो दुष्टों के साथ क्षमा का बर्ताव करता है उसे महान् दूषण लगता है-उसका राज्य नष्ट हो जाता है ॥१॥''

जिससे मनुष्य निंद्य समझा जाता है उसका निरूपण-

धिक् तं पुरुषं यस्यात्मशक्त्या न स्तः कोपप्रसादौ ॥४०॥

अर्थ—जो मनुष्य अपनी शक्ति से क्रोध और प्रसन्नता नहीं करता उसको धिक्कार है-वह निंदा के योग्य है ॥४०॥

व्यास[२] विद्वान् ने भी कहा है कि ''उस राजा की प्रसन्नता निष्फल है-जो शिष्टों पर प्रसन्न हो करके भी उनका अनुग्रह नहीं करता एवं जिसका क्रोध भी निष्फल है-जो दुष्टों से क्रुद्ध हो करके भी उनका निग्रह नहीं करता-उसे प्रजा अपना स्वामी-राजा-नहीं मानती, जिस प्रकार स्त्रियाँ नपुंसक को पति नहीं मानतीं ॥१॥''

शत्रुओं का पराजय न करने वाले की कड़ी आलोचना-

स जीवन्नपि मृत एव यो न विक्रामति प्रतिकूलेषु ॥४१॥

अर्थ—जो व्यक्ति शत्रुओं में पराक्रम नहीं करता-उनका निग्रह नहीं करता-वह जीवित होता हुआ भी निश्चय से मरे हुए के समान हैं ॥४१॥

शुक्र[३] विद्वान् ने लिखा है कि ''जो राजा शत्रुओं में पराक्रम नहीं करता, वह लुहार की धोंकनी के समान साँस लेता हुआ भी जीवित नहीं माना जाता ॥१॥''

माघ[४] कवि ने भी कहा है कि ''जो मनुष्य लोक में शत्रुओं से किये गये तिरस्कार के दुःख से खिन्न-दुःखी-होता हुआ भी जीवित है, उसका जीवित रहना अच्छा नहीं-उसका मर जाना ही

---

१. तथा च कश्चिन् नीतिधित-
यो राजा निग्रहं कुर्यात् दुष्टेषु स विराजते। प्रसादे च यतस्तेषां तस्य तद्दूषणं परम् ॥१॥

२. तथा च व्यासः-
प्रसादो निष्फलो यस्य कोपश्चापि निरर्थक। न तं भर्तारमिच्छन्ति प्रजाः षण्ढमिव स्त्रियः ॥१॥

३. तथा च शुक्रः-
परिपन्थिषु यो राजा न करोति पराक्रमम्। स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥१॥

४. तथा च माघकविः-
मा जीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति। तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः ॥१॥

उत्तम है। उत्पत्ति आदि के समय माता को कष्ट देने वाले उस कायर मनुष्य की यदि उत्पत्ति ही नहीं होती तो अच्छा था ॥२॥''

पुनः पराक्रम-शून्य की हानि का निर्देश-

भस्मनीवं निस्तेजसि को नाम निःशङ्कः पदं न कुर्यात्[१] ॥४२॥

अर्थ—आश्चर्य है कि भस्म-राख-के समान तेज-शून्य-पराक्रम-हीन (सैनिक और खजाने की शक्ति से रहित) राजा को कौन मनुष्य निडर होकर पराजित करने तत्पर नहीं होता ? अर्थात् सभी लोग उसे पराजित करने तत्पर रहते हैं।

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि-शून्य केवल भस्म को साधारण व्यक्ति भी पैरों से ठुकरा देता हैं उसी प्रकार पराक्रम-शून्य-सैनिक और खजाने की शक्ति से रहित-राजा के साथ साधारण मनुष्य भी बगावत करने तत्पर हो जाता है।

शुक्र[२] विद्वान् ने भी कहा है कि ''अग्नि-रहित भस्म के समान पराक्रम-हीन राजा निडर हुए साधारण शत्रुओं के द्वारा पराजित कर दिया जाता है ॥५॥

निष्कर्ष—विजिगीषु राजा को अपनी राज्य-वृद्धि के लिए पराक्रमी-सैनिक और खजाने की शक्ति से सम्पन्न-होना चाहिए ॥४२॥

धर्म-प्रतिष्ठा का निरूपण-

तत् पापमपि न पापं यत्र महान् धर्मानुबंधः ॥४३॥

अर्थ—जिस कार्य-दुष्टनिग्रह-आदि- के करने में महान् धर्म-प्रजा का संरक्षण-आदि की प्राप्ति होती है वह बाह्य से पापरूप होकर के भी पाप नहीं समझा जाता किन्तु धर्म ही समझा जाता है। ॥४३॥

बादरायण[३] विद्वान् ने भी कहा है कि ''नैतिक पुरुष को अपने वंश की रक्षा के लिए अपना शरीर, ग्राम की रक्षा के लिए अपना वंश, देश की रक्षा के लिए ग्राम और अपनी रक्षा के लिए पृथिवी छोड़ देनी चाहिए ॥१॥

जो राजा पापियों का निग्रह करता है उससे उसे उत्कृष्ट धर्म की प्राप्ति होती है; क्योंकि उन्हें

---

१. भस्मनि वाऽतेजसे वा को नाम निःशङ्कं न दधाति पदम् ? इस प्रकार मु. और ह. लि. मूल-प्रतियों में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

२. तथा च शुक्रः-
शौर्येण रहितो राजा हीनैरप्यभिभूयते। भस्मराशिर्यथानग्निर्निशङ्कैः स्पृश्यतेऽरिभिः ॥१॥

३. तथा च बादरायणः-
त्यजेद्देहं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥१॥
पापानां निग्रहे राजा परं धर्ममवाप्नुयात्। न तेषां च वधबंधाद्यैस्तस्य पापं प्रजायते ॥२॥

वध और बंधन-आदि दंड देने से उसे पाप नहीं लगता ॥२॥''

दुष्ट-निग्रह न करने से हानि-

अन्यथा पुनर्नरकाय राज्यम्[१] ॥४४॥

अर्थ—जो राजा दुष्टों का निग्रह नहीं करता उसका राज्य उसे नरक ले जाता है।

भावार्थ—प्रजा के कंटक-अन्यायी-आततायियों का निग्रह न होने से उस राज्य की प्रजा सदा दुःखी रहती है; अतएव कायर राजा नरक का पात्र होता है ॥४४॥

हारीत[२] विद्वान् ने भी उक्त बात का समर्थन किया है कि ''जिस राजा की सैनिक-शक्ति शिथिल-कमजोर-होती है उसकी प्रजा दुष्टों के द्वारा पीड़ित की जाती है और उसके फलस्वरूप वह निस्सन्देह नरक जाता है ॥१॥''

राज्यपद का परिणाम-

बन्धनान्तो नियोगः॥ ४५॥

अर्थ—राज्याधिकार अन्त में बन्धन का कष्ट देता है ॥४५॥

गुरु[३] विद्वान् ने भी लिखा है कि ''जन्म के साथ मृत्यु, उन्नति के साथ अवनति-पतन, योग (ध्यान) के साथ नियोग-विचलित होना और राज्याधिकार के साथ बन्धन का दुःख लगा रहता है ॥१॥

दुष्टों की संगति से होने वाली हानि-

विपदन्ता खलमैत्री॥ ४६॥

अर्थ—दुष्टों की संगति अन्त में दुःख देने वाली है ॥४६॥

वल्लभदेव[४] विद्वान् ने भी कहा है कि ''पूज्य मनुष्य भी दुष्टों की संगति से पराभव-तिरस्कार-को प्राप्त होता है जिस प्रकार लोहे की संगति करने से अग्नि जबर्दस्त हथोड़ों से पीटी जाती है ॥१॥

स्त्रियों में विश्वास करने से हानि-

मरणान्तः स्त्रीषु विश्वासः॥ ४७॥

---

१. ''अन्यथा पुनर्नरकान्तं राज्यं'' ऐसा मु. और ह. लि. मू. प्रतियों में पाठ है परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं है।

२. तथा च हारीतः-
चौरादिभिर्जनो यस्य शैथिल्येन प्रपीड्यते। स्वयं तु नरकं याति स राजा नात्र संशयः ॥१॥

३. तथा च गुरुः-
न जन्म मृत्युना बाह्यं नोच्चैस्तु पतनं बिना। न नियोगच्युतो योगो नाधिकारोऽस्त्यबन्धनः ॥१॥

४. तथा च वल्लभदेवः-
असत्संगात् पराभूतिं याति पूज्योऽपि मानवः। लोहसंमाद्यतो वह्निस्ताड्यते सुघनेर्घनैः ॥१॥

अर्थ—स्त्रियों में विश्वास करने से अन्त में मृत्यु होती है ॥४७॥

विष्णुशर्मा[1] विद्वान् ने कहा है कि ''गरुड़ के द्वारा लिए जाने वाले पुण्डरीक नाम के नाग ने कहा है कि जो स्त्रियों के समक्ष अपनी गुप्त बात प्रकट करता है उसकी मृत्यु निश्चित है ॥१॥''

॥ इत्यान्वीचिकीसमुद्देशः॥

१. तथा च विष्णुशर्मा:–
नीयमानः खगेन्द्रेण नागः पौण्डरिकोऽब्रवीत्। स्त्रीणां गुह्यमारव्याति तदन्तं तस्य जीवितम् ॥१॥

(७) त्रयी-समुद्देशः

त्रयी-विद्या का स्वरूप-

चत्वारो वेदाः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिरिति षडङ्ग-नीतिहासपुराण-मीमांसा-न्याय-धर्मशास्त्रमिति चतुर्दशविद्यास्थानानि त्रयी ॥१॥

अर्थ—चार वेद हैं–प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग[1]।

उक्त वेदों के निम्न प्रकार ६ अंग हैं–इन छह अंगों के ज्ञान से उक्त चारों प्रकार के वेदों का ज्ञान

---

१. तथा चोक्तमार्षे:–

श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशाङ्गमकल्मषं। हिंसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक् ॥१॥

पुराणं धर्मशास्त्रं च तत्स्याद्वधनिषेधि यत्। वधोपदेशि यत्तत्तु ज्ञेयं धूर्तप्रणेतृकम् ॥१॥

आदिपुराणे भगवज्जिनसेनाचार्यः पर्व ३९, श्लोक २२-२३।

अर्थ—निर्दोष-अहिंसा धर्म का निरूपक आचाराङ्ग-आदि द्वादशाङ्ग श्रुत-शास्त्र-जो कि उक्त प्रथमानुयोग आदि ४ अनुयोगों में विभाजित है उसे 'वेद' कहते हैं, परन्तु प्राणि-हिंसा का समर्थक वाक्य 'वेद' नहीं कहा जा सकता उसे कृतान्त-वाणी समझनी चाहिए॥ १॥

इसी प्रकार जो प्राणि हिंसा के निषेध करने वाले शास्त्र हैं वे ही पुराण और धर्मशास्त्र कहे जा सकते हैं, परन्तु इसके विपरीत-जीव-हिंसा के समर्थक शास्त्रों-को धूर्तों की रचनाएँ समझनी चाहिए॥ २॥

तथा चोक्तमार्षे:–

ताश्च क्रियास्त्रिधाम्नाता श्रावकाध्यायसंग्रहे। सद्दृष्टिभिरनुष्ठेया महोदर्काः शुभावहाः ॥१॥

गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रियाः। कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधैवं बुधैर्मताः॥ २॥

आधानाद्यास्त्रिपंचाशत् ज्ञेयाः गर्भान्वयक्रियाः। चत्वारिंशदथाष्टौ च स्मृता दीक्षान्वयक्रियाः॥ ३॥

कर्त्रन्वयक्रियाश्चैव सप्त तज्ज्ञैः समुच्चिताः। तासां यथाक्रमं नामनिर्देशोऽयमनूद्यते॥ ४॥

आदिपुराणे भगवज्जिनसेनाचार्यः पर्व ३८ श्लोक ५० से ५३॥

अर्थात्–उपासकाध्ययन अंग में तीन प्रकार की क्रियाएँ-गर्भान्वय, दीक्षान्वय और कर्त्रन्वय क्रियाएँ (संस्कार) सम्यग्दृष्टियों द्वारा अनुष्ठान करने योग्य, उत्तम फल दात्री और कल्याण करने वाली विद्वानों द्वारा कहीं गई हैं ॥१-२॥

गर्भान्वय क्रियाओं के गर्भाधानादि ५३, दीन्नान्वय क्रियाओं के ४८ और कत्रन्वय क्रियाओं के ७ भेद गणधरों ने निरूपण किये हैं। उनके नाम अनुक्रम से कहे जाते हैं ॥३-४॥

निष्कर्ष—आदि पुराण के उक्त संस्कार-निरूपक प्रकरण को 'कल्प' कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें गर्भाधान संस्कार से लेकर मोक्षपर्यन्त धार्मिक संस्कारों का विशद विवेचन आचार्य श्री ने किया है।

हो सकता है।

१. शिक्षा २. कल्प ३. व्याकरण ४. निरुक्त ५. छन्द और ६. ज्योतिष।

१. शिक्षा—स्वर और व्यञ्जनादि वर्णों का शुद्ध उच्चारण और शुद्ध लेखन को बताने वाली विद्या को 'शिक्षा' कहते हैं।

२. कल्प—धार्मिक आचार-विचार या क्रियाकाण्डों गर्भाधान आदि संस्कारों के निरूपण करने वाले शास्त्र को 'कल्प' कहते हैं।

३. व्याकरण-जिससे भाषा का शुद्ध लिखना, पढ़ना और बोलने का बोध हो।

४. निरुक्त—यौगिक, रूढ़ि और योगरूढ़ि शब्दों के प्रकृति और प्रत्यय-आदि का विश्लेषण करके प्राकरणिक द्रव्यपर्यायात्मक या अनेक धर्मात्मक पदार्थ के निरूपण करने वाले शास्त्र को 'निरुक्त' कहते हैं।

५. छन्द—पद्यों-वर्णवृत्त और मात्रवृत्त छन्दों-के लक्ष्य और लक्षण के निर्देश करने वाले शास्त्र को 'छन्दशास्त्र' कहते हैं।

६. ज्योतिष—ग्रहों की गति और उससे विश्व के ऊपर होने वाले शुभ और अशुभ फलों को तथा प्रत्येक कार्य के सम्पादन के योग्य शुभ समय को बताने वाली विद्या को ज्योतिर्विद्या कहते हैं। इस प्रकार ये ६ वेदाङ्ग हैं।

इतिहास, पुराण, मीमांसा (विभिन्न और मौलिक सिद्धान्त बोधक वाक्यों पर शास्त्राविरुद्ध युक्तियों द्वारा विचार करके समीकरण करने वाली विद्या), न्याय (प्रमाण और नयों का विवेचन करने वाला शास्त्र) और धर्मशास्त्र (अहिंसा धर्म के पूर्ण तथा व्यवहारिक रूप को विवेचन करने वाला उपासकाध्ययन शास्त्र) उक्त १४ चौदह विद्यास्थानों को 'त्रयीविद्या कहते हैं ॥१॥

त्रयी-विद्या से होने वाले लाभ का निर्देश-

त्रयीतः खलु वर्णाश्रमाणां धर्माधर्मव्यवस्था ॥२॥

अर्थ—त्रयी-विद्या से समस्त वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा आश्रमों-ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति-में वर्तमान मनुष्यों के धर्म-अधर्म-कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य-का ज्ञान होता है ॥२॥

यशस्तिलकचम्पू में आचार्यश्री[1] ने त्रयी-विद्या के विषय में लिखा है कि जिस विद्या के द्वारा संसार का कारण जन्म, जरा और मृत्युरूप-त्रयी क्षय-नाश को प्राप्त हो उसे त्रयी-विद्या'' कहते हैं ॥१॥

निष्कर्ष—वर्ण-आश्रम में विभक्त जनता जब अपने-अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त

१. तथा च यशस्तिलके सोमदेवसूरिः–
जातिर्जरा मृतिः पुसां त्रयी संसृतिकारणं। एषा त्रयी यतस्त्रय्या क्षीयते स सा त्रयी मता ॥१॥

करके कर्त्तव्य में प्रवृत्त और अकर्त्तव्य से निवृत्त हो जाती है, तब वह जन्म, जरा और मृत्युरूप सांसारिक दु:खों से छुटकारा पा लेती है; अतः आचार्यश्री की उक्त मान्यता में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता ॥२॥

त्रयी-विद्या से लौकिक लाभ-

स्वपक्षानुरागप्रवृत्या सर्वे समवायिनो लोकव्यवहारेष्वधिक्रियन्ते॥ ३॥

अर्थ—समस्त वर्ण और आश्रमों में विभक्त प्रजा के लोग इस त्रयी-विद्या के द्वारा अपने-अपने सत्कर्त्तव्यों में प्रीतिपूर्वक प्रवृत्ति करने से नैतिक आचार-विचारों के परिपालन में प्रवृत्त किये जाते हैं ॥३॥

धर्मशास्त्र और स्मृतिग्रन्थों की प्रामाणिकता-निर्देश-

धर्मशास्त्राणि स्मृतयो वेदार्थसंग्रहाद्वेदा एव ॥४॥

अर्थ—धर्मशास्त्र-सिद्धान्तग्रन्थ और स्मृतियाँ-आचारशास्त्र-इन सब में उक्त द्वादशाङ्गरूप वेदों के पदार्थों का संकलन किया गया है; अतएव द्वादशाङ्ग श्रुत की तरह वे भी प्रमाणीभूत-सत्य-हैं ॥४॥

यशस्तिलक[१] में आचार्यश्री अन्य लौकिक शास्त्रों के विषय में भी अपनी उदार नीति का निरूपण करते हुए कहते हैं कि आर्हद्दर्शन के मानने वाले जैनों ने उन लौकिक समस्त आचार-विचारों को तथा वेद और स्मृति ग्रन्थों को उतने अंश में प्रमाण माना है जितने अंश में उनके सम्यक्त्व और चारित्र में बाधा नहीं आती-वे दूषित नहीं होते ॥१॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के समानधर्म कर्त्तव्य का निर्देश-

अध्ययनं यजनं दानं च विप्रक्षत्रियवैश्यानां समानो धर्मः ॥५॥

अर्थ—शास्त्रों का पढ़ना, देव, गुरु और धर्म की भक्ति, स्तुति और पूजा तथा पात्रदान करना ये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के समान धर्म-समान-कर्त्तव्य हैं॥ ५॥

नीतिकार कामन्दक[२] भी उक्त बात की पुष्टि करता है कि ''पूजा करना, शास्त्रों का पढ़ना और दान देना यह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का समान धर्म है ॥१॥

---

१. तथा च यशस्तिलके सोमदेवसूरिः-
सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः। यत्र सम्यक्स्वहानिर्न न यत्र व्रतदूषणम् ॥१॥
श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः इतिः॥ १/२॥

२. तथा चोक्तं कामन्दकेन-
इज्याध्ययनदानानि यथाशास्त्रं सनातनः। ब्राह्मणक्षत्रियविशां सामान्यो धर्म उच्यते।
कामन्दकीयनीतिसार पृ० १८ श्लोक १८।

हारीत[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''वेदों का अभ्यास, ईश्वर-भक्ति और यथाशक्ति दान करना यह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का साधारण धर्म कहा गया है ॥१॥''

द्विजातियों का निर्देशः-

त्रयो वर्णाः द्विजातयः ॥६॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों वर्ण द्विजाति कहे जाते हैं।

भावार्थ—उक्त तीनों वर्णों का शरीर-जन्म के सिवाय गर्भाधान-आदि संस्कारों से आत्म-जन्म भी होता है; अतएव आगम में इनको द्विजाति या द्विजन्मा कहा है ॥६॥

भगवज्जिनसेनाचार्य[2] ने भी कहा है कि एकबार गर्भ से और दूसरी बार गर्भाधान-आदि संस्कारों से इस प्रकार दो जन्मों से जो उत्पन्न हुआ हो उसे द्विजन्मा या द्विजाति कहते हैं, परन्तु जो उक्त गर्भाधानादि संस्कारों और उनमें प्रयोग किये जाने वाले मन्त्रों से शून्य-संस्कारहीन-है वह केवल नाममात्र से द्विज-ब्राह्मण है, वास्तविक नहीं ॥१॥

ब्राह्मणों के कर्त्तव्यों का विवरण-

अध्यापनं याजनं प्रतिग्रहो ब्राह्मणानामेव ॥७॥

अर्थ—ब्राह्मणों का ही धर्म-जीविकोपयोगी कर्त्तव्य-शास्त्रों का पढ़ाना, पूजा कराना और दान ग्रहण करना है ॥७॥

भगवज्जिनसेनाचार्य[3] ने भी कहा है कि शास्त्रों को पढ़ना, पढ़ाना, दान देना-लेना और ईश्वर की पूजा करना ये ब्राह्मणों के कर्त्तव्य हैं ॥३॥

नीतिकार कामन्दक[4] ने भी कहा है कि ईश्वर-भक्ति कराना, शास्त्रों का पढ़ाना और विशुद्ध-शिष्ट पुरुष से दान ग्रहण करना ये तीन प्रकार के ब्राह्मणों के जीविकोपयोगी कर्त्तव्य मुनियों ने कहे हैं ॥१॥

---

१. तथा च हारीतः-
वेदाभ्यासस्तथा यज्ञाः स्वशक्त्या दानमेव च। विप्रक्षत्रियवैश्यानां धर्मः साधारणः स्मृतः ॥१॥

२. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः-
द्विर्जातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः। क्रियामंत्रविहीनस्तु केवलं नामधारकः ॥१॥
आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक ४८।

३. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः- अधीत्यध्यापने दानं [जिघृक्षेज्येति तत्क्रियाः]१/२
आदिपुराण पर्व १६ श्लो. २४६

नोट—उक्त श्लोक का दूसरा चरण आदिपुराण में ''प्रतिक्ष्येज्येति तत्क्रियाः'' ऐसा अशुद्ध छपा हुआ था, जिससे अर्थसंगति ठीक नहीं होती थी, अतएव हमने उसे संशोधित और परिवर्तित करके लिखा है। -सम्पादक

४. तथा च कामन्दकः-
याजनाध्यापने शुद्ध विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः। वृत्तित्रयमिदं प्राहुर्मुनियो ज्येष्ठवणिनः ॥१॥ कामन्दकीय-नीतिसार।

भगवज्जिनसेनाचार्य[१] ने भी ब्राह्मणों के धार्मिक और जीविकोपयोगी कर्त्तव्यों का निम्न प्रकार निर्देश किया है कि महाराज भरत ने उपासकाध्ययन नाम के अंग के आधार से उन ब्राह्मणों के लिए देवपूजा, वार्ताविशुद्ध परिणाम से कृषि और व्यापार करना, पात्रों को दान देना, शास्त्र-स्वाध्याय, संयम-सदाचार और तपश्चर्या करना इन ६ छह सत्कर्त्तव्यों का उपदेश दिया है ॥१॥

हारीत[२] विद्वान् ने भी कहा है कि ''ईश्वरभक्ति करना-कराना, शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, दान देना-लेना ये ६ कर्त्तव्य ब्राह्मणों के हैं ॥१॥''

क्षत्रियों का कर्त्तव्यनिर्देश-

भूतसंरक्षणं शस्त्राजीवनं सत्पुरुषोपकारो दीनोद्धरणं रणेऽपलायनं चेति क्षत्रियाणाम् ॥८॥

अर्थ—प्राणियों की रक्षा करना, शस्त्र धारण करके जीवन-निर्वाह करना, शिष्ट पुरुषों की भलाई करना, अनाथ-अन्धे, लूले-लंगड़े और रोगी आदि दीन पुरुषों-का उद्धार करना और युद्ध से न भागना ये क्षत्रियों के कर्त्तव्य हैं।

पाराशर[३] विद्वान् ने भी कहा है कि ''क्षत्रिय वीर पुरुष को शस्त्र-धारण कर-उससे जीवन-निर्वाह करते हुए-सदा हिरणों की रक्षा, अनाथों का उद्धार और सज्जन पुरुषों की पूजा-भलाई-करनी चाहिए ॥१॥

भगवज्जिनसेनाचार्य[४] ने कहा है कि इतिहास के आदि काल में आदिब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव तीर्थंकर ने अपने हाथों में शस्त्र-धारण करने वाले क्षत्रिय वीर पुरुषों को अन्यायी (आततायी) दुष्ट पुरुषों से प्रजा की रक्षा करने के लिए नियुक्त किया था ॥१/२॥

भगवान् ऋषभदेव के राज्यशासन काल में क्षत्रिय लोग शस्त्रों से जीविका करने वाले-शस्त्र धारण कर सेना में प्रविष्ट होने वाले-हुए ॥१/२॥

---

१. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः-
इज्यां वार्ता (वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः) च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं (संयमो व्रतधारणं-आदिपुराणे) तपः। श्रुतोपासकसूत्रस्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥१॥ आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक २४।

२. तथा च हारीतः-
यजनं याजनं चैव पठनं पाठनं तथा। दानं प्रतिग्रहोपेतं षट्कर्माणि द्विजन्मनां ॥१॥

३. तथा च पाराशरः-
क्षत्रियेण मृगाः पाल्याः शस्त्रहस्तेन नित्यशः। अनाथोद्धरणं कार्यं साधूनां च प्रपूजनम् ॥१॥

४. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः-
क्षतत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः ॥१/२॥ क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वमनुभूय तदाऽभवन् ॥१/२॥
आदिपुराण पर्व १६।

विशद-विवेचन—

आचार्यश्री[1] ने यशस्तिलकचम्पू में लिखा है कि प्राणियों की रक्षा करना क्षत्रियों का महान् धर्म है परन्तु निरपराध प्राणियों के वध करने से वह नष्ट हो जाता है।

इसलिए जो युद्ध भूमि में लड़ाई करने में तत्पर हो अथवा जो राष्ट्र का कंटक-प्रजा को पीड़ा पहुँचाने वाला अन्यायी-दुष्ट-हो उसी के ऊपर क्षत्रिय वीर पुरुष शस्त्र उठाते हैं-उनका निग्रह करते हैं। गरीब, कमजोर और धार्मिक शिष्ट पुरुषों पर नहीं ॥१॥

अतएव निरर्थक जीव-हिंसा का त्याग करने के कारण क्षत्रिय वीर पुरुषों को जैनाचार्यों ने व्रती धार्मिक-माना है। इन्हीं क्षत्रिय वीर पुरुषों के वंश में अहिंसा धर्म के मूल-प्रवर्तक और उनके अनुयायी महापुरुषों का जन्म हुआ है; क्योंकि २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण और ९ बलभद्र ये ६३ शलाका-पुरुष क्षत्रिय थे इन सभी ने अपने-अपने राज्य शासन काल में उक्त क्षत्रियों के सत्कर्त्तव्यों -प्राणियों की रक्षा, शस्त्रधारण और शिष्टपालन आदि-का पालन किया था।

श्रीषेण राजा ने जिनदीक्षा धारण की प्रयाण-वेला में अपने युवराज वीरपुत्र श्रीवर्मा-चन्द्रप्रभ भगवान् की पूर्व पर्याय-को निम्न प्रकार क्षत्रियधर्म का उपदेश दिया था जिसे वीरनन्दि-आचार्य ने[2]

---

१. तथा च यशस्तिलके सोमदेवसूरिः-
मद्य-भूतसंरक्षणं हि क्षत्रियाणां महान् धर्मः, स च निरपराधप्राणिवधे निराकृतः स्यात्।
पद्य-यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्यात्। यः कण्टको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपा क्षिपन्ति। न दीनकानीनशुभाशयेषु ॥१॥

२. तथा च वीरनन्दि-आचार्यः-
भवानपास्तव्यसनो निजेन धाम्नाब्धिमर्यादमिमामिदानीम्।
महीमशेषामपहस्तितारिवर्गोदयः पालयतु प्रशान्तः॥१॥
यथा भवत्यभ्युदिते जनोऽयमानन्दमायातिं निरस्तखेदः।
सहस्ररश्मीव चक्रवाको वृत्तं तदेवाचर चारचतुः ॥२॥
वाञ्छग्विभूतीः परमप्रभावा मोद्वीविजस्त्वं जनमात्मनीनम्।
जनानुरागं प्रथमं हि तासां निबंधनं नीतिविदो वदन्ति ॥३॥
समागमो निर्व्यसनस्य राज्ञः स्यात् संपदां निर्व्यसनत्वमस्य।
वश्ये स्वकीये परिवार एव तस्मिन्नवश्थे व्यसनं गरीयः ॥४॥
विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपैहि पारम्।
गुणैरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः तमस्तमुद्वेजयते हि लोकम् ॥५॥
धर्माविरोधेन नयस्व वृद्धिं त्वमर्थकामौ कलिदोषमुक्तः।
युक्त्या त्रिवर्गे हि निषेवमाणो लोकद्वयं साधयति क्षितीशः ॥६॥
वृद्धानुमत्या सकलं स्वकार्ये सदा विधेहि प्रहतप्रमादः।
विनीयमानो गुरुणा हि नित्यं सुरेन्द्रलीलां लभते नरेन्द्रः ॥७॥

चन्द्रप्रभचरित्र में ललित और मनोहारिणी पद्य रचना में गुम्फित किया है प्राकरणिक और उपयुक्त होने के कारण उसका निर्देश करते हैं–

हे पुत्र! तुम विपत्ति-रहित या जितेन्द्रिय और शान्तशील होकर अपने तेज-सैनिक शक्ति और खजाने की शक्ति-से शत्रुओं के उदय को मिटाते हुए समुद्रपर्यन्त पृथ्वी-मंडल का पालन करो ॥१॥

जिस तरह सूर्य के उदय से चक्रवाक पक्षी प्रसन्न होते हैं उसी तरह जिसमें सब प्रजा तुम्हारे अभ्युदय से खेद-रहित-सूखी-हो, वही गुप्तचरों-जासूसों-के द्वारा देख-जानकर करो। ॥२॥

हे पुत्र! वैभव की इच्छा से तुम अपने हितैषी लोगों को पीड़ा मत पहुँचाना; क्योंकि नीति-विशारदों ने कहा है कि प्रजा को खुश रखना-अपने पर अनुरक्त बनाना अथवा प्रजा से प्रेम का व्यवहार करना-ही वैभव का मुख्य कारण है ॥३॥

जो राजा विपत्ति रहित होता है उसे नित्य ही सम्पत्ति प्राप्त होती है और जिस राजा का अपना परिवार वशवर्ती है, उसे कभी विपत्तियाँ नहीं होतीं। परिवार के वशवर्ती न होने से भारी विपत्ति का सामना करना पड़ता है ॥४॥

परिवार को अपने वश करने के लिए तुम कृतज्ञता-सद्गुण का सहारा लेना। कृतघ्न पुरुष में और सब गुण होने पर भी वह सब लोगों को विरोधी बना लेता है। ॥५॥

हे पुत्र! तुम कलि-दोष जो पापाचरण है उससे बचे रह कर 'धर्म' की रक्षा करते हुए 'अर्थ' और 'काम' को बढ़ाना। इस युक्ति से जो राजा त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ और काम-का सेवन करता है, वह इस लोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त करता है ॥६॥

सावधान रहकर सदा मंत्री-पुरोहित आदि बड़े ज्ञान-वृद्धों की सलाह से अपने कार्य करना। गुरु (एक पक्ष में उपाध्याय और दूसरे पक्ष में बृहस्पति) की शिक्षा प्राप्त करके ही नरेन्द्र सुरेन्द्र की शोभा या वैभव को प्राप्त होता है ॥७॥

प्रजा को पीड़ित करने वाले कर्मचारियों को दंड देकर और प्रजा के अनुकूल कर्मचारियों को

निगृह्णतो वाधकरान् प्रजानां भृत्यांस्ततोऽन्यान्नयतोऽभिवृद्धिम्।
कीर्तिस्तवाशेषदिगन्तराणि व्याप्नोतु स्तुतकीर्तनस्य॥८॥
कुर्याः सदा संवृतचित्तवृत्तिः फलानुमेयानि निजेहितानि।
गूढात्ममन्त्रः परमन्त्रभेदी भवत्यगम्यः पुरुषः परेषाम् ॥९॥
तेजस्विनः पूरयतोऽखिलाशा भूभृच्छिरःशेखरतां गतस्य।
दिनाधिपस्येव तवाऽपि भूयात् करप्रपातो भुवि निर्विवन्धः ॥१०॥
इति क्षितीशः सह शिक्षयासौ विश्राणयामास सुताय लक्ष्मीम्।
सोऽपि प्रतीयेष गुरुपरोधात् पितुः सुपुत्रो ह्यनुकूलवृत्तिः ॥११॥
चन्द्रप्रभचरिते वीरनन्दि-आचार्यः ४ था सर्ग श्लोक ३४ से ४४

दान-मानादि से तुम बढ़ाना। ऐसा करने से बन्दीजन तुम्हारा कीर्ति का कीर्तन करेंगे और उससे तुम्हारी कीर्ति दिग्दिगन्तर में व्याप्त हो जायेगी ॥८॥

तुम सदा अपनी चित्तवृत्ति-मानसिक अभिलषित कार्य-को छिपाये रखना। काम करने से पहले यह न प्रकट हो कि तुम क्या करना चाहते हो ? क्योंकि जो पुरुष अपने मन्त्र-सलाह- को छिपाये रखते हैं और शत्रुओं के मन्त्र को फोड़-फाड़कर जान लेते हैं वे शत्रुओं के लिए सदा अगम्य (न जीत ने योग्य) रहते हैं ॥९॥

जैसे सूर्य तेज से परिपूर्ण है और सब आशाओं-दिशाओं-को व्याप्त किये रहता है तथा भूभृत् जो पर्वत हैं उनके शिर का अलङ्कार रूप है उसके कर-किरणें-बाधाहीन होकर पृथ्वी पर पड़ती हैं, वैसे ही तुम भी तेजस्वी होकर सब की आशाओं को परिपूर्ण करो और भूभृत् जो राजा लोग हैं उनके सिर-ताज बनो, तुम्हारा कर-टेक्स-पृथ्वी पर बाधा हीन होकर प्राप्त हो -अनिवार्य हो ॥१०॥

इस प्रकार राजा ने उक्त नैतिक शिक्षा के साथ साम्राज्य-सम्पत्ति अपने पुत्र-श्रीवर्मा को दी। उसने भी पिता के अनुरूप से उसे स्वीकार किया। सुपुत्र वही है जो पिता के अनुकूल कार्य करे ॥११॥

निष्कर्ष—५ वें सूत्र में निर्दिष्ट-शास्त्रों का अध्ययन, ईश्वर-भक्ति और पात्रदान-के साथ-साथ उक्त प्राणि रक्षा आदि सत्कर्त्तव्य क्षत्रियों के जानने चाहिए ॥८॥

वैश्यों का धर्मनिर्देश-

वार्ताजीवनमावेशिकपूजनं सत्रप्रपापुण्यारामदयादानादिनिर्मापणं च विशाम्[१]॥९॥

अर्थ—वैश्यों का धर्म-खेती, पशुओं की रक्षा, व्यापार द्वारा जीवन-निर्वाह करना, निष्कपट भाव से ईश्वर की पूजा करना, सदा अन्न-वितरण करने के स्थान-सदावर्त्त-पानी पिलाने के स्थान-प्याऊ-बनवाना, अन्य पुण्य-कार्य-शिक्षा मन्दिर, कन्या-विद्यालय और विधवाश्रम आदि-बनाना, जनता के विहार के लिए बगीचे बनवाना और प्राणियों की रक्षा के लिए दानशालाएँ आदि स्थापित करना है।

भगवज्जिनसेनाचार्य[२] ने कहा है कि तीर्थंकरों-आदि की पूजा करना, विशुद्ध वृत्ति से खेती, पशुपालन और व्यापार द्वारा जीविका करना, पात्रदान, शास्त्र-स्वाध्याय, सदाचार-अहिंसा, सत्य,

---

१. पण्यवार्ताजीवनं वैश्यानाम्' ऐसा पाठ मु. और ह. लि. म. प्रतियों में है जिसका अर्थ-व्यापार, कृषि और गो-पालन द्वारा जीवन-निर्वाह करना ये वैश्यों के कर्त्तव्य हैं।

२. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः-
इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः। श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥१॥
वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपशुपाल्योपजीविनः ॥१/२॥ आदिपुराण से।

अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण तथा तपश्चर्या करना ये वैश्यों के कर्तव्य उपासकाध्ययन सूत्र के आधार से निर्दिष्ट किये गये हैं ॥५॥

वैश्यों का कर्त्तव्य कृषि, व्यापार और पशुपालन द्वारा जीवन-निर्वाह करना है ॥१/२॥

शुक्र[1] विद्वान् ने भी कहा है कि कृषि-खेती, गो-रक्षा, निष्कपट भाव से ईश्वर की पूजा करना आदि तथा अन्न बाँटने के स्थान-सदावर्त आदि बनवाना एवं अन्य पुण्यकार्य-दानशालाएँ संस्थापित-करना ये वैश्यों के कर्त्तव्य कहे गये हैं ॥१॥

निष्कर्ष—वैश्यों के उक्त कर्त्तव्यों में खेती, पशुपालन और व्यापार ये जीवन-निर्वाह में उपयोगी हैं एवं अन्य नैतिक और धार्मिक समझने चाहिए ॥६॥

शूद्रों के कर्त्तव्य-

त्रिवर्णोपजीवनं कारुकुशीलवकर्म पुण्यपुटवाहनं च शूद्राणां[2] ॥१०॥

अर्थ—शूद्रों का अपना धर्म-ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा-शुश्रूषा करना, शिल्पकला-चित्र कला आदि, गीत, नृत्य और वादित्र-गाना, नाचना और बजाना और भाट-चारण आदि का कार्य करना एवं भिक्षुकों की सेवा करना है ॥१०॥

पाराशर[3] विद्वान् ने भी कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों की सेवा-शुश्रूषा, शिल्पकला, गाने, नाचने और बजाने से जीविका करना और भिक्षुकों की सेवा करना एवं अन्य दान-पुण्यादि कार्य करना शूद्रों को विरुद्ध नहीं है ॥१॥

भगवज्जिनसेनाचार्य[4] ने भी कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन उत्तम वर्णों की सेवा-शुश्रूषा करना और शिल्पकला-चित्रकला-आदि से जीविका करना इत्यादि शूद्रों की जीविका अनेक प्रकार की निर्दिष्ट की गई है ॥३॥

प्रशस्त-उत्तम-शूद्रों का निरूपण-

सकृत् परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः ॥११॥

अर्थ—जिन के यहाँ कन्याओं का एकबार ही विवाह होता है-पुनर्विवाह नहीं होता-वे सत्-प्रशस्त (उत्तम) शूद्र कहे गये हैं।

---

१. तथा च शुक्रः-
कृषिकर्म गवां रक्षा यज्ञाद्यं दम्भवर्जितम्। पुण्यानि सत्रपूर्वाणि वैश्यवृत्तिरुदाहृता ॥१॥

२. ''कारुकुशीलवकर्म शकटोपवाहनं च शूद्राणां'' ऐसा पाठ मु. और ह. लि. मू. प्रतियों में वर्तमान है जिसका अर्थ-भिक्षुकों की सेवा के स्थान में बैल-गाड़ी से बोझा ढोकर जीविका करना यह विशेष है, बाकी पूर्ववत्।

३. तथा च पाराशरः-
वर्णत्रयस्य शुश्रूषा नीचचारणकर्म च। भिक्षूणां सेवनं पुण्यं शूद्राणां न विरुद्धवते ॥१॥

४. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः-
वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता ॥१/२॥ आदिपुराण पर्व १६

विमर्श—भगवज्जिनसेनाचार्य[1] ने शूद्रों के दो भेद किये हैं १. कारु २. अकारु। धोबी, नाई और चमार आदि कारु और उनसे भिन्न अकारु। कारु भी दो प्रकार के हैं १. स्पृश्य-स्पर्श करने योग्य और २. अस्पृश्य-स्पर्श करने के अयोग्य। प्रजा से अलग रहने वाले-चमार और भंगी आदि-अस्पृश्य और नाई वगैरह स्पृश्य कहे जाते हैं।

यद्यपि उक्त भेदों में सत्-शूद्रों का कहीं भी उल्लेख नहीं है, परन्तु आचार्यश्री का अभिप्राय यह है कि स्पृश्य-शूद्रों-नाई वगैरह- में से जिन में पुनर्विवाह नहीं होता उन्हें सत्-शूद्र समझना चाहिए।

क्योंकि पिंडशुद्धि के कारण उनमें योग्यता के अनुकूल धर्म धारण करने की पात्रता है ॥११॥

प्रशस्त शूद्रों में ईश्वरभक्ति-आदि की पात्रता-

आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शरीरी च विशुद्धिः।
करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम्[2] ॥१२॥

अर्थ—सदाचार का निर्दोष पालन-मद्यपान और मांस-भक्षणादि को त्यागकर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण इन पाँचों व्रतों का एकदेश-अणुव्रत रूप से-पालन करना, गृह के बर्तन और वस्त्रादिकों की शुद्धि-स्वच्छता और शारीरिक-शुद्धि-अहिंसा आदि व्रतों का पालनरूप प्रायश्चित्त विधि से शरीर को विशुद्ध करना ये सद्गुण प्रशस्त शूद्र को भी ईश्वर भक्ति तथा द्विज-ब्राह्मण और तपस्वियों की सेवा के योग्य बना देते हैं।

निष्कर्ष—उक्त ११वें सूत्र में आचार्यश्री ने प्रशस्तशूद्र का लक्षण-निर्देश किया था। १२वें सूत्र द्वारा निर्देश करते हैं कि उनमें उक्त आचार-विशुद्ध और गृह के उपकरणों की शुद्धि आदि का होना अनिवार्य है तभी वे ईश्वर, द्विजाति और तपस्वियों की सेवा के योग्य हो सकते हैं; अन्यथा नहीं। यह आचार्यश्री का अभिप्राय है ॥१२॥

चारायण[3] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि ''मकान के बर्तनों की शुद्धि, आचार की पवित्रता और शारीरिक शुद्धि ये गुण सत् शूद्र को भी देवादि की सेवा के योग्य बना देते हैं ॥१॥''

समस्त ब्राह्मणादि चारों वर्णों के समान धर्म का निर्देश-

आनृशंस्यममृषाभाषित्वं परस्वनिवृत्तिरिच्छानियमः प्रतिलोमाविवाहो[4] निषिद्धासु च स्त्रीषु ब्रह्मचर्यमिति सर्वेषां समानो धर्मः ॥१३॥

---

१. देखो आदिपुराण पर्व १६ या नीतिवाक्यामृत पृष्ट ६५ वां।
२. आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरूपस्करः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देव द्विजाति तपस्वि परिकर्मसु योग्यान्'' ऐसा पाठ मु. मू. पुस्तक में हैं परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं हैं।
३. तथा च चारायणः- गृहपात्राणि शुद्धानि व्यवहारः सुनिर्मलः। कायशुद्धिः करोत्येव योग्यं देवादिपूजने ॥१॥
४. 'प्रातिलोम्याविवाहो' ऐसा पाठ मु. मू. पुस्तक में है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

अर्थ—समस्त प्राणियों पर दया करना, सत्यभाषण, अचौर्य, इच्छाओं को रोकना, स्वजाति में गोत्र को टालकर विवाह संबंध और परस्त्रियों में ब्रह्मचर्य—मातृ-भगिनी-भाव यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों का समान धर्म है ॥१३॥

भागुरि[1] विद्वान् ने लिखा है कि ''समस्त प्राणियों में दया का बर्ताव, सत्य बोलना, चोरी का त्याग, इच्छाओं का नियम (रोकना), स्वजाति में विवाह करना और परस्त्री सेवन का त्याग करना यह समस्त वर्णों का कल्याण करने वाला समान धर्म है ॥१॥''

साधारण धर्म तथा विशेष धर्म का निर्देश—

आदित्यावलोकनवत् धर्मः खलु सर्वसाधारणो विशेषानुष्ठाने तु नियमः ॥१४॥

अर्थ—पूर्वोक्त साधारण धर्म-अहिंसा, सत्य और अचौर्य-आदि-सूर्य के देखने की तरह समस्त वर्णों का समान है—जिस प्रकार सूर्य का दर्शन सभी वर्णों के लोग करते हैं, उसी प्रकार उक्त धर्म भी सभी वर्णों के मनुष्यों को समान रूप से पालन करना चाहिए, परन्तु प्रत्येक वर्ण और आश्रम के विशेष कर्त्तव्य भिन्न-भिन्न कहे गये हैं।

नारद[2] विद्वान् ने लिखा है कि ''महर्षियों ने जिस वर्ण के जो कर्त्तव्य निर्देश किये हैं उन्हें उस वर्ण वाले को पालन करना चाहिए। केवल सर्वसाधारण धर्म का पालन करके ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए ॥१॥''

निष्कर्ष—अहिंसा और सत्य-आदि साधारण धर्म सभी वर्ण वाले पुरुषों को पालन करना चाहिए, परन्तु विशेष धर्म में यह बात समझनी चाहिए कि शास्त्रकारों ने जिस वर्ण या जिस आश्रम के जो-जो विशेष कर्त्तव्य बताये हैं वे कर्त्तव्य उस वर्ण और उस आश्रम को विधेय-पाल ने योग्य हैं, अन्य को नहीं ॥१४॥

साधुओं का कर्त्तव्य—

निजागमोक्तमनुष्ठानं यतीनां स्वो धर्मः ॥१५॥

अर्थ—अपने शास्त्र-आचारशास्त्र-में कहे हुए कर्त्तव्यों का पालन करना मुनियों का अपना धर्म है ॥१५॥

चारायण[3] विद्वान् ने लिखा है कि अपने आगम में कहे हुए कर्त्तव्यों का पालन करना साधुओं

---

१. तथा च भागुरिः—
दयां सत्यमचौर्यं च नियमः स्वविवाहकम्। असतीवर्जनं कार्यं [धर्मः सार्वः प्रकीर्तितः] ॥१॥
नोट—उक्त श्लोक के चतुर्थचरण में ''धर्मैः सर्वैः रितौरतां'' ऐसा अशुद्ध पाठ सं. टी. पु. में था उसे हमने उक्त नवीन पद्य रचना करके संशोधित एवं परिवर्तित किया है। —सम्पादक

२. तथा च नारदः— यस्य वर्णस्य यत् प्रोक्तमनुष्ठानं महर्षिभिः। तत्कर्त्तव्यं विशेषोऽयं तुल्यधर्मो न केवलं ॥१॥

३. तथा च चारायणः— स्वागमोक्तमनुष्ठानं यत् स धर्मो निजः स्मृतः। लिङ्गिनामेव सर्वेषां योऽन्यः सोऽधर्मलक्षणः ॥१॥

का धर्म कहा गया है, इससे भिन्न अधर्म है ॥१॥

कर्त्तव्य-च्युत होने पर साधु का कर्त्तव्य-

स्वधर्मव्यतिक्रमेण यतीनां स्वागमोक्तं प्रायश्चित्तम्[१] ॥१६॥

अर्थ—यदि मुनि लोग अपने कर्त्तव्य से च्युत हों तो उन्हें अपने आगम-प्रायश्चित्त-शास्त्र में कहा हुआ प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए ॥१६॥

अभीष्ट-देव की प्रतिष्ठा का निर्देश-

यो यस्य देवस्य भवेच्छ्रद्धावान् स तं देव प्रतिष्ठापयेत्[२] ॥१७॥

अर्थ—जो मनुष्य जिस देव में श्रद्धायुक्त है उसे उसकी प्रतिष्ठा-उपासना-करनी चाहिए?[३]।

विमर्श—यद्यपि आराध्य देव के विषय में कही हुई उक्त बात राजनैतिक उदार दृष्टि-कोण से अनुकूल होने पर भी धर्म-नीति से कुछ असम्बद्ध-आर्हद्दर्शन से प्रतिकूल (विरुद्ध) प्रतीत होती है; क्योंकि इसमें आराध्य-प्रज्य-देव के वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी आदि सद्गुणों की उपेक्षा की गई है। परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि आचार्यश्री ने आगे दिवसानुष्ठान समुद्देश के ६६वें सूत्र ''क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषो देवः'' में स्पष्टीकरण किया है, कि ऐसे पुरुष श्रेष्ठ को देव-ईश्वर-कहते हैं, जो कि समस्त प्रकार के जन्म, जरा और मरणादि दुःखों से, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों से तथा इन कर्मों के उदय से होने वाले राग, द्वेष और मोह-आदि भाव कर्मों से एवं पापकर्मों की कालिमा से रहित हो और सर्वज्ञ तथा संसार को दुःख समुद्र से उद्धार करने वाला हो।

एवं यशस्तिलक चम्पू[४] में भी आचार्यश्री ने लिखा है कि आप्त-ईश्वर-के स्वरूप को जानने

---

१. ''धर्मव्यतिक्रमे यतीनां निजागमोक्रमेव प्रायश्चित्तम्'' ऐसा मु. मू., पुस्तक में पाठ हैं परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

२. यो यस्मिन् देवे श्रद्धावान् स खलु तं देवं प्रतिष्ठापयेत्'' ऐसा मु. मू. और ह. लि. मू. प्रतियों में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

३. आचार्यश्री ने यह बात अपने राजनैतिक उदार दृष्टिकोण से कही है कि जिस वर्ण का व्यक्ति जिस देव में श्रद्धा रखता है उसे उसकी उपासना करनी चाहिए। ऐसा होने से उदार-दृष्टियुक्त राजा के द्वारा प्रजा वर्ग के किसी व्यक्ति को ठेस नहीं पहुँच सकती।

४. सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम्। सर्वसत्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः ॥१॥
ज्ञानवन्मृग्यते कैश्चित्तदुक्तं प्रतिपद्यते। अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥२॥
यस्तत्त्वदेशनाद्दुःखवार्धेरुद्धरते जगत्। कथं न सर्वलोकेशः प्रह्वीभूतजगत्त्रयः ॥३॥
क्षुत्पिपासा भयं दोषश्चिन्तनं मूढ़तागमः। रागो जरा रुजा मृत्युः क्रोधः स्वेदो मदो रतिः ॥४॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः। त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥५॥
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्त : सोऽयमाप्तो निरञ्जनः। स एव हेतुः सूक्तीनां केवलज्ञानलोचनः ॥६॥
यशस्तिलके सोमदेवसूरिः-आ० ६

में प्रवीण शास्त्रकारों ने कहा है कि जो सर्वज्ञ, सर्व लोक का ईश्वर-संसार का दुःख समुद्र से उद्धार करने वाला-क्षुधा और तृषा आदि १८ दोषों से रहित (वीतराग) एवं समस्त प्राणियों को मोक्षमार्ग का प्रत्यक्ष उपदेश करने वाला है ऐसे तीर्थंकर प्रभु को सत्यार्थ 'ईश्वर' कहते हैं ॥१॥

आराध्य ईश्वर का सर्वज्ञ होना नितान्त आवश्यक है; क्योंकि यदि अज्ञ-मूर्ख-मोक्षमार्ग का उपदेश देगा, तो उसके वचनों में अनेक प्रकार के विरोध-आदि दोष होंगे। इसलिए इससे भयभीत सज्जन पुरुष ज्ञानवान वक्ता की खोज करते हैं एवं उसके द्वारा कहे हुए वचनों को प्रमाण मानते हैं ॥२॥

जो तीर्थंकर प्रभु मोक्षोपयोगी तत्त्वदेशना से संसार के प्राणियों का दुःख-समुद्र से उद्धार करते हैं; इसलिए जिसके चरण कमलों में तीनों लोकों के प्राणी नम्र हो गये हैं वह सर्वलोक का ईश्वर क्यों नहीं है ? अवश्य है ॥३॥

क्षुधा, पिपासा, भय, द्वेष, चिन्ता, अज्ञान, राग, जरा, रोग, मृत्यु, क्रोध, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और विषाद ये १८ दोष संसार के समस्त प्राणियों में समान रीति से पाये जाते हैं, अतः इन १८ दोषों से रहित निरञ्जन-पापकर्मों की कालिमा से रहित (विशुद्ध) और केवलज्ञानरूप नेत्र से युक्त (सर्वज्ञ) तीर्थंकर ही आप्त हो सकता है एवं वही द्वादशाङ्ग शास्त्रों का वक्ता हो सकता है ॥४-५-६। उक्त असाधारण सद्गुण ऋषभादि-महावीरपर्यन्त तीर्थंकरों में वर्तमान हैं; अतएव आचार्यश्री के उक्त प्रमाणों से हम इस तथ्य पर पहुँचे हैं कि उक्त ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त चतुर्विंशति-२४ तीर्थंकरों में से जो मनुष्य जिस तीर्थंकर में श्रद्धा रखता है उसे उसकी प्रतिष्ठा-भक्ति, पूजा या उपासना करनी चाहिए ऐसा आचार्यश्री का अभिप्राय है ॥१७॥

बिना भक्ति के उपासना किये हुए देव से हानि-

अभक्त्या पूजोपचारः सद्यः शापाय[1] ॥१८॥

अर्थ-श्रद्धा के बिना की हुई ईश्वर-भक्ति तत्काल अनिष्ट करने वाली होती है।

भावार्थ-जिस प्रकार बिना श्रद्धा के सेवन की हुई औषधि अरोग्यता न करके उल्टी बीमारी को बढ़ाती है, उसी प्रकार बिना श्रद्धा के उपासना किया हुआ देव भी अनिष्ट कारक होता है। क्योंकि उससे भक्त के मानसिक-क्षेत्र में विशुद्ध भावनाओं का बीजारोपण नहीं होता अतः उसे कोई लाभ नहीं होता ॥१८॥

वर्ण-आश्रम के लोगों के कर्त्तव्य-च्युत होने पर उनकी शुद्धि का निर्देश-

वर्णाश्रमाणां स्वाचारप्रच्यवने[2] त्रयीतो विशुद्धिः ॥१९॥

---

१. अभक्तैः कृतः पूजोपचारः सद्यः शापाय भवति'' ऐसा मु. मू. प्रति में पाठ है परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

२. 'स्वाचारप्रच्युतौ' ऐसा मु. मू. पुस्तक में पाठ है अर्थ भेद कुछ नहीं।

अर्थ—जब ब्राह्मण-आदि वर्णों के तथा ब्रह्मचारी और गृही-आदि आश्रमों के मनुष्य अपने-अपने धर्मकर्त्तव्य-से विचलित होने लगें तो उनको अपने-अपने धर्मशास्त्र-आचारशास्त्र-सम्बन्धी प्रायश्चित्त विधान द्वारा अपनी विशुद्धि कर लेनी चाहिए ॥१६॥

राजा और प्रजा को त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति का उपाय-

स्वधर्माऽसंकरः प्रजानां राजानं त्रिवर्गेणोपसन्धत्ते[1] ॥२०॥

अर्थ—जिस राज्य में अपने धर्म का संकर एक वर्ण वाले मनुष्यों के धर्म में दूसरे वर्ण वाले मनुष्यों के धर्म का मिश्रण (मिलावट) नहीं होता अर्थात् समस्त ब्राह्मणादि वर्णों के मनुष्य अपने-अपने धर्म का पालन स्वतन्त्र रीति से करते हैं, वहाँ राजा और प्रजा के लोग धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों से अलंकृत होते हैं ॥२०॥

नारद[2] विद्वान् ने लिखा है कि ''जिसके राज्य में प्रजा के धर्म में वर्ण संकरता-एक वर्ण वाले के कर्त्तव्य में दूसरे वर्ण वाले के कर्त्तव्यों की मिलावट-नहीं है, उसको धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं ॥१॥''

कर्त्तव्य-च्युत राजा की कड़ी आलोचना-

स किं राजा यो न रक्षति प्रजाः ॥२१॥

अर्थ—जो अपनी प्रजा की रक्षा-पालन नहीं करता, वह राजा निंद्य है।

व्यास[3] विद्वान् ने भी लिखा है कि ''जो राजा विषयभोगों में आसक्त होकर अपनी प्रजा का पालन भलीभाँति नहीं करता, वह राजा नहीं किन्तु कायर पुरुष है ॥१॥

निष्कर्ष—राजा को अपनी प्रजा की रक्षा भलीभाँति करनी चाहिए ॥२१॥

अपने-अपने धर्म का उल्लंघन करने वालों के साथ राजा का कर्तव्य-

स्वधर्ममतिक्रामतां सर्वेषां पार्थिवो गुरुः ॥२२॥

अर्थ—यदि ब्राह्मण-आदि वर्ण और ब्रह्मचारी आदि आश्रम के सब लोग अपने-अपने धर्म का उल्लंघन करने लगें उस समय उनको रोकने के लिए राजा ही समर्थ होता है ॥२२॥

भृगु[4] विद्वान् ने लिखा है कि ''जिस प्रकार महावत उन्मत्त हाथी को अंकुश की शक्ति से उन्मार्ग पर जाने से रोक लेता है उसी प्रकार राजा भी लोगों को उन्मार्ग पर जाने से रोक लेता है-दंड शक्ति से उन्हें अपने धर्म पर आरूढ़ कर देता है ॥१॥

१. ''स्वस्वधर्माऽसङ्करः प्रजां राजानं च त्रिवर्गेणोपसन्धत्ते'' ऐसा मु. मू. पुस्तक में पाठ है परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं। -सम्पादक
२. तथा च नारदः- न भूयाद्यत्र देशे तु प्रजानां वर्णसंकरः। तत्र धर्मार्थकामं च भूपतेः सम्प्रजायते ॥१॥
३. तथा च व्यासः- यो न राजा प्रजाः सम्यग्भोगासक्तः प्ररक्षति। स राजा नैव राजा स्यात् स च कापुरुषः स्मृतः ॥१॥
४. तथा च भृगुः-उन्मत्तं यथा नाम महामन्तो निवारयेत्। उन्मार्गेण प्रगच्छन्तं तद्वच्चैव जनं नृपः ॥१॥

प्रजा का पालन करने वाले राजा का धार्मिक लाभ–

परिपालको हि राजा सर्वेषां धर्मषष्ठांशमवाप्नोति[१] ॥२३॥

अर्थ–जो राजा समस्त वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा करता है वह उस धर्म के छठे भाग के फल को प्राप्त होता है ॥२३॥

मनु[२] विद्वान् ने लिखा है कि ''जो राजा समस्त वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा करता है–उसे नष्ट होने से बचा लेता है–वह उस धर्म के छठवें अंश के फल को निस्संदेह प्राप्त होता है ॥१॥''

अन्यमतों के तपस्वियों द्वारा राजा का सम्मान–

यदाह वैवस्वतो मनुः[३]

''उञ्छषड्भागप्रदानेन वनस्था अपि तपस्विनो राजानं सम्भावयन्ति ॥२४॥

तस्यैव तद्भूयात् यस्तान् गोपायति'' इति॥ २५॥

अर्थ–वैवस्वतमनु[४] हिन्दू धर्म का शास्त्रकार–ने कहा है कि वनवासी तपस्वी लोग भी जो कि स्वामी हित एवं निर्जन पर्वत-आदि प्रदेशों में वर्तमान धान्यादि के कणों से अपना जीवन-निर्वाह करते हैं, राजा को अपने द्वारा संचित धान्य-कणों का छठवाँ भाग देकर अपने द्वारा किये हुए तप के छठवें भाग से उसकी उन्नति की कामना करते हैं, एवं अपनी क्रिया के अनुष्ठान के समय यह संकल्प करते हैं कि ''जो राजा तपस्वियों की रक्षा करता है उसको ही हमारे द्वारा आचरण किया हुआ तप या उसका फल प्राप्त होवे''।

भावार्थ–वैष्णव सम्प्रदाय के तपस्वी गण भी न्यायवान राजा की उन्नति के इच्छुक होते हैं। जिसके फलस्वरूप वे स्वसंचित धान्य कणों का छठवां हिस्सा राजा को देकर संकल्प करते हैं कि जिस की छत्रछाया में हम लोगों का संरक्षण होता है उसे हमारी तपश्चर्या का फल प्राप्त हो ॥२४-२५॥

कौन वस्तु इष्ट है ? और कौन अनिष्ट है ? इसका निर्णय–

तदमंगलमपि नामंगलं यत्रास्यात्मनो भक्तिः ॥२६॥

अर्थ–जिस पदार्थ में जिसे प्रेम होता है, वह अनिष्ट-अमंगलीक (अशुभ) होने पर भी उसके लिए इष्ट-मंगलीक है।

---

१. ''परिपाल को हि राजा सर्वेषां धर्माणां षष्ठांशमाप्नोति'' ऐसा मु. मू. पुस्तक में पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

२. तथा च मनुः–वर्णाश्रमाणां यो धर्मं नश्यन्तं च प्ररक्षति। षष्ठांशं तस्य धर्मस्य स प्राप्नोति न संशयः ॥१॥

३ 'यदाह वैवस्वतो मनुः' यह पाठ सं. टी. पुस्तक में नहीं है, किन्तु मु. और मू. प्रतियों से संकलन किया गया है।

४. नोट–हिन्दू धर्म की मान्यता के अनुसार १४ मनु होते हैं उनमें से ७ वां वैवस्वत मनु है? जिसका आचार्यश्री ने उल्लेख किया है। –सम्पादक

भावार्थ—उदाहरण में लूला-काणा व्यक्ति कार्य के आरम्भ में अमंगलीक समझा जाता है, परन्तु जो उससे प्रेम रखता है वह उसके लिए इष्ट ही है।

भागुरि[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो पदार्थ जिसके लिए प्रिय है वह अप्रिय होने पर भी यदि उसके कार्य के आरम्भ में प्राप्त हो जावे, तो इष्ट समझा जाता है, क्योंकि उससे उसके कार्य की सिद्धि हो जाती है ॥१॥''

निष्कर्ष—जो पदार्थ जिसके मन को प्रमुदित-हर्षित या संतुष्ट करते हैं वे उसके लिए मंगलीक हैं ॥२६॥

मनुष्यों के कर्तव्य का निर्देश–

संन्यस्ताग्निपरिग्रहानुपासीत ॥२७॥

अर्थ—मनुष्य को साधु महात्माओं एवं विद्वान् गृहस्थाचार्यों की उपासना-सेवा करनी चाहिए।

भावार्थ—साधु महात्मा और विद्वान् गृहस्थाचार्य बड़े सदाचारी, स्वार्थत्यागी और बहुश्रुत विद्वान् होते हैं; अतएव इनकी सेवा-भक्ति-से मनुष्य गुणवान् एवं पारत्रिक कल्याण का पात्र हो जाता है ॥२७॥

बल्लभदेव[2] विद्वान् ने लिखा है कि ''मनुष्य जिस प्रकार के पुरुषों के वचनों को सुनता है और जैसों की सेवा और संगति करता है, वैसी ही प्रवृत्ति करने लग जाता है, अतएव नैतिक मनुष्य को साधु पुरुषों की सेवा करनी चाहिए ॥१॥''

स्नान किये हुए मनुष्य का कर्तव्य–

स्नात्वा प्राग्देवोपासनान्न कंचन स्पृशेत् ॥२८॥

अर्थ—मनुष्य को स्नान करके ईश्वर भक्ति करनी चाहिए, उसके पहले उसे किसी अस्पृश्य-न छूने लायक-वस्तु का स्पर्श नहीं करना चाहिए ॥२८॥

वर्ग[3] विद्वान् ने लिखा है कि ''मनुष्य को स्नान करने के पश्चात् ईश्वर भक्ति और अग्नि में हवन करना चाहिए, पश्चात् यथा शक्ति दान देकर भोजन करना चाहिए ॥१॥''

गृहस्थ को मन्दिर में क्या करना चाहिए ? उसका विवरण–

देवागारे गतः सर्वान् यतीनात्मसम्बन्धिनीर्जरतीःपश्येत् ॥२९॥

अर्थ—मनुष्यों को मन्दिर में जाकर ईश्वरभक्ति के पश्चात् समस्त साधुजनों और वयोवृद्ध कुलस्त्रियों को यथायोग्य नमस्कार करना चाहिए ॥२९॥

---

१. तथा च भागुरिः–यद्यस्य वल्लभं वस्तु तच्चेदग्रे प्रयास्यति। कृत्यारम्भेषु तत्तस्य सुनिन्द्यमपि सिद्धिदम् ॥१॥

२. तथी च बल्लभदेवः–यादृक्षाणां श्रृणोत्यत्र यादृक्षांश्चावसेवते। तादृक्चेष्टो भवेन्मर्यस्तस्मात् साधून् समाश्रयेत्।

३. तथा च वर्गः–स्नात्वा त्वभ्यर्चयेद् देवान् वैश्वानरमतः परं। ततो दानं यथाशक्त्या दत्वा भोजनमाचरेत् ॥१॥

हारीत[१] विद्वान् ने कहा है कि "मनुष्य मन्दिर में प्रविष्ट होकर उसमें वर्तमान साधुओं कों तथा वृद्ध कुलस्त्रियों को भक्तिपूर्वक नमस्कार करे ॥१॥

पूर्वोक्त सिद्धान्त का समर्थन करने वाली दृष्टान्तमाला–

देवाकारोपेतः पाषाणोऽपि नावमन्येत तत्किं पुनर्मनुष्यः ? राजशासनस्य मृत्तिकायामिव लिंगिषु को नाम विचारो यतः स्वयं मलिनो खलः प्रवर्धयत्येव क्षीरं धेनूनां, न खलु परेषामाचारः स्वस्य पुण्यमारभते किन्तु मनोविशुद्धिः ॥३०॥

अर्थ–ईश्वर के आकार को प्राप्त हुआ पाषाण-प्रतिष्ठित देवमूर्ति-भी जब तिरस्कार करने योग्य नहीं है तो क्या मनुष्य तिरस्कार करने योग्य है ? अर्थात् नहीं है।

भावार्थ–जिस प्रकार प्रतिष्ठित देवमूर्ति की भक्ति की जाती है उसी प्रकार नैतिक मनुष्य को गुणी पुरुषों की यथा योग्य विनय-सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए।

राजा की मिट्टी की मूर्ति के समान नैतिक मनुष्य को साधुजनों के वेश में विचार नहीं करना चाहिए–उनके बाह्य मलिन वेष पर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए-ध्यान नहीं देना चाहिए।

भावार्थ–जिस प्रकार राजा की मूर्ति में मिट्टी और मलिनता-आदि का विचार न करके प्रजाजनों को उसकी आज्ञा का पालन अनिवार्य और आवश्यक है, उसी प्रकार नैतिक और धार्मिक व्यक्ति को साधु महापुरुषों के बाह्य मलिन वेष पर विचार न करके उनके त्याग, तपश्चर्या, सदाचार और बहुश्रुत विद्वत्ता आदि सद्गुणों से लाभ उठाना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि तिल्ली आदि का खल मलिन-काला होने पर भी गायों को खिलाये जाने पर उनके दूध की वृद्धि करता है, उसी प्रकार राजा का शासन आज्ञा-मलिन-कठोर होने के कारण राजसिक भावों से युक्त-होने पर भी वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा का स्थापनरूप विशुद्ध कार्य को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार साधु का मलिन बाह्य वेष भी मानसिक विशुद्धि का कारण होने से पुण्य कार्य को उत्पन्न करता है-प्रसन्न मन से उपासना किये गये साधुजन भी हमारे पुण्य की वृद्धि करने में समर्थ होते हैं। -

क्योंकि दूसरों का आचार-बाह्य साफ-सुथरा रहन-सहन आदि-हमारे पुण्य को उत्पन्न नहीं करता किन्तु मानसिक विशुद्धि से वास्तविक शुक्ल पुण्य का बंध होता है ॥३०॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वणिक् और कृषकों की प्रकृति-स्वभाव का क्रमशः निरूपण–

दानादिप्रकृतिः प्रायेण ब्राह्मणानाम्[२] ॥३१॥

---

१. तथा च हारीतः–[देवायतने च गत्वा] सर्वान् पश्येत् स्वभक्रितः। तन्नाश्रितान् यतीन् पश्चात्ततो वृद्धाः कुलस्त्रियः ॥१॥
नोट–उक्त पद्य-श्लोक-का प्रथम चरण अशुद्ध था अतः "देवायतने च गत्वा" इस प्रकार संशोधित कर दिया गया है। –सम्पादक

२. उक्त सूत्र मु. मू. पुस्तक से संकलन किया गया है, सं. टी. पुस्तक में तथा गवर्न. लायब्रेरी पूना की ह. लि. मू. प्रति में "दीना हि प्रकृतिः प्रायेण ब्राह्मणानाम्" ऐसा पाठ है जिसका अर्थ–निश्चय से प्रायः करके–अधिकता से–ब्राह्मणों का स्वभाव दीन-सीधा-साधा (छल-कपट-आदि से रहित) होता है।

बलात्कारस्वभावः क्षत्रियाणाम् ॥३२॥

निसर्गतः शाठ्यं किरातानाम्[१] ॥३३॥

ऋजुवक्रशीलता सहजा कृषीवलानाम् ३४॥

अर्थ—ब्राह्मणों का स्वभाव प्रायः करके दान की अपेक्षा करना, ईश्वर-आदि की पूजन करना और पढ़ना-पढ़ाना आदि का होता है। अथवा दान-शुद्धि, दया और दाक्षिण्य-आदि करने का होता है।

विमर्श—'दान' शब्द 'दैप् शोधने' धातु से निष्पन्न होने के कारण शुद्धि को तथा दानार्थक 'दा' के धातु से निष्पन्न होने से दान को भी कहता है; अतः उक्त दोनों अर्थ होते हैं ॥३१॥

क्षत्रियों का स्वभाव दूसरों पर बलात्कार करने का होता है ॥३२॥

किरातों-वणिकों की प्रकृति स्वभाव से छल-कपट करने की होती है ॥३३॥

किसानों तथा शूद्रों के सरलता और कुटिलता स्वाभाविक ही होती है ॥३४॥

ब्राह्मणों की क्रोध-शान्ति का उपाय–

दानावसानः कोपो ब्राह्मणानाम् ॥३५॥

अर्थ—ब्राह्मणों का क्रोध दानपर्यन्त रहता है-दान मिलने से शान्त हो जाता है।

निष्कर्ष—माँगी हुई वस्तु के मिल जाने पर ब्राह्मणों का क्रोध नष्ट हो जाता है ॥३५॥

गर्ग[२] विद्वान् ने लिखा है कि ''जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर रात्रि का समस्त अंधेरा तत्काल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार लोभी ब्राह्मण का क्रोध भी दान मिल जाने से शांत हो जाता है ॥१॥''

गुरुजनों की क्रोध-शान्ति का उपाय–

प्रणामावसानः कोपो गुरुणाम् ॥३६॥

अर्थ—गुरुजनों का क्रोध प्रणाम करने पर्यन्त रहता है, परन्तु प्रणाम करने के पश्चात् नष्ट हो जाता हे ॥३६॥

गर्ग[३] विद्वान् ने लिखा है कि ''जिस प्रकार दुष्ट के साथ किया हुआ उपकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार गुरुजनों का क्रोध प्रणाम करने से नष्ट हो जाता है ॥१॥''

---

१. 'किरातकानाम्' ऐसा पाठ मु. मू. प्रति में वर्तमान है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है। क्योंकि कीर्यन्तेधनानि एभिस्ते किराताः। त एवं 'किरातकाः' 'वणिजः' इत्यर्थः। अर्थात् जो व्यापार-आदि उपायों से धन-संचय करते हों उन वणिक्जनों को 'किरात' कहते हैं। –सम्पादक

२. देखो नीतिवाक्यामृत सं. टी. पृष्ठ ९१॥

३. तथा च गर्गः–दुर्जने सुकृतं यद्वत् कृतं याति च संक्षयं। तद्वत् कोपो गुरुणां स प्रणामेन प्रणश्यति ॥१॥

क्षत्रियों के क्रोध-शान्ति का उपाय-

प्राणावसानः कोपः क्षत्रियाणाम् ॥३७॥

अर्थ—क्षत्रियों का क्रोध मरण पर्यन्त-चिरकाल तक रहता है। अथवा उनका क्रोध प्राणों को नष्ट करने वाला होता है।

भावार्थ—क्योंकि क्षत्रिय जिस मनुष्य पर क्रुद्ध हो जाता है तो वह उसके प्राण-हरण किये बिना शान्त नहीं होता ॥३७॥

वणिक्जनों की क्रोध-शांति का उपाय-

प्रियवचनावसानः कोपो वणिग्जनानाम्[१] ॥३८॥

अर्थ—वणिकों का क्रोध प्रियभाषण पर्यन्त होता है-ये लोग मीठे वचनों द्वारा क्रोध को त्यागकर संतुष्ट हो जाते हैं ॥३८॥

गर्ग[२] विद्वान् ने लिखा है कि "जिस प्रकार इष्ट वस्तु के वियोग से उत्पन्न हुआ दुःख उसके मिल जाने पर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार वणिकों का क्रोध उनसे मीठे वचन बोल ने से नष्ट हो जाता है ॥१॥"

वैश्यों की क्रोध-शान्ति का उपाय-

वैश्यानां समुद्धारकप्रदानेन कोपोपशमः[३] ॥३९॥

अर्थ—जमींदार वैश्यों का क्रोध उनका कर्जा चुका देने से शांत हो जाता है ॥३६॥

भृगु[४] विद्वान् ने लिखा है कि "यदि जमींदार के पिता का भी वैरी हो, जो कि उसे कुपित कर रहा हो परन्तु यदि वह उसके कर्जा को चुका देता है तो वह शांत हो जाता है ॥१॥"

वणिकों की श्री-वृद्धि का उपाय-

निश्चलैः परिचितैश्च सह व्यवहारो वणिजां निधिः[५] ॥४०॥

अर्थ—वैश्य लोग उन्हीं के साथ कर्जा देने का व्यवहार करते हैं, जिनके पास मकान और खेत आदि होते हैं और जो एक जगह स्थायी रीति से रहते हैं एवं जिनकी आमदनी और खर्च-आदि से परिचित होते हैं। ऐसा करने से-विश्वस्तों को कर्जा देने से-भविष्य में कोई खतरा (धन-डूबने की

---

१. 'प्रियवचनावधिकः कोपो वाणिजिकानाम्" ऐसा मु. मू. पुस्तक में पाठ है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।
२. तथा च गर्गः—यथा प्रियेण दृष्टेन नश्यति व्याधिर्वियोगजः। प्रियाज्ञापेन तद्वद्वणिजां नश्यति ध्रुवं ॥१॥
३. "उद्धारप्रदानं कोपोपशमो वैश्यानाम्" इस प्रकार मु. मू. पुस्तक में पाठ है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।
४. तथा च भृगुः—अपि चेत् पैत्रिको वैरो विशां कोपं प्रजायते। उद्धारकप्रलाभेन निःशेषो विलयं व्रजेत् ॥१॥
५. "विश्वस्तैः सह व्यवहारो वणिजां निधिः" ऐसा सं. टीका पुस्तक में पाठ है, परन्तु उक्त पाठ मु. मू. प्रति से संकलन किया गया है, अर्थभेद कुछ नहीं।

शंका) नहीं रहता किन्तु उनसे उन्हें प्रचुर धन मिलता है ॥४०॥

नीच जाति के मनुष्यों को वश करने का उपाय–

दण्डभयोपधिभिर्वशीकरणं नीचजात्यानाम्[१] ॥४१॥

अर्थ–नीच पुरुषों का वशीकरण मंत्र दंड का भय ही है ॥४१॥

गर्ग [२]विद्वान् ने लिखा है कि ''समस्त नीच जाति वालों को जब तक दंड का भय नहीं दिखाया जाता तब तक वे वश में नहीं होते; अतएव उन्हें दण्ड का भय दिखाना चाहिए ॥१॥''

॥ इति त्रयी-समुद्देशः॥

१. ''दण्डभयोपधि वशीकरणं नीचानां'' ऐसा मु. मू. पुस्तक में पाठ है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

२. तथा च गर्गः–

सर्वेषां नीचजात्यानां यावन्नो दर्शयेद् भयम्। तावन्नो वशमायान्ति दर्शनीयं ततो भयम् ॥१॥

८. वार्ता-समुद्देशः

वार्ता-विद्या का स्वरूप या वैश्यों की जीविका:-

कृषिः पशुपालनं वणिज्या च वार्ता वैश्यानाम्[१] ॥१॥

अर्थ—खेती, पशुपालन और व्यापार करना यह वैश्यों की जीविका-जीवन-निर्वाह का साधन है।

भावार्थ—भगवज्जिनसेनाचार्य[२] ने कहा है कि इतिहास के आदिकाल में भगवान् ऋषभदेव तीर्थंकर ने प्रजा की जीवन-रक्षा के लिए उसे असि-शस्त्र-धारण, मषि-लेखनकला, कृषि-खेती, विद्या, वाणिज्य-व्यापार और शिल्पकला इन जीविकोपयोगी ६ साधनों का उपदेश दिया था ॥१॥

निष्कर्ष—उक्त जीवन-निर्वाह के साधनों में से कृषि, पशुपालन और व्यापार यह वैश्य-वर्ण की जीविका है ॥१॥

जीवन-निर्वाह के साधनों की उन्नति से राजा को होने वाला लाभ-

वार्तासमृद्धौ सर्वाः समृद्धयो राज्ञः[३] ॥२॥

अर्थ—जिस राजा के राज्य में वार्ता-कृषि, पशुपालन और व्यापार-आदि प्रजा के जीविकोपयोगी साधनों की उन्नति होती है, वहाँ पर उसे समस्त विभूतियाँ (हाथी-घोड़े और सुवर्ण आदि) प्राप्त होती हैं ॥२॥

शुक्र[४] विद्वान् ने लिखा है कि ''जिस राजा के राज्य में शरद और ग्रीष्म ऋतु में खेती की फसल अच्छी होती है और व्यापार की उन्नति होती है, उसे असंख्यात धर्म, अर्थ और भोगोपभोग प्राप्त होते हैं ॥१॥''

गृहस्थ के सांसारिक-सुखों के साधन-

---

१. ''कृषिः पशुपालनं वणिज्या चेति वार्ता'' ऐसा पाठ मु. मू. प्रति में है उसका अर्थ यह है कि कृषि, पशुपालन और व्यापार ये प्रजा के जीवन-निर्वाह के साधन हैं।

२. असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव वा। कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥१॥
आदिपुराणे भगवज्जिनसेनाचार्यः।

३. 'राज्ञाम्' ऐसा मु. मू. प्रति में पाठ है परन्तु एकवचन-बहुवचन के सिवाय कोई **अर्थ—**भेद नहीं है।

४. तथा च शुक्रः-कृषिद्वयं वणिज्याश्च यस्य राष्ट भवन्त्यमी। धर्मार्थकामा भूपस्य तस्य स्युः संख्यया विमा ॥१॥

तस्य खलु संसारसुखं यस्य कृषिर्धेनवः शाकवाटः सद्मन्युदपानं च ॥३॥

अर्थ—जिस गृहस्थ के यहाँ खेती, गाय-भैंसे, शाक-तरकारी के लिए सुन्दर बगीचा और मकान में मीठे पानी से परिपूर्ण-भरा हुआ कुँआ है उसे सांसारिक सुख प्राप्त होता है ॥३॥

शुक्र[1] विद्वान् ने लिखा है कि ''जिस गृहस्थ के यहाँ खेती, गाय-भैंसे, शाक-तरकारी का बगीचा और मीठे पानी का कुँआ है, उसे स्वर्ग के सुखों से क्या लाभ ? कोई लाभ नहीं ॥१॥''

खेती की फसल के समय धान्य-संग्रह न करने वाले राजा की हानि—

विसाध्यराज्ञस्तंत्रपोषणे नियोगिनामुत्सवो महान् कोशक्षयः ॥४॥

अर्थ—जो राजा सैनिकों के भरण-पोषण करने के लिए खेती की फसल के मौके पर धान्यादि का संग्रह नहीं करता, उसके राजकीय कर्मचारी-मंत्री आदि-को विशेष आनन्द होता है-ये लोग धान्यादि खरीदकर उसे बहुत तेजभाव का बताकर गोलमाल करके बहुत धन हड़प कर जाते है तथा राजा का विशाल खजाना नष्ट हो जाता है।

नारद[2] विद्वान् ने लिखा है कि ''जो राजा शरद और ग्रीष्म ऋतु में-अन्न की दोनों फसलों के समय-सैना वगैरह के निर्वाह के लिए अन्न का संचय नहीं करता, किन्तु सदा मोल खरीदता रहता है उसका खजाना नष्ट हो जाता है ॥१॥''

निष्कर्ष—इसलिए नीतिज्ञ राजा को विशाल सेना के भरण-पोषण के लिए फसल के मौके पर धान्य का संग्रह कर लेना चाहिए ॥४॥

आमदनी के बिना केवल सदा खर्च करने वाले मनुष्य की हानि—

नित्यं हिरण्यव्ययेन मेरुरपि क्षीयते ॥५॥

अर्थ—जो हमेशा संचित धन खर्च करता रहता है परन्तु नया धन बिल्कुल नहीं कमाता, उसका विशाल खजाना भी धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है। खजाना तो दूर रहे परन्तु विशाल सुमेरु पर्वत में से भी हमेशा सुवर्ण निकाले जाने पर वह भी नष्ट हो जाता है फिर राज-कोष का तो कहना ही क्या है ? अर्थात् वह तो निश्चित ही नष्ट हो जाता है ॥५॥

शुक्र[3] विद्वान् ने लिखा है कि ''जिस मनुष्य को चार मुद्राओं-रुपयों की दैनिक आमदनी है और साढ़े पाँच मुद्राओं का खर्च है, वह धन-कुबेर होने पर भी दरिद्रता को प्राप्त होता है ॥१॥''

धान्य-संग्रह न करके अधिक व्यय करने वाले राजा की हानि—

तत्र सदैव दुर्भिक्षं यत्र राजा विसाधयति ॥६॥

---

१. तथा च शुक्रः—कृषिगोशाकवाटाश्च जलाश्रयसमन्विताः। गृहे यस्य भवन्त्येते स्वर्गलोकेन तस्य किम् ॥१॥

२. तथा च नारदः—ग्रीष्मे शरदि यो नान्नं संगृह्णाति महीपतिः। नित्यं मूल्येन गृह्णाति तस्य कोशक्षयो भवेत् ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—आगमे यस्य चत्वारि निर्गमे सार्धपंचमः। स दरिद्रत्वमाप्नोति वित्तेशोऽपि स्वयं यदि ॥१॥

अर्थ—जो राजा अपने राज्य में धान्य संग्रह नहीं करता और अधिक व्यय करता है, उसके यहाँ सदा अकाल रहा करता है, क्योंकि उसे अपनी विशाल सेना के भरण-पोषण करने के लिए अधिक अन्न की आवश्यकता हुआ करती है; इसलिए जब वह राज्य में से धान्य खरीद लेता है, तब उसकी प्रजा को अकाल का दुःख भोगना पड़ता है।

नारद[१] विद्वान् ने लिखा है कि ''जिस देश में राजा अकाल पड़ने पर अपने खजाने की सम्पत्ति से धान्य खरीदकर प्रजा को देता है, तब उसकी प्रजा अकाल के दुःख से पीड़ित नहीं होती ॥१॥''

निष्कर्ष—इसलिए नीतिवान राजा को अधिक धान्य-संग्रह करना चाहिए ॥६॥

राजा को धन की लालसा होने से हानि-

समुद्रस्य पिपासायां कुतो जगति जलानि ? ॥७॥

अर्थ—समुद्र के प्यासे रहने पर संसार में जल किस प्रकार पाया जा सकते हैं ? नहीं पाया जा सकते।

भावार्थ—शास्त्रों में उल्लेख है कि लवण समुद्र में गंगा और सिंधु आदि नदिएँ अपनी १४ हजार सहायक नदियों समेत प्रवेश करती हैं, ऐसी विशाल जल-राशि के होने पर भी यदि समुद्र प्यासा रहे, तो फिर संसार में जल ही नहीं रह सकता; क्योंकि समुद्र की प्यास को दूर करने के लिए इससे अधिक जलराशि कहीं पाई नहीं जाती। उसी प्रकार राजा भी यदि प्रचुर धन-राशि की लालसा रखता हो-प्रजा से उपयुक्त छठे भाग से भी अधिक कर (टेक्स) लेने की लालसा रखता हो-तो फिर राष्ट्र में सम्पत्ति किस प्रकार रह सकती हैं ? नहीं रह सकती।

विमर्श—अधिक टेक्स बढ़ाने से समस्त राष्ट्र दरिद्र होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है; अतएव न्यायवान् राजा को उचित कर ही प्रजा से लेना चाहिए; जिससे राष्ट्र की श्रीवृद्धि होती रहे ॥७॥

शुक्र[२] विद्वान् ने लिखा है कि ''जो राजा प्रजा की आमदनी के छठे हिस्से से भी अधिक कर (टेक्स) लगाकर प्रजा से धन ग्रहण की लालसा रखता है उसका देश नष्ट हो जाता है और पश्चात् उसका राज्य भी नष्ट हो जाता है ॥१॥''

गाय-भैंस आदि की रक्षा न करने से हानि-

स्वयं जीवधनमपश्यतो महती हानिर्मनस्तापश्च क्षुत्पिपासाऽप्रतिकारात् पापं च[३] ॥८॥

अर्थ—गाय-भैंस-आदि जीविकोपयोगी धन की देख-रेख न करने वाले पुरुष को महान्

---

१. तथा च नारदः—दुर्भिक्षेऽपि समुत्पन्ने यत्र राजा प्रयच्छति। निजार्घ्येण निजं सस्यं तदा लोको न पीड्यते ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—षड्भागाभ्यधिको दण्डो यस्य राज्ञः प्रतुष्टये। तस्य राष्ट्रं क्षयं याति राज्यं च तदनन्तरम् ॥१॥

३. ''क्षुत्तर्षाऽप्रतीकारात् पापं चेति? ऐसा मु. मू और ह. लि. प्रतियों में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

आर्थिक-क्षति-हानि उठानी पड़ती है एवं उनके मर जाने से उसे अधिक मानसिक पीड़ा होती है तथा उन्हें भूखे-प्यासे रखने से महान् पाप-बंध होता है। अथवा राजनीति के प्रकरण में गाय-भैंस-आदि जीवन-निर्वाह में उपयोगी सम्पत्ति की रक्षा न करने वाले राजा को बड़ी आर्थिक क्षति-धन की हानि-उठानी पड़ती है एवं उनके असमय में काल-कवलित होने-मर जाने से उसको मानसिक-कष्ट होता है, क्योंकि गो-धन के अभाव हो जाने से राष्ट्र की कृषि और व्यापार आदि जीविका नष्टप्राय हो जाती है। जिसके फलस्वरूप प्रजा की भूख-प्यास को दूर करने के उपाय-कृषि व्यापार-आदि नष्ट हो जाने से उसे महान् पाप-बंध होता है।

शुक्र[१] विद्वान् ने कहा है कि "जो मनुष्य गाय-भैंस आदि पशुओं की सँभाल-देख-रेख नहीं करता उसका वह गोधन नष्ट हो जाता है-अकाल में मृत्यु के मुख में प्रविष्ट हो जाता है, जिससे उसे महान् पाप-बंध होता है ॥१॥"

निष्कर्ष—राजा का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र के जीवन-निर्वाह के साधन-कृषि और व्यापारोपयोगी गो-धन की सदा रक्षा करे ॥८॥

वृद्ध-बाल-व्याधित-क्षीणान् पशून् बान्धवानिव पोषयेत्॥९॥

अर्थ—मनुष्य को अनाथ, माता-पिता से रहित, रोगी और कमजोर पशुओं की अपने बँधुओं की तरह रक्षा करनी चाहिए ॥६॥

व्यास[२] विद्वान् ने लिखा है कि "जो दयालु मनुष्य अनाथ, माता-पिता से रहित, या लूले-लँगड़े दीन व भूख से पीड़ित पशुओं की रक्षा करता है, वह चिरकाल तक स्वर्ग के सुखों को भोगता है ॥१॥

पशुओं के अकाल-मरण का कारण-

अतिभारो महान् मार्गश्च पशुनामकाले मरणकारणम् ॥१०॥

अर्थ—अधिक बोझ लादने से और अधिक मार्ग चलाने से पशुओं की अकाल मृत्यु हो जाती है ॥१०॥

हारीत[३] विद्वान् ने लिखा है कि पशुओं के ऊपर अधिक बोझा लादने और ज्यादा दूर चलाना उनकी मौत का कारण है; इसलिए उनके ऊपर योग्य बोझा लादना चाहिए और उन्हें थोड़ा मार्ग चलाना चाहिए ॥१॥"

जिन कारणों से दूसरे देशों से माल आना बन्द हो जाता है-

---

१. तथा च शुक्रः-चतुष्पदादिकं सर्वं स स्वयं यो न पश्यति। तस्य तन्नाशमभ्येति ततः पापमवाप्नुयात् ॥१॥

२. तथा च व्यासः-अनाथान् विकलान् दीनान् क्षुत्परीतान् पशूनपि। दयावान् पोषयेद्यस्तु स स्वर्गे मोदते चिरम् ॥१॥

३. तथा च हारीतः-अतिभारो महान् मार्गः पशूनां मृत्युकारणं। तस्मादर्हभावेन मार्गेणापि प्रयोजयेत् ॥१॥

शुल्कवृद्धिर्बलात् पण्यग्रहणं च देशान्तरभाण्डानामप्रवेशे हेतुः ॥११॥

अर्थ—जिस राज्य में दूसरे देश की चीजों पर ज्यादा कर-टेक्स-लगाया जाता हो तथा जहाँ के राज-कर्मचारीगण जबर्दस्ती थोड़ा मूल्य देकर व्यापारियों से वस्तुएँ छीन लेते हों, उस राज्य में अन्य देशों से माल-आना बन्द हो जाता है ॥११॥

शुक्र[1] विद्वान् ने लिखा है कि ''जहाँ पर राजकर्मचारी वस्तुओं पर टेक्स बढ़ाते हों और व्यापारियों के धन का नाश करते हों, उस देश में व्यापारी लोग अपना माल बेचना बँद कर देते हैं ॥१॥''

उक्त बात का दृष्टान्त द्वारा समर्थन–

काष्ठपात्र्यामेकदैव पदार्थो रध्यते ॥१२॥

अर्थ—लकड़ी की हाँडी में एक ही बार पदार्थ पकाया जा सकता है दूसरी बार नहीं; क्योंकि फिर वह नष्ट हो जाती है।

भावार्थ—उसी प्रकार जिस राज्य में दूसरे देश की वस्तुओं पर अधिक टैक्स लगाया जाता हो और राज-कर्मचारी थोड़ा मूल्य देकर लूटमार करते हों, उसमें फिर दूसरे देशों से माल नहीं आ सकता ॥१२॥

शुक्र[2]विद्वान् ने लिखा है कि ''जिस राज्य में टेक्स बढ़ाया जाता है और मूल्य घटा दिया जाता है, वहाँ पर वस्तु बेचने वाले वणिक-जन स्वप्न में भी प्रवेश नहीं करते ॥१॥''

जिस स्थान में वाणिज्य-व्यापार नष्ट हो जाता है उसका वर्णन–

तुलामानयोरव्यवस्था व्यवहारं दूषयति ॥१३॥

अर्थ—जिस राज्य में तराजू, तोलने के बाँट (गुञ्जादि) और नापने के पात्र-द्रोणादि-यथोचित (ठीक) नहीं रखे जाते-जहाँ पर वणिक जन दूसरों से वस्तु खरीदने के लिए अपनी तराजू और बाँटों को बड़े और देते समय छोटे करते हैं, वहाँ पर शिष्ट पुरुषों का व्यवहार-खरीदना-बेचना-नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—जहाँ पर व्यापारीगण खरीदते-बेचते समय अपने तराजू और बाँट वगैरह को बड़ा-छोटा रखते हैं, वहाँ पर प्रजा को कष्ट होता है, इसलिए राजा को उनकी पूर्ण निगरानी रखनी चाहिए ॥१३॥

वर्ग[3] विद्वान् ने लिखा है कि ''जिस राज्य में तराजू और तोलने-नापने के बाँट बड़े-छोटे

---

१. तथा च शुक्रः–यत्र ग्रह्णन्ति शुल्कानि पुरुषा भूपयोजिताः। अर्थहानिं च कुर्वन्ति तत्र नायाति विक्रयां ॥१॥

२. तथा च शुक्रः–शुल्कवृद्धिर्भवेद्यत्र वलान्मूल्यं निपात्यते। स्वप्नेऽपि तत्र न स्थाने प्रविशेद् भाण्डविक्रयी ॥१॥

३. तथा च वर्गः–गुरुत्वं च लघुत्वं च तुलामानसमुद्भवम्। द्विप्रकारं भवेद्यत्र वाणिज्यं तत्र नो भवेत् ॥१॥

रक्खे जाते हैं, वहाँ पर व्यापार नहीं होता ॥१॥

व्यापारियों द्वारा मूल्य बढ़ाकर संचित किये हुए धन से प्रजा की हानि–

वणिग्जनकृतोऽर्थः स्थितानागन्तुकांश्च पीड़यति[१] ॥१४॥

अर्थ–जिसके राज्य में व्यापारीगण वस्तुओं–अन्न–वस्त्रादि–का मूल्य स्वेच्छापूर्वक बढ़ाकर धन–संचय करते हैं, इससे वहाँ की प्रजा को और बाहर से आये हुए लोगों को कष्ट होता है–दरिद्र हो जाने से दुःख होता है।

भावार्थ–जहाँ पर व्यापारी लोग मन–माना मूल्य बढ़ाकर वस्तुओं को बेचते हैं और कम से कम मूल्य में खरीदते हैं, वहाँ की जनता दरिद्र हो जाती है, अतएव राजा को इसकी ठीक व्यवस्था करनी चाहिए ॥१४॥

हारीत[२] विद्वान् ने कहा है कि व्यापारियों द्वारा मूल्य बढ़ाकर संचित किया हुआ और राज–कर्मचारियों द्वारा रिश्वत में इकट्ठा किया हुआ धन वहाँ की जनता और बाहर से आये हुए लोगों को निर्धन दरिद्र बना देता है ॥१॥

वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने के विषय में–

देश–काल–भांडापेक्षया वा सर्वार्घो भवेत्[३] ॥१५॥

अर्थ–समस्त वस्तुओं–अन्न, वस्त्र और सुवर्ण–आदि पदार्थों–का मूल्य देश, काल और पदार्थों के ज्ञान की अपेक्षा से होना चाहिए।

भावार्थ–जो राजा यह जानता है कि मेरे राज्य में या अमुक देश में अमुक वस्तु उत्पन्न हुई है ? या नहीं ? इसे 'देशापेक्षा' कहते हैं। एवं इस समय दूसरे देशों से हमारे देश में अमुक वस्तु प्रविष्ट हो सकती है ? अथवा नहीं ? इसे 'कालापेक्षा' कहते हैं। राजा का कर्तव्य है कि वह उक्त देश–कालादि की अपेक्षा का ज्ञान करके समस्त वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करे, जिससे व्यापारी लोग मनचाहा मूल्य बढ़ाकर प्रजा को निर्धन–दरिद्र न बना सके ॥१५॥

व्यापारियों के छल–कपटपूर्ण व्यवहार में राजा का कर्तव्य–

पण्यतुलामानवृद्धौ राजा स्वयं जागृयात् ॥१६॥

अर्थ–राजा को उन व्यापारियों की जाँच–पड़ताल करनी चाहिए, जो कि बहुमूल्य वाली वस्तुओं में अल्प मूल्यवाली वस्तुओं की मिलावट करते हों, दो प्रकार की तराजुएँ रखते हों तथा

---

१. 'वणिग्जनकृतोऽर्घः' इत्यादि मु. मू. प्रति में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है तथापि यह पाठ सं. टी. के उक्त पाठ से उत्तम है क्योंकि इससे निस्सन्देह सीधा अर्थ–वस्तुओं का मूल्य निकल आता है।

२. तथा च हारीतः–वणिग्जनकृतो योऽर्थोऽनुज्ञातश्च नियोगिभिः। भूवस्य पीड़येत् सोऽत्र तत्स्थानागन्तुकानपि ॥१॥

३. उक्त पाठ मु. मू. पुस्तक से संकलन किया गया है; क्योंकि सं. टी. पुस्तक में ''देशकालभांडापेक्षया यो वाऽर्थो भवेत्'' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ–समन्वय ठीक नहीं होता था। –सम्पादक

नापने-तोलने के बाँटों आदि (प्रस्थ और गुञ्जादि) में कमी-वेशी करते हों।

शुक[1] विद्वान् ने लिखा है कि ''वणिक लोग बहुमूल्यवाली वस्तु में अल्पमूल्यवाली वस्तु की मिलावट करके दो प्रकार को तराजुएँ रखकर तथा नापने-तोलने के बाँटों आदि में कमी-वेशी करके भोले भाले मनुष्यों को ठगते रहते हैं। अतएव राजा को उनकी देख-रेख-जाँच पड़ताल-करनी चाहिए ॥१॥

निष्कर्ष—राजा को व्यापारियों के द्वारा किये जानेवाले छल-कपट-पूर्ण व्यवहारों-बेचने या खरीद ने की वस्तुओं को विविध उपायों से कमती-बढ़ती देना-आदि-के संशोधन करने में सदा सावधान रहना चाहिए जिससे प्रजा को कष्ट न हो ॥१६॥

राजा को वणिक् लोगों से सावधान न रहने से हानि-

न वणिग्भ्यः सन्ति परे पश्यतोहराः ॥१७॥

अर्थ—वणिक लोगों को छोड़कर दूसरे कोई प्रत्यक्ष चोर नहीं हैं।

भावार्थ—वास्तविक चोर तो पीठ-पीछे चोरी करते हैं, परन्तु वणिक लोग लोगों के सामने नापने-तोलने के गज और बाँटों में कमी-वेशी करके और बहुमूल्य वाली वस्तु में अल्पमूल्य वाली वस्तु की मिलावट करके ग्राहकों को ठगते हैं; इसलिए आचार्यश्री ने उन्हें 'प्रत्यक्षचौर' कहा है, अतएव राजा को उनकी कड़ी निगरानी रखनी चाहिए ॥१७॥

वल्लभदेव[2] विद्वान् ने लिखा है कि ''वणिक् लोग नापने-तोलने के बाँटों में गोलमाल करके, वस्तुओं का मूल्य बढ़ाकर और चतुराई से विश्वास दिलाकर लोगों के धन का अपहरण करते रहते हैं, अतएव ये मनुष्यों के मध्य में प्रत्यक्ष चोर कहे गये हैं ॥१॥''

व्यापारी लोगों के द्वारा परस्पर की ईर्ष्या से वस्तुओं का मूल्य बढ़ा देने पर राजा का कर्त्तव्य-

स्पर्द्धया मूल्यवृद्धिर्भाण्डेषु राज्ञो यथोचितं मूल्यं विक्रेतुः ॥१८॥

अर्थ—यदि व्यापारी लोग परस्पर की ईर्ष्या-वश वस्तुओं का मूल्य बढ़ा देवें-अपनी वस्तुओं को अधिक तेजभाव से बेचने लगें-उस समय राजा का कर्त्तव्य है कि वह उस बढ़ाये हुए मूल्य को व्यापारी-वर्ग से छीन लेवे और व्यापारियों को केवल उचित मूल्य ही देवे ॥१८॥

हारीत[3] विद्वान् ने लिखा है कि व्यापारी वर्ग के द्वारा स्पर्द्धा से बढ़ाया हुआ वस्तुओं का मूल्य राजा का होता है और बेचने वाले व्यापारी को केवल उचित मूल्य ही मिलना चाहिए ॥१॥''

सुवर्ण-आदि बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य में खरीदने वाले व्यापारी के प्रति राजा का

---

१. तथा च शुक्रः-भाण्डसंगात्तुलामानाद्धीनाधिक्याद्वणिग्जनाः। वंचयन्ति जनं मुग्धं तद्विज्ञेयं महीभुजा ॥१॥

२. तथा च वल्लभदेवः- मानेन किंचिन्मूल्येन किंचित्तुलयाऽपि किंचित् कलयाऽपि किंचित्।
किंचिच्च किंचिच्च गृहीतुकामाः प्रत्यक्षचौरा वणिजो नराणाम् ॥१॥

३. तथा च हारीतः-स्पर्द्धया विहितं मूल्यं भाण्डस्याप्यधिकं च यत्। मूल्यं भवति तद्राज्ञो विक्रेतुर्वर्धमानकम् ॥१॥

कर्त्तव्य–

अल्पद्रव्येण महाभाण्डं गृह्णतो मूल्याविनाशेन तद्भाण्डं राज्ञः ॥१९॥

अर्थ—यदि किसी व्यापारी ने–किसी की बहुमूल्य वस्तु–सुवर्ण आदि को धोखा देकर थोड़े मूल्य में खरीद ली हो, तो राजा को खरीदने वाले की वह–बहुमूल्य वस्तु जब्त कर लेनी चाहिए परन्तु बेचने वाले को उतना अल्पमूल्य जितना उसे खरीददार ने दिया था दे देना चाहिए ॥१६॥

नारद[1] विद्वान् भी उक्त बात का समर्थन करता है कि ''जब चोर या मूर्ख मनुष्यों ने किसी व्यापारी को बहुमूल्य वस्तु–सुवर्ण आदि–अल्पमूल्य में बेंच दी हो, तो राजा को उसका पता लगाकर खरीदने वाले की वह बहुमूल्य वस्तु जब्त कर लेनी चाहिए और बेचने वाले को अल्पमूल्य दे देना चाहिए ॥१॥''

अन्याय की उपेक्षा करने से हानि–

अन्यायोपेक्षा सर्वं विनाशयति ॥२०॥

अर्थ—जो राजा राष्ट्र में होने वाले अन्यायों की उपेक्षा करता है–अन्याय करने वाले चोर–आदि को यथोचित दंड नहीं देता–उसका समस्त राज्य नष्ट हो जाता है ॥२०॥

शुक्र[2] विद्वान् ने लिखा है कि ''जिस देश में राजा क्षमा–धारण करके अन्याय करने वालों का निग्रह दंड देना–नहीं करता उसका वंश–परंपरा से प्राप्त हुआ भी राज्य नष्ट हो जाता है ॥१॥

राष्ट्र के शत्रुओं का निर्देश करते हैं–

चौर–चरट–मन्नप–धमन–राजवल्लभाटविकतलाराक्षशालिकनियोगिग्रामकूटवार्द्धुषिका हि राष्ट्रस्य कण्टकाः[3] ॥२१॥

अर्थ—चोर, देश से बाहर निकाले हुए अपराधी, खेतों को या मकान वगैरह की नाप करने

---

१. देखो नीति. सं. टी. पृ० ६६।

२. तथा च शुक्रः–अम्यायान् भूमिपो यत्र न निषेधवति क्षमी। तस्य राज्यं क्षयं याति यद्यपि स्यात् क्रमागतम्॥ २॥

३. ''चौर–चरटाऽन्वयधमन–राजवल्लभाटविक–तलार–किराताक्षशालिक–नियोगिग्रामकूट–वार्द्धषिका हि राष्ट्रकण्टकाः'' इस प्रकार का पाठ मु. मू और भाण्डारकर रिसर्च गवर्न. लायब्रेरी पूना की ह. लि. दो प्रतियों में वर्तमान है। इसका अर्थ–चोर, गुप्तदूत–जो नानाप्रकार की वेष–भूषा और भाषा आदि के द्वारा अपने को गुप्त रखकर देश, नगर, ग्राम और गृहादि में प्रविष्ट होकर वहाँ के गुप्त–वृतान्त को राजा के लिए निवेदन करते हों, अन्वय–धमन–वंश की कीर्ति–गान करने वाले चारण वगैरह, राजा के प्रेम–पात्र, आटविक–जंगलों की रक्षा के लिए नियुक्त किये हुए अधिकारी गण, तलार–छोटे–छोटे स्थानों में नियुक्त किये हुए अधिकारी, भील, जुआरी, मंत्री और अमात्य–आदि अधिकारीगण, ग्रामकूट–पटवारी और अन्न का संग्रह करने वाले व्यापारी ये ११ व्यक्ति राष्ट्र के कण्टकशत्रु हैं–कांटों के समान राष्ट्र में उपद्रव करने वाले हैं।

वाले, व्यापारियों की वस्तु का मूल्य निश्चय करने वाले, राजा के प्रेमपात्र, जंगल में रहने वाले भील वगैरह या जंगल की रक्षा में नियुक्त किये गये अधिकारी, स्थान की रक्षा में नियुक्त किये गये कोतवाल या पुलिस वगैरह, जुआरी या सेनापति, राज्य के अधिकारी वर्ग, पटवारी, बलवान् पुरुष तथा अन्न-संग्रह करके अकाल दुर्भिक्ष की कामना करने वाले व्यापारी लोग ये राष्ट्र के कण्टक-शत्रु हैं।

भावार्थ—चोर प्रजा का धनादि अपहरण करने के कारण तथा अन्य लोग रिश्वत वगैरह लेकर या मौका पाकर बगावत करने के कारण एवं अन्न संग्रह करके अकाल चाहने वाले व्यापारी भी प्रजा को पीड़ित करने से राज्य के कण्टक-शत्रु कहे गये हैं; क्योंकि ये लोग साम, दाम, दण्ड और भेद आदि उपायों से राष्ट्र में उपद्रव करते हैं; अतएव राजा को इनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए-यथासमय उनकी देख-रेख रखनी चाहिए और इन की अपराधानुकूल दंड देते रहना चाहिए ॥२१॥

गुरु[१] विद्वान् ने लिखा है कि जो राजा चोर वगैरह को प्रत्यक्ष देख लेने पर भी उनसे अपने देश की रक्षा नहीं करता-उनका निग्रह करके अपनी प्रजा की रक्षा नहीं करता उसका कुल-परम्परा से चला आया राज्य भी नष्ट हो जाता है ॥१॥

किस प्रकार के राजा के होने पर राष्ट्र-कण्टक नहीं होते-

प्रतापवति राज्ञि निष्ठुरे सति न भवन्ति राष्ट्रकण्टकाः[२]॥२२॥

अर्थ—जिस देश में राजा प्रतापी (पुण्यशाली, राजनीतिविद्या में कुशल और तेजस्वी) तथा कठोरशासन करने वाला होता है, उसके राज्य में राष्ट्रकण्टक-प्रजा को पीड़ित करने वाले अन्यायी चौर वगैरह नहीं होते॥ २२॥

व्यास[३] विद्वान् ने लिखा है कि ''जिस देश में राजा राजनीति-विद्या में निपुण और विशेष प्रतापी होता है, उसका वह देश चोर आदि अन्यायियों द्वारा पीड़ित नहीं किया जाता ॥१॥''

अन्न-संग्रह द्वारा देश में अकाल पैदा करने वाले व्यापारियों से हानिः-

अन्यायवृद्धितो वार्द्धुषिकास्तंत्रं देशं च नाशयन्ति[४]॥२३॥

---

१. तथा च गुरुः-चौरादिकेभ्यो दृष्टेभ्यो यो न राष्ट्ं प्ररक्षति। तस्य तन्नाशमायाति यदि स्यात्पितृपैतृकम् ॥१॥

२. ''प्रतापवति कण्टकशोधनाधिकरणज्ञे राज्ञि न प्रभवन्ति'' ऐसा मु. और पूना की ह. लि. मूल प्रतियों में पाठ है जिसका अर्थ यह है कि पूर्वोक्त चोर वगैरह राष्ट्र-कण्टक-प्रतापी और कण्टक-अन्यायी और आततायियों-के निग्रह करने के उपायों को जानने वाले राजा के होने पर नहीं होते।

३. तथा च व्यासः-यथोक्तनीतिनिपुणो यत्र देशे भवेन्नृपः। सप्रतापो विशेषेण चौराद्यैर्न स पीड्यते ॥१॥

४. ''तेषु सर्वे अन्यायवृद्धयो वार्द्धुषिकास्तंत्रं कोशं देशं च विनाशयन्ति'' इस प्रकार मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं है।

अर्थ—पूर्वोक्त राष्ट्र कण्टकों में से अन्न का संग्रह करके दुर्भिक्ष-अकाल-पैदा करने वाले व्यापारी लोग देश में अन्याय की वृद्धि करते हैं, इससे वे राष्ट्र के समस्त तंत्र-व्यवहार या चतुष्पद-आदि (गाय भैंस वगैरह पशुओं-आदि) तथा समस्त देश को नष्ट कर देते हैं।

भृगु[१] विद्वान् भी उक्त बात का समर्थन करता है कि ''जिस देश में वार्द्धुषिक-अन्न-संग्रह द्वारा देश में दुर्भिक्ष पैदा करने वाले व्यापारी लोग-अनीति से अधिक संख्या में बढ़ जाते हैं, वह देश नष्ट हो जाता है एवं वहाँ के गाय-भैंस-आदि पशुओं की भी विशेष क्षति-हानि होती है ॥१॥''

निष्कर्ष—अतः राजा को ऐसे अन्यायियों की कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिए जिससे वे राष्ट्र में दुर्भिक्ष उत्पन्न न कर सके॥ २३॥

अन्न-संग्रह द्वारा राष्ट्र में अकाल पैदा करने वाले व्यापारियों की कड़ी आलोचना—

कार्याकार्ययोर्नास्ति दाक्षिण्यं वार्द्धुषिकानाम् ॥२४॥

अर्थ—वार्द्धषिकों-लोभवश राष्ट्र का अन्न-संग्रह करके दुर्भिक्ष पैदा करने वाले व्यापारियों-के कर्तव्य-अकर्तव्य में लज्जा नहीं होती अथवा उनमें सरलता नहीं होती-वे कुटिल प्रकृति वाले होते हैं।

भावार्थ—अन्न-संग्रहकर्ता व्यापारियों के साथ यदि उपकार भी किया जावे-उन्हें दंडित न किया जावे-तो भी वे कृतघ्नता के कारण लोभ-वश अपनी अन्न-संग्रह की प्रकृति को नहीं छोड़ते। एवं यदि उनके साथ अपकार किया जावे-उन्हें दण्डित किया जावे तो भी वे निर्लज्ज होने के कारण अपनी अन्नसंग्रह-प्रकृति को नहीं छोड़ते ; अतएव राजा को उनकी कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिए-उन्हें इस तरह से वश में करना चाहिए ; ताकि भविष्य में ऐसा नीतिविरुद्ध कार्य न कर सके ॥२४॥

हारीत[२] विद्वान् ने भी उक्त बात की पुष्टि की है कि ''अन्न-संग्रह द्वारा दुर्भिक्ष पैदा करने वाले या अधिक ब्याज लेने वाले व्यापारियों के साथ असंख्यात बार उपकार-अनुपकार भी किये जावें, तो भी वे निर्लज्ज या सरल नहीं होते अर्थात् दण्डित न किये जाने पर कृतघ्न और दण्डित किये जाने पर निर्लज्ज होते हैं ॥१॥''

शरीर-रक्षार्थ मनुष्य-कर्त्तव्य—

अप्रियमप्यौषधं पीयते[३]॥२५॥

---

१. तथा च भृगुः—यत्र वार्द्धुषिका देशं अनीत्या वृद्धिमाययुः। सर्वलोकक्षयस्तत्र तिरश्चां च विशेषतः ॥१॥

२. तथा च हारीतः—वार्द्धुषिकस्य दाक्षिण्यं विद्यते न कथंचन। कृत्याकृत्यं तदर्थं च कृतैः संख्यविवर्जितैः ॥१॥

३. ''आमयमप्यौषधं पीयते'' इस प्रकार मु. मू. प्रति में अशुद्ध पाठ हैं, मालूम पड़ता हैं कि लेखक की असावधानी से ऐसा हुआ है, इसी से अर्थ समन्वय ठीक नहीं होता। यदि इसके स्थान में ''आमयेनाप्यौषधं पीयते'' ऐसा पाठ होता तो अर्थसमन्वय व्याकरण और सं. टी. पुस्तक के अनुकूल हो सकता था कि रोगी के द्वारा भी हर तरह की-कड़वी और मीठी-औषधि पी जाती है। —सम्पादक

अर्थ—शारीरिक स्वास्थ्य-रक्षा के लिए विवेकी मनुष्यों के द्वारा कड़वी औषधि भी-कड़वे क्वाथ (काढ़े) आदि भी पी जाती है, पुनः मीठी औषधि के बारे में तो कहना ही क्या है? अर्थात् वह तो अवश्य सेवन की जाती है।

भावार्थ—शिष्ट-पुरुष जिस प्रकार लोक में अपने शारीरिक स्वास्थ्य-तन्दुरुस्ती के लिए कड़वी औषधि का भी सेवन करते हैं, उसी प्रकार उन्हें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए एवं ऐहिक तथा पारलौकिक सुख-प्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों का अनुष्ठान परस्पर की बाधा-रहित करना चाहिए॥ २५॥

नीतिकार वादीभसिंह सूरि[१] ने भी कहा है कि यदि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों की परस्पर की बाधारहित सेवन किया जाय तो उससे मनुष्यों को बाधारहित सुख की प्राप्ति होती है और क्रम से मोक्षसुख भी प्राप्त होता है ॥१॥

वर्ग[२] विद्वान् ने भी उक्त मान्यता का समर्थन किया है कि ''विद्वान् मनुष्य को सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की औषधियों की तरह धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का अनुष्ठान करना चाहिए ॥१॥''

पूर्वोक्त सिद्धान्त का समर्थन—

अहिदष्टा स्वाङ्गुलिरपि च्छिद्यते॥ २६॥

अर्थ—वह अंगुलि भी जिसमें सर्प के द्वारा डसी-काटी-जाने से जहर चढ़ गया है, शेष शरीर की रक्षा के लिए काट दी जाती है।

भावार्थ—जिस प्रकार विषैली अंगुलि काट देने से शरीर स्वस्थ रहता है, उसी प्रकार अनुचित तृष्णा-जिससे राजदंड-आदि का खतरा हो ऐसा लोभ-त्याग देने से ही शरीर स्वस्थ और मन निश्चिन्त रहता है ॥२६॥

किसी विद्वान् नीतिकार[३] ने भी कहा है कि ''बुद्धिमान पुरुषों को शरीर को रक्षा के लिए तृष्णा लालच-नहीं करनी चाहिए, क्योंकि शरीर के विद्यमान रहने पर धन प्राप्त होता है, परन्तु अन्याय का धन कमाने से शरीर स्थिर नहीं रहता-राजदंड आदि के कारण नष्ट हो जाता है ॥१॥''

॥ इति वार्ता-समुद्देशः॥

---

१. तथा च वादीभसिंह सूरि-परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते। अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥१॥

२. तथा च वर्गः-धर्मार्थकामपूर्वैश्च भेषजैर्विविधैरपि। यथा सौख्यार्द्धिकं पश्येत्तथा कार्य'' विपश्चिता ॥१॥

३. तथा च कश्चिन्नीतिकारः-शरीरार्थे न तृष्णा च प्रकर्त्तव्या विचक्षणौः। शरीरेण सता वित्तं लभ्यते न तु तद्धनैः ॥१॥

९. दण्डनीति-समुद्देशः

दण्डनीति का माहात्म्य-

चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः ॥१॥

अर्थ—जिस प्रकार आयुर्वेद-शास्त्र के अनुकूल औषधि-सेवन से रोगी के समस्त विकृत दोष-वात, पित्त और कफादि का विकार एवं उससे होने वाले बुखार-गलगण्डादि समस्त रोग-विशुद्ध-शान्त (नष्ट) हो जाते हैं, उसी प्रकार अपराधियों को दण्ड देने से उनके समस्त अपराध (विशुद्ध) नष्ट हो जाते हैं।

गर्ग[१] विद्वान् ने भी कहा है कि ''अपराधियों को दण्ड देने से राष्ट्र विशुद्ध, अन्याय के प्रचार से रहित हो जाता है, परन्तु दण्ड-विधान के बिना देश में मात्स्यन्याय-बड़ी मछली के द्वारा छोटी मछली का खाया जाना (बलवान् व्यक्तियों के द्वारा निर्बलों का सताया जाना-आदि अन्याय का प्रचार) की प्रवृत्ति निस्संदेह होने लगती है ॥१॥''

विमर्श—समस्त राजतंत्र-राज्यशासन-दण्डनीति के आश्रय से संचालित होता है। इसका उद्देश्य प्रजा-कण्टकों-प्रजापीड़क अन्यायी-आततायियों (दुष्टों) का संशोधन-निग्रह करना है। प्रायः प्रजा के लोग दण्ड के भय से ही अपने-अपने कर्तव्यों में प्रवृत्त और अकर्त्तव्यों से निवृत्त होते हैं; इससे प्रजा में उक्त मात्स्य-न्याय का प्रचार नहीं हो पाता और इसके परिणामस्वरूप अप्राप्त राज्य-आदि की प्राप्ति, प्राप्त का संरक्षण, संरक्षित की वृद्धि और वृद्धिंगत इष्ट पदार्थों को समुचित स्थान में लगाना होता है।

निष्कर्ष—अतः राष्ट्र को प्रजा-कण्टकों से सुरक्षित रखना, प्रजा को धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों की परस्पर की बाधारहित पालन कराना, उसे कर्त्तव्य में प्रवृत्त और अकर्त्तव्य से निवृत्त करना, विशाल सैनिक संगठन द्वारा अमात्य राज्यादि की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा, रक्षित की वृद्धि-आदि दण्डनीति का प्रधान प्रयोजन है। नीतिकार चाणक्य[२] ने भी उक्त बात को स्वीकार किया है ॥१॥

---

१. तथा च गर्गः-अपराधिषु यो दण्डः स राष्ट्रस्य विशुद्धये। [बिना येन न संदेहो] मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते ॥१॥
नोट-उक्त श्लोक का तीसरा चरण ''बिना येन च सन्देहो'' ऐसा सं. टी. पुस्तक में संकलित था जिसकी अर्थ संगति ठीक नहीं होती थी, अतः हमने उक्त संशोधन करके अर्थ-समन्वय किया है। -सम्पादक

२. देखो कौटिल्य अर्थशास्त्र दण्डनीति प्रकरण पृष्ठ १२-१३. अ. ४. सूत्र ६-१४

दण्डनीति की स्वरूपनिर्देश–

यथादोषं दण्डप्रणयनं दण्डनीतिः॥२॥

अर्थ—अपराधी को उसके अपराध के अनुकूल दण्ड देना दण्डनीति है–जिस व्यक्ति ने जैसा अपराध किया है, उसे उसके अनुकूल दण्ड देना यही दण्डनीति है। उदाहरण में–जैसे जुर्माना–योग्य अपराधी को उसके अपराधानुकूल जुर्माना करना न्यायोचित दण्डनीति है और इसके विपरीत कारावास–जेलखाने– की कड़ी सजा अन्याययुक्त–तीक्ष्ण दण्ड है इत्यादि।

गुरु[१] विद्वान् ने कहा है कि "राजा को स्मृतिशास्त्र में निर्देश किये हुए के अनुसार अपराधियों को उनके अपराधानुकूल दण्ड देना चाहिए, जो राजा उससे न्यूनाधिक–कमती–बढ़ती–दण्ड देता है, वह अपराधियों के पापों से लिप्त हो जाता है; अतः वह विशुद्ध नहीं होता ॥१॥"

विशद-विमर्श—नीतिकार चाणक्य[२] ने भी कहा है कि "राजा का कर्त्तव्य है कि वह पुत्र और शत्रु को उनके अपराध के अनुकूल पक्षपात–रहित होकर दण्ड देवे, क्योंकि अपराधानुकूल–न्यायोचित दण्ड ही इस लोक और परलोक की रक्षा करता है। दण्डनीति के आश्रय से उसे प्रजा के धर्म, व्यवहार और चरित्र की रक्षा करनी चाहिए। यद्यपि न्यायालय में न्यायाधीश–जज– के सामने मुकदमे में वादी और प्रतिवादी दोनों ही अपने–अपने पक्ष को सच्चा कहते हैं एवं वकीलों के द्वारा अपने–अपने पक्ष को सत्य सिद्ध करने में प्रयत्नशील रहते हैं। परन्तु उनमें से सच्चा एक ही होता है। ऐसी अवस्था में दोनों पक्षों को ठीक–ठीक निर्णय करने वाले निम्न लिखित हेतु हो सकते हैं।

१. दृष्टदोष–जिसके अपराध को देख लिया गया हो, २. स्वयंवाद–जो स्वयं अपने अपराध को स्वीकार कर लेवे, ३. सरलता पूर्वक न्यायोचित जिरह, ४. कारणों का उपस्थित कर देना। ५. शपथ–कसम दिलाना। उक्त पाँचों हेतु यथावश्यक अर्थ के साधक हैं अर्थात् अपराधी के अपराध को समर्थन करने वाले हैं। वादी–प्रतिवादियों के परस्पर विरुद्ध कथन का यदि उक्त हेतुओं से निर्णय न हो सके तो साक्षियों और खुफिया पुलिस के द्वारा इसका अनुसन्धान कर अपराधी का निश्चय करना चाहिए।

निष्कर्ष—उक्त प्रबल युक्तियों द्वारा अपराधियों के अपराध का निर्णय करके यथादोष दण्डविधान करने से राष्ट्र की सुरक्षा होती है, अतः अपराधानुरूप दण्ड विधान को 'दण्डनीति' कहा गया है॥२॥

---

१. तथा च गुरुः– स्मृत्युक्तवचनैर्दण्डं हीनाधिक्यं प्रपातयन्। अपराधकर्पापेन लिप्यते न विशुद्ध्यति ॥१॥

२. तथा च चाणक्यः–दण्डो हि केवलो लोकं पर चेमं च रक्षति। राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समं धृतः ॥१॥
अनुशासद्धि धर्मेण व्यवहारेण संस्थया। न्यायेन च चतुर्थेन चतुरन्तां महीं जयेत्॥ २॥
दृष्टदोषः स्वयंवादः स्वपक्षपरपक्षयोः। अनुयोगार्जवं हेतुः शपथश्चार्थसाधकः॥ ३॥
पूर्वोत्तरार्थव्याघाते साक्षिवक्तव्यकारणे। चारहस्ताच्च निष्पाते प्रदेष्टव्यः पराजयः॥ ४॥
कौटिलीय अर्थशास्त्र धर्मस्थानीय तृ. अधि. श्र. १।

दण्ड–विधान का उद्देश्य–

प्रजापालनाय राज्ञा दण्डः प्रणीयते न धनार्थम् ॥३॥

अर्थ–राजा के द्वारा प्रजा की रक्षा करने के लिए अपराधियों को दण्डविधान किया जाता है, धन–प्राप्ति के लिए नहीं।

गुरु[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो राजा धन के लोभ से हीनाधिक–कमती–बढ़ती–जुर्माना करता है उसके राज्य की वृद्धि नहीं होती और इसके परिणामस्वरूप उसका राज्य नष्ट हो जाता है ॥१॥''

निष्कर्ष–राजा को प्रजा–कण्टक–दुष्टों– से राष्ट्र को सुरक्षित रखने के लिए अपराधियों को यथा दोष दण्ड देना चाहिए, धनादि के लोभ से नहीं॥ ३॥

लोभवश छिद्रान्वेषी वैद्य और राजा की कड़ी आलोचना–

स किं राजा वैद्यो वा यः स्वजीवनाय प्रजासु दोषमन्वेषयति ॥४॥

अर्थ–जो राजा अपने निर्वाह के लिए प्रजाजनों में दोषों–अपराधों–का अन्वेषण करता है–धन के लोभ से साधारण अपराधों में भी अधिक जुर्माना–आदि करता है, वह राजा नहीं किन्तु प्रजा का शत्रु है एवं जो वैद्य अपने निर्वाह के लिए जनता के रोगों का अन्वेषण करता है–रोगों को बढ़ाने वाली औषधियाँ देता है–वह वैद्य नहीं किन्तु शत्रु है॥ ४॥

शुक्र[2] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि ''जो राजा दूसरों के कहने से प्रजा को दण्ड देता है उसका राज्य नष्ट हो जाता है, इसलिए उसको सोच–समझकर दण्ड देना चाहिए ॥१॥

राजा को सैनिक शक्ति का संगठन प्रजा में अपराधों का अन्वेषण करने के अभिप्राय से नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से प्रजा उससे असन्तुष्ट होकर शत्रुता करने लगती है और उसके फलस्वरूप उसका राज्य नष्ट हो जाता है ॥२॥

राजा के द्वारा अग्राह्य–उपयोग में न आने योग्य–धन–

दण्ड–द्यूत–मृत–विस्मृत–चौर–पारदारिक–प्रजाविप्लवजानि द्रव्याणि न राजा स्वयमुपयुञ्जीत ॥५॥

अर्थ–राजा को अपराधियों के जुर्माने से आए हुए, जुंआ में जीते हुए, लड़ाई में मारे हुए, नदी, तालाब और रास्ता आदि में मनुष्यों के द्वारा भूले हुए धन का और चोरों के धन का तथा पति–पुत्रादि कुटुम्बी से रहित अनाथ स्त्री का धन या रक्षक–हीन कन्या का धन और गदर वगैरह के

१. तथा च गुरुः–यो राज्ञा धनलोभेन हीनाधिककरप्रियः। तस्य राष्ट्ं व्रजेन्नाशं न स्यात् परमवृद्धिमत् ॥१॥

२. तथा च शुक्रः–यो राजा परवाक्येन प्रजादण्ड प्रयच्छति। तस्य राज्यं क्षयं याति तस्माज्ज्ञात्वम्प्रदण्डयेत् ॥१॥
छिदान्वेषणचित्तेन नृपस्तंत्रं न–पोषयेत्। तस्य तन्नाशमभ्येति [तस्मास्वङ्गनारिता] ॥२॥
उक्त श्लोक का चतुर्थ चरण हमने संशोधित एवं परिवर्तित किया है; क्योंकि ''सं. टी. पुस्तक में अशुद्ध छपा हुआ था। –सम्पादक

कारण जनता के द्वारा छूटे हुए धनों का स्वयं उपभोग नहीं करना चाहिए।

भावार्थ—उक्त प्रकार के धन को राजा स्वयं उपभोग न करे, परन्तु उसे लेकर उसका समाज और राष्ट्र की रक्षा में उपयोग करे ॥५॥

शुक्र[१] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि "जो राजा चोर वगैरह के खोटे धन को अपने खजाने में जमा करता है उसका तमाम धन नष्ट हो जाता है ॥१॥"

अन्याय-पूर्ण दण्ड से होने वाली हानि का निर्देश-

दुष्प्रणीतो हि दण्डः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा सर्वविद्वेषं करोति ॥६॥

अर्थ—जो राजा अज्ञानतापूर्वक काम और क्रोध के वशीभूत होकर दण्डनीति-शास्त्र की मर्यादा-अपराध के अनुकूल पात्रादि का विचार करके दण्ड देने-का उल्लंघन करके अनुचित ढंग से दण्ड देता है उससे समस्त प्रजा के लोग द्वेष करने लगते हैं ॥६॥

शुक्र[२] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि जिस प्रकार खोटे मित्र की संगति से समस्त सदाचार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अन्याय युक्त दण्ड से-अनुचित जुर्माना-आदि करने से-मिला हुआ राजा का तमाम धन नष्ट हो जाता है ॥१॥ इसलिए विवेकी राजा को काम, क्रोध और अज्ञान से दिये गये दण्ड द्वारा संचित पापपूर्ण धन का खोटे मित्र की तरह त्याग कर देना चाहिए ॥२॥

अपराधियों को दण्ड-विधान न करने से हानि-

अप्रणीतो हि दण्डो मात्स्यन्यायमुत्पादयति, वलीवानवलं ग्रसति इति मात्स्यन्यायः ॥७॥

अर्थ—यदि अपराधियों को दण्ड-प्रयोग सर्वथा रोक दिया जाय, तो प्रजा में मात्स्यन्याय-बड़ी मछली के द्वारा छोटी मछली का खाया जाना-उत्पन्न हो जायगा। अर्थात् जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है उसी प्रकार बलवान् पुरुष निर्बलों को कष्ट पहुँचा ने में तत्पर हो जावेगा।

भावार्थ—इसलिए न्यायवान् राजा को अपराध के अनुकूल-न्याय युक्त-दण्ड देकर प्रजा की श्रीवृद्धि करनी चाहिए ॥७॥

गुरु[३] विद्वान् ने लिखा है कि "जो राजा पापयुक्त दण्ड देता है परन्तु दण्ड देने योग्य दुष्टों-अपराधियों को दंडित नहीं करता, उसके राज्य की प्रजा में मात्स्यन्याय का प्रचार हो जाता है-सबल निर्बल को सताने लगता है और ऐसा होने से सर्वत्र अराजकता फैल जाती है ॥१॥

॥ इति दण्डनीति-समुद्देशः॥

---

१. तथा च शुक्रः-दुष्प्रणीतानि द्रव्याणि कोशे क्षिपति यो नृपः। स याति धनं ग्रह्मगृहार्थखनिधिर्यथा ? ॥१॥

२. तथा च शुक्रः-यथा कुमित्रसंगेन सर्व शीलं विनश्यति। तथा पापोत्थदण्डेन मिश्रं नश्यति तद्धनं।
किंचित्कामेन क्रोधेन किंचित्किचिच्च जाड्यतः। तस्माद् दूरेण संत्याज्यं पापवित्तं कुमित्रवत् ॥२॥

३. तथा च गुरुः-दण्ड्यं दण्डयति नो यः पापदण्डसमन्वितः। तस्य राष्ट्रे न सन्देहो मात्स्यो न्यायः प्रकीर्तितः ॥१॥

(१०) मंत्रि-समुद्देशः

आहार्यबुद्धि-युक्त-मंत्री आदि की सलाह मानने वाले राजा का निर्देश-

मंत्रि-पुरोहित-सेनापतीनां यो युक्तमुक्तं करोति स आहार्यबुद्धिः ॥१॥

अर्थ—जो राजा मंत्री, पुरोहित और सेनापति के कहे हुए धार्मिक एवं आर्थिक सिद्धान्तों का पालन करता है, उसे आहार्यबुद्धि-युक्त कहते हैं।

निष्कर्ष—इसलिए राजा को अपने राज्य की श्रीवृद्धि के लिए उक्त तीनों की योग्य बात माननी चाहिए ॥१॥

गुरु[१] विद्वान् ने लिखा है कि ''जो राजा मंत्री, पुरोहित तथा सेनापति के हितकारक वचनों को नहीं मानता, वह दुर्योधन (धृतराष्ट्र का बड़ा पुत्र) राजा की तरह नष्ट हो जाता है ॥१॥''

राजा को आहार्यबुद्धियुक्त-प्रधानमंत्री-आदि के हितकारक उपदेश (सलाह) को मानने वाले-होने के लिए दृष्टान्त द्वारा समर्थन-

असुगन्धमपि सूत्रं कुसुमसंयोगात् किन्नोरोहति देवशिरसि ? ॥२॥

अर्थ—पुष्पमाला के आकार को प्राप्त हुए तंतु सुगन्धि-रहित होने पर भी पुष्पों की संगति-संयोग से क्या देवताओं के शिर पर धारण नहीं किये जाते ? अवश्य किये जाते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार लोक में निर्गन्ध तंतु भी पुष्पों के संयोग से देवताओं के मस्तक पर धारण किये जाते हैं, उसी प्रकार मूर्ख एवं असहाय राजा भी राजनीति विद्या में निपुण और सुयोग्य मंत्रियों की अनुकूलता से शत्रुओं के द्वारा अजेय हो जाता है।

निष्कर्ष—प्रायः राजा की बुद्धि कामविलास के कारण नष्टप्राय और विभ्रम-युक्त होती है; अतएव वह संधि, विग्रह, यान, आसन और द्वैधीभाव आदि षाड्गुण्य-नीति के प्रयोग में गलती करने लगता है, परन्तु जब वह मंत्री, पुरोहित और सेनापति की उचित सम्मति को मान लेता है, तब वह ठीक रास्ते पर आ जाता है और ऐसा होने से उसके राज्य की श्रीवृद्धि होती है ॥२॥

वल्लभदेव[२] विद्वान् ने लिखा है कि ''साधारण मनुष्य भी उत्तम पुरुषों की संगति से गौरव-महत्त्व प्राप्त कर लेते हैं, जिस प्रकार तंतु पुष्प-माला के संयोग से शिर पर धारण कर लिए जाते

---

१. तथा च गुरुः-यो राजा मंत्रिपूर्वाणां न करोति हितं वचः। स शीघ्रं नाशमायाति यथा दुर्योधनो नृपः ॥१॥

२. तथा च वल्लभदेवः-उत्तमानां प्रसङ्गे न लघवो यान्ति गौरवं। पुष्पमालाप्रसङ्गे न सूत्रं शिरसि धार्यते ॥१॥

हैं ॥१॥''

उक्त सिद्धान्त का दृष्टान्त द्वारा समर्थन–

महद्भिः पुरुषैः प्रतिष्ठितोऽश्मापि भवति देवः किं पुनर्मनुष्यः ॥३॥

अर्थ—अचेतन और प्रतिमा की आकृति-युक्त पाषाण भी विद्वानों के द्वारा प्रतिष्ठित होने से देव हो जाता है-देव की तरह पूजा ज्ञाता है। तब ''सचेतन पुरुष का महापुरुषों की संगति से उन्नत हो जाना'' इसे तो कहना ही क्या है ? अर्थात् अवश्य उन्नत हो जाता है ॥३॥

हारीत[1] विद्वान् ने लिखा हैं कि ''उत्तम पुरुषों से स्थापित या प्रतिष्ठित पाषाण भी देव हो जाता है, तब क्या उनकी संगति से मनुष्य उत्तम नहीं हो सकता ? अवश्य हो सकता है ॥१॥

निष्कर्ष—इसलिए राजा को या सर्व साधारण मनुष्यों को महापुरुषों की बात माननी चाहिए ॥३॥

उक्त सिद्धान्त का ऐतिहासिक प्रमाण द्वारा समर्थन–

तथा चानुश्रूयते विष्णुगुप्तानुग्रहादनधिकृतोऽपि किल चन्द्रगुप्त साम्राज्यपदमवापेति ॥४॥

अर्थ—इतिहास बताता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य (सम्राट् नन्द का पुत्र) ने स्वयं राज्य का अधिकारी न होने पर भी विष्णुगुप्त-चाणक्य नाम के विद्वान् के अनुग्रह से साम्राज्य पद को प्राप्त किया[2] ॥४॥

शुक्र[1] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि ''जो राजा राजनीति में निपुण महामात्य-प्रधान मंत्री-को नियुक्ति करने में किसी प्रकार का विकल्प नहीं करता, वह अकेला होने पर भी राज्यश्री को प्राप्त

१. तथा च हारीतः–पाषाणोऽपि च विवुधः स्थापितो यैः प्रजायते। उत्तमैः पुरुष स्तैस्तु किं न स्यान्मानुषोऽपरः ॥१॥

२. इतिहास बताता है कि ३२२. ई. पू. में नन्द वंश का राजा महापद्मनन्द मगध का सम्राट था। नन्दवंश के राजा अत्याचारी शासक थे, इसलिए उनकी प्रजा उनसे अप्रसन्न हो गई और अन्त में विष्णुगुप्त-चाणक्य नाम के ब्राह्मण विद्वान् की सहायता से इस वंश के अन्तिम राजा को उसके सेनापति चन्द्रगुप्त मौर्य ने ३२२. ई. पू. में गद्दी से उतार दिया और स्वयं राजा बन बैठा। मैगस्थनीज नामक यूनानी राजदूत ने जो कि चन्द्रगुप्त के दरबार में रहता था, चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध की बड़ी प्रशंसा की है। इस ने २४. वर्ष पर्यन्त नीतिन्यायपूर्वक राज्य शासन किया। कथासरितसागर में भी लिखा है कि नन्द राजा के पास ९६ करोड़ सुवर्ण मुद्राएं थीं। अतएव इसका नाम नवनंद था। इसी नंद को मरवा कर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध की राजगद्दी पर बैठाया। किन्तु इतने विशाल साम्राज्य के अधिपति की मृत्यु के बाद सरलता से उक्त साम्राज्य को हस्तगत करना जरा टेढ़ी खीर थी। नंद के मंत्री राक्षस-आदि उसकी मृत्यु के बाद उसके वंशजों को राजगद्दी पर बिठा कर मगध साम्राज्य को उसी वंश में रखने की चेष्टा करते रहे। इन मंत्रियों ने चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त की सम्मिलित शक्ति का विरोध बड़ी दृढ़ता से किया। कवि विशाखदत्त मुद्राराक्षस में लिखते हैं कि शक, यवन, कम्बोज व पारसीक आदि जाति के राजा चन्द्रगुप्त और पर्वतेश्वर की सहायता कर रहे थे। करीब ५-६ वर्षों तक चन्द्रगुप्त को नन्दवंश के मंत्रियों ने पाटलिपुत्र में प्रवेश नहीं करने दिया, किन्तु विष्णुगुप्त-चाणक्य (कौटिल्य) की कुटिल नीति के सामने इन्हें सिर झुकाना पड़ा। अन्त में विजयी चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की सहायता से नन्दवंश का मूलोच्छेद करके सुगांगप्रासाद में बड़े सामारोह के साथ प्रवेश किया।

करता है। जिस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य ने अकेले होने पर भी चाणक्य नामक विद्वान् महामात्य की सहायता से राज्यश्री को प्राप्त किया था ॥१॥''

प्रधान मंत्री के सद्गुणों का निर्देश–

ब्राह्मणक्षत्रियविशामेकतमं स्वदेशजमाचाराभिजनविशुद्धमव्यसनिनमव्यभिचारिणमधीताखिलव्यवहारतंत्रमस्त्रज्ञमशेषोपाधिविशुद्धं च मंत्रिणं कुर्वीत ॥५॥

अर्थ–बुद्धिमान राजा या प्रजा को निम्नप्रकार के गुणों से विभूषित प्रधान मंत्री नियुक्त करना चाहिए। जो द्विज–ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में से एक हो किन्तु शूद्र न हो, अपने देश आर्यावर्त का निवासी हो, किन्तु विदेश का रहने वाला न हो, सदाचारी अर्थात् दुष्कर्मों में प्रवृत्ति करने वाला न हो। किन्तु पवित्र आचरण वाला हो। जो कुलीन हो–जिसके माता और पिता का पक्ष (वंश) विशुद्ध हो (जो कि विवाहित समान वर्ण वाले माता–पिता से उत्पन्न हो)। जो जुआ खेलना, मद्यपान करना और परस्त्रीसेवन आदि व्यसनों से दूर हो। जो द्रोह करने वाला न हो–जो दूसरे राजा से मिला हुआ न होकर केवल अपने स्वामी में ही श्रद्धायुक्त हो। व्यवहार विद्या में निपुण–नीतिज्ञ (जिसने समस्त व्यवहार शास्त्रों–नीतिशास्त्रों के रहस्य का अध्ययन किया हो) युद्ध विद्या में निपुण तथा शत्रु–चेष्टा की परीक्षा में निपुण हो अथवा समस्त प्रकार के छल–कपट से रहित हो अर्थात् दूसरे के कपट को जानने वाला होने पर भी स्वयं कपट करने वाला न हो। –

भावार्थ–राजा का प्रधान मंत्री द्विज, स्वदेशवासी, सदाचारी, कुलीन, व्यसनों से रहित, स्वामी से द्रोह न करने वाला, नीतिज्ञ, युद्ध–विद्या–विशारद और निष्कपट, इन नौ प्रकार के गुणों से विभूषित होना चाहिए; तभी उसके राज्य की चन्द्रवत् उन्नति (वृद्धि) हो सकती है अन्यथा नहीं ॥५॥

मंत्री के उपयुक्त गुणों में से 'स्वदेशवासी' गुण का समर्थन–

समस्तपक्षपातेषु स्वदेशपक्षपातो महान् ॥६॥

अर्थ–समस्त पक्षपातों में अपने देश का पक्षपात प्रधान माना गया है।

हारीत[१] नाम के विद्वान् ने लिखा है कि ''जो राजा अपने देशवासी मंत्री को नियुक्त करता है, वह आपत्तिकाल आने पर उससे मुक्त हो जाता है ॥१॥''

निष्कर्ष–चाणक्य ने विषकन्या के प्रयोग से नंदों को मरवाकर अपनी आज्ञा के अनुसार चलने वाले चन्द्रगुप्त मौर्य को मगधप्रान्त के साम्राज्य पद पर आसीन किया। इसका पूर्ण वृत्तान्त पाठकों को कवि विशाखदत्त के मुद्राराक्षस से तथा अन्य कथासरितसागर आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिए। विस्तार के भय से अधिक नहीं लिखना चाहते।

१. तथा च शुक्रः–महामात्यं वरो राजा निर्विकल्पं करोति यः। एकशोऽपि महीं लेभे हीनोऽपि वृद्दलो यथा ॥१॥

भावार्थ—राजमंत्री के उक्त ९ गुणों में से ''अपने देश का रहने वाला'' यह गुण मुख्य माना गया है। क्योंकि दूसरे देश का मंत्री अपने देश का पक्ष करने के कारण कभी राज्य का अहित भी कर सकता हैं, अतएव मंत्री को अपने देश का निवासी होना आवश्यक है।

निष्कर्ष—जहाँ पर ''दूसरे देश का रहने वाला मनुष्य राजमंत्री नहीं हो सकता'' इस बात का समर्थन किया गया है वहाँ पर दूसरे देश का रहने वाला व्यक्ति जो कि प्रजा के आचार-विचार से शून्य है, शासक-राजा किस प्रकार हो सकता है ? एवं उसके शासन में रहने वाली प्रजा को किस प्रकार सुख का लेश मिल सकता है ? क्योंकि दूसरे देश का निवासी शासक अपने देश के पक्षपातरूपी पिशाच से गृहीत होने के कारण अपनी प्रजा का क्या हित कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता। इसे राजनीतिज्ञ पाठक स्वयं सोच सकते हैं ॥६॥

दुराचार से होने वाली हानि का निर्देश–

विषनिषेक इव दुराचारः सर्वान् गुणान् दूषयति ॥७॥

अर्थ—दुराचार-खोटा आचरण (कुत्सित और निंद्य कर्मों में प्रवृत्ति) विष-भक्षण की तरह समस्त गुणों का नाश कर देता है, अर्थात् जिस प्रकार विष का भक्षण जीवन नष्ट कर देता है उसी प्रकार दुराचार भी विद्या, कला और नीतिमत्ता आदि मानवोचित गुणों को अथवा राज्य की वृद्धि और रक्षा करने वाले संधि और विग्रह आदि षाड्गुण्य को नष्ट कर देता है।

अत्रि[२] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो राजा दुराचारी मंत्री को नियुक्त करता है, वह उसकी खोटी सलाह से अपने राजोचित सद्गुणों-संधि-विग्रह आदि षाड्गुण्य को खो बैठता है-नष्ट कर डालता है ॥१॥''

निष्कर्ष—राजा का प्रधान मंत्री सदाचारी होना चाहिए, अन्यथा-उसके दुराचारी होने पर राज्यवृक्ष का मूल (राजनैतिक ज्ञान) और सैनिक संगठन-आदि सद्गुणों के अभाव से राज्य की क्षति सुनिश्चित रहती है ॥७॥

प्रधान मंत्री के कुलीन-उच्चकुल वाले न होने से हानि–

दुष्परिजनो मोहेन कुतोऽप्यपकृत्य न जुगुप्सते ॥८॥

अर्थ—नीच कुलवाला मंत्री राजा से द्रोह करके भी मोह के कारण किसी से भी लज्जा नहीं करता।

यम[१] विद्वान् ने भी कहा है ''कि स्वामी के साथ द्रोह-लड़ाई-झगड़ा करने पर भी नीच कुल वाले को लज्जा नहीं होती; अतः बुद्धिमान राजा को नीच कुल का मंत्री नहीं बनाना चाहिए ॥१॥''

---

१. तथा च हरीतः–स्वदेशजममात्यं यः कुरुते पृथिवीपतिः। आपत्कालेन सम्प्राप्तेन स तेन विमुच्यते ॥१॥

२. तथा च अत्रिः–दुराचारममात्यं यः करुते पृथिवीपतिः। भूपार्हांस्तस्य मंत्रेण गुणान् सर्वान् प्रणाशयेत् ॥१॥

भावार्थ—कुलीन पुरुष अज्ञानवश यदि कुछ दोष-अपराध करता है तो उसे लज्जा होती है, परन्तु नीच कुलवाला निर्लज्ज-बेशर्म होता है; इसलिए राजा को उच्च कुल का मंत्री बनाना चाहिए ॥८॥

मद्यपान-आदि व्यसनों में आसक्त मंत्री से होने वाली हानि-

सव्यसनसचिवो राजारूढ़व्यालगज इव नासुलभोऽपायः[२]॥९॥

अर्थ—जिस राजा का मंत्री जुआ, मद्यपान और परकलत्रसेवन-आदि व्यसनों में फँसा हुआ है, वह राजा पागल हाथी पर चढ़े हुए मनुष्य की तरह शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥६॥

राजा से द्रोह करने वाले मंत्री का स्वरूप-

किं तेन केनापि यो विपदि नोपतिष्ठते ॥१०॥

अर्थ—उस मंत्री, मित्र या सेवक से क्या लाभ है ? जो विपत्ति के समय अपने स्वामी या मित्र की सहायता नहीं करता किन्तु उल्टा उससे द्रोह करता है, चाहे वह कितना ही विद्वान् और व्यवहार कुशल ही क्यों न हो।

भावार्थ—अपने स्वामी से द्रोह करने वाले मंत्री और सेवकों का रखना निरर्थक है; अतएव प्रकरण में राजमंत्री को राज-द्रोही नहीं होना चाहिए ॥१०॥

शुक्र[३] विद्वान् ने कहा है कि ''जो विपत्ति पड़ने पर द्रोह करता है, उस मंत्री से राजा को क्या लाभ है ? चाहें वह समस्त गुणों से विभूषित ही क्यों न हो ॥१॥''

उक्त बात का समर्थन-

भोज्येऽसम्मतोऽपि हि सुलभो लोकः[४] ॥११॥

अर्थ—यह निश्चित है कि भोजन की वेला में बिना बुलाये आने वाले लोग बहुत हैं। अर्थात्- सुख के समय सभी लोग सहायक हो जाते हैं किंतु दुःख में कोई सहायक नहीं होता। अतएव विपत्ति में सहायता करने वाला पुरुष राजमंत्री पद के योग्य है अन्य नहीं ॥११॥

---

१. तथा च यमः-अकुलीनस्य नो लज्जा स्वामिद्रोहे कृते सति। [मंत्रिणं कुलहीनं च तस्मान्न स्थापयेद्बुधः] ॥१॥
नोट-इस श्लोक का तीसरा चरण संशोधित एवं परिवर्तित किया गया है तथा ४ थे चरण की पद्यरचना हमने स्वयं की है; क्योंकि सं. टी. पुस्तक में अशुद्ध छपा हुआ था। -सम्पादक

२. 'सुलभापायः' ऐसा पाठ मु. और ह. लि.मू. प्रतियों में है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं है।

३. तथा च शुक्रः-किं तेन मंत्रिणा योऽत्र व्यसने समुपस्थिते। व्यभिचारं करोत्येव गुणैः सर्वैर्युतोऽपि वा ॥१॥

४. ''पात्रसमितौ हि सुलभो लोकः'' इस प्रकार का पाठान्तर मु. एवं ह. लि. मू. प्रतियों में वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि भोजन करने वालों की सभा में बहुत से मनुष्य सरलता से प्रविष्ट हो जाते हैं। सारांश यह है कि सुख के समय सहायकों का मिलना सुलभ है, परन्तु संकट के समय उनका मिलना दुर्लभ है।
निष्कर्ष—अतएव विपत्ति में सहायक पुरुष-श्रेष्ठ ही प्रधानमंत्री पद के योग्य है।

बल्लभदेव[१] विद्वान् ने कहा है कि ''धनादिक वैभव के प्राप्त होने पर दूसरे लोग भी कुटुम्बियों की तरह व्यवहार करते हैं; अतः राजाओं को विपत्ति के समय सहायता करने वाले मंत्री का मिलना दुर्लभ है चाहे वह नीच कुल का भी क्यों न हो ॥१॥''

व्यवहार-कुशलता के रहस्य को न जानने वाले मंत्री का दोष-

किं तस्य भक्त्या यो न वेत्ति स्वामिनो हितोपायमहितप्रतीकारं वा ॥१२॥

अर्थ—जो मंत्री अपने स्वामी को उन्नति के उपाय (कोष-वृद्धि-आदि) और दुःखों का प्रतीकार-शत्रु का नाश-आदि-को नहीं जानता, किन्तु केवल भक्ति मात्र दिखाता है ''उस मंत्री की केवल भक्ति से क्या लाभ है ? कोई लाभ नहीं ॥१२॥

भावार्थ—जो व्यक्ति राजा का हित-साधन और अहित-प्रतीकार के उपायों को नहीं जानता, किन्तु केवल उसकी भक्ति मात्र करता है, उसे राजमंत्री बनाने से राज्य की श्रीवृद्धि नहीं हो सकती, इसलिए राजा को राजनीति विद्या में प्रवीण एवं कर्तव्य-निपुण पुरुष को मंत्री पद पर नियुक्त करना चाहिए ॥१२॥

गुरु[२] विद्वान् ने कहा है कि ''जो व्यक्ति राजा की धन-प्राप्ति के उपाय और उसके शत्रु-नाश पर ध्यान नहीं देता, उसके जाने हुए शिष्टाचार और नमस्कार आदि व्यवहारों से क्या लाभ है ? अर्थात् कोई लाभ नहीं ॥१॥

शस्त्रविद्या में निपुण हो करके भी भीरुता दिखाने वाले मंत्री का दोष-

किं तेन सहायेनास्त्रज्ञेन मंत्रिणा यस्यात्मरक्षणेऽप्यस्त्रं न प्रभवति[३] ॥१३॥

अर्थ—जिसका शस्त्र-खड्ग और धनुष-आदि-अपनी रक्षा करने में भी समर्थ नहीं है ऐसे शस्त्र विद्या में प्रवीण सहायक मंत्री से राजा का क्या लाभ हो सकता है ? कोई लाभ नहीं हो सकता।

भावार्थ—जो व्यक्ति युद्ध-कला में प्रवीण हो करके भी वीररस-पूर्ण-बहादुर है, वही राज-मंत्री होने के योग्य है। परन्तु जो केवल शस्त्र-विद्या से परिचित होकर कायरता दोष से अपनी रक्षा भी नहीं कर सकता वह (डरपोक) राजमंत्री होने का अधिकारी नहीं है ॥१३॥

उपधा-शत्रु-चेष्टा की परीक्षा का निर्देश-

धर्मार्थकामभयेषु व्याजेन परयित्तपरीक्षणमुपधा[४] ॥१४॥

अर्थ—शत्रु के धर्म, अर्थ, काम और भय की जानकारी के लिए-अमुक शत्रुभूत राजा धार्मिक है ? अथवा अधार्मिक है ? उसके खजाने में प्रचुर सम्पत्ति है, अथवा नहीं ? वह कामान्ध है ? अथवा

---

१. तथा च बल्लभो देवः—समृद्धिकाले संप्राप्ते परोऽपि स्वजनायते। अकुलीनोऽपि चामात्यो दुर्लभः स महीभृताम् ॥१॥

२. तथा च गुरुः—किं तस्य व्यवहारार्थैर्विशातैः शुभकैरपि यो न चिन्तयते राशो धनोपायं रिपुक्षयं ॥१॥

३. मु. मू. प्रति में 'अस्त्रज्ञेन' यह पद नहीं है।

४. ''धर्मार्थकामनयव्याजेन परिचित्तपरीक्षणमुपधा'' ऐसा मु. एवं ह. लि. मू. प्रति में पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

जितेन्द्रिय ? बहादुर है ? या डरपोक ? इत्यादि ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से गुप्तचरों के द्वारा छल से शत्रु-चेष्टा की परीक्षा करना, यह 'उपधा' या 'उपाधि' नाम का राज-मंत्री का प्रधान सद्गुण है।

भावार्थ—राजनीति में निपुण मंत्री का कर्त्तव्य है कि शत्रुभूत राजा की धर्म-निष्ठा या धर्म-शून्यता के ज्ञान के लिए धर्म-विद्या में निपुण गुप्तचर को उसके यहाँ भेजकर उसकी राजपुरोहित से मित्रता करावे और गुप्तचर से कह रक्खे कि उसकी धार्मिकता या पापनिष्ठा की हमें शीघ्र खबर दो। तदनन्तर शत्रुभूत राजा की धार्मिकता का निश्चय होने पर मंत्री को अपने राजा से मिलकर उस शत्रु राजा से संधि कर लेनी चाहिए। यदि वह पापी प्रतीत हो तो उससे विग्रह-युद्ध करके अपने राज्य की श्री-वृद्धि कर लेनी चाहिए। यह मंत्री की 'धर्मोपधा' शक्ति है।

अर्थोपधा—इसी प्रकार मंत्री अर्थ में निपुण गुप्तचर को अपने देश की वस्तुएँ लेकर बेचने के बहाने से शत्रु के देश में भेजे। वह वहाँ जाकर शत्रु राजा के कोषाध्यक्ष से मित्रता करके कोष की शुद्धि का निश्चय करे। पश्चात् वापस आकर मंत्री को सूचित कर देवे। यदि शत्रु राजा के पास कोष-धन-राशि अधिक है, तो मंत्री को उससे संधि कर लेनी चाहिए, यदि शत्रु का खजाना खाली हो रहा हो, तो उससे विग्रह करके राज्य की वृद्धि करनी चाहिए।

कामोपधा-इसी प्रकार काम शास्त्र में प्रवीण गुप्तचर को भेजकर उसकी कंचुकी के साथ मित्रता करा के काम शुद्धि का निश्चय करे। यदि शत्रुराजा कामी हो-द्यूत-क्रीड़ा परकलत्र-सेवन-आदि। व्यसनों में फंसा हुआ हो तो उससे युद्ध करना योग्य है। यदि जितेन्द्रिय हो तो संधि करने के योग्य है।

भयोपधा-इसी प्रकार मंत्री को शत्रु राजा के यहाँ शूरवीर और युद्धकला में प्रवीण गुप्तचर भेजकर उसकी शत्रु के सेनापति से मित्रता करवाकर शत्रु, राजा की बहादुरी या डरपोकपन का निश्चय करे। यदि शत्रु, राजा डरपोक हो तो मंत्री को उसके साथ युद्ध छेड़ना चाहिए और यदि बहादुर हो तो उससे संधि कर लेनी चाहिए।

निष्कर्ष-इस प्रकार मंत्री को चतुर गुप्तचरों द्वारा शत्रु भूत राजाओं की धार्मिक, आर्थिक, कामिक और भय सम्बन्धी शुद्धि का निश्चय करते रहनी चाहिए। ऐसा करने वाला ही मंत्री षाड्गुण्य-(संधि, विग्रह, यान और आसन-आदि) का उचित स्थान पर प्रयोग करके अप्राप्त राज्य की प्राप्ति, प्राप्त की सुरक्षा और रक्षितराज्य की वृद्धि करने में समर्थ होता है ॥१४॥

शुक्र[१] विद्वान् ने कहा है ''कि राजमंत्री को अपने-अपने विषयों में प्रवीण गुप्तचरों को शत्रुभूतराजा के यहाँ भेजकर उसके पुरोहित से उसकी धर्म-शून्यता, कोषाध्यक्ष से निर्धनता, कञ्चुकी से विषयलम्पटता और सेनापति से डरपोकपने का निश्चय करके अपने राजा से सलाह करके उसके

१. तथा च शुक्रः-ज्ञात्वाचरैर्यः कथितोऽरिगम्यः धर्मार्थहीनो विषयी सुभीरुः। पुरोहितार्थाधिपतेः सकाशात्, स्त्रीरक्षकात् सैन्यपतेः स कार्यः ॥१॥

साथ विग्रह या युद्ध करना चाहिए ॥१॥''

नीचकुल वाले मंत्रियों के दोष–

अकुलीनेषु नास्त्यपवादाद्भयम् ॥१५॥

अर्थ–नीच कुल वाले मंत्री आदि अपनी अपकीर्ति-लोक में होने वाली निन्दा-से नहीं डरते।

भावार्थ–नीच कुल का मंत्री लोक में होने वाली अपनी निन्दा से नहीं डरता, इसलिए वह कभी राजा का अनर्थ भी कर सकता है; अतएव राजा को कुलीन मंत्री रखना चाहिए ॥१५॥

बल्लभदेव[१] विद्वान् ने कहा है कि ''नीच कुल का व्यक्ति अपनी अपकीर्ति पर ध्यान नहीं देता; इसलिए राजा को उसे मंत्री नहीं बनाना चाहिए ॥१॥''

पूर्वोक्त बात का विशेष समर्थन–

अलर्कविषवत् कालं प्राप्य विकुर्वते विजातयः ॥१६॥

अर्थ–नीचकुल वाले राजमंत्री वगैरह पुरुष कालान्तर में (राजा के ऊपर आपत्ति आने पर) पागल कुत्ते के विष की तरह विरुद्ध हो जाते हैं।

भावार्थ–जिस प्रकार पागल कुत्ते के दाँत का विष काटे हुए मनुष्य को उसी समय विकार पैदा नहीं करता; किन्तु वर्षाकाल आने पर उसे कष्ट पहुँचाता है, उसी प्रकार कुलहीन मंत्री भी राजा के ऊपर आपत्ति पड़ने पर उसके पूर्वकृत दोष को स्मरण करके उससे विरुद्ध हो जाते हैं; अतएव नीचकुल वाले मंत्रियों का रखना राजा को अनुचित है ॥१६॥

वादरायण[२] विद्वान् ने भी उक्त सिद्धान्त का समर्थन किया है कि ''जिस राजा के मंत्री नीचकुल के होते हैं, वे राजा के ऊपर विपत्ति आने पर उसके द्वारा किये हुए पहले दोष को स्मरण करके उससे विरुद्ध हो जाते हैं ॥१॥

कुलीनमंत्री का स्वरूप–

तदमृतस्य विषत्वं यः कुलीनेषु दोषसम्भवः ॥१७॥

अर्थ–कुलीन पुरुषों में विश्वासघात-आदि दोषों का होना अमृत का विष होने के समान है। अर्थात् जिस प्रकार अमृत विष नहीं हो सकता, उसी प्रकार उच्च कुल वालों में भी विश्वासघात आदि दोष नहीं हो सकते ॥१७॥

रैभ्य[१] विद्वान् ने कहा है कि ''यदि अग्नि शीतल-ठंडी, चन्द्रमा उष्ण और अमृत विष हो सके तब कहीं उच्च-कुल वालों में भी विश्वासघात-आदि दोष हो सकते हैं अर्थात् जिस प्रकार अग्नि

---

१. तथा च बल्लभदेवः–कथंचिदपवादं स न वेत्ति कुलवर्जितः। तस्मात्तु भूभुजा कार्यो मंत्री न कुलवर्जितः ॥१॥

२. तथा च वादरायणः–अमात्या कुलहीना ये पार्थिवस्य भवन्ति ते। आपत्काले विरुध्यन्ते स्मरन्तः पूर्वदुष्कृतम् ॥१॥

ठंडी नहीं हो सकती, चन्द्रमा गरम नहीं हो सकता और अमृत विष नहीं हो सकता, उसी प्रकार कुलीन पुरुष भी आपत्ति के समय अपने स्वामी-आदि से विरुद्ध होकर विश्वासघात-आदि दोष नहीं कर सकते ॥१॥''

ज्ञानी मंत्री का ज्ञान जिस प्रकार व्यर्थ होता है-

घटप्रदीपवत्तज्ज्ञानं मंत्रिणो यत्र न परप्रतिबोधः ॥१८॥

अर्थ—जिस ज्ञान के द्वारा दूसरों को समझा कर सन्मार्ग पर न लगाया जावे, वह मंत्री या विद्वान् का ज्ञान घट में रखे हुए दीपक के समान व्यर्थ है अर्थात् जिस प्रकार उजालकर घड़े में स्थापित किया हुआ दीपक केवल घड़े को ही प्रकाशित करता है, परन्तु बाह्य देश में रहने वाले पदार्थों को प्रकाशित नहीं करता, इसलिए वह व्यर्थ समझा जाता है, उसी प्रकार मंत्री अपने राजा को और विद्वान् पुरुष दूसरों को समझाने की कला में यदि प्रवीण नहीं है, तो उसका ज्ञान निरर्थक है ॥१८॥

वर्ग विद्वान्[२] ने कहा है कि जो मंत्री अनेक सद्‌गुणों से विभूषित होने पर भी यदि राजा को समझा ने की कला में प्रवीण-चतुर नहीं है, तो उसके समस्त गुण घट में रखे हुए दीपक के समान व्यर्थ हैं ॥१॥''

शास्त्र ज्ञान की निष्फलता-

तेषु शस्त्रमिव शास्त्रमपि निष्फलं येषां प्रतिपक्षदर्शनाद्भयमन्वयन्ति चेतांसि ॥१३॥

अर्थ—जिन वीर पुरुषों के चित्त शत्रुओं को देखकर भयभीत होते हैं उनका शस्त्र-धारण जिस प्रकार व्यर्थ है, उसी प्रकार जिन विद्वान् पुरुषों के मन वादियों-विरुद्ध सिद्धान्त का समर्थन करने वाले पुरुषों- को देखकर भयभीत होते हैं, उनका शास्त्रज्ञान भी निरर्थक है ॥१६॥

वादरायण[३] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जिस प्रकार शस्त्र-विद्या में प्रवीण योद्धा पुरुष यदि शत्रुओं से डरता है, तो उसकी शस्त्रकला निरर्थक है, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष भी यदि वादियों के साथ शास्त्रार्थ-आदि करने से डरता है, तो उसका शास्त्रज्ञान भी निरर्थक है ॥१॥''

जिस स्थिति में शस्त्र व शास्त्रज्ञान निरर्थक होता है-

---

१. तथा च रैभ्यः-यदि स्याच्छीतलो वन्हिः सोष्णस्तु रजनीपतिः। अमृतं च विषं भावि तत्कुलीनेषु विक्रिया ॥१॥

२. तथा च वर्गः-सुगुणढ्योऽपि यो मंत्री नृपं शक्तो न बोधितुम् [निरर्थका भवन्त्यन्ते] गुणा घटप्रदीपवत् ॥१॥
नोट—उक्त श्लोक के तीसरे चरण की पद्य-रचना हमने स्वयं की है, क्योंकि सं. टी. पुस्तक में नहीं थी।
—सम्पादक

३. तथाच वादिरायणः-यथा शस्त्रज्ञस्य शस्त्रं व्यर्थं रिपुकृताद् भयात्। शास्त्रज्ञस्य तथा शास्त्रं प्रतिवादि भयाद् भवेत् ॥१॥

तच्छस्त्रं शास्त्रं वात्मपरिभवाय यन्न हन्ति परेषां प्रसरं[1] ॥२०॥

अर्थ–जिस वीर पुरुष का शस्त्र शत्रुओं के बढ़ते हुए वेग-आक्रमण-को नष्ट नहीं करता, उसका शस्त्र-धारण करना उसके पराभव-पराजय (हार) के लिए है। एवं जिस विद्वान् पुरुष का शास्त्रज्ञान वादियों के बढ़ते हुए वेग को नहीं रोकता, उसका शास्त्रज्ञान भी उसके पराजय का कारण होता है।

निष्कर्ष–इसलिए वीर पुरुष को शस्त्र धारण का और विद्वान् पुरुष को शास्त्रज्ञान का क्रमशः उपयोग (शत्रु-निग्रह और प्रबल युक्तियों द्वारा अपने सिद्धान्त का समर्थन और परपक्ष-खंडन आदि)करना चाहिए अन्यथा-ऐसा न करने से उन दोनों का पराजय अवश्यम्भावी है।॥२०॥

नारद[2] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो योद्धा शत्रु के बढ़ते हुए आक्रमण को अपनी शस्त्र-कला की शक्ति से नष्ट नहीं करता, वह लघुता को प्राप्त होता है। इसी प्रकार जो विद्वान् वादियों के वेग को अपनी विद्वत्ता की शक्ति से नहीं रोकता, वह भी लघुता को प्राप्त होता है ॥५॥''

कायर व मूर्ख पुरुष में मंत्री-आदि पद की अयोग्यता-

न हि गली वलीवर्दो भारकर्मणि केनापि युज्यते ॥२१॥

अर्थ–कोई भी विद्वान् पुरुष गाय के बछड़े को बोझा ढोने में नहीं लगाता।

भावार्थ–जिस प्रकार बछड़े को महान् बोझा ढोने में लगाने से कोई लाभ नहीं, उसी प्रकार कायर पुरुष को युद्ध करने के लिए और मूर्ख पुरुष को शास्त्रार्थ करने के लिए प्रेरित करने से कोई लाभ नहीं होता। इसलिए प्रकरण में मंत्री को युद्धविद्या-प्रवीण व राजनीतिज्ञ होना चाहिए। कायर और मूर्ख पुरुष मंत्री पद के योग्य नहीं।

निष्कर्ष–अपरिपक्व होने के कारण बछड़े से बोझा ढुना जिस प्रकार निरर्थक है, उसी प्रकार कायर और मूर्ख पुरुष को मंत्री पद पर नियुक्त करना निरर्थक है ॥२१॥

राजाओं को षाड्गुण्य-संधि व विग्रह-आदि राजनैतिक कार्य-जिस विधि से करना चाहिए-

मंत्रपूर्वः सर्वोऽप्यारंभः क्षितिपतीनाम् ॥२२॥

अर्थ–राजाओं को अपने समस्त कार्यों (संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव) का प्रारम्भ मंत्रपूर्वक-सुयोग्य मंत्रियों के साथ निश्चय करके करना चाहिए।

शुक्र[1] विद्वान् ने कहा हैं ''कि जो राजा मंत्री के साथ बिना निश्चय किये ही संधि-विग्रह यान

---

१. ''न तदस्त्रं शास्त्रं वा, आत्मपरिभवाभावाय यन्न हन्ति परेषां प्रसरं'' ऐसा पाठ मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि जिस की शस्त्र और शास्त्रकला क्रमशः शत्रुओं व वादियों के प्रसार (हमला और खंडन) को नष्ट नहीं कर सकती, उसकी वह शस्त्र-शास्त्रकला अनुपयोगी होने से उसके पराजय को नहीं रोक सकती उससे उसको विजयलक्ष्मी प्राप्त नहीं हो सकती।

२. तथा च नारदः-शत्रोर्वा वाद्विनो वाऽपि शास्त्रेणैवायुधेन वा। विद्यमानं न हन्याद्यो वेगं स लघुतां ब्रजेत् ॥१॥

और आसन-आदि कार्य करता है, उसके वे कार्य नपुंसक के स्त्री के संभोग की तरह निष्फल हो जाते हैं ॥१॥''

मंत्र-मंत्री-आदि की सलाह-से होने वाला लाभ-

अनुपलब्धस्य ज्ञानं, उपलब्धस्य निश्चयः, निश्चितस्य बलाधानं, अर्थस्य द्वैधस्य संशयच्छेदनं, एकदेशलब्धस्याशेषोपलब्धिरिति मंत्रसाध्यमेतत्[२] ॥२३॥

अर्थ—सन्धि व विग्रह-आदि में उपयोगी एवं अज्ञात-बिना जाने हुए-या अप्राप्त (बिना प्राप्त किये हुए) शत्रु-सैन्य वगैरह कार्य का जानना या प्राप्त करना। जाने हुए कार्य का निश्चय करना अथवा प्राप्त किये हुए को स्थिर करना। निश्चित कार्य को दृढ़ करना या किसी कार्य में संदेह उत्पन्न होने पर उसका निवारण करना। उदाहरण में शत्रुभूत राजा के देश से आये हुए पहले गुप्तचर ने शत्रुसैन्य-आदि के बारे में कुछ और कहा तथा दूसरे ने उससे विपरीत कह दिया ऐसे अवसर पर तीसरे विश्वासपात्र गुप्तचर को भेजकर उक्त संशय का निवारण करना अथवा अमुक शत्रुभूत राजा से सन्धि करना चाहिए? अथवा विग्रह-आदि करना चाहिए ? इस प्रकार का संशय उत्पन्न होने पर प्रबल प्रमाणों से उसको निवारण करना और एक देश प्राप्त किये हुए भूमि आदि पदार्थों को पूर्ण प्राप्त करना अथवा एक देश जाने हुए कार्य के शेष भाग को भी जान लेना ये सब कार्य राजा को मंत्र-मंत्री आदि की सलाह से सिद्ध करना चाहिए। अथवा उक्त मंत्र से इन सब कार्यों की सिद्धि होती है।

गुरु[३] विद्वान् ने कहा है कि ''राजनीति के विद्वान् राजा को बिना जानी हुई शत्रु-सेना को गुप्तचरों के द्वारा जान लेनी चाहिए और जानने के पश्चात् यह निश्चय करना चाहिए कि हमारा कार्य (सन्धि और विग्रह आदि) सिद्ध होगा ? या नहीं ? ॥१॥

निष्कर्ष—विजिगीषु राजा को अप्राप्त राज्यादि की प्राप्ति और सुरक्षा-आदि के लिए अत्यन्त बुद्धिमान व राजनीति के धुरन्धर विद्वान् और अनुभवी मंत्री-मण्डल के साथ बैठकर मंत्र का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है ॥२३॥

मंत्रियों का लक्षण या कर्तव्य-

अकृतारम्भमारब्धस्याप्यनुष्ठानमनुष्ठितविशेषं विनियोगसम्पदं च ये कुर्युस्ते मंत्रिणः ॥२४॥

अर्थ—जो बिना प्रारम्भ किये हुए कार्यों का प्रारम्भ करें, प्रारम्भ किये हुए कार्यों को पूरा करें

---

१. तथाच शुक्रः-अमंत्रसचिवैः सार्द्धं यः कार्यं कुरुते नृपः। तस्य तन्निष्फलं भावि षण्ढस्य सुरतं यथा ॥१॥

२. उक्त सूत्र मु. मू. पुस्तक से संकलन किया गया है, सं. टी. पु. में भी ऐसा ही पाठ है, परन्तु उसमें संधि सहित है और कोई पार्थक्य नहीं हैं। -सम्पादक

३. तथा च गुरुः-अज्ञातं शत्रुसैन्यं च चरैर्ज्ञेयं विपश्चिता। तस्य विज्ञातमध्यस्यकार्यं सिद्धं नवेति च ॥१॥

और जो कार्य पूरे हो चुके हों उनमें कुछ विशेषता लावें तथा अपने अधिकार का उचित स्थान में प्रभाव दिखावें उन्हें मंत्री कहते हैं ॥२४॥

शुक्र[1] विद्वान् ने कहा है कि ''जो कुशल पुरुष राजा के समस्त कार्यों में विशेषता तथा अपने अधिकार का प्रभाव दिखा ने में प्रवीण हों, वे राजमंत्री होने के योग्य हैं और जिन में उक्त कार्य करने की योग्यता नहीं है, वे मंत्रीपद के योग्य नहीं हैं ॥१॥''

मंत्र-मंत्रियों के साथ किये हुए विचार-के अंग-

कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपद्देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिश्चेति पंचांऽगो मंत्रः ॥२५॥

अर्थ—मंत्र के पाँच अंग होते हैं। १. कार्य के प्रारम्भ करने का उपाय, २. पुरुष और द्रव्यसम्पत्ति, ३. देश और काल का विभाग, ४. विनिपात-प्रतीकार और ५ कार्यसिद्धि।

१. कार्य प्रारम्भ करने का उपाय—जैसे अपने राष्ट्र को शत्रुओं से सुरक्षित रखने के लिए उसमें खाई परकोटा और दुर्ग-आदि निर्माण करने के साधनों का विचार करना और दूसरे देश में शत्रुभूत राजा के यहाँ सन्धि व विग्रह-आदि के उद्देश्य से गुप्तचर व दूत भेजना-आदि कार्यों के साधनों पर विचार करना यह मंत्र का पहला अंग है।

किसी[2] नीतिकार ने कहा है कि ''जो पुरुष कार्य-प्रारम्भ करने के पूर्व ही उसकी पूर्णता का उपाय-साम व दान आदि-नहीं सोचता, उसका वह कार्य कभी भी पूर्ण नहीं होता ॥१॥''

२. पुरुष व द्रव्य सम्पत्ति अर्थात्-यह पुरुष अमुक कार्य करने में निपुण है, यह जानकर उसे उस कार्य में नियुक्त करना तथा द्रव्य सम्पत्ति कि इतने धन से अमुक कार्य सिद्ध होगा,यह क्रमशः 'पुरुष सम्पत्' और 'द्रव्य सम्पत्' नाम का दूसरा मंत्राङ्ग है। अथवा स्वदेश-परदेश की अपेक्षा से प्रत्येक के दो भेद हो जाते हैं।

उदाहरणार्थ—पुरुष-अपने देश में दुर्ग आदि बनाने में अत्यंत चतुर बढ़ई और लुहार-आदि और द्रव्य-लकड़ी, पत्थर आदि। दूसरे देश में पुरुष, संधि आदि करने में कुशल दूत तथा सेनापति और द्रव्यरत्न व सुवर्ण-आदि।

किसी नीतिकार[3] ने कहा है कि ''जो मनुष्य अपने कार्य-कुशल पुरुष को उसके करने में नियुक्त नहीं करता तथा उस कार्य के योग्य धन नहीं लगाता, उससे कार्य-सिद्धि नहीं हो पाती ॥१॥''

३. देश और काल का विभाग-अमुक कार्य करने में अमुक देश व अमुक काल अनुकूल एवं

---

१. तथा च शुक्रः-दर्शयन्ति विशेषं ये सर्वकर्मसु भूपतेः। स्वाधिकारप्रभावं च मंत्रिणस्तेऽन्यथा परे ॥१॥

२. तथा च कश्चिन्नीतिवित्-कार्यारम्भेषु नोपायं तत्सिद्ध्यर्थं च चिन्तयेत्। यः पूर्वं तस्य नो सिद्धिं तत्कार्यं याति कर्हिचित् ॥१॥

३. तथा चोक्तं-समर्थं पुरुषं कृत्ये तदर्हं च तथा धनम्। योजयेत्-यो न कृत्येषु तत्सिद्धिं तस्य नो ब्रजेत् ॥१॥

अमुक देश और काल प्रतिकूल है। इसका विभाग (विचार) करना मंत्र का तीसरा अंग है, अथवा अपने देश में देश (दुर्ग आदि के बनाने के लिए जनपद के बीच का देश) और काल–सुभिक्ष–दुर्भिक्ष तथा वर्षा एवं दूसरे के देश में सन्धि–आदि करने पर कोई उपजाऊ प्रदेश और काल–आक्रमण करने या न करने का समय कहलाता है, इनका विचार करना यह देश–काल विभाग नाम का तीसरा मन्त्राङ्ग कहलाता है।

किसी विद्वान्[1] ने कहा है ''कि जिस प्रकार नदी की मछली जमीन पर प्राप्त होने से नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार राजा भी खोटे देश को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता हैं ॥१॥''

जिस प्रकार कौआ रात्रि के समय और उल्लू दिन के समय घूमता हुआ नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार राजा भी वर्षा–काल–आदि खोटे समय को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है। अर्थात्–वर्षा–ऋतु–आदि कुसमय में लड़ाई करने वाला राजा भी अपनी सेना को निस्सन्देह कष्ट में डाल देता है ॥२॥

४. विनिपात प्रतीकार–आई हुई आपत्तियों के नाश का उपाय चिंतन करना। जैसे अपने दुर्ग–आदि पर आने वाले या आये हुये विघ्नों का प्रतीकार करना यह मंत्र का ''विनिपात प्रतिकार'' नामक चौथा अंग हैं।

किसी विद्वान्[2] ने कहा है कि जो मनुष्य आपत्ति पड़ने पर मोह (अज्ञान) को प्राप्त नहीं होता और यथाशक्ति उद्योग करता है, वह उस आपत्ति को नष्ट कर देता हैं ॥१॥''

५. कार्यसिद्धि–उन्नति, अवनति और सम–अवस्था यह तीन प्रकार को कार्य–सिद्ध हैं। जिन सामादि उपायों से विजिगीषु राजा अपनी उन्नति, शत्रु की अवनति या दोनों को सम–अवस्था को प्राप्त हो, यह कार्य सिद्धि नाम का पाँचवाँ मंत्राङ्ग हैं।

किसी विद्वान्[3] ने कहा है ''कि जो मनुष्य साम, दाम, दंड व भेद उपायों से कार्य–सिद्धि चिंतन करता हैं और कहीं पर उससे विरक्त नहीं होता, उसका कार्य निश्चय से सिद्ध हो जाता हैं ॥१॥

निष्कर्ष–विजिगीषु राजा को समस्त मंत्री–मंडल से या एक से या दो से उक्त पंचाङ्ग मंत्र का विचार वा तदनुकूल प्रवृत्ति करनी चाहिए ॥२५॥

मंत्र–सलाह–के अयोग्यस्थान–

आकाशे प्रतिशब्दवति चाश्रये मंत्रं न कुर्यात् ॥२६॥

---

१. उक्तं च यतः–यथात्र सैन्धवस्तोये स्थले मत्स्यो विनश्यति। शीघ्रं तथा महीपालः कुदेशं प्राप्य सीदति ॥१॥
यथा काको निशाकाले कौशिकश्च दिवा चरन्। स विनश्यति कालेन तथा भूपो न संशयः॥ २॥

२. उक्तं च यतः–आपत्काल तु सम्प्राप्ते यो न मोहं न प्रगच्छति। उद्यमं कुरुते शक्त्या स तं नाशयति ध्रुवं ॥१॥

३. तथा चोक्तं–सामादिभिरूपायेर्यो कार्यसिद्धिं प्रचिन्तयेत्। न निर्वेगं क्वचिद्याति तस्य तत्र सिद्धयति ध्रुवं ॥१॥

अर्थ—जो स्थान चारों तरफ से खुला हुआ हो ऐसे स्थान पर तथा पर्वत व गुफा आदि स्थानों में जहाँ पर प्रतिध्वनि निकलती हो, राजा और मंत्री आदि को मंत्रणा नहीं करनी चाहिए ॥२६॥

भावार्थ—गुप्त मंत्रणा का स्थान चारों ओर से ढका हुआ और प्रति ध्वनि से रहित होना चाहिए जिससे आपस की बातचीत की शब्द बाहर न आ सके ॥२६॥

गुरु[१] विद्वान् ने कहा है ''कि मंत्रसिद्धि चाहने वाले राजा को खुले हुए स्थान में मंत्रणा नहीं करनी चाहिए, परन्तु जिस स्थान में मंत्रणा का शब्द टकराकर प्रतिध्वनि नहीं होती हो, ऐसे स्थान में बैठकर मंत्रणा करनी चाहिए ॥१॥''

मंत्र जानने के साधन–

मुखविकारकराभिनयाभ्यां प्रतिध्वानेन वा मनःस्थमप्यर्थमभ्यूह्यन्ति विचक्षणाः ॥२७॥

अर्थ—चतुर लोग मंत्रणा करने वालों के मुख के विकार से हस्तादि के संचालन से तथा प्रतिध्वनिरूप शब्द से मन में रहने वाले गुप्त अभिप्राय को जान लेते हैं।

भावार्थ—चतुर दूत राजा के मुख की आकृति और हस्त-आदि अंगों के संचालन-आदि से उसके हृदय की बात जान जाते हैं, अतएव राजा को दूत के समक्ष ये कार्य नहीं करने चाहिए। अन्यथा मंत्र प्रकाशित हो जाता है ॥२७॥

वल्लभदेव[२] विद्वान् ने कहा है कि ''मुख की आकृति, अभिप्राय, गमन, चेष्टा, भाषण और नेत्र तथा मुख के विकार से मन में रहने वाली गुप्त बात जान ली जाती है ॥१॥''

मंत्र-गुप्त विचार को सुरक्षित रखने की अवधि–

आकार्यसिद्धेरक्षितव्यो मंत्रः ॥२८॥

अर्थ—जब तक कार्य सिद्ध न हो जावे तब तक विवेकी पुरुष को अपने मंत्र की रक्षा करनी चाहिए। अर्थात्-उसे प्रकाशित नहीं करना चाहिए, अन्यथा कार्य सिद्ध नहीं हो पाता ॥२८॥

विदुर विद्वान्[३] ने कहा है कि ''विष-भक्षण केवल खाने वाले व्यक्ति को और खड्ग-आदि-शस्त्र भी एक आदमी को मारते हैं; परन्तु धर्म का नाश या मंत्र का भेद समस्त देश और सारी प्रजा-सहित राजा को नष्ट कर डालता है ॥१॥''

अपरीक्षित स्थान में मंत्रणा करने से हानि–

दिवा नक्तं वाऽपरीक्ष्य मंत्रयमाणस्याभिमतः प्रच्छन्नो वा भिनत्ति मंत्रम् ॥२९॥

१. तथा च गुरुः–निराश्रयप्रदेशे तु मंत्रः कार्यो न भूभुजा। प्रतिशब्दो न यत्र स्यान्मंत्रसिद्धिं प्रवाञ्छता ॥१॥
२. तथा च वल्लभदेवः–आकारैरिंगितै र्गत्या चेष्टया भाषणेन च। नेत्रवक्त्रविकारेण गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥२॥
३. तथाच विदुरः–[एकं विषरसो हन्ति] शस्त्रेणैकेश्च वध्यते। सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं धर्मविप्लवः ॥१॥
नोट—उक्त पद्य का प्रथम चरण संशोधन किया गया है। –सम्पादक

अर्थ—जो व्यक्ति दिन या रात्रि में मन्त्रणा करने योग्य स्थान की परीक्षा किये बिना ही मंत्र करता है उसका गुप्त मंत्र प्रकाशित हो जाता है, क्योंकि छिपा हुआ आत्मीय पुरुष उसे सुनकर प्रकाशित कर देता है ॥२६॥

ऐतिहासिक दृष्टान्त द्वारा उक्त बात का समर्थन–

श्रूयते किल रजन्यां वटवृक्षे प्रच्छन्नो वररुचिर-प्र-शि-खेति पिशाचेभ्यो वृत्तान्तमुपश्रुत्य चतुरक्षराद्यैः पादैः श्लोकमेकं चकारेति ॥३०॥

अर्थ—इतिहास प्रमाण में वृद्धपुरुषों के मुख से सुना जाता है कि एक समय पिशाच लोग हिरण्यगुप्त संबंधी वृत्तान्त की गुप्त मंत्रणा कर रहे थे, उसे रात्रि में वटवृक्ष के नीचे छिपे हुए वररुचि नाम के मनुष्य (राज मंत्री) ने सुन लिया था; अतएव उस ने हिरण्यगुप्त के द्वारा कहे हुए श्लोक के प्रत्येक पाद संबंधी एक-एक अक्षरों से अर्थात्-चारों पादों के चार अक्षरों-(अ-प्र-शि-ख) से पूर्ण (चारों पाद) श्लोक की रचना कर ली।

वररुचि का संक्षिप्त इतिवृत्त—यह नन्द नाम के राजा का जो कि ३२२ ई. पू. में भारत का सम्राट हुआ है, मन्त्री था।

एक समय नन्दराजा का पुत्र राजकुमार हिरण्यगुप्त वन में क्रीड़ा करने के लिए गया था। उस ने रात्रि में सोते हुए पुरुष को जो कि इसका मित्र था, खड्ग से मार डाला। उस पुरुष ने मरते समय "अ-प्र-शि-ख" यह पद उच्चारण किया, उसे सुनकर अपने प्रिय मित्र को धोखे से मारा गया समझकर हिरण्यगुप्त मित्र के साथ द्रोह करने के पाप से ज्ञान-शून्य, किंकर्त्तव्य विमूढ़ और अधिक शोक के कारण पागल की तरह व्याकुल होकर कुछ काल तक स्वयं उसी जंगल में भटकता रहा। पश्चात् राज-कर्मचारियों द्वारा यहाँ-वहाँ ढूँढ़े जाने पर मिला और इसलिए वे उसे राजा नंद के पास ले गये। यह राजसभा में लाया गया। वहाँ पर शोक से पीड़ित होकर "अ-प्र-शि-ख" अप्रशिख अक्षरों का बार-बार उच्चारणकर क्षुब्ध हो रहा था, नंदराज ने उसके अर्थ को न समझ कर मंत्री पुरोहित और सदस्यों से पूछा कि इसके द्वारा उच्चारण किये हुए अ-प्र-शि-ख पद का क्या अर्थ है ? परन्तु उसका अर्थ न समझने के कारण लोग चुप की साध गये। परंतु उनमें से वररुचि नाम का मंत्री बोला कि राजन् एक दो दिन के पश्चात् मैं इसका अर्थ बतलाऊँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करके वह रात्रि में उसी वन में वट के वृन्त के नीचे जाकर छिप गया। वहाँ पर उस ने पिशाचों के द्वारा उक्त वृत्तांत (हिरण्यगुप्त-राजकुमार के द्वारा सोते हुए पुरुष का खड्ग से सिर काटा जाना) को सुना। पश्चात् प्रकरण का ज्ञान हो जाने से उस ने उक्त श्लोक के प्रत्येक चरण के एक-एक अक्षर से अर्थात् चारों चरणों के चार अक्षरों से राजसभा में जाकर निम्न प्रकार श्लोक बना दिया।

वररुचि[१] रचित श्लोक का अर्थ–"इसी तुम्हारे पुत्र ने अर्थात्-नंद राजा के पुत्र हिरण्यगुप्त ने

वन में सोते हुए मनुष्य की चोटी खींचकर खड्ग से उसका शिर काट डाला ॥१॥''

मंत्रणा-गुप्त सलाह के अयोग्य व्यक्ति-

न तैः सह मंत्रं कुर्यात् येषां पक्षीयेष्वपकुर्यात् ॥३१॥

अर्थ—राजा ने जिनके बंधु-आदि कुटुम्बियों का अपकार-अनिष्ट (बध-बंधनादि) किया है, उसे उन विरोधियों के साथ मंत्र-गुप्त सलाह नहीं करनी चाहिए, क्योंकि विरोधियों के साथ मंत्रणा करने से उसके भेद का भय रहता है-मंत्र प्रकाशित हो जाता है ॥३१॥

शुक्र[2] विद्वान् ने उक्त बात का समर्थन किया है कि ''राजा को उनके संबंधियों के साथ कदापि मंत्र नहीं करना चाहिए, जिन विरोधियों का उसने वध-बंधनादि अनिष्ट-बुरा किया हो ॥१॥''

मंत्र के समय न आने योग्य व्यक्ति-

अनायुक्तो मंत्रकाले न तिष्ठेत् ॥३२॥

अर्थात् कोई भी व्यक्ति राजा की आज्ञा के बिना मंत्रणा के समय बिना बुलाया हुआ उस स्थान पर न ठहरे अर्थात् जो पुरुष राजा की आज्ञा के अनुसार विचार करने के लिए बुलाये गये हों, वे ही वहाँ जावें, अन्य (बिना बुलाये हुए) व्यक्ति न जावें।

भावार्थ—राजा का प्रिय व्यक्ति भी यदि मंत्रणा-काल में पहुँच जाता है, तो राजा मंत्रभेद की शंका से शङ्कित होकर उससे रुष्ट (नाराज) हो जाता है ॥३२॥

शुक्र[3] विद्वान् ने भी कहा है ''कि जो व्यक्ति राजा की मंत्र-बेला में बिना बुलाया हुआ चला जाता है वह प्रिय होने पर भी राजा का कोप-भाजन हो जाता है ॥१॥''

गुप्तमंत्रणा को प्रकाशित करने वाले दृष्टान्त-

तथा च श्रूयते शुकसारिकाभ्यामन्यैश्च तिर्यग्भिर्मन्त्रभेदः कृतः ॥३३॥

अर्थ—वृद्ध पुरुषों से सुना जाता है कि पहले कभी तोता मैना ने तथा दूसरे पशुओं ने राजा की गुप्त मंत्रणा को प्रकाशित कर दिया था। -

निष्कर्ष—अतः मंत्र स्थान में पशु पक्षियों को भी नहीं रहने देना चाहिए ॥३३॥

गुप्त मंत्र के प्रकाशित होने से कष्ट होता है-

मंत्रभेदादुत्पन्नं व्यसनं दुष्प्रतिविधेयं स्यात् ॥३४॥

---

१. वररुचिरचितः श्लोकः-अनेन तव पुत्रेण प्रसुप्तस्य वनान्तरे। शिखामाक्रम्य पादेन खड्गेनोपहतं शिरः ॥१॥
नोट—यह पाठ मु. मू. पुस्तक से संकलन किया है सं. टी. पुस्तक में २रा पाठ है देखो सं. टी. पु. ११८ पृष्ठ।

२. तथा च शुक्रः-येषां वधादिकं कुर्यात्पार्थिवश्च विरोधिनां। तेषां संबंधिभिः साद्‌र्धं मंत्रः कार्यो न कर्हिचित् ॥१॥

३. तथा च शुक्रः-यो राज्ञो मंत्रवेलायामनाहूतः प्रगच्छति। अतिप्रसादयुक्तोपि विमियत्वं व्रजेद्धि सः ॥१॥

अर्थ—गुप्त मंत्रणा के प्रकाशित हो जाने से राजा को जो संकट पैदा होता है वह कठिनाई से भी नष्ट नहीं हो सकता।

भावार्थ—इसलिए राजा को अपने मंत्र की रक्षा में सदा सावधान रहना चाहिए। क्योंकि मंत्रभेद का कष्ट दुर्निवार होता है।

गर्ग[1] विद्वान् ने कहा है कि मंत्र के भेद हो जाने से राजा को जो संकट पैदा होता है, उसका नाश होना बहुत कठिन है अथवा वह कठिनाई से भी नष्ट नहीं होता ॥१॥

जिन कारणों से गुप्त मंत्रणा प्रकाशित होती है–

इङ्गितमाकारो मदः प्रमादो निद्रा च मंत्रभेदकारणानि ॥३५॥

अर्थ—गुप्तमंत्र का भेद निम्न प्रकार पाँच बातों से होता है, अतएव उनसे सदा सावधान रहना चाहिए (१) इङ्गित (गुप्त मंत्रणा करने वाले की मुख चेष्टा), (२) शरीर की सौम्य या रौद्र-भयंकर आकृति (३) शराब पीना (४) प्रमाद-असावधानी करना और (५) निद्रा ॥३५॥

उक्त पाँचों के क्रमशः लक्षण–

इङ्गितमन्यथावृत्तिः॥ ३६॥

कोपप्रसादजनिताशरीरी विकृतिराकारः ॥३७॥

पानस्त्रीसंगादिजनितो हर्षो मदः ॥३८॥

प्रमादो गोत्रस्खलनादिहेतुः ॥३९॥

अन्यथा चिकीर्षतोऽन्यथावृत्तिर्वा प्रमादः ॥४०॥

निद्रान्तरितो[2] [निद्रितः] ॥४१॥

अर्थ—गुप्त अभिप्राय को अभिव्यक्त (प्रकाश) करने वाली शरीर की चेष्टा 'इङ्गित' है। अथवा स्वाभाविक क्रियाओं से भिन्न क्रियाओं के करने को इङ्गित (चेष्टा) कहते हैं ॥३६॥

क्रोध से होने वाली भयंकर आकृति व प्रसन्नता से होने वाली सौम्य-आकृति को 'आकार' कहते हैं। अथवा क्रोध से होने वाली मुख की म्लानता एवं प्रसाद से होने वाली मुख की प्रसन्नता को 'आकार' कहते हैं। ३७॥

---

१. तथा च गर्गः–मंत्रभेदाच्च भूपस्य व्यसनं संप्रजायते। तत्कृच्छान्नाशमभ्येति कृच्छ्रेणाप्यथवा न वा ॥१॥

२. यह सूत्र मु.व. ह. लि. मूल प्रतियों में नहीं है किन्तु सं. टी. पुस्तक में होने से संकलन किया गया है और वह भी अधूरा था, जिसे पूर्ण कर दिया गया है। -संपादक

विमर्शः—संभवतः 'निद्रा' प्रसिद्ध होने से आचार्यश्री ने उसका पृथक् लक्षण-निर्देश करना उचित न समझा हो। पश्चात् सं. टीकाकार ने क्रम-प्राप्त होने से उसका लवण किया है।

निद्रान्तरितो इसके आगे यदि 'निद्रितः' ऐसा 'इतच्' प्रत्ययान्त पद और होता तो विशेष उत्तम था।-संपादक

मद्यपान व स्त्रीसंभोग से होने वाले हर्ष को 'मद' कहते हैं ॥३८॥

अपने या दूसरों के नाम को भूल जाना या उसका अन्यथा कहना आदि में कारण असावधानी को 'प्रमाद' कहते हैं ॥३९॥

इसी प्रकार करने योग्य इच्छित कार्य को छोड़कर दूसरे कार्य को करने लगना ऐसी असावधानतारूप प्रवृत्ति को भी 'प्रमाद' कहा गया है ॥४०॥

गाढ़ नींद में व्याप्त होने को 'निद्रा' कहा है ॥४१॥

भावार्थ—उक्त पाँच बातें गुप्त मंत्र को प्रकाशित करती हैं।

उदाहरणार्थ—जब मंत्रणा करते समय राजा-आदि अपने मुखादि की विजातीय (गुप्त अभिप्राय को प्रकट करने वाली) चेष्टा बनाते हैं, उससे गुप्तचर उनके अभिप्राय को जान लेते हैं। इसी प्रकार क्रोध से उत्पन्न होने वाली भयंकर आकृति और शान्ति से होने वाली सौम्य आकृति को देखकर गुप्तचर जान लेते हैं, कि राजा की भयंकर आकृति 'विग्रह' को और सौम्य आकृति 'संधि' को बता रही है। इसी प्रकार शराब पीना, आदि 'प्रमाद' और निद्रा आदि भी गुप्त रहस्य को प्रकाशित करने वाले हैं, अतएव इनको छोड़ देना चाहिए ॥३९-४१॥

वसिष्ठ[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''राजा को मंत्रणा के समय अपने मुख को आकृति शुभ और शरीर की आकृति सौम्य रखनी चाहिए तथा निद्रा, मद और आलस्य छोड़ देना चाहिए ॥१॥''

मंत्र (निश्चित विचार) को शीघ्र ही कार्यरूप में परिणत करने का आदेश—

उद्धृतमन्त्रो न दीर्घसूत्रः स्यात् ॥४२॥

अर्थ—विजिगीषु विचार निश्चित हो जाने पर उसे शीघ्र ही कार्यरूप में परिणत करने का यत्न करे, इसमें उसे आलस्य नहीं करना चाहिए। सारांश यह है कि मंत्र में विलम्ब करने से उसके फूटने का भय रहता है जिससे कार्य-सिद्धि नहीं हो पाती। अतः उसे शीघ्र ही कार्यरूप में परिणत करना चाहिए ॥४२॥

कौटिल्य[2] ने भी कहा है कि ''अर्थ का निश्चय करके उसको शीघ्र ही कार्यरूप में परिणत करना चाहिए, समय को व्यर्थ बिताना श्रेयस्कर नहीं ॥१॥''

शुक्र[3] विद्वान् ने कहा है कि ''जो मनुष्य विचार निश्चित करके उसी समय उसका आचरण नहीं करता उसे मंत्र का फल (कार्य-सिद्धि) प्राप्त नहीं होता ॥१॥''

निश्चित विचार के अनुसार कार्य न करने से हानि—

---

१. तथा च वसिष्ठः—मंत्रयिस्वा महीपेन कर्त्तव्यं शुभचेष्टितम्। आकारश्च शुभः कार्यस्याज्या निद्रामदालसाः ॥१॥

२. तथा च कौटिल्यः—''अवाप्तार्थःकालं नातिक्रमेत''—कौटिल्य अर्थशास्त्र मंत्राधिकार सूत्र ५०।

३. तथा च शुक्रः—यो मंत्रं मंत्रयित्वा तु नानुष्ठानं करोति च। तत्क्षणात्तस्य मंत्रस्य जायते नात्र संशयः ॥१॥

अननुष्ठाने छात्रवत् किं मंत्रेण[1] ॥४३॥

अर्थ—विजिगीषु को कर्तव्य-पालन के बिना केवल निश्चित विचार से आलसी विद्यार्थी की तरह कोई लाभ नहीं होता-कार्य-सिद्धि नहीं होती। जिस प्रकार आलसी शिष्य गुरु से मंत्र सीख लेता है, किन्तु तदनुकूल जप वगैरह का आचरण नहीं करता, अतः उसका मंत्र सीखना निष्फल है, उसी प्रकार विजिगीषु भी यदि मंत्रणा के अनुकूल कर्त्तव्य में प्रवृत्त नहीं होता तो उसकी मंत्रणा भी व्यर्थ है ॥४३॥

शुक्र[2] विद्वान् ने कहा है कि "जो विजिगीषु मंत्र का निश्चय करके उसके अनुकूल कार्य नहीं करता, उसका वह मंत्र आलसी छात्र के मंत्र की तरह व्यर्थ हो जाता है ॥१॥"

उक्त बात का दृष्टान्त द्वारा पुनः समर्थन-

न ह्यौषधिपरिज्ञानादेव व्याधिप्रशमः ॥४४॥

अर्थ—केवल औषधि के ज्ञानमात्र से रोग की शांति नहीं हो सकती। सारांश यह है कि जिस प्रकार केवल औषध के जान लेने मात्र से व्याधियों का नाश नहीं होता। किन्तु उसके सेवन से ही होता है, उसी प्रकार विचार-मात्र से सन्धि व विग्रह आदि कार्य सिद्ध नहीं हो सकते, किन्तु मंत्रणा के अनुकूल प्रवृत्ति करने से कार्य सिद्ध होते हैं ॥४४॥

नारद[3] विद्वान् ने कहा है कि "जिस प्रकार दवाई के जान लेने पर भी उसके भक्षण किये बिना व्याधि नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार मंत्र को कार्य-रूप में परिणत किये बिना केवल विचार मात्र से कार्य-सिद्ध नहीं होता ॥१॥"

संसार में प्राणियों का शत्रु-

नास्त्यविवेकात् परः प्राणिनां शत्रुः ॥४५॥

अर्थ—संसार में नीतिशास्त्र के अज्ञान को छोड़कर प्राणियों का कोई दूसरा शत्रु नहीं है। क्योंकि नैतिक अज्ञान ही मनुष्य को शत्रु से वध-बंधनादि कष्ट दिलाता है अथवा उससे सभी कार्य नष्ट हो जाते हैं ॥४५॥

गुरु[4] विद्वान् ने कहा है कि "अज्ञान (मूर्खता) प्राणियों का महाशत्रु है, जिसके कारण मनुष्य को वध-बंधनादि के कष्ट भोगने पड़ते हैं ॥१॥"

स्वयं करने योग्य कार्य को दूसरों से कराने से हानि-

आत्मसाध्यमन्येन कारयन्नौषधमूल्यादिव व्याधिं चिकित्सति ॥४६॥

---

१. "अनुष्ठानेच्छां बिना केवलेन किं मंत्रेण" इस प्रकार मु. व. ह. लि. मू. प्रतियों में पाठ है, उसका अर्थ यह है कि कार्यरूप में परिणत किये बिना केवल निश्चित विचार से कोई लाभ नहीं।

२. तथा च शुक्रः—यो मंत्रं मंत्रयित्वा तु नानुष्ठानं करोति च। स तस्य व्यर्थतां याति छात्रस्येव प्रमादिनः ॥१॥

३. तथा च नारदः—विज्ञाते भेषजे यद्वत् बिना भक्षं न नश्यति। व्याधिस्तथा च मंत्रेऽपि न सिद्धिः कृत्यवर्जिते ॥१॥

४. तथा च गुरुः—अविवेकः शरीरस्थो मनुष्याणां महारिपुः। यश्चानुष्ठानमात्रोऽपि करोति वधबंधनम् ॥१॥

अर्थ—जो मनुष्य स्वयं करने योग्य कार्य को दूसरों से कराता है, वह केवल औषधि के मूल्यज्ञान से ही रोग का परिहार-नाश चाहता है अर्थात् जिस प्रकार केवल दवाई की कीमत समझ लेने मात्र से बीमारी नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार स्वयं करने योग्य कार्य को दूसरों से कराने से वह कार्य सिद्ध नहीं होता ॥४६॥

भृगु[१] विद्वान् ने कहा है कि ''जो मूर्ख मनुष्य स्वयं करने योग्य कार्य दूसरों से कराता है, वह दवाई के केवल मूल्य समझने से रोग का नाश करना चाहता है ॥१॥''

स्वामी की उन्नति-अवनति का सेवक पर प्रभाव-

योयत्प्रतिबद्धः स तेन सहोदयव्ययी ॥४७॥

अर्थ—जो सेवक जिस स्वामी के आश्रित है वह अपने स्वामी की उन्नति से उन्नतिशील और अवनति से अवनतिशील होता है। सारांश यह है कि संसार में सेवक के ऊपर उसके स्वामी को आर्थिक-हानि और लाभ का प्रभाव पड़ता है ॥४७॥

भागुरि[२] विद्वान् ने कहा है कि ''राजा तालाब के जल-समान है और उसका सेवक कमल-समूह के समान है, इसलिए राजा की वृद्धि से उसके सेवक की वृद्धि और हानि से उसकी भी हानि होती है ॥१॥''

स्वामी के आश्रय से सेवक को लाभ-

स्वामिनाधिष्ठितो मेषोऽपि सिंहायते ॥४८॥

अर्थ—साधारण (कमजोर) मेढ़ा भी अपने स्वामी से अधिष्ठित हुआ शेर के समान आचरण करता है-बलवान् हो जाता है, फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या है। सारांश यह कि साधारण सेवक भी अपने स्वामी की सहायता को प्राप्त कर वीर हो जाता है ॥४७॥

रैभ्य[३] विद्वान् ने कहा है कि ''जिस प्रकार साधारण कुत्ता भी अपने स्वामी को प्राप्त करके शेर के समान आचरण करता है, उसी प्रकार साधारण कायर सेवक भी अपने स्वामी की सहायता से वीर हो जाता है ॥१॥''

मंत्रणा-गुप्त सलाह के समय मंत्रियों का कर्त्तव्य-

मंत्रकाले विगृह्य विवादः स्वैरालापश्च न कर्त्तव्यः ॥४९॥

अर्थ—मंत्रियों को मंत्रणा के समय परस्पर में कलह करके वाद-विवाद और स्वच्छन्द बातचीत (हँसी-मजाक आदि) न करनी चाहिए। सारांश यह है कि कलह करने से वैर-विरोध और स्वच्छन्दयुक्ति-

---

१. तथा च भृगुः-आत्मसाध्यं तु यत्कार्यं योऽन्यपार्श्वात् सुमन्दधीः। कारापयति स व्याधिं नयेद् भेषजमूल्यतः ॥१॥

२. तथा च भागुरिः-सरस्तोयसमो राजा भृत्यः पद्माकरोपमः। तद्वृद्ध्या वृद्धिमभ्येति तद्विनाशे विनश्यति ॥१॥

३. तथा च रैभ्यः-स्वामिनाधिष्ठितो भृत्यः परस्मादपि कातरः। श्वापि सिंहायते यद्वन्निजं स्वामिनमाश्रितः ॥१॥

अनुभव शून्य-वार्तालाप से अनादर होता है, अतएव मंत्रियों को मंत्र की वेला में उक्त बातें नहीं करनी चाहिए ॥४६॥

गुरु[१] विद्वान् ने कहा है कि "जो मंत्री मंत्र-वेला में वैर-विरोध के उत्पादक वाद-विवाद और हंसी-मजाक आदि करते हैं उनका मंत्र कार्य सिद्ध नहीं होता ॥१॥"

मंत्र का प्रधान प्रयोजन-फल-

अविरुद्धैरस्वैरैर्विहितो मंत्रो लघुनोपायेन महतः कार्यस्य सिद्धिर्मंत्रफलम्[२] ॥५०॥

अर्थ—परस्पर वैर-विरोध न करने वाले-प्रेम और सहानुभूति रखनेवाले और हंसी-मजाक आदि स्वच्छन्द (युक्ति व अनुभव-शून्य) वार्तालाप न करने वाले (सावधान) मंत्रियों के द्वारा जो मंत्रणा की जाती है, उससे थोड़े से उपाय से उपयोगी महान् कार्य की सिद्धि होती है और यही (अल्प उपाय से महान् कार्यसिद्धि करना) मंत्र का फल या माहात्म्य है। सारांश यह कि थोड़े उपाय से थोड़ा कार्य और महान् उपाय से महान् कार्य सिद्ध होना, यह मंत्रशक्ति का फल नहीं है, क्योंकि वह तो मंत्रणा के बिना भी हो सकता है, परन्तु थोड़े से उपाय द्वारा महान् कार्य की सिद्धि होना यही मंत्रशक्ति का माहात्म्य हैं ॥५०॥

नारद[३] विद्वान् ने कहा है कि "सावधान (बुद्धिमान) राज-मंत्री एकान्त में बैठकर जो षाड्गुण्य-संधि व विग्रह आदि-सम्बन्धी मंत्रणा करते हैं, उससे वे राजा के महान् कार्य (संधि और विग्रह आदि षाड्गुण्य) को बिना क्लेश से सिद्ध कर डालते हैं" ॥१॥

उक्त वाक्य का दृष्टान्त द्वारा समर्थन-

न खलु तथा हस्तेनोत्थाप्यते ग्रावा यथा दारुणा ॥५१॥

अर्थ—जिस प्रकार पृथ्वी में गड़ी हुई विशाल पत्थर की चट्टान तिरछी लकड़ी के यन्त्र विशेष से शीघ्र ही थोड़े परिश्रम से उठाई जा सकती है (स्थान से हटाई जाती है-), उस प्रकार हाथों से महान् परिश्रम करने पर भी नहीं उठाई जा सकती। इसी प्रकार मंत्र शक्ति से महान् कार्य भी, थोड़े परिश्रम से सिद्ध हो जाते हैं, बिना मंत्रणा के कदापि सिद्ध नहीं हो सकते ॥५१॥

हारीत[४] विद्वान् ने कहा है कि "राजा जिस कार्य (अप्राप्त राज्य की प्राप्ति-आदि) को युद्ध करके अनेक कष्ट उठाकर सिद्ध करता है उसका वह कार्य मंत्र-शक्ति रूप उपाय से सरलता से सिद्ध हो जाता है, अतएव उसे मंत्रियों के साथ अवश्य मंत्रणा करानी चाहिए ॥१॥"

---

१. तथा च गुरुः-विरोधवाक्यहास्यानि मंत्रकाल उपस्थिते। ये कुर्युर्मन्त्रिणस्तेषां मंत्रकार्यं न सिद्ध्यति ॥१॥

२. तथा च नारदः-सावधानाश्च ये मंत्रं चक्रुरेकान्तमाश्रिताः। साधयन्ति नरेन्द्रस्य कृत्यं क्लेशविवर्जितम् ॥१॥

३. "लघुनोपायेन महतः कार्यस्य सिद्धिर्मन्त्रफलम्" ऐसा मु. मू. व ह. लि. मू. प्रतियों में पाठ है, परन्तु विशेष अर्थभेद नहीं है।

४. तथा च हारीतः-यद् कार्यं साधयेद् राजा क्लेशैः संग्रामपूर्वकैः। मंत्रेण सुखसाध्यं तत्तस्मान्मंत्रं प्रकारयेत् ॥१॥

जिस प्रकार का मंत्री राजा का शत्रु होता है–

स मंत्री शत्रुर्यो नृपेच्छयाऽकार्यमपि कार्यरूपतयाऽनुशास्ति ॥५२॥

अर्थ–जो मंत्री राजा की इच्छा से-उसकी आज्ञा के अनुसार चलने के उद्देश्य से-उसको अकर्त्तव्य का कर्त्तव्यरूप से उपदेश देता है, वह राजा का शत्रु है। सारांश यह है कि अकर्त्तव्य में प्रवृत्त होने से राजा की अत्यन्त हानि होती है, इसलिए अकर्त्तव्य का उपदेश देने वाले मंत्री को शत्रु, कहा गया है ॥५२॥

भागुरि[1] विद्वान् ने कहा है कि ''जो मंत्री राजा को अकर्त्तव्य का कर्त्तव्य और कर्त्तव्य का अकर्त्तव्य बता देता है, वह मंत्री के रूप में शत्रु है ॥१॥''

मंत्री का कर्त्तव्य–

वरं स्वामिनो दुःखं न पुनरकार्योपदेशेन तद्विनाशः[2] ॥५३॥

अर्थ–मंत्री को राजा के लिए दुःख देना उत्तम है-अर्थात् यदि वह भविष्य में हितकारक किन्तु तत्काल अप्रिय लगने वाले ऐसे कठोर वचन बोलकर राजा को दुःखी करता है तो उत्तम है, परन्तु अकर्त्तव्य का उपदेश देकर राजा का नाश करना अच्छा नहीं-अर्थात् तत्काल प्रिय लगने वाले, किन्तु भविष्य में हानिकारक वचन बोलकर अकार्य का उपदेश देकर उसका नाश करना अच्छा नहीं ॥५३॥

नारद[3] विद्वान् ने कहा है कि ''मंत्री को राजा के प्रति भविष्य में सुखकारक किन्तु तत्काल पीड़ा-कारक वचनों का बोलना अच्छा है, किन्तु तत्काल प्रिय और भविष्य में भयानक वचनों का बोलना उत्तम नहीं ॥१॥''

मंत्री को आग्रह करके राजा से जो कर्त्तव्य कराना चाहिए–

पीयूषमपिबतो बालस्य किं न क्रियते कपोलहननं[4] ॥५४॥

---

१. तथा च भागुरिः–अकृत्यं कृत्यरूपं च सत्यं चाकृत्यसंज्ञितां निवेदयति भूपस्य स वैरी मंत्रिरूपधृक् ॥१॥

२. ''वरं स्वामिनो मरणाद्दुःखं न पुनरकार्योपदेशेन तद्विनाशः'' ऐसा मु. मू. व ह. लि. मूल प्रतियों में पाठान्तर है। जिसका अर्थ यह है कि सच्चे मंत्री का कर्त्तव्य है कि वह अपने स्वामी को सदा तात्कालिक कठोर परन्तु भविष्य में हितकारक उपदेश देवे। ऐसे अवसर पर राजा की इच्छा के विरुद्ध उपदेश देने से क्रुद्ध हुए राजा के द्वारा उसको मरण-संकट भी उपस्थित हो जावे तो भी उत्तम है परन्तु राजा की इच्छानुकूल अहित का उपदेश देकर उसे क्षति-हानि-पहुँचाना उत्तम नहीं है। –सम्पादक

३. तथा च नारदः–वरं पीड़ाकरं वाक्यं परिणामसुखावहं। मंत्रिणा भूमिपालस्य न मृष्ट यद्भयानकम् ॥१॥

४. पीयूषमपि पिवतः बालस्य किं न क्रियते कपालहननम् ? ऐसा मु. व. ह. लि. मू. प्रतियों में पाठान्तर है जिसका अर्थ यह है कि बच्चा दूध को भी पी रहा है और यदि वह दूध उसके लिए अपथ्य-हानिकारक है, तो क्या अधिक पीने पर माता के द्वारा उसे मस्तक में ताड़न नहीं किया जाता ? अवश्य किया जाता है, उसी प्रकार मंत्री भी अपने स्वामी के लिए भविष्य में हानि-कारक उपदेश कदापि न देवे।–सम्पादक

अर्थ—जब बच्चा माता के स्तनों का दूध नहीं पीता, तव क्या वह उसके गालों में थप्पड़ लगाकर उसे दूध नहीं पिलाती ? अवश्य पिलाती है। सारांश यह है कि जिस प्रकार माता बच्चे के हित के लिए उससे तात्कालिक कठोर और भविष्य में हितकारक व्यवहार करती है, उसी प्रकार मंत्री को भी राजा की भलाई के लिए भविष्य में हितकारक और तत्काल में कठोर व्यवहार करना चाहिए ॥५४॥

गर्ग[१] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जिस प्रकार माता बच्चे को ताड़ना देकर दूध पिलाती है, उसी प्रकार मंत्री भी खोटे मार्ग में जाने वाले राजा को कठोर वचन बोलकर सन्मार्ग में लगा देता है ॥१॥''

मंत्रियों का कर्त्तव्य–

मंत्रिणो राजद्वितीयहृदयत्वान्न केनचित् सह संसर्ग कुर्युः ॥५५॥

अर्थ—मंत्री लोग राजा के दूसरे हृदय रूप होते हैं–राजारूप ही होते हैं, इसलिए उन्हें किसी के साथ स्नेहादि सम्बन्ध न रखना चाहिए ॥५५॥

नीतिकार शुक्र[२] ने भी कहा है कि ''मंत्री लोग राजाओं के दूसरे हृदय होते हैं; इसलिए उन को उसकी वृद्धि के लिए दूसरे से संसर्ग नहीं करना चाहिए ॥१॥''

राजा के सुख-दुःख का मंत्रियों पर प्रभाव–

राज्ञोऽनुग्रहविग्रहावेव मंत्रिणामनुग्रहविग्रहौ ॥५६॥

अर्थ—राजा की सुख-सम्पत्ति ही मंत्रियों की सुख-सम्पत्ति है एवं राजा के कष्ट मंत्रियों के कष्ट समझे जाते हैं अथवा राजा जिस पुरुष का निग्रह (दंड देना) और अनुग्रह करता है, वह मंत्रियों के द्वारा किया हुआ ही समझना चाहिए अर्थात् मंत्रियों को पृथक रूप से उस पुरुष का निग्रह या अनुग्रह नहीं करना चाहिए। अन्यथा (यदि मंत्री लोग, राजा की अवज्ञा करके उस पुरुष का अलग से निग्रह या अनुग्रह करेंगे) ''ये मेरे राज्याधिकार को छीनना चाहते हैं। ऐसा समझ राजा उस पर विश्वास नहीं करेगा ॥५६॥

हारीत[३] विद्वान् ने कहा है कि ''क्योंकि मंत्रीगण सदा राजा के हितैषी होते हैं; अतएव राजा को उन्नति से मंत्रियों की उन्नति होती है एवं राजा के ऊपर कष्ट पड़ने से मंत्रियों को भी कष्ट उठाना पड़ता है ॥१॥''

कर्त्तव्य-परायण मंत्रियों के कार्यों में सफलता न होने का कारण–

---

१. तथा च गर्गः–जननी बालकं यद्वद्धत्वा स्तन्यं प्रपाययेत। एवमुन्मार्गगो राजा धार्यते मंत्रिणा पथि ॥१॥

२. तथा च शुक्रः–मंत्रिणः पार्थिवेन्द्राणां द्वितीयं हृदयं ततः। ततोऽन्येनः न संसर्गस्तैः कार्यो नृपवृद्धये ॥१॥

३. तथा च हारीतः–राज्ञः पुष्ट्या भवेत् पुष्टिः सचिबानां महत्तरा। व्यसनं व्यसनेनापि तेन तस्य हिताश्च ये ॥१॥

स दैवस्यापराधो न मंत्रिणां यत् सुघटितमपि कार्यं न घटते ॥५७॥

अर्थ—जो मंत्री राजकार्य में सावधान होते हैं, तथापि उनके द्वारा अच्छी तरह मंत्रणापूर्वक किया हुआ भी कार्य जब सिद्ध नहीं होता, उसमें उनका कोई दोष नहीं, किन्तु राजा के पूर्वजन्म संबंधी भाग्य का ही दोष समझना चाहिए ॥५७॥

भार्गव[1] विद्वान् ने कहा कि–''राजा के कार्य में सावधान और हितैषी मंत्रियों का जो कार्य सिद्ध नहीं होता, उसमें उनका कोई दोष नहीं, किन्तु भाग्य का ही दोष समझना चाहिए ॥१॥

राजा के कर्त्तव्य का निर्देश–

स खलु नो राजा यो मंत्रिणोऽतिक्रम्य वर्तेत ॥५८॥

अर्थ—जो राजा मंत्रियों की बात को उल्लंघन करता है–न उनकी बात सुनता है और न आचरण करता है, वह राजा नहीं रह सकता–उसका राज्य क्रमागत होने पर भी नष्ट हो जाता है ॥५८॥

भारद्वाज[2] विद्वान् ने कहा है कि ''जो राजा हितैषी मंत्रियों की बात को नहीं मानता, वह अपने पिता और दादा से चले आये क्रमागत राज्य में चिरकाल तक नहीं ठहर सकता–उसका राज्य नष्ट हो ज्ञाता है ॥१॥''

पुनः मंत्रणा का माहात्म्य–

सुविवेचितान्मंत्राद्भवत्येव कार्यसिद्धिर्यदि स्वामिनो न दुराग्रहः स्यात् ॥५९॥

अर्थ—यदि राजा दुराग्रही–हठी न हो तो अच्छी तरह विचारपूर्वक किये हुए मंत्र से अवश्य कार्य-सिद्धि होती है। सारांश यह है कि जब मंत्रिमंडल अपनी सैनिक शक्ति को दृढ़ और शत्रु की सैनिक शक्ति क्षीण देखता है, एवं देश काल का विचार करके सन्धि-विग्रहादि कार्य प्रारम्भ करता है, तब उसकी अवश्य विजय होती है, परन्तु ऐसे अवसर पर राजा की अनुमति होनी चाहिए, उसे दुराग्रही नहीं होना चाहिए ॥५६॥

ऋषिपुत्रक[3] विद्वान् ने कहा कि ''यदि राजा मंत्री के साथ हठ करने वाला नहीं है, तो अच्छी तरह विचार किये हुए मंत्र से कार्य की स्थायी सिद्धि होती है ॥१॥''

पराक्रम-शून्य राजा की हानि–

अविक्रमतो राज्यं वणिकखड्गयष्टिरिव ॥६०॥

अर्थ—जो राजा पराक्रम-रहित है उसका राज्य वणिक-व्यापारी सेठ के खड्ग के समान व्यर्थ

---

१. तथा च भार्गवः–मंत्रिणां सावधानानां यत्कार्यं न प्रसिद्ध्यति। तत् स दैवस्य दोषः स्यान्न तेषां सुहितैषिणाम् ॥१॥

२. तथा च भारद्वाजः–यो राजा मंत्रिणां वाक्यं न करोति हितैषिणां। न स तिष्ठेच्चिरं राज्ये पितृपैतामहेऽपि च ॥१॥

३. तथा च ऋषिपुत्रकः–सुमंत्रितस्य मन्त्रस्य सिद्धिर्भवति शाश्वती। यदि स्यान्नाम्यथाभावो मंत्रिणा सह पार्थिवा ॥१॥

है अर्थात् जिस प्रकार प्रहार–क्रिया में कुशलता न रखने वाले सेठ का खड्ग व्यर्थ है, उसी प्रकार पराक्रम से शून्य राजा का राज्य भी व्यर्थ है, क्योंकि उसे पराक्रमी पुरुष जीत लेते हैं ॥६०॥''

भारद्वाज[1] विद्वान् ने कहा है कि ''पराक्रम–शून्य राजा का कोई भी सन्धि–विग्रहादि कार्य सेठ के खड्ग के समान व्यर्थ है; क्योंकि वह शत्रुओं से पराजित हो जाता है ॥१॥

नीति–सदाचार प्रवृत्ति से लाभ–

नीतिर्यथावस्थितमर्थमुपलम्भयति ॥६१॥

अर्थ–नीतिशास्त्र का ज्ञान मनुष्य को करने योग्य कार्य के स्वरूप को बोध करा देता है ॥६१॥

गर्ग[2] विद्वान् ने कहा है कि ''माता भी मनुष्य का अहित कर सकती है, परन्तु अच्छी तरह विचार पूर्वक आचरण की हुई नीति–सदाचार प्रवृत्ति–कदापि उसका अहित नहीं कर सकती। अनीति–दुराचार रूप प्रवृत्ति–मनुष्य को खाए हुए विष फल के समान मार डालती है। ॥१॥

हित–प्राप्ति और अहित–त्याग का उपाय–

हिताहितप्राप्तिपरिहारौ पुरुषकारायत्तौ ॥६२॥

अर्थ–हितकारक–सुख देने वाली–वस्तु की प्राप्ति करना और अहित–दुःख देने वाली–वस्तुओं को छोड़ना यह आत्मशक्ति–पुरुषार्थ के अधीन है। सारांश यह है कि जो वस्तु हितकारक होने पर भी दुर्लभ होती है उसे नैतिक मनुष्य पुरुषार्थ–आत्मशक्ति–से प्राप्त कर लेता है। एवं जो वस्तु तत्काल में लाभदायक होने पर भी अहित–फलकाल में दुःखदायक–होती है, उसे वह जितेन्द्रिय होकर–अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके–आत्मशक्ति से छोड़ देता है ॥६२॥

बादरायण[3] विद्वान् ने कहा है कि उद्योगी मनुष्य आत्मशक्ति से हितकारक वस्तु दुर्लभ होने पर भी प्राप्त कर लेता है और अहितकारक सुलभ होने पर भी छोड़ देता है एवं लाभदायक और हितकारक कार्य में प्रवृत्ति करता है ॥१॥''

मनुष्य–कर्त्तव्य–

अकालसहं कार्यमद्यस्वीनं न कुर्यात्[4] ॥६३॥

अर्थ–जो कार्य विलम्ब करने योग्य नहीं है–शीघ्र करने योग्य है–उसके करने में विलम्ब (देरी)

---

१. तथा च भारद्वाजः–परेषां जायते साध्यो यो राजा विक्रमच्युतः। न तेन सिद्ध्यते किंचिदसिना श्रेष्ठिनो यथा ॥१॥

२. तथा च गर्गः–मातापि विकृतिं याति नैव नीतिः स्वनुष्ठिता। अनीतिर्भक्षयेन्मर्त्य किंपाकमिव भक्षितम् ॥१॥

३. तथा च वादरायणः–हितं वाप्यथवानिष्टं दुर्लभं सुलभं च वा। आत्मशक्त्याप्नुयान्मर्त्यो हितं चैव सुलाभदं ॥१॥

४. ''अकालसहं कार्यं यशस्वी विलम्बेन न कुर्यात्'' ऐसा पाठ मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में वर्तमान है, जो कि सं. टी. पुस्तक के पाठ से विशेष अच्छा है, उसका अर्थ यह है कि कीर्ति की कामना रखने वाले मनुष्य को शीघ्र करने योग्य कार्य विलम्ब से न करना चाहिए।

न करना चाहिए ॥६३॥

चारायण[1] विद्वान् ने कहा है कि ''विशेष सफल होने वाले कार्य को यदि शीघ्र न किया जावे तो समय उसके फल को पी लेता है–विलम्ब करने से वह कार्य सिद्ध नहीं हो पाता ॥१॥''

समय चूक जाने पर किये गये कार्य का दोष–

कालातिक्रमान्नखच्छेद्यमपि कार्यं भवति कुठारच्छेद्यं ॥६४॥

अर्थ–समय चूक जाने पर नख के द्वारा काटने योग्य-सरलता से किया जाने वाला-कार्य भी कुल्हाड़े से काटने योग्य अत्यन्त कठिन हो जाता है। सारांश यह है कि जो कार्य समय पर किया जाता है वह थोड़े परिश्रम से सिद्ध सफल हो जाता है, परन्तु समय चूक जाने पर उसमें महान् परिश्रम करना पड़ता है ॥६४॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी कहा है कि ''सामने उपस्थित हुए किसी कार्य को यदि उस समय न किया जावे तो थोड़े परिश्रम से सिद्ध होने वाले उस कार्य में महान् परिश्रम करना पड़ता है ॥१॥''

नीतिज्ञ मनुष्य का कर्त्तव्य–

को नाम सचेतनः सुखसाध्यं कार्यं कृच्छ्रसाध्यमसाध्यं वा कुर्यात् ॥६५॥

अर्थ–कौन ऐसा बुद्धिमान पुरुष होगा ? जो कि सुख से सिद्ध होने योग्य-सरल (थोड़े परिश्रम से सिद्ध होने योग्य) कार्य को दुःख से सिद्ध होने योग्य (कठिन) या असाध्य (बिल्कुल न सिद्ध होने योग्य) करेगा ? कोई भी नहीं करेगा ॥६५॥

गुरु[3] विद्वान् ने भी कहा है कि ''बुद्धिमान पुरुष को सुलभ कार्य कठिन या दुर्लभ नहीं करना चाहिए ॥१॥''

मंत्रियों के विषय में विचार और एक मंत्री से हानि–

एको मंत्री न कर्त्तव्यः॥ ६६॥

एको हि मन्त्री निरवग्रहश्चरति मुह्यति च कार्येषु कृच्छ्रेषु॥ ६७॥

अर्थ–राजा को केवल एक मंत्री नहीं रखना चाहिए, क्योंकि अकेला मंत्री स्वतन्त्र होने से निरंकुश हो जाता है; इसलिए वह अपनी इच्छा के अनुसार राजा का विरोधी होकर प्रत्येक कार्य को कर डालता है और कठिनता से निश्चय करने योग्य कार्यों में मोह-अज्ञान को प्राप्त हो जाता है।

---

१. तथा च चारायणः–यस्य तस्य हि कार्यस्य सफलस्य विशेषतः। क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिवति तत्फलम् ॥१॥
२. तथा च शुक्रः–तत्क्षणान्नात्र यत् कुर्यात् किंचित् कार्यमुपस्थितम्। स्वल्पायासेन साध्यं चेत्तत् कृच्छ्रेण प्रसिद्ध्यति ॥१॥
३. तथा च गुरुः–सुखसाध्यं च यत् कार्यं कृच्छ्रसाध्यं न कारयेत्। असाध्यं वा मतिर्यस्य (भवेच्चित्ते निरर्गला) ॥१॥
संशोधित व परिवर्तित–सम्पादक

आप्त[१]–प्रामाणिक–पुरुषों ने भी कहा है कि ''विद्वान् व्यक्ति भी अकेला कर्तव्यमार्ग में संदिग्ध रहता है, अतः राजा को एक मंत्री नहीं बनाना चाहिए॥ ६६–६७॥''

नारद[२] विद्वान् ने कहा है कि ''राजा से नियुक्त किया हुआ अकेला मंत्री अपनी इच्छानुसार कार्यों में प्रवृत्ति करता है, उसे राजा से डर नहीं रहता तथा कठिन कार्य करने का निश्चय नहीं कर सकता ॥१॥''

दो मन्त्रियों से हानि–

द्वावपि मंत्रिणौ न कार्यौ॥ ६८॥

द्वौ मंत्रिणौ संहतौ राज्यं विनाशयतः॥ ६९॥

अर्थ—राजा दो मंत्रियों को भी सलाह के लिए न रक्खे; क्योंकि दोनों मंत्री आपस में मिलकर राज्य को नष्ट कर डालते हैं ॥६८–६९॥

नारद[३] विद्वान् ने कहा है कि ''राजा यदि दो मंत्रियों को सलाह के लिए रक्खे, तो वे परस्पर में मिलकर–सलाह करके–उसके धन को नष्ट कर डालते हैं ॥१॥''

दोनों मन्त्रियों से होने वाली हानि–

निगृहीतौ तौ तं विनाशयतः ॥७०॥

अर्थ—यदि दोनों मंत्रियों का निग्रह किया जाता है, तो वे मिलकर राजा को नष्ट कर देते हैं ॥७०॥

गुरु[४] विद्वान् ने भी कहा है कि ''समस्त राज–कर्मचारी मंत्रियों के अधीन होते हैं; अतः राजा के प्रतिद्वन्दी–विरोधी–मंत्री उनकी सहायता से राजा को मार देते हैं ॥१॥''

राजा को जितने मंत्री रखने चाहिए–

त्रयः पंच सप्त वा मन्त्रिणस्तैः कार्याः ॥७१॥

अर्थ—राजाओं को तीन, पाँच या सात मंत्री नियुक्त करने चाहिए। सारांश यह है कि विषम संख्या वाले मंत्रिमंडल का परस्पर में एक मत होना कठिन है; इसलिए वे राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र–बगावत वगैरह–करने में असमर्थ रहते हैं; अतः राजा को तीन, पाँच या सात मंत्री रखने का निर्देश किया गया हैं ॥७१॥

परस्पर ईर्ष्या करने वाले मन्त्रियों से हानि–

---

१. ''ज्ञातसारोऽपि खल्वेकः संदिग्धे कार्यवस्तुनि'' संगृहीत–

२. तथा च नारदः–एको मंत्री कृतो राज्ञा स्वेच्छया परिवर्तते। न करोति भयं राज्ञः कृष्येषु परिमुह्यति ॥१॥

३. तथा च नारदः–मंत्रिणां द्वितयं चेत् स्यात् कथंचित् पृथिवीपतेः। अन्योन्यं मंत्रयित्वा तु कुरुते विभवक्षयं ॥१॥

४. तथा च गुरुः–भूपतेः सेवका ये स्युस्तेम्युः सचिवसम्मताः। तैस्तैः सहायतां नीतैर्हन्युस्तं प्राणयाद्भयाद् ? ॥१॥

विषमपुरुषसमूहे दुर्लभमैकमत्यं[1] ॥७२॥

अर्थ—यदि राजा परस्पर में ईर्ष्या करने वाले मंत्रि-मण्डल को नियुक्त करे, तो उसकी किसी योग्य राजकीय काय में एक सम्मति होना कठिन है ॥७२॥

राजपुत्र[2] विद्वान् ने भी कहा है कि ''आपस में ईर्ष्या करने वालों की किसी कार्य में एक सम्मति नहीं होती; इसलिए राजा को परस्पर में स्पर्द्धा (ईर्ष्या) न करने वाले-पारस्परिक प्रेम व सहानुभूति से रहने वाले-मंत्रियों की नियुक्ति करनी चाहिए ॥१॥''

बहुत मंत्रियों से होने वाली हानि-

बहवो मंत्रिणः परस्परं स्वमतीरुत्कर्षयन्ति[3] ॥७३॥

अर्थ—परस्पर में ईर्ष्या रखने वाले बहुत से मंत्री राजा के समक्ष अपनी-अपनी बुद्धि का महत्त्व प्रकट करके अपना-अपना मत पुष्ट करते हैं। सारांश यह है कि ईर्ष्यालु बहुत से मंत्री अपना-अपना मत पुष्ट करने में प्रयत्नशील होते हैं, इससे राज-कार्य में हानि होती है ॥७३॥

रैभ्य[4] विद्वान् ने कहा है कि ''जो राजा बहुत से ईर्ष्यालु मंत्रियों को रखता है, तो वे अपने-अपने मत को उत्कृष्ट समझकर राज-कार्य को नष्ट कर डालते हैं ॥१॥''

स्वेच्छाचारी मंत्रियों से हानि-

स्वच्छन्दाश्च न विजृम्भन्ते ॥७४॥

अर्थ—स्वेच्छाचारी मंत्री आपस की उचित सलाह नहीं मानते ॥७४॥

अत्रि[5] विद्वान् ने भी कहा है कि ''स्वेच्छाचारी मंत्री राजा के हितैषी नहीं होते और मंत्रणा करते हुए उचित बात को नहीं मानते ॥१॥''

राजा व मनुष्य-कर्त्तव्य-

यद्बहुगुणमनपायबहुलं भवति तत्कार्यमनुष्ठेयम् ॥७५॥

अर्थ—राजा या विवेकी मनुष्य को सम्पत्ति और कीर्ति-लाभ-आदि बहुत गुणों से युक्त (श्रेष्ठ) तथा विनाश-रहित-नित्य व कल्याणकारक कार्य करना चाहिए ॥७५॥

---

१. उक्त सूत्र का यह अर्थ भी हो सकता है कि विषम मंत्रिमण्डल (तीन, पाँच या सात) के रहने पर उसका परस्पर मिलकर राजा का प्रतिद्वंदी (विरोधी) होना दुर्लभ है, यह अर्थ भी प्राकरणिक है; क्योंकि ७१वें सूत्र द्वारा विषम मंत्रिमंडल के रखने का आचार्यश्री ने स्पष्ट निर्देश किया है। —सम्पादक

२. तथा च राजपुत्रः—मिथः संस्पर्धमानानां नैकं संजायते मतं। स्पर्धाहीना ततः कार्या मंत्रिणः पृथिवीभुजा ॥१॥

३. ''वहवो मंत्रिणः परस्परमतिभिरुत्कर्षयन्ति'' ऐसा मु. मू. प्रति में पाठ है, परन्तु अभिप्राय दोनों का एक है। सम्पादक—

४. तथा च रैभ्यः—वहूंश्च मंत्रिणो राजा सस्पर्द्धानि करोति यः। ध्नन्ति ते नृषकार्यं यत् स्वमंत्रस्य कृता वराः ॥१॥

५. तथा च अत्रिः—स्वच्छन्द मंत्रिणो नूनं न कुर्वन्ति यथोचितं। मंत्रं मंत्रयमाणाश्च भूपस्याहिताः स्मृताः ॥१॥

जैमिनि[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''महान् राज्य के इच्छुक राजा को जो-जो कार्य अधिक श्रेष्ठ और विनाश से रहित व कल्याणकारक हों उन्हें करना चाहिए ॥१॥

मनुष्य-कर्त्तव्य-

तदेव भुज्यते यदेव परिणमति ॥७६॥

अर्थ—जिसका परिपाक (पचना) अच्छी तरह से हो सके, वही प्रकृति-ऋतु के अनुकूल भोजन करना उचित है। सारांश यह है कि नैतिक मनुष्य को पचने वाले (निरन्तर विशुद्ध, पुण्य, यशस्य और न्याययुक्त तथा भविष्य में कल्याण-कारक) सत् कार्य करना चाहिए। उसे न पचने वाले समाज दंड और राज-दंडादि द्वारा अपकीर्ति को फैलाने वाले अन्याय-युक्त असत् कार्यों से सदा दूर रहना चाहिए। इसी प्रकार राजा को भी राज्य की श्रीवृद्धि में उपयोगी संधि और विग्रह-आदि कार्य इस प्रकार विशुद्ध मंत्रणा पूर्वक करना चाहिए, जिससे उसका भविष्य उज्ज्वल-श्रेयस्कर हो। उसे भविष्य में होने वाली राज्य-वृत्ति संबंधी कार्यों से सदा दूर रहना चाहिए ॥७६॥

जिस प्रकार के मंत्रियों की नियुक्ति से कोई हानि नहीं-

यथोक्तगुणसमवायिन्येकस्मिन् युगले वा मंत्रिणि न कोऽपि दोषः ॥७७॥

अर्थ—यदि मंत्री में पूर्वोक्त गुण (पाँच में सूत्र में कहे हुए द्विज, स्वदेशवासी, सदाचारी, कुलीन और व्यसनों से रहित-आदि सद्‌गुण) विद्यमान हों तो एक या दो मंत्रियों की भी नियुक्ति करने से राजा की हानि नहीं हो सकती। सारांश यह है कि पूर्व में आचार्यश्री ने एक या दो मंत्रियों के रखने का निषेध किया था, परन्तु अब यथार्थ सिद्धान्त प्रगट करते हैं कि पूर्वोक्त गुणों से विभूषित एक या दो मंत्रियों के रखने में भी राजा की कोई हानि नहीं हो सकती ॥७७॥

बहुत से मूर्ख मंत्रियों के रखने का निषेध-

न हि महानप्यन्धसमुदायो रूपमुपलभेत ॥७८॥

अर्थ—बहुत से भी अन्धों का समूह रूप को नहीं जान सकता। सारांश यह है कि जिस प्रकार बहुत-सा अन्ध-समुदाय हरित-पीतादि रूप को नहीं जान सकता, उसी प्रकार पूर्वोक्त गुणों से शून्य व मूर्ख मंत्रि-मंडल भी राज्य-वृद्धि के उपायों का यथार्थ निश्चय नहीं कर सकता। अतएव नीतिज्ञ राजा को मूर्ख मंत्रि-मंडल नहीं रखना चाहिए ॥७८॥

दोनों मंत्रियों के रखने से कोई हानि नहीं इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन-

अवार्यवीर्यौ धुर्यौ किंन्न महति भारे नियुज्यते[2] ॥७८॥

---

१. यथा च जैमिनिः-यद्यच्छ्रेष्ठतरं कृत्यं तत्तत्कार्यं महीभुजा। नोपघातो भवेद्यत्र राज्यं विपुलमिच्छता ॥१॥

२. ''अवार्यवीर्यौ द्वौ धुर्यौ किं महति भारे न नियुज्येते'' ऐसा मु. मू. पु. में पाठ है, जो कि सं. टी. पु. के पाठ से उत्तम (व्याकरण के अनुकूल) है, परन्तु सारांश दोनों का एक सा है। -संपादक

अर्थ—दोनों बैल यदि अधिक बलिष्ठ हों, तो क्या वे दोनों महान् बोझा ढोने के लिए गाड़ी वगैरह में नहीं जोते जाते ? अवश्य जोते जाते हैं। सारांश यह है कि उसी प्रकार दो मन्त्री भी यदि पूर्वोक्त गुणों से अलंकृत हों, तो वे भी राज्य-भार को वहन करने में समर्थ हो सकते हैं; अतएव उक्त गुणों से युक्त दो मन्त्रियों के रखने में कोई हानि नहीं है ॥७९॥

बहुत से सहायकों से लाभ–

बहुसहाये राज्ञि प्रसीदन्ति सर्व एव मनोरथाः ॥८०॥

अर्थ—जिस राजा के बहुत से सहायक (राज्य में सहायता देने वाले भिन्न-भिन्न विभागों के भिन्न-भिन्न प्रधानमन्त्री आदि) होते हैं, उसे समस्त अभिलषित पदार्थों की प्राप्ति होती है ॥८०॥

वर्ग[१] विद्वान् ने कहा है कि "जिस प्रकार मद-शून्य हाथी और दांतों से रहित सर्प सुशोभित व कार्य करने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार राजा भी सहायकों से रहित होने पर शोभायमान और राजकीय कार्य करने में समर्थ नहीं होता, इसलिए उसे बहुत से सहायक रखने चाहिए ॥१॥"

केवल मन्त्री के रखने से हानि–

एको हि पुरुषः केषु नाम कार्येष्वात्मानं विभजते ॥८१॥

अर्थ—अकेला आदमी अपने को किन-किन कार्यों में नियुक्त कर सकता है ? नहीं कर सकता। सारांश यह है कि राजकीय बहुत से कार्य होते हैं, उन्हें अकेला मन्त्री किस प्रकार सम्पन्न कर सकता है ? नहीं कर सकता, अतएव अलग-अलग विभागों के लिए बहुत से मंत्री-आदि सहायक होने चाहिए ॥८१॥

जैमिनि[२] विद्वान् ने कहा है कि "जो राजा अपनी मूर्खता से एक मन्त्री को ही रखता है व दूसरे सहायकों को नहीं रखता, इससे उसके बहुत से राजकार्य नष्ट हो जाते हैं ॥१॥"

उक्त बात का दृष्टान्त द्वारा समर्थन–

किमेकशाखस्य शाखिनो महती भवतिच्छाया[३] ॥८२॥

अर्थ—क्या केवल एक शाखा वाले वृक्ष से अधिक छाया हो सकती है ? नहीं हो सकती, उसी प्रकार अकेले मन्त्री से राज्य के महान् कार्य सिद्ध नहीं हो सकते ॥८२॥

अत्रि[४] विद्वान् ने भी कहा है कि "जिस प्रकार एक ही शाखा (डाली) वाले वृक्ष से छाया नहीं

---

१. तथा च वर्गः–मदहीनो यथा नागो दंष्ट्राहीनो यथोरगः। असहायस्तथा राजा तत् कार्या बध्वश्च ते ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः–एकं यः कुरुते राजा मन्त्रिणं मन्दबुद्धितः। तस्य भूरीणि कार्याणि सीदन्ति च तदाश्रयात् ॥१॥
संशोधित व परिवर्तित। –सम्पादक

३. किमेकशाखाशाखिनो महतोऽपि भवतिच्छाया ? ऐसा मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में पाठ है, परन्तु विशेष अर्थभेद नहीं है। –सम्पादक

४. तथा च अत्रिः–यथैकशाखवृक्षस्य नैवच्छाया प्रजायते। तथैकमंत्रिणा राज्ञः सिद्धिः कृत्येषु नो भवेत् ॥१॥

होती, उसी प्रकार अकेले मन्त्री से राज-कार्य सिद्ध नहीं हो सकते ॥१॥''

आपत्तिकाल में सहायकों की दुर्लभता-

कार्यकाले दुर्लभः पुरुषसमुदायः ॥८३॥

अर्थ-आपत्तिकाल आने पर कार्य करने वाले सहायक पुरुषों का मिलना दुर्लभ होता है। अतएव नैतिक व्यक्ति या राजा कार्य में सहायक पुरुषों को पहले से ही संग्रह करे। सारांश यह है कि यद्यपि भविष्य में आने वाली आपत्ति से बचाव करने के लिए पहले से सहायक पुरुषों के रखने में अधिक धनराशि का व्यय होता है, तथापि नैतिक पुरुष उसकी परवाह न करे। क्योंकि धन-व्यय की अपेक्षा सहायक पुरुषों के संग्रह को नीतिनिष्ठों ने अधिक महत्त्व दिया है और इसी कारण विजिगीषु राजा लोग भविष्य में होने वाले शत्रुओं के हमले आदि से राष्ट्र को सुरक्षित रखने के लिए विशाल सैनिक-संगठन करने में प्रचुर धनराशि के व्यय की ओर ध्यान नहीं देते। क्योंकि आपत्तिकाल आने पर उसी समय सहायक पुरुषों का मिलना कठिन होता है ॥८३॥

किसी विद्वान्[१] नीतिकार ने कहा है कि ''विवेकी पुरुषों को आपत्ति से छुटकारा पाने के लिए पहले से ही सहायक पुरुष रखने चाहिए, क्योंकि आपत्ति पड़ने पर तत्काल उनका मिलना दुर्लभ होता है ॥१॥''

पहले से ही सहायक पुरुषों का संग्रह न करने से हानि-

दीप्ते गृहे कीदृशं कूपखननम् ॥८४॥

अर्थ—मकान में आग लग जाने पर उसे बुझाने को तत्काल पानी के लिए कुआं खोदना क्या उचित है ? नहीं। सारांश यह है कि जिस प्रकार मकान में लगी हुई आग को बुझाने के लिए उसी समय कुआं खोदना व्यर्थ है, उसी प्रकार आपत्ति आने पर उसे दूर करने के लिए सहायक-संग्रह व्यर्थ है ॥८४॥

नीतिकार चाणक्य[२] ने कहा है कि ''नैतिक पुरुष को पहले से ही विपत्ति के नाश का उपाय चिंतन कर लेना चाहिए, अकस्मात् मकान में आग लग जाने पर कुएँ का खोदना उचित नहीं? ॥१॥

धन-व्यय की अपेक्षा सहायक पुरुषों के संग्रह की विशेष उपयोगिता-

न धनं पुरुषसंग्रहाद्बहु मन्तव्यं ।८५॥

अर्थ—सहायक पुरुषों के संग्रह की अपेक्षा धन को उत्कृष्ट नहीं समझना चाहिए। इसलिए धनाभिलाषी एवं विजिगीषु राजाओं को सहायक पुरुषों का संग्रह करना चाहिए ॥८५॥

शुक्र[३] विद्वान् ने कहा है कि ''राजा को सहायक पुरुष-श्रेष्ठों के बिना धन नहीं मिलता; इसलिए

१. उक्तं च-अग्रे-अग्रे प्रकर्त्तव्याः सहायाः सुविवेकिभिः। आपन्नाशाय ते यस्माद् दुर्लभा व्यसने स्थिते ॥१॥
२. तथा च चाणक्यः-विपदानां प्रतीकारं पूर्वमेव प्रचिन्तयेत्। न कूपखननं युक्तं प्रदीप्ते सहसा गृहे ॥१॥
३. तथा च शुक्रः-न बाह्यं पुरुषेन्द्राणां धनं भूपस्य जायते। तस्माद्धनार्थिना कार्यः सर्वदा वीरसंग्रहः ॥१॥

सम्पत्ति के अभिलाषी राजाओं को सदा वीर पुरुषों का संग्रह करना चाहिए ॥१॥''

उक्त बात का समर्थन-सहायक पुरुषों को धन देने से लाभ-

सत्क्षेत्रे बीजमिव पुरुषेपूप्तं कार्यं शतशः फलति[१]॥ ८६॥

अर्थ—उत्तम उपजाऊ खेत में बोए हुए बीज की तरह सत्पुरुषों (सहायक कार्यपुरुष-मंत्री, सेनापति और अर्थ-सचिव-आदि) को दिया हुआ धन निस्सन्देह अनेक फल देता है-अनेक आर्थिक लाभ-वगैरह प्रयोजनों को सिद्ध करता है। सारांश यह है कि जिस प्रकार उपजाऊ पृथिवी में बोए गये धान्यादि के बीज प्रचुर धान्य-राशि को उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार मंत्री, अमात्य, पुरोहित और सेनापति-आदि सहायक पुरुषों को दिया हुआ धन भी प्रचुर धन-राशि को उत्पन्न करता हैं; अतएव विजिगीषु राजा या नैतिक पुरुष सहायक सत्पुरुषों के संग्रह की अपेक्षा धन को अधिक न समझे ॥८६॥

जैमिन[२] विद्वान् ने भी कहा है कि ''उत्तम मनुष्य को दिया हुआ धन और सौंपा हुआ कार्य उपजाऊ भूमि में बोई हुई धान्य के समान निस्सन्देह सैकड़ों फल (असंख्य धन-आदि) देता है ॥१॥''

कार्य पुरुषों का स्वरूप-

बुद्धावर्थे युद्धे च ये सहायास्ते कार्यपुरुषाः॥ ८७॥

अर्थ—बुद्धि, धन और युद्ध में जो सहायक होते हैं वे कार्यपुरुष हैं। सारांश यह है कि राजाओं को राजनैतिक बुद्धि प्रदान करने वाले प्रधान मंत्री और पुरोहित आदि, सम्पत्ति में सहायक अर्थ-सचिव वगैरह और युद्ध में सहायक सेना सचिव-आदि इनको 'कार्यपुरुष' कहते हैं, अन्य को नहीं ॥८७॥

शौनक[३] विद्वान् ने कहा है कि ''जो राजा को कर्त्तव्य (संधि-विग्रहादि) में अज्ञान होने पर बुद्धि, संकट पड़ने पर धन एवं शत्रुओं से लोहा लेने के समय सैनिक शक्ति देकर उसकी सहायता करते हैं, उन्हें (प्रधान मंत्री, अर्थसचिव और सेनासचिव-आदि को) 'कार्यपुरुष' माना गया है ॥१॥''

जिस समय में जो सहायक होते हैं-

खादनवारायां को नाम न सहायः[४] ॥ ८८॥

---

१. ''सुक्षेत्रेषु बीजमिव कार्यपुरुषेपूप्तं धनं शतशः फलति'' इस प्रकार का मु. मू. व ह. लि. मू. प्रतियों में पाठ है, परन्तु अर्थ भेद कुछ नहीं।

२. तथा च जैमिनिः-सन्नरे योजितं कार्ये धनं च शतधा भवेत्। सुक्षेत्रे वापितं यद्वत् सस्यं तद्वदसंशयं ॥१॥

३. तथा च शौनकः-मोहे यच्छन्ति ये बुद्धिमर्थे कृच्छ्रं तथा धनं। वैरिसंघे सहायत्वं ते कार्यपुरुषा मताः ॥१॥

४. ''स्वादनवेलायां तु को नाम कम्य न सहायः'' ऐसा मु. मू. पुस्तक में पाठ है, परन्तु अर्थ भेद कुछ नहीं।

अर्थ—भोजन के समय कौन सहायक नहीं होता ? सभी सहायक होते हैं। सारांश यह है कि सम्पत्ति के समय सभी पुरुष सहायक हो जाते हैं, परन्तु जब मनुष्य के ऊपर आपत्ति पड़ती है तब कोई सहायता नहीं करता; इसीलिए आपत्ति आने के पूर्व ही सहायक पुरुषों का संग्रह कर लेना श्रेष्ठ है॥ ८८॥

वर्ग[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जब गृह में धन होता है, तव साधारण व्यक्ति भी मित्र हो जाता है, परन्तु धन के नष्ट हो जाने पर बन्धु जन भी तत्काल शत्रुता करने लगते हैं ॥१॥''

जिस प्रकार के पुरुष को मन्त्रणा करने का अधिकार नहीं—

श्राद्ध इवाश्रोत्रियस्य न मंत्रे मूर्खस्याधिकारोऽस्ति ॥८९॥

अर्थ—जो मनुष्य धार्मिक क्रियाकांडों का विद्वान् नहीं है, उसको जिस प्रकार श्राद्धक्रिया (श्रद्धा से किया जाने वाला दान पुण्य) कराने का अधिकार नहीं है, उसी प्रकार राजनीति-ज्ञान से शून्य-मूर्ख-मंत्री को भी मंत्रणा (उचित सलाह) का अधिकार नहीं है ॥८९॥

मूर्ख मन्त्री का दोष—

किं नामान्धः पश्येत् ॥९०॥

अर्थ—क्या अंधा मनुष्य कुछ देख सकता है ? नहीं देख सकता। सारांश यह है कि उसी प्रकार अंधे के समान मूर्ख मन्त्री भी मंत्र का निश्चय नहीं कर सकता ॥६०॥

शौनक[2] विद्वान् ने भी कहा है कि ''यदि अंधा पुरुष कुछ घट-पटादि वस्तुओं को देख सकता हो, तब कहीं मूर्ख मंत्री भी राजाओं के मंत्र को जान सकता है ॥१॥''

मूर्ख राजा और मूर्ख मंत्री के होने से हानि—

किमन्धेनाकृष्यमाणोऽन्धः समं पन्थानं प्रतिपद्यते[3]॥९१॥

अर्थ— यदि अंधे मनुष्य को दूसरा अंधा ले जाता है, तो भी क्या वह सममार्ग (गड्ढे और कंकड़-पत्थरों से रहित एक से रास्ते) को देख सकता है ? नहीं देख सकता। सारांश यह है कि उसी प्रकार यदि मूर्ख राजा भी मूर्ख मंत्री की सहायता से संधि-विग्रहादि राजकार्यों को मन्त्रणा करे, तो क्या वह उसके फल (विजयलक्ष्मी व अर्थ-लाभ-आदि) प्राप्त कर सकता है ? नहीं कर सकता॥६१॥

शुक्र[4] विद्वान् ने भी कहा है कि ''यदि अन्धा मनुष्य दूसरे अन्धे के द्वारा खींचकर मार्ग में ले

---

१. तथा च वर्गः—यदा स्यान्मंदिरे लक्ष्मीस्तदान्योऽपि सुहृद्भवेत्। वित्तक्षये तथा बन्धुस्तत्क्षणाद् दुर्जनायते ॥१॥

२. तथा च शौनकः—यद्यन्धो वीक्ष्यते किंचिद् घटं वा पटमेव च। तदा मूर्खोऽपि यो मंत्री मंत्रं पश्येत् स भूभृताम् ॥१॥

३. ''न चान्धेनाकृष्यमाणोऽन्धः समं पंथानं प्रतिपद्यते'' ऐसा मु. व. ह. लि. मू. प्रतियों में पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं। -संपादक

४. तथा च शुक्रः—अन्धेनाकृष्यमाणोऽत्र चेदन्धो मार्गवीक्षकः। भवेत्तन्मूर्खभूपोऽपि मंत्र चेत्यज्ञमंत्रिणः ॥१॥

जाया जावे, तथापि यदि वह (अन्धा) ठीक रास्ते को देख सके, तब कहीं मूर्ख राजा भी मूर्ख मंत्री की सहायता से मंत्र राजकीय उचित सलाह-का निश्चय कर सकता है। सारांश यह है कि उक्त दोनों कार्य असंभव हैं, इसलिए राज-मंत्री को राजनीति का विद्वान् होना चाहिए ॥१॥''

मूर्ख मंत्री से कार्य-सिद्धि निश्चित नहीं है, इसका दृष्टान्तों द्वारा समर्थन-

तदन्धवर्तकीयं काकतालीयं वा यन्मूर्खमंत्रात् कार्यसिद्धिः ॥९२॥

अर्थ—मूर्ख मंत्री की मंत्रणा-सलाह से भी कभी किसी समय कार्य-सिद्धि हो जाती है, परन्तु वह अन्धे के हाथ आई हुई बटेर-चिड़िया विशेष-की न्याय के समान अथवा काकतालीय न्याय (ताड़ वृक्ष के नीचे से उड़कर जाने वाले कौए को उसी समय उस वृक्ष से गिरने वाले ताड़फल की प्राप्तिरूप न्याय) के समान सार्वकालिक-सदा होने वाली और निश्चित नहीं होती। अर्थात्-जिस प्रकार अन्धे के हाथों में कभी किसी समय भाग्योदय से बटेर पक्षी अचानक आ जाता है परन्तु उसका मिलना सदा व निश्चित नहीं है।

अथवा जिस प्रकार ताड़वृक्ष के नीचे से उड़कर जानेवाले कौए के मुख में उसी समय उस वृक्ष से गिरने वाले ताड़फल का प्राप्त होना, कभी उसके भाग्योदय से हो जाता है, परन्तु सार्वकालिक व निश्चित नहीं है, उसी प्रकार राजा को भी भाग्योदय से, मूर्ख मन्त्री की मंत्रणा से कार्यसिद्धि हो जाती है, परन्तु वह सदा और निश्चित नहीं होती।

स्पष्टीकरण—अन्धे के हाथ में प्राप्त हुई बटेर-न्याय-कभी बटेर (चिड़िया विशेष) अन्धे के शिर पर बैठ जाती है। वह ''मेरे शिर पर क्या चीज आपड़ी'' ? ऐसा समझकर उसे अपने दोनों हाथों से पकड़ लेता है, यह ''अन्धे के हाथ में आई हुई बटेर न्याय है। प्रकरण में जिस प्रकार यद्यपि बटेर की प्राप्ति चतुष्मान् (आँखों वाले) पुरुष की तरह अन्धे को भी हुई, परन्तु अन्धे को उसकी प्राप्ति कदाचित् भाग्योदय से होती है, सदा व निश्चित रीति से नहीं। उसी प्रकार राजा को भी मूर्ख मंत्री की मंत्रणा से कदाचित् भाग्योदय से कार्य-सिद्धि हो सकती है, परन्तु वह सार्वकालिक और नियत नहीं।

इसी प्रकार काकतालीयन्याय-ताड़ वृक्ष में चिरकाल से फल लगता है और वह कभी ताड़ वृक्ष से टूट कर गिरते समय उसके नीचे मार्ग से जाते हुए कौए के मुख में भाग्योदय से प्राप्त हो जाता है उसे 'काकतालीयन्याय' कहते हैं। उक्त प्रकरण में जिस प्रकार ताड़ वृक्ष के फल की प्राप्ति कौए को कभी भाग्योदय से हो जाती है, परन्तु वह सार्वकालिक और नियत नहीं, उसी प्रकार मूर्ख मंत्री की मंत्रणा से राजा को भी कदाचित् भाग्योदय से कार्यसिद्धि हो सकती है, परन्तु सदा और निश्चित नहीं हो सकती ॥९२॥

गुरु[१] विद्वान् ने भी कहा है कि ''मूर्ख की मंत्रणा से किसी प्रकार जो कार्य-सिद्धि होती है,

---

१. तथा च गुरुः-अंधवर्तकमेवैतत् काकतालीयमेव च। यन्मूर्खमंत्रतः सिद्धिः कथंचिदपि जायते ॥१॥

उसे अन्धे के हाथ में आई हुई बटेर-न्याय एवं काकतालीय-न्याय के समान कदाचित् और अनिश्चित समझनी चाहिए ॥१॥''

मूर्ख मंत्रियों को मंत्र-ज्ञान जिस प्रकार का होता है-

स घुणाक्षरन्यायो यन्मूर्खेषु मंत्रपरिज्ञानम्[१] ॥९३॥

अर्थ—मूर्ख मनुष्य को मंत्रणा का ज्ञान घुणाक्षरन्याय के समान कदाचित् हो जाता है, परन्तु निश्चित नहीं है।

स्पष्टीकरण—घुणाक्षरन्याय-घुण (कीड़ाविशेष) लकड़ी को धीरे-धीरे खाता है, उससे उसमें विचित्र रेखाएँ हो जाती हैं, उनमें से कोई रेखा कदाचित् अक्षराकार (क, ख-आदि अक्षरों की आकृतिवाली) हो जाती है, उसे 'घुणाक्षरन्याय' कहते हैं। उक्त प्रकरण में जिस प्रकार घुण से लकड़ी में अक्षर का बनना कदाचित् होता है परन्तु निश्चित नहीं, उसी प्रकार मूर्ख पुरुष से मंत्रणा का ज्ञान भी कदाचित् भाग्योदय से हो सकता है, परन्तु वह निश्चित व सदा नहीं हो सकता ॥९३॥''

गुरु[२] विद्वान् ने भी कहा है कि ''मूर्ख मनुष्यों को मंत्र (सलाह) का ज्ञान घुणाक्षरन्याय के समान कदाचित् होता है, परन्तु नियत न होने से उसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता ॥१॥''

शास्त्रज्ञान से शून्य मन की कर्त्तव्य-विमुखता-

अनालोकं लोचनमिवाशास्त्रं मनः कियत् पश्येत् ॥९४॥

अर्थ—शास्त्रज्ञान से शून्य जड़ात्मक मन ज्योति-रहित नेत्र के समान कितना कर्त्तव्य-बोध कर सकता है ? नहीं कर सकता। सारांश यह है कि जिस प्रकार अन्धा पुरुष ज्योति-हीन नेत्रों के द्वारा घट-पटादि पदार्थों को नहीं देख सकता, उसी प्रकार जिस मनुष्य का मन शास्त्र ज्ञान के संस्कार से शून्य है, वह भी समुचित कर्त्तव्य का निश्चय नहीं कर सकता॥९४॥

गर्ग[३] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जिस प्रकार ज्योति-हीन चक्षु किसी भी घट-पटादि वस्तु को नहीं देख सकती, उसी प्रकार शास्त्र ज्ञान से शून्य मन भी मंत्रणा का निश्चय नहीं कर सकता ॥१॥''

सम्पत्ति-प्राप्ति का उपाय-

स्वामिप्रसादः सम्पदं जनयति न पुनराभिजात्यं पांडित्यं वा ॥९५॥

अर्थ—स्वामी की प्रसन्नता सम्पत्ति को पैदा करती है, कुलीनता व विद्वत्ता नहीं। अर्थात्-आश्रित मनुष्य कितना ही विद्वान् और उच्च कुल का क्यों न हो, परन्तु यदि उससे उसका स्वामी

---

१. मु. मू. प्रति में 'कार्यपरिज्ञानं' ऐसा पाठ है, उसका अर्थ-कर्त्तव्य-निश्चय है, विशेष अर्थभेद कुछ नहीं।-संपादक

२. तथा च गुरुः-यन्मूर्खेषु परिज्ञानं जायते मंत्रसंभवम्। स हि घुणाक्षरन्यायो न तज्ज्ञानं प्रकीर्तितम् ॥१॥

३. तथा च गर्गः-आलोकरहितं नेत्र यथा किंचिन्न पश्यति। तथा शास्त्रविहीनं यम्मनो मंत्र न पश्यति ॥१॥

प्रसन्न नहीं है, तो उसे कदाऽपि धन प्राप्त नहीं हो सकता ॥९५॥

शुक्र[१] विद्वान् ने कहा है कि ''संसार में बहुत से कुलीन और विद्वान् पुरुष दरिद्र दिखाई देते हैं, परन्तु जिन पर राजा की कृपा है, वे मूर्ख व कुल-हीन होने पर भी धनाढ्य देखे जाते हैं ॥१॥''

वज्रमूर्ख के स्वभाव का दृष्टान्त द्वारा समर्थन–

हरकण्ठलग्नोऽपि कालकूटः काल एव॥९६॥

अर्थ–शिवजी के श्वेत कण्ठ में लगा हुआ भी विष, विष ही है अर्थात् वह अपने नाशकारक स्वभाव को नहीं छोड़ सकता अथवा कृष्ण से श्वेत नहीं हो सकता। सारांश यह है कि जिस प्रकार विष शिवजी के अत्यन्त श्वेत कंठ के आश्रय से अपने प्राण-घातक स्वभाव को नहीं छोड़ सकता, उसी प्रकार वज्रमूर्ख मनुष्य भी राज-मंत्री आदि ऊँचे पदों पर अधिष्ठित होने पर भी अपने मूर्खता-पूर्ण स्वभाव को नहीं छोड़ सकता॥ ६६॥

सुन्दरसेन[२] विद्वान् ने भी कहा है कि ''वस्तु का स्वभाव उपदेश से बदला नहीं जा सकता, क्योंकि जल भी गरम हो जाने पर पुनः अपने शीतल स्वभाव को प्राप्त हो जाता है ॥१॥''

मूर्ख मंत्रियों को राज्य-भार सौंपने से हानि–

स्ववधाय कृत्योत्थापनमिव मूर्खेषु राज्येभारारोपणम् ॥९७॥

अर्थ–जो राजा मूर्ख मंत्रियों को राज्य-भार समर्पण करता है, वह अपने नाश के लिए की गई मंत्रसिद्धि के समान अपना नाशकर डालता है। सारांश यह है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने शत्रु-वध करने के उद्देश्य से मंत्रविशेष सिद्ध करता है, उसके सिद्ध हो जाने पर शत्रु-वध करने के लिए एक पिशाच प्रगट होता है, परन्तु यदि शत्रु, जप, होम और दानादि करने से विशेष बलवान् होता है, तब वह पिशाच शत्रु को न मारकर उल्टा मंत्रसिद्धि करने वाले को मार डालता है, उसी प्रकार राजा भी मूर्ख मंत्री को राज्यभार सौंपने से अपना नाश कर डालता है॥९७॥

शुक्र[३] विद्वान् ने कहा है कि ''जो राजा अपना राज्य-भार मूर्ख मंत्रियों को सौंप देता है, वह अपना नाश करने के लिए मंत्रविशेष सिद्ध करता है ॥१॥''

कर्त्तव्य-विमुख मनुष्य के शास्त्रज्ञान की निष्फलता–

अकार्यवेदिनः किं बहुना शास्त्रेण ॥९८॥

---

१. तथा च शुक्रः–कुलीना पण्डिता दुःस्था दृश्यन्ते बहवो जनाः। मूर्खाः कुलविहीनाश्च धनाड्या राजवल्लभाः ॥१॥

२. तथा च सुन्दरसेनः–[स्वभावो नोपदेशेन] शक्यते कर्त्तुमन्यथा। सुतप्तान्यपि तोयानि पुनर्गच्छन्ति शीतताम् ॥१॥ नोट–उक्त श्लोक का प्रथम चरण संशोधित एवं परिवर्तित किया गया है; क्योंकि सं. टी. पुस्तक में अशुद्ध मुद्रित था। –सम्पादक

३. तथा च शुक्रः–मूर्खमंत्रिषु यो भारं [राजोत्थं संप्रयच्छति]। आत्मनाशाय कृत्यां स उत्थापयति भूमिपः ॥१॥ **नोट**–उक्त पद्य का दूसरा चरण संशोधित किया गया है। –सम्पादक

अर्थ—जो मनुष्य कर्त्तव्य (हित-प्राप्ति व अहित-परिहार) को नहीं जानता-चतुर नहीं है, उसका बहुत शास्त्रों का अभ्यास व्यर्थ है ॥९८॥

रैभ्य[1] विद्वान् ने भी कहा है कि "जो व्यक्ति कर्त्तव्य परायण नहीं, उसका बढ़ा हुआ बहुत शास्त्रों का अभ्यास भस्म में हवन करने के समान व्यर्थ है ॥१॥"

गुणहीन मनुष्य की कड़ी आलोचना—

गुणहीनं धनुः पिंजनादपि कष्टम्[2] ॥९९॥

अर्थ—जिस प्रकार डोरी-शून्य धनुष को शत्रु पर प्रहार करने के लिए चढ़ाना व्यर्थ है, उसी प्रकार जो मनुष्य नैतिकज्ञान, सदाचार और वीरता-प्रभृति गुणों से शून्य (मूर्ख) है, उसको केवल श्वांस लेने मात्र से क्या लाभ है ? कोई लाभ नहीं-उसका जन्म निरर्थक है ॥६६॥

जैमिनि[3] विद्वान् ने भी कहा है कि "गुण-शून्य राजा डोरी-रहित धनुष के समान निरर्थक है ॥१/२॥"

राज-मंत्री के महत्त्व का कारण—

चक्षुष इव मंत्रिणोऽपि यथार्थदर्शनमेवात्मगौरवहेतुः ॥१००॥

अर्थ—जिस प्रकार नेत्र की सूक्ष्मदृष्टि उसके महत्त्व-प्रशंसा का कारण होती है, उसी प्रकार राज-मंत्री की भी यथार्थदृष्टि (सन्धि-विग्रह-आदि कार्य-साधक मंत्र का यथार्थज्ञान) उसको राजा द्वारा गौरव प्राप्त करने में कारण होती है ॥१००॥

गुरु[4] विद्वान् ने भी कहा है कि "जिस प्रकार सूक्ष्मदृष्टि-युक्त नेत्रों की लोक में प्रशंसा होती है, उसी प्रकार यथार्थ मंत्रणा में चतुर मंत्री की भी राजा द्वारा प्रशंसा की जाती है ॥१॥"

मंत्र-सलाह के अयोग्य व्यक्ति—

शस्त्राधिकारिणो न मंत्राधिकारिणः स्युः ॥१०१॥

अर्थ—शस्त्र-संचालन करने वाले-केवल वीरता प्रकट करने वाले-क्षत्रिय लोग मंत्रणा करने के पात्र नहीं हैं ॥१०१॥

जैमिनि[5] विद्वान् ने कहा है कि "राजा को मंत्रणा-निश्चय करने के लिए क्षत्रियों को नियुक्त नहीं

---

१. तथा च रैभ्यः—न कार्यं यो निजं वेत्ति शास्त्राभ्यासेन तस्य किं। [बहुनाऽपि वृद्धार्थेन] यथा भस्महुतेन च ॥१॥
नोट—उक्त पद्य का तीसरा चरण संशोधित किया गया है। –सम्पादक

२. "गुणरहितं धनुः पिंजनादप्यधिकं ? निकृष्टम् ? ऐसा पाठान्तर मु. मू. प्रति में है। यद्यपि अर्थभेद कुछ नहीं है, तथापि इसकी अपेक्षा उक्त सं. टी. पुस्तक का पाठ अच्छा है। –सम्पादक

३. तथा च जैमिनिः—गुणहीनश्च यो राजा स व्यर्थश्चापयष्टिवत् ॥१/२॥

४. तथा च गुरुः—सूक्ष्मालोकस्य नेत्रस्य यथा शंसा प्रजायते। मंत्रिणोऽपि सुमंत्रस्य तथा सा नृपसंभवा ॥१॥

५. तथा च जैमिनिः—मंत्रस्थाने न कर्त्तव्याः क्षत्रियाः पृथिवीभुजा। यतस्ते केवलं मंत्रं प्रपश्यन्ति रथोद्भवम् ॥१॥

करना चाहिए, क्योंकि वे केवल युद्ध करने की सलाह देना जानते हैं ॥१॥''

पूर्वोक्त बात का समर्थन–

क्षत्रियस्य परिहरतोऽप्यायात्युपरि भंडनं ॥१०२॥

अर्थ–क्षत्रिय को रोकने पर भी केवल कलह करना ही सूझता है, अतः उसे मंत्री नहीं बनाना चाहिए ॥१०२॥

वर्ग[1] विद्वान् ने कहा है कि ''क्षत्रिय का क्षात्र-तेज रोकने पर भी प्रायः करके युद्ध करने के लिए प्रवृत्त करता है; इसलिए उसे मंत्रणा के कार्य में नहीं रखना चाहिए ॥१॥''

क्षत्रियों की प्रकृति–

शस्त्रोपजीविनां कलहमन्तरेण भक्तमपि भुक्तं न जीर्यति ॥१०३॥

अर्थ–शस्त्रों से जीविका करने वाले (क्षत्रियों) को लड़ाई किये बिना खाया हुआ भोजन भी नहीं पचता; अतः क्षत्रिय लोग मंत्री पद के योग्य नहीं ॥१०३॥

भागुरि[2] विद्वान् ने भी कहा है कि ''शस्त्रों से जीविका करने वाले क्षत्रियों को किसी के साथ युद्ध किये बिना पेट का अन्न भी नहीं पच पाता ॥१॥''

गर्व-अभिमान-करने वाले पदार्थ–

मंत्राधिकारः स्वामिप्रसादः शस्त्रोपजीवनं चेत्येकैकमपि पुरुषमुसेत्कयति किं पुनर्न समुदायः ॥१०४॥

अर्थ–मंत्री-पद की प्राप्ति, राजा की प्रसन्नता व शस्त्रों से जीविका करना (क्षत्रियपन) इनमें से प्राप्त हुई एक-एक वस्तु भी मनुष्य को उन्मत्त-अभिमानी बना देती है, पुनः क्या उक्त तीनों वस्तुओं का समुदाय उन्मत्त नहीं बनाता ? अवश्य बनाता है ॥१०४॥

शुक्र[3] विद्वान् ने कहा है कि ''राजा की प्रसन्नता, मंत्री-पद का मिलना और क्षत्रियपन इनमें से एक-एक वस्तु भी मनुष्य को अभिमान पैदा करती है, पुनः जिसमें ये तीनों हों उसका तो कहना ही क्या है? ॥१॥''

अधिकारी (मंत्री वगैरह) का स्वरूप–

नालम्पटोऽधिकारी[4] ॥१०५॥

---

१. तथा च वर्गः–ध्रियमाणमपि प्रायः क्षात्रं तेजो विवर्धते। युद्धार्थं तेन संत्याज्यः क्षत्रियो मंत्रकर्मणि ॥१॥

२. तथा च भागुरिः–शास्त्रोपजीविनामन्नमुदरस्थं न जीर्यति। यावद् केनापि नो युद्धं साधुनापि समं भवेत् ॥१॥

३. तथा च शुक्रः–नृपप्रसादो मंत्रित्वं शास्त्रजीव्यं स्मयं क्रियात्। एकैकोऽपि नरस्यात्र किं पुनर्यत्र ते त्रयः ॥१॥

४. ''न लम्पटो अधिकारी भवति'' ऐसा मु. मू. प्रति में पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि स्त्री व धनादि का लोभी पुरुष अधिकारी-मंत्री आदि के पद में नियुक्त करने योग्य-नहीं है।

अर्थ—जो मनुष्य निःस्पृह (धनादि की चाह नहीं रखने वाला) होता है, वह अधिकारी (मंत्री-आदि कर्मचारी) नहीं हो सकता। सारांश यह है कि अमात्य-आदि कर्मचारी अवश्य धनादि की लालसा रखेगा ॥१०५॥

वल्लभदेव[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''धनादि की चाह न रखने वाला व्यक्ति मंत्री-आदि अधिकारी नहीं होता, वेषभूषा से प्रेम रखने वाला काम-वासना से रहित नहीं होता, मूर्ख पुरुष प्रियवादी नहीं होता और स्पष्टवादी धोखेबाज नहीं होता ॥१॥''

धन-लम्पट राज-मन्त्री से हानि-

मंत्रिणोऽर्थग्रहणलालसायां मतौ न राज्ञः कार्यमर्थो वा ॥१०६॥

अर्थ—जिसके मंत्री की बुद्धि धन-ग्रहण करने में लम्पट-आसक्त होती है, उस राजा का न तो कोई कार्य ही सिद्ध होता है और न उसके पास धन ही रह सकता है ॥१०६॥

गुरु[2] विद्वान् ने कहा है कि ''जिस राजा का मंत्री धन-ग्रहण करने की लालसा रखता है; उसका कोई भी राज-कार्य सिद्ध नहीं होता और उसे धन भी कैसे मिल सकता है ? नहीं मिल सकता ॥१॥''

उक्त बात की दृष्टान्त द्वारा पुष्टि-

वरणार्थं प्रेषित इव यदि कन्यां परिणयति तदा वरयितुस्तप एव शरणम् ॥१०७॥

अर्थ—जब कोई मनुष्य किसी की कन्या के साथ विवाह करने के उद्देश्य से कन्या को देखने के लिए अपने संबंधी (मामा, बंधु, चाचा और दूत-आदि) को भेजता है और वह वहाँ जाकर स्वयं उस कन्या के साथ यदि अपना विवाह कर लेता है, तो विवाह के इच्छुक उस भेजने वाले को तपश्चर्या करनी ही श्रेष्ठ है; क्योंकि स्त्री के बिना तप करना उचित है। प्रकरण में उसी प्रकार जिस राजा का मंत्री धन-लम्पट है, उसे भी अपना राज्य छोड़कर तपश्चर्या करना श्रेष्ठ है; क्योंकि धन के बिना राज्य नहीं चल सकता और धन की प्राप्ति मंत्री-आदि की सहकारिता से होती है ॥१०७॥

शुक्र[3] विद्वान् ने कहा है कि ''जिस राजा का मंत्री कुत्ते के समान शङ्कित व सज्जनों का मार्ग (टेक्स-आदि के द्वारा अप्राप्त धन की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा-आदि) रोक देता है, उसकी राज्य-स्थिति कैसे रह सकती है ? नहीं रह सकती ॥१॥

उक्त वात का अन्य दृष्टान्त द्वारा समर्थन-

स्थाल्येव भक्तं चेत् स्वयमश्नाति कुतो भोक्तुर्भुक्तिः ॥१०८॥

---

१. तथा च बल्लभदेवः-निःस्पृहो नाधिकारी स्यान्नाकामी मण्डनप्रियः। नाविदग्धः प्रियं ब्रूयात् स्फुटवक्ता न वंचकः॥१॥

२. तथा च गुरुः-यस्य संजायते मंत्री वित्तग्रहणलालसः। तस्य कार्यं न सिद्धयेत् भूमिपस्य कुतो धनं ॥१॥

३. तथा च शुक्रः-निरुणद्धि सतां मार्गं स्वयमाश्रित्य शंकितः। श्वाकारः सचिवो यस्य तस्य राज्यस्थितिः कुतः ॥१॥

अर्थ—यदि थाली अन्न-आदि भोजन को स्वयं खा जावे, तो खाने वाले को भोजन किस प्रकार मिल सकता है ? नहीं मिल सकता। उसी प्रकार यदि मंत्री राज्य-द्रव्य को स्वयं हड़प करने लगे तो फिर राज्य किस प्रकार चल सकता है ? नहीं चल सकता ॥१०८॥

विदुर[1] विद्वान् ने कहा है कि ''जिस गाय के समस्त दूध को उसके बछड़े ने धक्का देकर पी डाला है, तब उससे स्वामी की तृप्ति के लिए छांछ किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है ? नहीं हो सकती, इसी प्रकार जब राज-मंत्री राजकीय समस्त धन हड़प कर लेता है, तब राजकीय व्यवस्था (शिष्टपालन-दुष्ट निग्रह-आदि) किस प्रकार हो सकती है ? नहीं हो सकती। इसलिए राजमंत्री धन-लम्पट नहीं होना चाहिए ॥१॥

पुरुषों की प्रकृति-

तावत् सर्वोऽपि शुचिर्निःस्पृहो यावन्न परवरस्त्रीदर्शनमर्थागमो वा[2] ॥१०९॥

अर्थ—तब तक सभी मनुष्य पवित्र और निर्लोभी रहते हैं, जब तक कि उन्होंने दूसरों की उत्कृष्ट और कमनीय कान्ताओं (स्त्रियों) व धन-प्राप्ति को नहीं देखा ॥१०६॥

वर्ग[3] विद्वान् ने कहा है कि ''जब तक मनुष्य दूसरे की स्त्री और धन को नहीं देखता, तभी तक पवित्र और निर्लोभी रह सकता है, परन्तु इनके देखने से उसके दोनों गुण (पतिव्रता व निर्लोभीपन) नष्ट हो जाते हैं ॥१॥''

निर्दोषी को दूषण लगाने से हानि-

अदुष्टस्य हि दूषणं सुप्तव्यालप्रबोधनमिव ॥११०॥

अर्थ—निर्दोषी पुरुष को दूषण लगाना, सोते हुए सर्प या व्याघ्र को जगाने के समान हानिकारक है अर्थात् जिस प्रकार सोते हुए सर्प या व्याघ्र को जगाने से जगाने वाले की मृत्यु होती है, उसी प्रकार निर्दोषी को दूषण लगाने में मनुष्य की हानि होती है; क्योंकि ऐसा करने से निर्दोषी व्यक्ति वैर-विरोध करके उसकी यथाशक्ति हानि करने में प्रयत्नशील रहता है ॥११०॥

गुरु[4] विद्वान् ने कहा है कि ''जो मूर्ख किसी निर्दोषी शिष्ट पुरुष को दूषण लगाता है, वह अपनी मृत्यु कराने के लिए सोते हुए सर्प या व्याघ्र को जगाने के समान अपनी हानि करता है ॥१॥''

जिसके साथ मित्रता न करनी चाहिए-

येन सह चित्तविनाशोऽभूत्, स सन्निहितो न कर्त्तव्यः[5] ॥१११॥

---

१. तथा च विदुरः-दुग्धमाक्रम्य चान्येन पीतं वत्सेन गां यदा। तदा तक्रं कुतस्तस्याः स्वामिनस्तृप्तये भवेत् ॥१॥
२. 'अर्थाधिगमो वा' ऐसा मु. मू. प्रति में पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं। -सम्पादक
३. तथा च वर्गः-तावच्छुचिरलोभः स्याद् यावन्नेक्षेत् परस्त्रियं। वित्तं च दर्शनात्ताभ्यां द्वितीयं तम् प्रणश्यति ॥१॥
४. तथा च गुरुः-सुखसुप्तमहिं मूर्खो व्याघ्रं वा यः प्रवोधयेत्। स साधोर्दूषणं दद्यान्निर्दोषस्यात्ममृत्यवे ॥१॥
५. उक्त सूत्र सं. टी. पुस्तक में न होने पर भी प्राकरणिक होने के कारण मु. मू. व ह. लि. मू. प्रतियों में वर्तमान होने से संकलन किया गया है। -सम्पादक

अर्थ—जिसके व्यवहार से मन फट चुका हो, उसके साथ मित्रता न करनी चाहिए ॥१११॥

उक्त बात का दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण—

सकृद्विघटितं चेतः स्फटिकवलयमिव कः सन्धातुमीश्वरः ॥११२॥

अर्थ—वैर-विरोध के कारण एकबार फटे हुए मन को स्फटिकमणि के कङ्कण समान कौन जोड़ने में समर्थ है ? कोई नहीं ॥११२॥

जैमिनि[1] विद्वान् ने कहा है कि ''जिस प्रकार लोक में टूटा हुआ पाषाण-कङ्कण पुनः जुड़ नहीं सकता, उसी प्रकार पूर्व वैर के कारण दूषित-प्रतिकूलता को प्राप्त हुआ-शत्रु का चित्त पुनः अनुराग-युक्त नहीं हो सकता ॥१॥

जिस कारण से स्नेह नष्ट होता है—

न महताप्युपकारेण चित्तस्य तथानुरागो यथा विरागो भवत्यल्पेनाप्यपकारेण ॥११३॥

अर्थ—महान् उपकार से भी मन में उतना अधिक स्नेह उपकारी के प्रति नहीं होता, जितना अधिक मन थोड़ा-सा अपकार (द्रोह-आदि) करने से फट जाता है ॥११३॥

वादरायण[2] विद्वान् ने भी कहा है कि ''लोक में थोड़ा-सा अपकार करने से जैसा अधिक वैर-विरोध उत्पन्न हो जाता है, वैसा बहुत उपकार करने से भी स्नेह नहीं होता ॥१॥''

शत्रुओं के कार्य—

सूचीमुखसर्पवन्नानपकृत्य विरमन्त्यपराद्धाः ॥११४॥

अर्थ—शत्रु लोग दृष्टि-विष वाले सर्प की तरह अपकार किये बिना विश्राम नहीं लेते ॥११४॥

भृगु[3] विद्वान् ने कहा है कि ''जिस प्रकार दृष्टि विष-युक्त सर्प देखने मात्र से अपकार (जहर पैदा करके मारना) पैदा करता है, उसी प्रकार सभी शत्रु, लोग भी अपकार से रहित नहीं होते, अर्थात् ये भी महान् अपकार करते हैं ॥१॥''

काम-वेग से हानि—

अतिवृद्धः कामस्तन्नास्ति यन्न करोति ॥११५॥

अर्थ—कामी पुरुष अत्यन्त बढ़ी हुई कामवासना के कारण संसार में ऐसा कोई अकार्य नहीं, जिसे नहीं करता अर्थात् सभी प्रकार के निंदनीय व घृणित कार्य करता है ॥११५॥

उक्त बात का पौराणिक दृष्टान्तमाला द्वारा समर्थन—

---

१. तथा च जैमिनिः—पाषाणघटितस्यात्र सन्धिर्भग्नस्य नो यथा। कंकणस्येव चित्तस्य तथा वै दूषितस्य च ॥१॥

२. तथा च बादरायणः—न तथा जायते स्नेहः प्रभूतैः सुकृतैर्बहुः। स्वल्पेनाप्यपकारेण यथा वैरं प्रजायते ॥१॥

३. तथा च भृगुः—यो दृष्टिविषः सर्पो दृष्टस्तु विकृतिं भजेत्। तथापराधिनः सर्वे न स्युर्विकृतिवर्जिताः ॥१॥

श्रूयते हि किल कामपरवशः प्रजापतिरात्मदु हितरि, हरिर्गोपवधूषु, हरः शान्तनुकलत्रेषु, सुरपतिर्गौतमभार्यायां, चन्द्रश्च वृहस्पतिपत्न्यां मनश्चकरोति ॥११६॥

अर्थ—पुराणों में प्रसिद्ध है कि ब्रह्माजी काम के वशीभूत होकर अपनी सरस्वती नाम की पुत्री में, कृष्ण ग्वालों की स्त्रियों में, शिवजी गंगा नाम की शान्तनु की स्त्री में, इन्द्र गौतम की स्त्री अहिल्या में, तारानाम की बृहस्पति की स्त्री में आसक्त हुए[१] ॥११६॥

मनुष्यों की धन-वाञ्छा का दृष्टान्त द्वारा समर्थन–

अर्थेषूपभोगरहितास्तर वोऽपि साभिलाषाः किं पुनर्मनुष्याः ॥११७॥

अर्थ—जब कि वृक्ष अपने धन-पुष्प-फलादि-का उपभोग नहीं करते, तथापि वे भी धन के इच्छुक होते हैं अर्थात् स्वयं पुष्प व फलशाली होने की इच्छा रखते हैं, पुनः धन का उपभोग करने वाले मनुष्यों का तो कहना ही क्या है ? वे तो अवश्य धन के इच्छुक होते हैं, क्योंकि उन्हें उसका उपभोग (शरीर-यात्रादि) करना पड़ता है ॥११७॥

जैमिनि[२] विद्वान् ने कहा है कि ''जो वृक्ष अपने मन से स्वयं उपभोग-रहित हैं, वे भी धन के इच्छुक देखे जाते हैं-वे भी पुष्प-फलादि की वाञ्छा करते हैं, पुनः मनुष्यों का तो कहना ही क्या है ॥१॥''

लोभ का स्वरूप–

कस्य न धनलाभाल्लोभः प्रवर्तते ॥११८॥

अर्थ—संसार में धन मिलने से कि से उस का लोभ नहीं होता ? सभी को होता है ॥११८॥

वर्ग[३] विद्वान् ने कहा है कि ''जब तक मनुष्यों को धनादि प्राप्त नहीं होते, तब तक उन्हें लोभ भी नहीं होता। अन्यथा-(यदि यह बात नहीं है, तो) वन में रहने वाला मुनि भी दान-ग्रहण न करे ॥१॥''

जितेन्द्रिय की प्रशंसा–

स खलु प्रत्यक्षं दैवं यस्य परस्वेष्विव परस्त्रीषु निःस्पृहं चेतः ॥११९॥

अर्थ—जिस मनुष्य को चित्तवृत्ति अन्य-धन के समान पर-स्त्रियों के देखने पर भी लालसा-रहित है, वह प्रत्यक्ष देवता है मनुष्य नहीं, क्योंकि उसने असाधारण धर्म (परस्त्री, परधन का त्यागरूप) का अनुष्ठान किया ॥११९॥

---

१. उक्त कथानक अजैन पुराण ग्रन्थों से जानना चाहिए।

२. तथा च जैमिनिः—अर्थे तेऽपि च वाञ्छन्ति ये वृक्षा आत्मचेतसा। उपभोगैः परित्यक्ताः किं पुनर्मनुष्याश्च षे ॥१॥

३. तथा च वर्गः—तावच्च जायते लोभो यावल्लाभो न विद्यते। मुनिर्यदि वनस्थोऽपि दानं गृह्णाति नान्यथा ॥१॥

वर्ग[1] विद्वान् ने कहा है कि ''जिस महापुरुष का मन पर-कलत्र व पर-धन देख लेने पर भी विकारयुक्त नहीं होता, वह देवता है मनुष्य नहीं ॥१॥''

संतोषी पुरुषों का कार्यारम्भ-

समायव्ययः कार्यारम्भो राभसिकानाम् ॥१२०॥

अर्थ—संतोषी पुरुष जो कार्य आरम्भ करते हैं, उसमें उन्हें आमदानी व खर्च बराबर होता है तथापि सन्तुष्ट रहते हैं[2] ॥१२०॥

हारीत [3]विद्वान् ने कहा है कि ''संतोषी पुरुष जिस कार्य में आमदनी व खर्च बराबर है और यदि वह हाथ से निकल रहा है, तो भी वे उसे संतोष पूर्वक करते रहते हैं, फिर भी नहीं छोड़ते ॥१॥''

महामूर्खों का कार्य-

बहुक्लेशेनाल्पफलः कार्यारम्भो महामूर्खाणाम् ॥१२१॥

अर्थ—महामूर्ख मनुष्य जो कार्य आरम्भ करते हैं, उसमें उन्हें बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं और फल बहुत थोड़ा मिलता है ॥१२१॥

वर्ग[4] विद्वान् ने कहा है कि ''लोक में महामूर्ख पुरुष अधिक क्लेश-युक्त और अल्पफल वाले कार्य करते हैं और उनसे वे विरक्त नहीं होते ॥१॥''

अधम पुरुषों का कार्यारम्भ

दोषभयान्न कार्यारम्भः कापुरुषाणाम्[5] ॥१२२॥

अर्थ—कुत्सित-निंद्य पुरुष दोषों के भय से (इस कार्य के करने में यह दोष है और अमुक कार्य में यह दोष है इत्यादि दोषों के डर से) किसी भी कार्य को शुरू नहीं करते। सारांश यह है कि अधम पुरुष आलसी, उद्यम-हीन व डरपोक होते हैं; इसलिए वे दोषों के डर से कार्यारम्भ नहीं करते ॥१२२॥

वर्ग[6]विद्वान् ने भी कहा ''कि कुत्सित पुरुष भयभीत होकर कर्त्तव्य में दोषों का स्वयं चिंतन

---

१. तथा च वर्गः—परद्रव्ये कलत्रे च यस्य दृष्टे महात्मनः। न मनो विकृतिं याति स देवो न च मानवः ॥१॥

२. उक्त सूत्र का यह अर्थ भी हो सकता है कि जो लोग क्रोधादि कषायों के आवेग में आकर बिना विचारे कार्य करते हैं, उनके व्यापारादि कार्यों में आमदनी और खर्च बराबर होता है। -सम्पादक

३. तथा च हारीतः—आयव्ययौ समौ स्यातां यदि कार्यो विनश्यति। ततस्तोषेण कुर्वन्ति भूयोऽपि न त्यजन्ति तम् ॥१॥

४. तथा च वर्गः—बहुक्लेशानि कृत्यानि स्वल्पभावानि चक्रतुः ?। महामूर्खतमा येऽत्र न निर्वेदं व्रजन्ति च ॥१॥

५. ''दोषभयात् कार्यानारम्भः कापुरुषाणाम्'' इस प्रकार मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

६. तथा च वर्गः—कार्यदोषान् विचिन्वन्तो नराः का पुरुषाः स्वयंशुभं भाव्यान्यपि त्रस्ता [न कृत्यानि प्रकुर्वन्ति] ॥१॥

करते हुए अच्छे कार्य भी नहीं करते ॥१॥''

भय-शंका का त्याग पूर्वक कर्त्तव्य-प्रवृत्ति-

मृगाः सन्तीति किं कृषिर्न क्रियते[1] ॥१२३॥

अजीर्णभयात् किं भोजनं परित्यज्यते[2] ॥१२४॥

अर्थ—हिरणों के डर से क्या खेती नहीं की जाती ? अवश्य की जाती है। अजीर्ण के डर से क्या भोजन करना छोड़ दिया जाता है ? नहीं छोड़ा जाता। सारांश यह है कि जिस प्रकार हिरणों के डर से खेती करना नहीं छोड़ा जाता और अजीर्ण के भय से भोजन करना नहीं छोड़ा जाता, उसी प्रकार विघ्नों के डर से सज्जन लोग कर्त्तव्य-पथ को नहीं छोड़ते ॥१२३-१२४॥

कार्यारम्भ में विघ्नों की विद्यमानता-

स खलु कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा यस्य कार्यारम्भेषु प्रत्यवाया न भवन्ति[3] ॥१२५॥

अर्थ—जिसको कार्यारम्भ में विघ्न नहीं होते, क्या लोक में ऐसा कोई पुरुष हुआ है ? होगा ? या है ? न हुआ, न होगा, न है ॥१२५॥

भागुरि[4] विद्वान् ने कहा है कि ''उद्योगी को लक्ष्मी मिलती है। कुत्सित पुरुष-आलसी लोग-भाग्य भरोसे रहते हैं, इसलिए भाग्य को छोड़कर आत्म-शक्ति से उद्योग करो, तथापि यदि कार्य-सिद्धि नहीं होती, इस में कर्त्तव्यशील पुरुष का कोई दोष नहीं किन्तु भाग्य का ही दोष है ॥१॥''

दुष्ट अभिप्राय-युक्त पुरुषों के कार्य-

आत्मसंशयेन कार्यारम्भो व्यालहृदयानाम्[5] ॥१२६॥

नोट—उक्त पद्य का जब आमूल चूल (पूर्ण) परिवर्तन किया जाता, तव कहीं छन्दशास्त्रानुकूल हो सकता था, परन्तु हमने सं. टीकाकार के उद्धरण को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखने के अभिप्राय से केवल क्रियापद (प्रचक्रतुः) का जो कि बिल्कुल अशुद्ध था, परिवर्तन किया है और बाकी का ज्यों का त्यों संकलन किया है। -सम्पादक

१. ''मृगाः सन्तीति किं कृषिर्न कृष्यते'' इस प्रकार मु. व ह. लि.मू. प्रतियों में पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

२. ''अजीर्णभयान्न खलु भोजनं परित्यज्यते'' ऐसा मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में पाठ है, परन्तु अर्थ भेद कुछ नहीं।

३. ''स खलु किं कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा यस्याप्रत्यवायः कार्यारम्भः'' इस प्रकार मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में पाठान्तर वर्तमान है, परन्तु अर्थ भेद कुछ नहीं।

४. तथा च भागुरिः-यस्योद्यमो भवति तं समुपैति लक्ष्मी, दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति। दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या, यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥१॥

५. ''आत्मसंशयेन कार्यारम्भो बालहृदयानाम्'' ऐसा मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो मनुष्य परिपक्वबुद्धि-विचारशील नहीं हैं, उन्हें कार्य-प्रारम्भ में अपनी शंका [यह कार्य मुझसे होगा? या नहीं ? इस प्रकार को आशंका] हुआ करती है।

अर्थ—सांप व श्वापद (हिंसक जन्तुओं) के समान दुष्ट हृदय-युक्त पुरुष ऐसे निन्द्य कार्य (चोरी वगैरह) प्रारम्भ करते हैं, जिनसे उन्हें अपने नाश की संभावना रहती है ॥१२६॥

शुक्र[१] विद्वान् ने भी कहा है कि ''सर्प या श्वापद तुल्य दुष्ट हृदय-युक्त राजाओं के सभी कार्य उनके घातक होते हैं ॥१॥''

महापुरुषों के गुण व मृदुता लाभ का क्रमशः विवेचन—

दुर्भीरुत्वमासन्नशूरत्वं रिपौ प्रति महापुरुषाणां ॥१२७॥

जलवन्मार्दवोपेतः[२] पृथूनपि भूभृतो भिनत्ति ॥१२८॥

अर्थ—महापुरुष दूरवर्ती शत्रु से भयभीत होते हैं-उससे युद्ध नहीं करते, परन्तु शत्रु के निकट आ जाने पर अपनी वीरता दिखाते हैं ॥१२७॥

नीतिशास्त्र[३] में कहा है कि बुद्धिमान् पुरुष सामपूर्वक उपायों से युद्ध करना छोड़े और कभी भाग्य से युद्ध करना पड़े तो अधिक सैनिक शक्ति-युक्त होकर हीनशक्ति के साथ युद्ध करे ॥१॥

जब तक शत्रु सामने नहीं आया, तभी तक उससे डरे और सामने आने पर निडर होकर उस पर प्रहार करे ॥२॥''

जिस प्रकार कोमल जल-प्रवाह विशाल पर्वतों को उखाड़ देता है, उसी प्रकार कोमल राजा भी महाशक्तिशाली शत्रु-राजाओं को नष्ट कर डालता है ॥१२८॥

गुरु[४] विद्वान् ने भी कहा है कि ''मृदुता (नम्रता) गुण से महान् कार्य भी सिद्ध होते हैं, क्योंकि जल-प्रवाह के द्वारा कठोर पर्वत भी विदारण कर दिये जाते हैं ॥१॥''

प्रिय वचनों से लाभ, गुप्त रहस्य-प्रकाश की अवधि व महापुरुषों के वचन क्रमशः—

प्रियंवदः शिखीव सदर्पानपि द्विषत्सर्पानुत्सादयति[५] ॥१२९॥

नाविज्ञाय परेषामर्थमनर्थं वा स्वहृदयं प्रकाशयन्ति महानुभावाः ॥१३०॥

क्षीरवृक्षवत् फलसम्पादनमेव महतामालापः[६] ॥१३१॥

---

१. तथा च शुक्रः—ये व्यालहृदया भूपास्तेषां कर्माणि यानि च। आत्मसन्देहकारीणि तानि स्युनिखिलानि च ॥१॥

२. ''जलकेलिवन्मार्दवोपेतः इत्यादि मु. मू. प्रति में पाठान्तर है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

३. उक्तं च यतो नीतौ-युद्धं परित्यजेद्धीमानुपायैः सामपूर्वकैः। कदाचिज्जायते दौवाद्धीनेनापि वलाधिकः ॥१॥
तावत् परस्य भेतव्य'' यावन्नो दर्शनं भवेत्। दर्शने तु पुनर्जाते प्रहत''डयमशंकित'' ॥२॥

४. तथा च गुरुः—मार्दवेनापि सिद्ध्यन्ति कार्याणि सुगुरूण्यपि। यतो जलेन भिद्यन्ते पर्वता अपि निष्ठुराः ॥१॥

५. उक्त पाठ दिल्ली व पूना लायब्रेरी की ह. लि. मू. प्रतियों से संकलन किया गया है। ''प्रियंवदः शिखीव द्विषत्सर्पानुच्छादयति'' ऐसा सं. टी. पु. में पाठ है, इसका अर्थ भी पूर्वोक्त समझना चाहिए। -सम्पादक

६. ''क्षीरवृक्षवत् फलप्रदो महतामालापः'' ऐसा उक्त मू. प्रतियों में सुन्दर पाठ है। -सम्पादक

अर्थ—प्रियवादी पुरुष मोर के समान अभिमानी शत्रुरूपी सर्पों को नष्ट कर देता है ॥१२९॥

शुक्र[1] विद्वान् ने भी कहा है कि "जिस प्रकार मयूर मधुर स्वर से दर्प-युक्त सर्पों को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार मीठे वचन बोलने वाला राजा भी अहंकारी शत्रुओं को निस्सन्देह नष्ट कर डालता है ॥१॥

उत्तम पुरुष दूसरों के हृदय की अच्छी या बुरी बात जान करके ही अपने मन की बात प्रगट करते हैं ॥१३०॥

भृगु[2] विद्वान् ने भी कहा है कि "सज्जन लोग दूसरों के अच्छे या बुरे प्रयोजन को बिना जाने या समझे अपना मानसिक अभिप्राय प्रकाशित नहीं करते ॥१॥"

महापुरुषों के वचन दूध वाले वृत्त की तरह फलदायक होते हैं। अर्थात् जिस प्रकार दूध वाले वृक्ष उत्तम मिष्ट फल देते हैं, उसी प्रकार सज्जन पुरुषों के वचन भी उत्तम-उत्तम फलदायक (ऐहिक और पारत्रिक कल्याण देने वाले) होते हैं ॥१३१॥"

वर्ग[3] विद्वान् ने कहा है कि "जिस प्रकार दूध वाला वृक्ष शीघ्र उत्तम फल देता है, उसी प्रकार सज्जन पुरुषों के वचन भी निस्सन्देह उत्तम फल देते हैं ॥१॥"

नीच प्रकृति मनुष्य और महापुरुष का क्रमशः स्वरूप—

दुरारोहपादप इव दंडाभियोगेन फलप्रदो भवति नीचप्रकृतिः ॥१३२॥

स महान् यो विपत्सु धैर्यमवलम्बते ॥१३३॥

अर्थ—जिस प्रकार अधिक ऊँचाई व कंटक-आदि के कारण चढ़ने के अयोग्य वृक्ष (आम-आदि) लाठी आदि के प्रहारों से ताड़ित किये जाने पर फलदायक होते हैं, उसी प्रकार नीच प्रकृति का मनुष्य भी दंडित किये जाने पर काबू में आता है साम-दाम से नहीं ॥१३२॥

भागुरि[4] विद्वान् ने भी कहा है कि "जिस प्रकार शत्रु और न चढ़ने योग्य वृक्ष दंड से ताड़ित किये जाने पर फल देता है, उसी प्रकार नीच मनुष्य भी दंडनीति से ही वश होता है ॥१॥"

जो आपत्ति में धैर्य, धारण करता है वही महापुरुष है ॥१३३॥

गुरु[5] विद्वान् ने कहा है कि "जो राजा आपत्ति-काल आने पर धैर्य-धारण करता है वह पृथ्वी-तल में महत्त्व प्राप्त करता है ॥१॥"

समस्त कार्यों में असफल बनाने वाला दोष व कुलीन पुरुष का क्रमशः स्वरूप—

---

१. तथा च शुक्रः—यो राजा मृदुवाक्यः स्यात्सदर्पानपि विद्विषः। स निहन्ति न सन्देहो मयूरो भुजगानिव ॥१॥

२. तथा च भृगुः—अज्ञात्वा परकार्ये च शुभं वा यदि वाशुभं। अन्येषां न प्रकाशेयुः सन्तो नैव निजाशयं ॥१॥

३. तथा च वर्गः—आलापः साधुलोकानां फलदः स्यादसंशयम्। अचिरेणैव कालेन क्षीरवृक्षो यथा तथा ॥१॥

४. तथा च भागुरिः—दण्डाहतो यथारातिर्दुरारोहो महीरुहः। तथा फजप्रदो नूनं नीचप्रकृतिरत्र यः ॥१॥

५. तथा च गुरुः—आपत्कालेऽत्र संप्राप्तौ धैर्यमालम्बते हि यः। स महत्त्वमवाप्नोति पार्थिवः पृथ्वीतले ॥१॥

उत्तापकत्वं हि सर्वकार्येषु सिद्धीनां प्रथमोऽन्तरायः ॥१३४॥

शरद् घना इव न खलु वृथालापा गलगर्जितं कुर्वन्ति सत्कुलजाताः[1] ॥१३५॥

अर्थ—अधीरता (घबड़ाना-व्याकुल होना) मनुष्य की समस्त कार्य-सिद्धि में अत्यन्त बाधक है अर्थात्-जो मनुष्य कर्त्तव्य करते समय व्याकुल हो जाता है, उसका कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता; अतः कर्त्तव्य में उतावली करना उचित नहीं ॥१३४॥

गुरु[2] विद्वान् ने कहा है कि ''लोगों का अधीरता दोष समस्त कार्यों की सिद्धि में बाधक है और बहुत से राजकीय कार्यों में उलझे हुए राजाओं की कार्य-सिद्धि में तो वह विशेष रूप से बाधा डालता है ॥१॥''

कुलीन पुरुष शरदकालीन बादलों की तरह व्यर्थ बकवाद करने वाले और गरजने वाले नहीं होते। अर्थात्-जिस प्रकार शरदकाल के बादल केवल गरजते हैं बरसते नहीं, उसी प्रकार कुलीन उत्तम पुरुष व्यर्थ नहीं बोलते किन्तु अच्छे-अच्छे पुण्य व यशस्वी कार्य करके दिखाते हैं ॥१३५॥

गौतम[3] विद्वान् ने भी कहा है कि ''राजाओं को जलवृष्टि-रहित व व्यर्थ गरजने वाले शरदकालीन बादलों के समान निरर्थक बोलने वाले नहीं होना चाहिए ॥१॥''

अच्छी-बुरी वस्तु व दृष्टान्त द्वारा समर्थन-

न स्वभावेन किमपि वस्तु सुन्दरमसुन्दरं वा, किन्तु यदेव यस्य प्रकृतितो भाति तदेव तस्य सुन्दरम् ॥१३६॥

न तथा कर्पूररेणुना प्रीतिः केतकीनां वा, यथाऽमेध्येन ॥१३७॥

अर्थ—अच्छापन व बुरापन केवल पुरुषों की कल्पनामात्र है; क्योंकि संसार में कोई वस्तु अच्छी और बुरी नहीं है, किन्तु जो जिस की प्रकृति-अनुकूल होने से रुचती है, वह उसकी अपेक्षा सुन्दर है यदि वह निकृष्ट ही क्यों न हो ॥१३६॥

जैमिनि[4] विद्वान् ने भी कहा है कि ''संसार में कोई वस्तु प्रिय व अप्रिय नहीं है, परन्तु जो मन को प्रिय मालूम होती है वह निकृष्ट होने पर भी सुन्दर है ॥१॥''

---

१. ''शरद्घना इव न तु खलु वृथा गलगर्जितं कुर्वन्त्यकुलीनाः'' इस प्रकार का पाठान्तर मु. मू. प्रति में है, जिसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार शरदकालीन बादल गरजते हैं बरसते नहीं, उसी प्रकार नीच कुल के पुरुष व्यर्थ बकवाद करते हैं, कर्त्तव्य पालन नहीं करते।

२. तथा च गुरुः—व्याकुलत्वं हि लोकानां सर्वकृत्येषु विघ्नकृत्। पार्थिवानां विशेषेण [येषां कार्याणि भूरिशः] ॥१॥
नोट-उक्त श्लोक का चतुर्थ चरण संशोधित किया गया है। -सम्पादक

३. तथा च गौतमः—वृथालापैर्न भाव्यं च भूमिपालैः कदाचन। यथा शरद्घना कुर्युस्तोयवृष्टिविवर्जिताः ॥१॥ संशोधित-

४. तथा च जैमिनिः—सुन्दरासुन्दरं लोके न किंचिदपि विद्यते। निकृष्टमपि तच्छ्रेष्ठं मनसः प्रतिभावि यत् ॥१॥

मक्खियों को जिस प्रकार मल-मूत्र से प्रीति होती है, वैसी कपूर-धूलि व केतकी पुष्पों से नहीं होती ॥१३७॥

अत्यन्त क्रोधी तथा विचार-शून्य पुरुष की और परस्पर की गुप्त बात कहने से हानि का क्रमशः-

अतिक्रोधनस्य प्रभुत्त्वमग्नौ पतितं लवणमिव शतधा विशीर्यते ॥१३८॥

सर्वान् गुणान् निहन्त्यनुचितज्ञः ॥१३९॥

परस्परं मर्मकथनयात्मविक्रम एव[१] ॥१४०॥

अर्थ—अत्यन्त क्रोध करने वाले मनुष्य का ऐश्वर्य अग्नि में पड़े हुए नमक के समान सैकड़ों प्रकार से नष्ट हो जाता है ॥१३८॥

ऋषिपुत्रक[२] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जिस प्रकार अग्नि में पड़ा हुआ नमक नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अत्यन्त क्रोधी राजा का ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है ॥१॥''

योग्य-अयोग्य के विचार से शून्य पुरुष अपने समस्त ज्ञानादि गुणों को नष्ट कर देता है ॥१३६॥

नारद[३] विद्वान् ने भी कहा है जिस प्रकार नपुंसक पुरुष को युवती स्त्रियाँ निरर्थक हैं, उसी प्रकार समस्त गुणों से विभूषित पुरुष भी यदि समयानुकूल कर्त्तव्य को नहीं जानता, तो उसके समस्त गुण निरर्थक हो जाते हैं ॥१॥''

जो पुरुष परस्पर की गुप्त बात कहते हैं, वे अपना-अपना पराक्रम ही दिखाते हैं। सारांश यह है कि जिस की गुप्त बात प्रकट की जाती है, वह भी ऐसा ही करने को तत्पर हो जाता है; अतएव वे दोनों दूसरों के समक्ष अपना पराक्रम दिखाकर अपनी हानि करते हैं ॥१४०॥

जैमिनि[४] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो मनुष्य लड़ाई-झगड़ा करके दूसरे का गुप्त रहस्य

---

१. तथा च ऋषिकपुत्रकः-अतिक्रोधो महीपालः प्रभुत्वस्य विनाशकः। लवणस्य यथा वह्निर्मध्ये निपतितस्य च ॥१॥

२. तथाच नारदः-गुणैः सर्वैः समेतोऽपि वेत्ति कालोचितं न च। वृथा तस्य गुणा सर्वे यथा षण्ढस्य योषितः ॥१॥

३. ''परस्य मर्मकथनमात्मविक्रयः'' इस प्रकार मु. मू. प्रति में और ''परस्परमर्मकथनमात्मविक्रयः'' इस प्रकार पूना गवर्न. लायब्रेरी की ह. लि. मू. प्रतियों में पाठान्तर है, इस का अर्थ यह है कि जो मनुष्य अपनी गुप्त वात दूसरे से कह देता है, वह उसके लिए अपने आपको बेंच देता है। क्योंकि गुप्त वात कहने वाले को उस से हमेशा यह डर बना रहता है कि यदि यह मुझसे विरुद्ध हो जायगा, तो मेरे मन्त्र-गुप्त रहस्य- को फोड़कर मुझे मरवा डालेगा अथवा मुझे अधिक हानि पहुँचायेगा; अतएव उसे सदा उसकी आज्ञानुकूल चलना पड़ता है, इसलिए दूसरे को अपना गुप्त रहस्य प्रकट करना उसे अपने को बेंच देने के समान है। **निष्कर्ष—**अतः नैतिक व्यक्ति अपने गुप्त रहस्य को सदा गुप्त रखे।

४. तथा च जैमिनिः-परस्य धर्मभेदं च कुरुते कलहाश्रयः। तस्य सोऽपि करोत्येव तस्मान्मंत्रं न भेदयेत् ॥१॥

प्रकट कर देता है, तो दूसरा भी इसके गुप्त रहस्य को प्रकट किये बिना नहीं रहता; अतएव नैतिक पुरुष को किसी का गुप्त मंत्र नहीं फोड़ना चाहिए ॥१॥''

शत्रुओं पर विश्वास करने से हानि–

तदजाकृपाणीयं यः परेषु विश्वासः ॥१४१॥

अर्थ—शत्रुओं पर विश्वास करना 'अजाकृपाणीय[1] न्याय के समान घातक है ॥१४१॥

नीतिकार चाणक्य[2] ने भी कहा है कि ''नैतिक पुरुष को अविश्वासी–धोखेबाज पर विश्वास नहीं करना चाहिए और विश्वासी पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि विश्वास करने से उत्पन्न हुआ भय मनुष्य को जड़मूल से नष्ट कर देता है। ॥१॥''

चंचलचित्त और स्वतन्त्र पुरुष की हानि क्रमशः–

क्षणिकचित्तः किंचिदपि न साधयति[3] ॥१४२॥

स्वतंत्रः सहसाकारित्वात् सर्वं विनाशयति ॥१४३॥

अर्थ—जिसका चित्त चंचल है वह किसी भी कार्य को सिद्ध नहीं कर सकता ॥१४२॥

हारीत[4] विद्वान् ने भी कहा है कि ''चंचल बुद्धि वाले मनुष्य का कोई भी सूक्ष्म कार्य थोड़ा–सा भी सिद्ध नहीं होता, इसलिए यश चाहने वालों को अपना चित्त स्थिर करना चाहिए ॥१॥''

जो राजा स्वतन्त्र होता है-राजकीय कार्यों में मंत्री आदि की योग्य सलाह नहीं मानता-वह बिना सोचे-समझे अनेक कार्यों को एक ही काल में आरम्भ करने के कारण अपने समस्त राज्य को नष्टकर डालता है ॥१४३॥

नारद[5] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो राजा स्वतन्त्र होता है, वह मंत्रियों से कुछ नहीं पूछता

---

१. अजाकृपाणीय का स्पष्टीकरण–
किसी समय किसी भूखे व हिंसक बटोही ने वन में विचरता हुआ बकरों का झुण्ड देखा। वह स्वार्थ–वश उस झुंड के एक हृष्ट–पुष्ट बकरे को बहुत से कोमल और हरे पत्ते खिलाने लगा; इससे बकरा उसके पीछे–पीछे चलने लगा। कुछ दूरी पर वह उसके वध करने की इच्छा से किसी हथियार को ढूंढ़ने तत्पर हुआ। पश्चात् उसे दैवयोग से एक खड्ग जिसे उसने पूर्व में ही गाड़ रक्खा था, मिला। पश्चात् उसने खड्ग से उस बकरे को कत्ल कर भक्षण कर लिया, इसे 'अजाकृपाणीय' कहते हैं। सारांश यह है कि जिस प्रकार बकरा अपने शत्रु (वटोही) पर विश्वास करने से मार डाला गया, उसी प्रकार जो मनुष्य शत्रु पर विश्वास करता है, वह उसके द्वारा मार दिया जाता है, अतएव नैतिक मनुष्य को शत्रुओं पर कदाऽपि विश्वास नहीं करना चाहिए।

२. तथा च चाणिक्यः–न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत्। विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि निकृन्तति ॥१॥

३. ''क्षणिकः किञ्चित्किमपि न साधयति'' ऐसा मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में पाठ है, परन्तु अर्थ–भेद कुछ नहीं।

४. तथा हारीतः–चलचित्तस्य नो किंचित् कार्यं किंचित् प्रसिद्ध्यति। सुसूक्ष्ममपि तत्तस्मात् स्थिरं कार्यं यशोऽर्थिभिः ॥१॥

५. तथा च नारदः–यः स्वतंत्रो भवेद्राजा सचिवान्न च पृच्छति। स्वयं कृत्यानि कुर्वाणः स राज्यं नाशयेद् ध्रुवम् ॥१॥

और स्वयं राजकीय कार्य करता रहता है, इसलिए वह निश्चय से अपने राज्य को नष्ट कर देता है ॥१॥''

आलस्य-असावधानी से हानि तथा मनुष्य-कर्तव्य क्रमशः-

अलसः सर्वकर्मणामनधिकारी ॥१४४॥

प्रमादवान् भवत्यवश्यं विद्विषां वशः ॥१४५॥

कमप्यात्मनोऽनुकूलं प्रतिकूलं न कुर्यात् ॥१४६॥

प्राणादपि प्रत्यवायो रक्षितव्यः[१] ॥१४७॥

अर्थ—आलसी पुरुष समस्त राजकीय-आदि कार्यों के अयोग्य होता है ॥१४४॥

राजपुत्र[२] विद्वान् ने कहा है कि ''जो राजा छोटे-छोटे कार्यों में भी आलसी अधिकारियों-मंत्री-आदि को नियुक्त करता है उसके समस्त कार्य सिद्ध नहीं होते ॥१॥''

जो मनुष्य कर्त्तव्य-पालन में सावधान वा उत्साही नहीं है, वह शत्रुओं के वश हो जाता है ॥१४५॥

जैमिनि[३] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो राजा छोटे-छोटे कार्यों में भी शिथिलता करता है, वह महान् ऐश्वर्य-युक्त हो करके भी शत्रुओं के अधीन हो जाता है ॥१॥''

नैतिक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि किसी भी अनुकूल-मित्र को शत्रु न बनाये ॥१४६॥

राजपुत्र[४] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो राजा मित्र को शत्रु बनाता है, उसे इस मूर्खता के कारण अपने कष्ट व अपकीर्ति उठानी पड़ती है ॥१॥''

मनुष्य को प्राणों से भी अधिक अपने गुप्त रहस्य की रक्षा करनी चाहिए ॥१४७॥

भागुरि[५] विद्वान् ने कहा है कि ''राजा को अपने जीवन से भी अधिक अपने गुप्त रहस्य सुरक्षित रखने चाहिए, क्योंकि शत्रुओं को मालूम हो जाने पर वे लोग प्रविष्ट होकर उसे मार डालते हैं ॥१॥''

अपनी शक्ति न जानकर बलिष्ठ शत्रु के साथ युद्ध करने से हानि व आपद्ग्रस्त राजा का धर्म क्रमशः-

---

१. ''प्राणादपि प्रत्यवायो न रक्षितव्यः'' इस प्रकार मु. मू. व ह. लि. मू. प्रतियों में पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि अपने में दोष होने पर भी क्या प्राण-रक्षा का कार्य नहीं करना चाहिए? अवश्य करना चाहिए। सारांश यह है कि इसमें प्राणरक्षा और सं. टी. पुस्तक के पाठ में अपने गुप्त रहस्य की रक्षा मुख्य है। -सम्पादक

२. तथा च राजपुत्रः-आलस्योपहतान् योऽत्र विदधात्यधिकारिणः। सूक्ष्मेष्वपि च कृत्येषु न सिद्ध्येत्तानि तस्य हि ॥१॥

३. तथा च जैमिनिः-सुसूक्ष्मेष्वपि कृत्येषु शैथिल्यं कुरुतेऽत्र यः। स राजा रिपुवश्यः स्यात् [प्रभूतविभवोऽपि सन्] ॥१॥ चतुर्थ चरण संशोधित व परिवर्तित। -सम्पादक

४. तथा च राजपुत्रः-मित्रत्वे वर्तमानं यः शत्रुरूपं क्रियान्नृपः। स मूर्खो भ्रम्यते राजा अपवादं च गच्छति ॥१॥

५. तथा च भागुरिः-आत्मच्छिद्रं प्ररक्षेत जीवादपि महीपतिः। यतस्तेन प्रलब्धेन प्रविश्य घ्नन्ति शत्रवः ॥१॥

आत्मशक्तिमजानतो विग्रहः क्षयकाले कीटिकानां पक्षोत्थानमिव ॥१४८॥

कालमलभमानोऽपकर्तरि साधु वर्तेत ॥१४८॥

अर्थ—जो राजा अपनी सैनिक व कोष-शक्ति को न जानकर बलवान् शत्रु के साथ युद्ध करता है, वह विनाशकाल में पतङ्गों के पङ्ख उठाने की तरह अपना नाश कर डालता है। सारांश यह है कि जब पतङ्गों का विनाशकाल आता है—जब वे दीपक की लौ में जल-भुनकर मरने लगते हैं-उस समय अपने पंख उठाते हैं, उसी प्रकार राजा का जब विनाश काल आता है, उस समय उसकी बुद्धि बलवान् शत्रु के साथ युद्ध करने तत्पर होती है ॥१४८॥

गुरु[1] विद्वान् ने कहा है कि ''जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथी अचल (दृढ़) और बहुत ऊँचे पहाड़ को जब भेदन करता है, तब उसके दाँत (खीसें) टूट जाते हैं और वापस लौट जाता है, उसी प्रकार जो राजा सैनिक-कोष-शक्ति से स्थिर, वृद्धिंगत तथा बलवान् शत्रु के साथ युद्ध करता है, उसे भी अपनी शक्ति नष्ट करके वापस लौटना पड़ता है ॥१॥''

विजिगीषु को जब तक अनुकूल समय प्राप्त न हो, तब तक उसे शत्रु के साथ शिष्टता का व्यवहार करना चाहिए-उस से मैत्री कर लेनी चाहिए। सारांश यह है कि विजिगीषु को हीन शक्ति के साथ युद्ध और विशिष्ट शक्तियुक्त के साथ सन्धि करनी चाहिए ॥१४६॥

भागुरि[2] विद्वान् ने कहा है कि ''विजिगीषु को बलिष्ठ शत्रु देखकर उसकी आज्ञानुसार चलना चाहिए, परन्तु स्वयं शक्ति-संचित हो जाने पर जिस प्रकार पत्थर से घड़ा फोड़ दिया जाता है, उसी प्रकार शत्रु को नष्ट कर देना चाहिए ॥१॥''

उक्त बात का दृष्टान्त-माला द्वारा समर्थन व अभिमान से हानि क्रमशः—

किन्नु खलु लोको न वहति मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनं ॥१५०॥

नदीरयस्तरूणामंह्रीन् क्षालयन्नप्युन्मूलयति ॥१५१॥

उत्सेको हस्तगतमपि कार्यं विनाशयति ॥१५२॥

अर्थ—मनुष्य ईंधन को आग में जलाने के उद्देश्य से क्या शिर पर धारण नहीं करते ? अवश्य करते हैं। सारांश यह है कि जलाने-योग्य ईंधन को शिर-वहन के समान पूर्व में शत्रु से शिष्ट व्यवहार करना चाहिए, पश्चात् अवसर पाकर शक्ति-संचय होने पर उस से युद्ध करना चाहिए ॥१५०॥

शुक्र[3] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जिस प्रकार मनुष्य लकड़ियों को जलाने के उद्देश्य से पहले उन्हें अपने मस्तक पर वहन करता है, उसी प्रकार विजिगीषु को पूर्व में शत्रु को सम्मानित करके

---

१. तथा च गुरु—अचलं प्रोन्नतं योऽत्र रिपुं याति यथाचलम्। शीर्णदन्तो निवर्तेत स यथा मत्तवारणः ॥१॥

२. तथा च भागुरिः—वलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा तस्य छन्दोऽनुवर्तयेत्। वलाप्त्वा स पुनस्तं च भिन्द्याद् कुंभमिवाश्मना ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—दग्धुं वहति काष्ठानि तथापि शिरसा नरः। एवं मान्योऽपि वैरी यः पश्चाद्वध्यः स्वशक्तितः ॥१॥

पश्चात् शक्ति-संचय करके उसका वध करना चाहिए ॥१॥''

नदी का वेग (प्रवाह) अपने तट के वृक्षों के चरण-जड़ें-प्रक्षालन करता हुआ भी उन्हें जड़ से उखाड़ देता है। सारांश यह है कि उसी प्रकार विजिगीषु का कर्त्तव्य है कि वह शत्रु के साथ पूर्व में शिष्ट व्यवहार करके पश्चात् उसके उन्मूलन में प्रवृत्ति करे ॥१५१॥''

शुक्र[१] विद्वान् ने भी कहा है कि– ''जिस प्रकार नदी का वेग-प्रवाह-तटवर्ती वृक्षों के पाद-जड़ें धोता हुआ भी उन का उन्मूलन करता है, उसी प्रकार बुद्धिमानों को पहले शत्रुओं को सम्मानित करके पश्चात् वध करना चाहिए ॥१॥''

अभिमानी पुरुष अपने हाथ में आये हुए कार्य-सन्धि-आदि द्वारा होने वाले अर्थ-लाभादि प्रयोजन-को नष्ट कर डालता है ॥१५२॥

शुक्र[२] विद्वान् ने भी कहा है कि –''विजिगीषु को शत्रु से प्रिय वचन बोलना चाहिए और बिलाव की तरह चेष्टा करनी चाहिए परन्तु जब शत्रु इस के ऊपर विश्वास करने लगे, तब जिस प्रकार बिलाव मौका पाकर चूहे का हनन कर देता है, उसी प्रकार इसे भी उसका हनन कर देना चाहिए ॥१॥''

शत्रु-विनाश के उपाय को जानने वाले का लाभ, उसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन व नैतिक कर्त्तव्य–

नाल्पं महद्वापक्षेपोपायज्ञस्य[३] ॥१५३॥

नदीपूरः सममेवोन्मूलयति [तीरजतृणांह्रिपान्] ॥१५४॥

युक्तमुक्तं वचो बालादपि गृह्णीयात् ॥१५५॥

अर्थ—शत्रुविनाश के उपाय-सन्धि-विग्रहादि-जानने वाले विजिगीषु के सामने न हीनशक्ति शत्रु ठहर सकता है और न महाशक्तिशाली ॥१५३॥

शुक्र[४] विद्वान् ने भी कहा है कि–''जो राजा शत्रु-वध के उपाय भलीभाँति जानता है, उसके सामने महान्-प्रचुर सैनिक शक्ति-सम्पन्न-शत्रु नहीं ठहर सकता। पुनः हीन शक्ति वाला किस प्रकार ठहर सकता है ? नहीं ठहर सकता ॥१॥''

---

१. तथा च शुक्रः–क्षालयन्नपि वृक्षांह्रीन्नदीवेगः प्रणाशयेत्। पूजयित्वापि यद्वच्च शत्रुर्वध्यो विचक्षणैः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः–वचनं कृपणं ब्रूयात् कुर्यान्मार्जारचेष्टितम्। विश्वस्तमाखुवच्छत्रुं ततस्तं तु निपातयेत् ॥१॥

३. ''नाल्पं महद्वाप्यकोपोपायज्ञस्य'' इस प्रकार मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति क्रोध-शान्ति के उपाय-सत्संग व नैतिक ज्ञान-आदि-से अनभिज्ञ है, उसे ''यह शत्रु, महान्-प्रचुर शक्तिशाली है अथवा लघु-हीन शक्ति-युक्त है'' इस प्रकार का विवेक नहीं होता।

४. तथा च शुक्रः–वधोपायान् विजानाति शत्रुणां पृथ्वीपतिः। तस्याग्रे च महान् शत्रु स्तिष्ठते न कुतो लघुः ॥१॥

जिस प्रकार नदी का पूर तटवर्ती तृण व वृक्षों को एक साथ उखाड़ कर फेंक देता है, उसी प्रकार शत्रु-विनाश के उपायों को जानने वाला विजिगीषु भी अनेक सफल-अव्यर्थ-उपायों से महाशक्तिशाली व हीनशक्ति-युक्त शत्रुओं को परास्त कर देता है ॥१५४॥

गुरु[1] विद्वान् ने भी कहा है कि जिस प्रकार नदी का पूर तटवर्ती तृण व वृक्षों को उखाड़ देता है, उसी प्रकार शत्रुओं से प्रियवादी बुद्धिमान राजा भी शत्रुओं को नष्ट कर देता है ॥१॥

नैतिक मनुष्य को न्याय-युक्त योग्य वचन बच्चे से भी ग्रहण कर लेना चाहिए ॥१५५॥

विदुर[2] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जिस प्रकार धान्य की ऊबी बटोरने वाला पुरुष उसे खेत से संचय कर लेता है, उसी प्रकार चतुर मनुष्य को भी बच्चे की सार बात मान लेनी चाहिए, उसे छोटा समझकर उसकी न्याय-युक्त बात की अवहेलना (तिरस्कार) नहीं करना चाहिए ॥१॥''

उक्त बात का दृष्टान्तमाला द्वारा समर्थन व निरर्थक वाणी से वक्ता की हानि-

रवेरविषये किं न दीपः प्रकाशयति ॥१५६॥

अल्पमपि वातायनविवरं बहूनुपलम्भयति ॥१५७॥

पतिंवरा इव परार्थाः खलु वाचस्ताश्च निरर्थकं प्रकाश्यमानाः शपयन्त्यवश्यं जनयितारं ॥१५८॥

अर्थ—जहाँ पर सूर्य-प्रकाश नहीं है, वहाँ क्या दीपक पदार्थों को प्रकाशित नहीं करता ? अवश्य करता है। उसी प्रकार ज्ञान-वृद्धों के अभाव में बालक या मूर्ख पुरुष भी न्याय-युक्त बात बोल सकता है, अतः उसकी कही हुई युक्ति-युक्त बात शिष्ट पुरुषों को अवश्य मान लेनी चाहिए ॥१५६॥

जिस प्रकार झरोखा-रोशनदान-छोटा होने पर भी गृहवर्ती बहुत से पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार बालक या अज्ञ भी नैतिक बात कह सकता है, अतः शिष्यों को उसकी नीति-पूर्ण बात स्वीकार करनी चाहिए ॥१५७॥

हारीत[3] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जिस प्रकार छोटा-सा रोशनदान दृष्टिगोचर हुआ बहुत-सी वस्तुएँ प्रकाशित करता है, उसी प्रकार बालक या अज्ञ द्वारा कहे हुए युक्तियुक्त वचन भी लाभदायक होते हैं ॥१॥''

जिस प्रकार अपनी इच्छानुकूल पति को चुनने वाली कन्याएँ दूसरों को दी जाने पर (पिता द्वारा उनकी इच्छा-विरुद्ध दूसरों के साथ विवाही जाने पर) पिता को तिरस्कृत करती हैं या उसकी

---

१. तथा च गुरुः-पार्थिवो मृदुवाक्यैर्यः शत्रूनालापयेत् सुधीः। नाशं नयेच्छनैस्तांश्च तीरजान् सिन्धुपूरवत् ॥१॥ संशोधित

२. तथा च विदुरः-लघुं मत्वा प्रलापेत बालाच्चापि विशेषतः। यत्सारं भवति तद्ग्राह्यं शिलाहारी शिलं यथा ॥१॥

३. तथा च हारीतः-गवाक्षविवरं सूक्ष्मं यद्यपि स्याद्विलोकितं। प्रकाशयति यद्भूरि तद्वद्बालप्रजल्पितम् ॥१॥

हँसी कराती हैं, उसी प्रकार श्रोताओं की इष्ट प्रयोजन-सिद्धि करने वाली वक्ता की वाणी भी जब निरर्थक कही जाती है, तब वह वक्ता को तिरस्कृत करती है अथवा उसकी हँसी-मजाक कराती है। निष्कर्ष यह है कि नैतिक वक्ता को श्रोताओं के इष्ट प्रयोजन-साधक, तात्त्विक और मधुर वचन बोलना चाहिए एवं उसे निरर्थक वचन कहना छोड़ देना चाहिए, जिस से उसका तिरस्कार और हंसी-मजाक न होने पावे। अथवा जिस प्रकार विवाह योग्य कन्याएँ अपने पति की इष्ट प्रयोजन-सिद्धि करने वाली होती हैं, उसी प्रकार वक्ता की वाणी भी श्रोताओं की इष्ट प्रयोजन-सिद्धि करने वाली होती है परन्तु जब वक्ता नीति-विरुद्ध और निरर्थक वाणी बोलता है, तब उस से उसका तिरस्कार या हँसी-मजाक किया जाता है ॥१५८॥

वर्ग[१] विद्वान् ने भी कहा है ''जो मनुष्य निरर्थक वाणी बोलता है उसकी हँसी होती है। जिस प्रकार स्वयं पति को चुनने वाली कन्याएँ अपने पिता का जो कि उन्हें दूसरों के साथ विवाहना चाहता है, आदर नहीं करती ॥१॥''

मूर्ख वा जिद्दी को उपदेश देने से हानि क्रमशः-

तत्र युक्तमप्युक्तमयुक्तसमं यो न विशेषज्ञः[२] ॥१५८॥

स खलु पिशाचकी[३] वातकी वा यः परोऽनर्थिनि वाचमुद्दीरयति ॥१६०॥

अर्थ—जो मनुष्य वक्ता के कहे हुए वचनों पर विशेष विचार (इसने अमुक बात मेरे हित की कही है-इत्यादि) नहीं करता-जो मूर्ख है, उसके सामने उचित बात कहना भी अनुचित के समान है, क्योंकि उसका कोई फल नहीं होता। सारांश यह है कि मूर्ख को हितोपदेश देना व्यर्थ है ॥१५६॥

वर्ग[४] विद्वान् ने भी कहा है कि ''मूर्ख को उपदेश देना जंगल में रोने के समान व्यर्थ है, क्योंकि वह उस से हित-अहित का विचार नहीं करता; इसलिए बुद्धिमान पुरुष को उस से बातचीत नहीं करनी चाहिए ॥१॥''

जो वक्ता उस श्रोता से बातचीत करता है जो कि उसकी बात को सुनना नहीं चाहता, उसकी लोग इस प्रकार निन्दा करते हैं कि इस वक्ता को पिशाच ने जकड़ लिया है या इसे वातोल्वण सन्निपात रोग हो गया है, जिस से कि यह निरर्थक प्रलाप कर रहा है ॥१६०॥

भागुरि[५] विद्वान् ने कहा है ''जो वक्ता उसकी बात न सुनने वाले मनुष्य के सामने बोलता है

---

१. तथा वर्गः-वृथालापं च यः कुर्यात् स पुमान् हास्यतां व्रजेत्। पतिंवरा पिता यद्वदन्यस्यार्थे वृथा [ददत्] ॥१॥ संशो.

२. ''तत्र युक्तमप्युक्तमयुक्तसमं यो न विशेषज्ञः'' इस प्रकार का पाठान्तर मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में विद्यमान हैं, जिसका अर्थ यह है कि मूर्ख के समक्ष योग्य वचन कहना भी नहीं कहने के समान है।

३. मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में 'पातकी' ऐसा पाठान्तर है जिसका अर्थ 'पापी' है।

४. तथा च वर्गः-अरण्यरुदितं तरस्यात् यन्मूर्खस्योपदिश्यते। हिताहितं न जानाति जल्पितं न कदाचन ॥१॥

५. तथा च भागुरिः-अश्रोतुः पुरतो वाक्यं यो वदेदविचक्षणः। अरण्यरुदितं सोऽत्र कुरुते नात्र संशयः ॥१॥

वह मूर्ख है, क्योंकि वह निःसंदेह जंगल में रोता है ॥१॥''

नीति-शून्य पुरुष की हानि व कृतघ्न सेवकों की निन्दा क्रमशः-

विध्यायतः प्रदीपस्येव नयहीनस्य वृद्धिः[१] ॥१६१॥

जीवोत्सर्गः स्वामिपदमभिलषतामेव[२] ॥१६२॥

अर्थ—नीति-विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले पुरुष की बढ़ती तत्काल बुझते हुए दीपक को बढ़ती के समान उसको जड़-मूल से नष्ट करने वाली होती है। अर्थात् जिस प्रकार बुझने वाला दीपक अधिक प्रकाश करके समूल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अन्यायी मनुष्य भी अन्याय-संचित धनादि से तत्काल उन्नतिशील-सा मालूम पड़ता है, परन्तु राजदण्ड आदि के खतरे से खाली न होने के कारण अन्त में वह जड़-मूल से नष्ट हो जाता है ॥१६१॥

नारद[३] विद्वान् ने भी कहा है कि ''अन्यायी मनुष्यों की जो चोरी वगैरह अन्याय से बढ़ती होती है उसे बुझने वाले दीपक की बढ़ती के समान विनाश का कारण समझनी चाहिए ॥१॥''

जो सेवक-अमात्य-आदि-कृतघ्नता के कारण अपने स्वामी के राज्यपद की कामना करते हैं. उन का विनाश-मरण होता है। सारांश यह है कि सेवकों को अपने स्वामी-पद (राज्यपद) की कामना नहीं करनी चाहिए ॥१६२॥

तीव्रतम अपराधियों को मृत्युदंड देने से लाभ व क्षुब्ध राज-कर्मचारी क्रमशः-

बहुदोषेषु क्षणदुःखप्रदोऽपायोऽनुग्रह एव ॥१६३॥

स्वामिदोषस्वदोषाभ्यामुपहतवृत्तयः क्रुद्ध-लुब्ध-भीतावमानिताः कृत्याः ॥१६४॥

अर्थ—तीव्रतम अपराधियों का विनाश राजा को क्षणभर के लिए कष्टदायक होता है, परन्तु यह उसका उपकार ही समझना चाहिए, क्योंकि इस से राज्य की श्रीवृद्धि होती है ॥१६३॥

हारीत[४] विद्वान् ने भी कहा है कि ''राजाओं को उन पापियों-अत्यन्त भयानक अपराधियों-को मार देना चाहिए, चाहे वे उनके कुटुम्बी होने के कारण अबध्य-मृत्यु-दंड के अयोग्य भी हों।

---

१. ''विध्यायतः प्रदीपस्येव नयहीनस्य बुद्धिः'' ऐसा पाठान्तर मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में है, जिसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार बुझने वाले या बहुत धीमी रोशनी वाले दीपक का कोई उपयोग नहीं है, उसी प्रकार अन्यायी पुरुष की वृद्धि का कोई उपयोग-हित-प्राप्ति-आदि-नहीं है।

२. ''जीवोत्सर्गः स्वाप्रियममिलषतामेव'' इस प्रकार मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में पाठान्तर है। जिसका अर्थ यह है कि राजा को उसका बुरा चाहने वाले विरोधियों का नाश कर देना चाहिए।

३. तथा च नारदः-चौर्यादिभिः समृद्धिर्या पुरुषाणां प्रजायते। ज्योतिष्कस्येव सा भूतिर्नाशकाल उपस्थिते ॥१॥

४. तथा च हारीतः-अवध्या अपि वध्यास्ते ये तु पापा निजा अपि। क्षणदुःखे च तेषां च पश्चात्तच्छ्रेयसे भवेत् ॥१॥

क्योंकि पापियों का नाश क्षणभर के लिए दु:खदायक होने पर भी भविष्य में कल्याणकारक होता है ॥१॥''

मंत्री, अमात्य और सेनाध्यक्ष-आदि राज्याधिकारियों में से राज-दोष (क्रोध व ईर्ष्या-आदि) और स्वयं किये हुए अपराधों के कारण जिनकी जीविका (वेतनादि) नष्ट कर दी गई है, वे क्रोधी, लोभी, भीत और तिरस्कृत होते हैं, उन्हें 'कृत्या' के समान महाभयंकर जानना चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार जारणमारणदि मंत्रों से अयथाविधि किया हुआ यज्ञ क्षुब्ध (असन्तुष्ट) होने पर यज्ञ करने वाले का घातक होता है, उसी प्रकार पृथक्करण (नौकरी से हटाना) और अपमानादि से क्षुब्ध-असन्तुष्ट हुए राज कर्मचारी भी राजघातक होते हैं। निष्कर्ष यह है कि नीतिज्ञ राजा को उन क्षुब्ध हुए अधिकारी वर्ग से सदा सावधान रहना चाहिए एवं आगे के सूत्र में कहे हुए नैतिक उपायों से उन्हें वश करना चाहिए ॥१६४॥

नारद[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''राजा को पूर्व में अधिकारी-पद पर नियुक्त किये हुए मंत्री आदि राज-कर्मचारियों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए-अपने वश में करना चाहिए, यदि वे राज-घातक नहीं हैं, तो उन्हें अपने-अपने पदों पर नियुक्त कर देना चाहिए ॥१॥''

पूर्वोक्त क्षुब्ध राज-कर्मचारियों का वशीकरण व राजा का मंत्री-आदि के साथ बर्ताव क्रमशः-

अनुवृत्तिरभयं त्यागः सत्कृतिश्च कृत्यानां वशोपायाः[2] ॥१६५॥

क्षयलोभविरागकारणनि प्रकृतीनां न कुर्यात ॥१६६॥

अर्थ—पूर्वोक्त कृत्या समान राज्य-क्षति करने वाले कारण-वश क्षुब्ध हुए अधिकारियों (मंत्री व सेनाध्यक्ष-आदि) को वश करने के निम्न प्रकार उपाय हैं। १. उनकी इच्छानुकूल प्रवृत्ति करना (यदि वे पुनः अपने पदों पर नियुक्त होना चाहें, तो नियुक्त करना आदि) २. अभयदान (जीविका के बिना दारिद्रयदोष से भयभीतों को पुनःजीविका पर लगाना) ३. त्याग-अभिलषित धन देना और ४. सत्कार-तिरस्कृतों का सम्मान करना।

विमर्श—नीतिज्ञ राजा का कर्त्तव्य है कि वह कारण-वश क्षुब्ध हुए पूर्वोक्त क्रोधी, लोभी, भीत व तिरस्कृत अधिकारियों में से क्रोधी और लोभी कर्मचारियों को पूर्व की तरह नौकरी से पृथक् रखे; क्योंकि उन्हें पुनः नियुक्त करने से उसकी तथा राज्य को क्षति होने की संभावना रहती है तथा जीविका के बिना भयभीत हुए कर्मचारियों को पुनः उनके पदों पर आसीन कर देवें, क्योंकि ऐसा करने से वे कृतज्ञता के कारण बगावत नहीं कर सकते एवं उसे तिरस्कृतों को वश करने के लिए उनका सम्मान

---

१. तथा च नारदः-नोपेक्षणीयाः सचिवाः साधिकाराः कृताश्च ये। योजनीयाः स्वकृत्ये ते न चेत् स्युर्वधकारिणः ॥१॥

२. उक्त सूत्र सं. टी. पुस्तक में नहीं है, परन्तु मु. व ह. लि. मू. प्रतियों से संकलन किया गया है और वास्तव में प्राकरणिक तवं क्रम प्राप्त भी है। -संपादक

करना चाहिए ॥१६५॥

राजा का कर्त्तव्य है कि जिन कारणों से उनकी प्रकृति-मंत्री और सेनापति-आदि राज्य के अङ्ग नष्ट और विरक्त-कर्त्तव्य-च्युत होती हो, उन्हें न करे एवं लोभ के कारणों से पराङ्गमुख होकर उदारता से काम लेवें ॥१६६॥

वशिष्ठ[1] विद्वान् ने भी कहा है कि 'राजा को अमात्य-आदि प्रकृति के नष्ट और विरक्त होने के साधनों का संग्रह तथा लोभ करना उचित नहीं है, क्योंकि प्रकृति के दुष्ट-नष्ट और विरक्त होने से राज्य की वृद्धि किस प्रकार हो सकती है ? नहीं हो सकती।

प्रकृति-क्रोध से हानि व अवध्य अपराधियों के प्रति राज-कर्त्तव्य क्रमशः-

सर्वकोपेभ्यः प्रकृतिकोपो गरीयान् ॥१६७॥

अचिकित्स्यदोषदुष्टान् खनिदुर्गसेतुबन्धाकरकर्मान्तरेषु क्लेशयेत् ॥१६८॥

अर्थ—शत्रु-आदि से होने वाले समस्त क्रोधों की अपेक्षा मंत्री व सेनापति-आदि प्रकृति का क्रोध राजा के लिए विशेष कष्टदायक होता है। निष्कर्ष यह है कि राज्यरूपी वृक्ष का मूल अमात्यादि प्रकृति होती है, अतः उस के विरुद्ध होने पर राज्य नष्ट हो जाता है, अतः राजा को उसे सन्तुष्ट रखने में प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥१६७॥

राजपुत्र[2] विद्वान् ने भी कहा है कि ''अमात्य-आदि प्रकृति के लोग सदा राजाओं के सभी छिद्रदोष जानते हैं, अतएव विरुद्ध हुआ प्रकृति वर्ग शत्रुओं को राज-दोष बताकर उन से राजा को मरवा देता है ॥१॥''

राजा का कर्तव्य है कि वह जिन के अपराध कौटुम्बिक-संबंध-आदि के कारण दवाई करने के अयोग्य हैं-दूर नहीं किये जा सकते (जिन्हें वध-बंधनादि द्वारा दंडित नहीं किया जा सकता) ऐसे राजद्रोही महान् अपराधियों को तालाब-खाई खुदवाना, किले में रखकर काम कराना, नदियों के पुल बंधवाना और खानियों से लोहा-प्रभृति धातुएँ निकलवाना-इत्यादि कार्यों में नियुक्त कर क्लेशित करे ॥१६८॥

शुक[3] विद्वान् ने भी उक्त बात की पुष्टि की है कि ''जो महापराधी राज-वंशज होने से वध करने के योग्य नहीं हैं, उन्हें राजा को भिन्न-भिन्न कार्यों (तालाब-खुदवाना-आदि) में नियुक्त कर के क्लेशित-दुःखी करना चाहिए ॥१॥''

---

१. तथा च वसिष्ठः-क्षयो लोभो विरागश्च प्रकृतीनां न शस्यते [कुतस्तासां प्रदोषेण] राज्यवृद्धिः प्रजायते॥ ५॥
तृतीयचरण संशोधित एवं परिवर्तित। -सम्पादक

२. तथा च राजपुत्रः-राज्ञां छिद्राणि सर्वाणि विदुः प्रकृतयः सदा। निवेद्य तानि शत्रुभ्यस्ततो नाशं नयन्ति तम् ॥१॥

३. तथा च शुक्रः-अवध्या ज्ञातयो ये च बहुदोषा भवन्ति च। कर्मान्तरेषु नियोज्यास्ते येन स्युर्व्यसनान्विताः ॥१॥

कथा-गोष्ठी के अयोग्य व उन के साथ कथा-गोष्ठी करने से हानि क्रमशः-

अपराध्यैरपराधकैश्च सह गोष्ठीं न कुर्यात्[१] ॥१६९॥

ते हि गृहप्रविष्टसर्पवत् सर्वव्यसनानामागमनद्वारं ॥१७०॥

अर्थ—राजा को अपराधी व अपराध कराने वालों के साथ कथा-गोष्ठी (वार्तालाप-सहवास) नहीं करनी चाहिए। सारांश यह है कि अपराध करने व कराने वाले (बैरी) उच्छ्रंखल, छिद्रान्वेषी और भयंकर वैर-विरोध करने वाले होते हैं। अतः राजा को शत्रु-कृत उपद्रवों से बचाव करने के लिए उन के साथ कथा-गोष्ठी करने का निषेध किया गया है ॥१६९॥

नारद[२] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो अपने ऐश्वर्य का इच्छुक है, उसे सजा पाये हुए (बैरी) व अपराधियों के साथ कथा-गोष्ठी नहीं करनी चाहिए ॥१॥''

निश्चय से वे लोग-दण्डित व अपराधी पुरुष-गृह में प्रविष्ट हुए सर्प की तरह समस्त आपत्तियों के आने में कारण होते हैं। अर्थात्-जिस प्रकार घर में घुसा हुआ सांप घातक होता है, उसी प्रकार सजा पाये हुए और अपराधी लोग भी वार्तालाप-सहवास को प्राप्त हुए छिद्रान्वेषण द्वारा शत्रुओं से मिल जाते है; अतः राजा को अनेक कष्ट पहुँचाने में समर्थ होने से घातक होते हैं ॥१७०॥

शुक्र[३] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जिस प्रकार मकान में प्रविष्ट हुआ साँप निरन्तर भय उत्पन्न करता है, उसी प्रकार गृह-प्राप्त दण्डित व अपराधी लोग भी सदा भय पैदा करते रहते हैं ॥१॥''

क्रोधी के प्रति कर्त्तव्य, उस से हानि व जिस का गृह में आगमन निष्फल है, क्रमशः-

न कस्यापि क्रुद्धस्य पुरतस्तिष्ठेत् ॥१७१॥

क्रुद्धो हि सर्प इव यमेवाग्रे पश्यति तत्रैव रोषविषमुत्सृजति ॥१७२॥

अप्रतिविधातुरागमनाद्वरमनागमनम् ॥१७३॥

अर्थ—नैतिक पुरुष को किसी भी क्रोधी पुरुष के सामने नहीं ठहरना चाहिए। अभिप्राय यह है कि क्रोध से अन्धबुद्धि-युक्त पुरुष जिस किसी (निरपराधी को) भी अपने सामने खड़ा हुआ देखता है, उसे मार डालता है, इसलिए उसके सामने ठहरने का निषेध किया गया है ॥१७१॥

गुरु[४] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जैसे अन्धा पुरुष कुपित होने पर जो भी उस के सामने खड़ा रहता है, उसे मार देता है, उसी प्रकार क्रोध से अन्धा पुरुष भी अपने सामने रहने वाले व्यक्ति को मार देता है, अतः उस से दूर रहना चाहिए ॥१॥''

---

१. अपराद्धैरपराधकैश्च सहवासं न कुर्वीत् इस प्रकार मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

२. तथा च नारदः-परिभृता नरा ये च कृतो यैश्च पराभवः। न तैः सह क्रियाद् गोष्ठीं य इच्छेद् भृतिमात्मनः ॥१॥

३. तथा च शुक्रः-यथाहिर्मन्दराविष्टः करोति सततं भयं। अपराध्याः सदोषाश्च तथा तेऽपि गृहागताः ॥१ ॥

४. तथा च गुरुः-यथान्धः कुपितो हन्यात् यदृचैवाग्रे व्यवस्थितं। क्रोधान्धोऽपि तथैवात्र तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ॥१॥

क्योंकि क्रोधी पुरुष जिस किसी को सामने देखता है, उसी के ऊपर सर्प के समान रोष रूपी जहर फेंक देता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सांप निरपराधी को भी डस लेता है, उसी प्रकार क्रोध से अन्धा पुरुष भी निपराधी को भी मार देता हैं, इसलिए उस के पास नहीं जाना चाहिए ॥१७२॥

जो मनुष्य प्रयोजन सिद्ध करने में समर्थ नहीं है, उसका प्रयोजनार्थी के गृह आने की अपेक्षा न आना ही उत्तम है, क्योंकि उसके निरर्थक आने से प्रयोजनार्थी–कार्य–सिद्धि चाहने वाले–का व्यर्थ समय नष्ट होने के सिवाय कोई लाभ नहीं ॥१७३॥

भारद्वाज[१] विद्वान् ने भी कहा है कि ''किसी प्रयोजन–सिद्धि के लिए बुलाया हुआ मनुष्य (वैद्य आदि) यदि उसकी प्रयोजनसिद्धि (रोग–निवृत्ति–आदि) नहीं कर सकता तो उसके लाने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि वह (निरर्थक व्यक्ति) केवल प्रयोजनार्थी के समय को व्यर्थ नष्ट करता है ॥१॥''

॥ इति मंत्रि–समुद्देशः॥

---

१. तथा च भारतद्वाजः–पयोनतार्थसानीतो य कार्य तन्न साधयेत्। आनीतेनापि किं तेन व्यर्थोपक्षयकारिणा ॥१॥

(११) पुरोहित-समुद्देशः

पुरोहित (राज-गुरु) का लक्षण या गुण व मंत्री-पुरोहित के प्रति राज-कर्त्तव्य क्रमशः-

पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं षडंगवेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यामभिविनीतमापदां दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्तारं कुर्वीत ॥१॥

राज्ञो हि मंत्रिपुरोहितौ मातापितरौ, अतस्तौ न केषुचिद्वाञ्छितेषु विस्तरयेत्[१] ॥२॥

अर्थ—जो कुलीन, सदाचारी और छह वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द व ज्योतिष), चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद व सामवेद अथवा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग) ज्योतिष, निमित्तज्ञान और दण्डनीति विद्या में प्रवीण हो एवं दैवी (उल्कापात, अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि) तथा मानुषी आपत्तियों के दूर करने में समर्थ हो, ऐसे विद्वान् पुरुष को राजपुरोहित राज-गुरु बनाना चाहिए ॥१॥

शुक्र[२] विद्वान् ने भी कहा है कि राजाओं को देवता व आकाश से उत्पन्न हुए एवं पृथ्वी पर होने वाले समस्त उपद्रव और सभी प्रकार की आपत्तियों (शारीरिक बुखार-गल गंडादि, मानसिक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक-व्याघ्रादि-जनित पीड़ा और आधिदैविक-आकस्मिक पीड़ाएँ आदि) की शान्ति के लिए पुरोहित नियुक्त करना चाहिए ॥१॥''

निश्चय से मंत्री-पुरोहित हितैषी होने के कारण राजा के माता-पिता हैं, इसलिए उसे उनको किसी भी अभिलषित पदार्थ में निराश नहीं करना चाहिए ॥२॥

गुरु[३] विद्वान् ने भी कहा है कि ''मंत्री-पुरोहित राजा के माता-पिता के समान हैं, अतः वह उन्हें किसी भी प्रकार से मनचाहे पदार्थों में आशाहीन (निराश) न करे ॥१॥''

आपत्तियों का स्वरूप वा भेद एवं राज-पुत्र की शिक्षा क्रमशः-

अमानुष्योऽग्निरवर्षमतिवर्षं मरकी दुर्भिक्षं सस्योपघातो जन्तुत्सर्गो व्याधि-भूतपिशाच-शाकिनी-सर्प-व्याल-मूषक-क्षोभश्चेत्यापदः ॥३॥

---

१. तथा च शुक्रः-द्विप्यान्तरित्वभौमानामुत्पातानां प्रशान्तये। तथा सर्वापदां चैव कार्यो भूपैः पुरोहितः ॥१॥

२. उक्त क्रियापद के स्थान में प्रायः सभी मू. प्रतियों में ''विसूरयेत् दुःखयेद्दुर्विनयेद्वा'' ऐसा उत्तम पाठान्तर वर्तमान है, जिसका अर्थ क्रमशः प्रतिकूल, दुःखी और अपमानित करना है, शेष-अर्थ पूर्ववत् है।

३. तथा च गुरुः-सेमी मातृपितृभ्यां च राज्ञो मंत्री पुरोहितौ। अतस्तौ वाञ्छितैरर्थैर्न कथंचिद्विस्तरयेत् ॥१॥

शिक्षालापक्रियाक्षमो राजपुत्रः सर्वासु लिपिसु प्रसंख्याने पदप्रमाणप्रयोगकर्मणि नीत्यागमेषु रत्नपरीक्षायां सम्भोगप्रहरणोपवाह्यविद्यासु च साधु विनेतव्यः॥४॥

अर्थ—उल्कापात-बिजली गिरना, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, महामारी रोग, दुर्भिक्ष-अकाल, टिड्डी वगैरह से धान्य-नाश, हिंसक जीवों के छूटने से होने वाली पीड़ा, बुखार-गलगंडादि शारीरिक रोग, भूत, पिशाच, शाकिनी, सर्प और हिंसक जन्तुओं से होने वाली पीड़ा और मूषकों की प्रचुरता से होने वाला कष्ट-प्लेग की बीमारी वगैरह आपत्तियाँ हैं। निष्कर्ष यह है कि प्रकरण में राज-पुरोहित को उक्त प्रकार की राष्ट्र पर होने वाली दैवी-मानुषी आपत्तियों का प्रतीकार करने में समर्थ होना चाहिए ॥३॥

राजा अपने राजकुमार को पहले जनसभाओं के योग्य वक्तृत्व-कला में प्रवीण बनाये। पश्चात् समस्त भाषाओं की शिक्षा, गणित शास्त्र, साहित्य, न्याय, व्याकरण, नीतिशास्त्र, रत्नपरीक्षा, कामशास्त्र, शस्त्र-विद्या और हस्ती-अश्वादि वाहन विद्या में अच्छी तरह प्रवीण बनाये ॥४॥

राजपुत्र[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जिसका राजकुमार विद्याओं में प्रवीण नहीं व मूर्ख है, उसका राज्य सुशिक्षित राजकुमार के बिना निस्सन्देह नष्ट हो जाता है ॥१॥''

गुरु-सेवा के साधन, विनय का लक्षण व उसका फल क्रमशः—

अस्वातन्त्र्यमुक्तकारित्वं नियमो विनीतता[2] च गुरूपासनकारणानि ॥५॥

व्रतविद्यावयोधिकेषु नीचैराचरणं विनयः ॥६॥

पुण्यावाप्तिः शास्त्ररहस्यपरिज्ञानं सत्पुरुषाधिगम्यत्वं च विनयफलम् ॥७॥

अर्थ—स्वच्छन्द न रहना, गुरु की आज्ञा-पालन, इन्द्रियों का वशीकरण, अहिंसादि सदाचार-प्रवृत्ति एवं नम्रता का व्यवहार, ये गुण गुरु-सेवा के साधन हैं-शिष्य की उक्त सत्प्रवृत्ति से गुरु प्रसन्न रहते हैं ॥५॥

गौतम[3] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो शिष्य सदा गुरु की आज्ञा-पालन व अपनी इच्छानुकूल प्रवृत्ति निरोध करता है और विनय व व्रतपालन में प्रवृत्त होता है, उसे विद्या-प्राप्ति में सफलता होती है ॥१॥''

व्रत-पालन-अहिंसा, सत्य व अचौर्य-आदि सदाचार प्रवृत्ति, विद्याध्ययन और आयु में बड़े पुरुषों के साथ नमस्कारादि नम्रता का बर्ताव करना विनय गुण है। सारांश यह है कि व्रती, विद्वान् व वयोवृद्ध (माता पिता आदि) पुरुष जो कि क्रमशः सदाचार-प्रवृत्ति, शास्त्राध्ययन और हित-चिंतन आदि सद्गुणों से

१. तथा च राजपुत्रः—कुमारो यस्य मूर्खः स्यान्न विद्यासु विचक्षणः। तस्य राज्यं विनश्येत्तदप्राप्त्या नात्र संशयः ॥१॥

२. इसके स्थान में मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में 'विनीततार्थश्च' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ नम्रता और धन देना है। अर्थात् नम्रता का बर्ताव करना और धन देने से गुरु प्रसन्न रहते हैं बाकी अर्थ पूर्ववत् है। —सम्पादक

३. तथा च गौतमः—सदादेशकरो यः स्यात् स्वेच्छया न प्रवर्तते। विनयव्रतचर्याद्यः स शिष्यः सिद्धिभाग्भवेत् ॥१॥

विभूषित होने के कारण श्रेष्ठ माने गये हैं, उनको नमस्कारादि करना विनय गुण है ॥६॥

गर्ग[१] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो व्रत-पालन से उत्कृष्ट एवं विद्याध्ययन से महान् और वयोवृद्ध हैं, उनकी भक्ति करना 'विनय' कहा गया है ॥१॥''

व्रती महापुरुषों की विनय से पुण्य-प्राप्ति, विद्वानों की विनय से शास्त्रों का वास्तविक स्वरूप-ज्ञान एवं माता-पिता-आदि वयोवृद्ध हितैषियों की विनय से शिष्ट पुरुषों के द्वारा सम्मान मिलता है ॥७॥

विद्याभ्यास का फल-

अभ्यासः कर्मसु कौशलमुत्पादयत्येव यद्यस्ति तज्ज्ञेभ्यः सम्प्रदायः ॥८॥

अर्थ—यदि विद्या-जिज्ञासु पुरुषों के लिए विद्वान् गुरुओं की परम्परा चली आ रही है तो उस क्रम से किया हुआ विद्याभ्यास कर्त्तव्य-पालन में चतुरता उत्पन्न करता है। अभिप्राय यह है कि विद्वान् गुरुओं की परम्परापूर्वक किये हुए विद्याभ्यास से शास्त्रों का यथार्थ बोध होता है, जिससे मनुष्य कर्त्तव्य-पालन में निपुणता प्राप्त करता है ॥८॥

शिष्य-कर्त्तव्य (गुरु की आज्ञा-पालन, रोष करने पर जवाब न देना व प्रश्न करना-आदि) क्रमशः-

गुरुवचनमनुल्लंघनीयमन्यत्राधर्मानुचिताचारात्मप्रत्यवायेभ्यः[२] ॥९॥

युक्तमयुक्तं वा गुरुरेव जानाति यदि न शिष्यः प्रत्यर्थवादी[३] ॥१०॥

गुरुजनरोषेऽनुत्तरदानमभ्युपपत्तिश्चौषधम् ॥११॥

शत्रूणामभिमुखः पुरुषः श्लाघ्यो न पुनर्गुरूणाम् ॥१२॥

आराध्यं न प्रकोपयेद्यद्यसावाश्रितेषु कल्याणशंसी[४] ॥१३॥

---

१. तथा च गर्गः-व्रतविद्याधिका ये च तथा च वयसाधिकाः। यत्तेषां क्रियते भक्तिर्विनयः स उदाहृतः ॥१॥

२. 'गुरुवचनमनुल्लंघनीयमन्यत्राधर्मानुचिताचारात्' ऐसा मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि शिष्य को गुरु के वचन उल्लंघन नहीं करने चाहिए, परन्तु अधम व नीति-विरुद्ध प्रवृत्ति सम्बन्धी वचनों के उल्लंघन करने में कोई दोष नहीं है।

३. ''प्रत्यवायेभ्यो युक्तमयुक्तं वा गुरुरेव जानाति यदि न शिष्यः प्रत्यर्थी वादी वा स्यात्'' इस प्रकार का पाठान्तर मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि जब आज्ञाकारी शिष्य गुरु से शत्रुता व वादविवाद नहीं करता, तथापि गुरुजन अयोग्यता-आदि के कारण उसकी शिक्षा-दीक्षा आदि में विघ्न-बाधाएँ उपस्थित करते हैं, ऐसे अवसर पर शिष्य को उन पर श्रद्धा रखनी चाहिए, क्योंकि गुरुजन ही उस विषय में योग्य-अयोग्य का निर्णय कर सकते हैं।

४. ''कल्याणमाशंसति'' इस प्रकार का पाठ उक्त मू. प्रतियों में है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

गुरुभिरुक्तं नातिक्रमितव्यं, यदि नैहिकामुत्रिकफलविलोपः ॥१४॥

सन्दिहानो गुरुमकोपयन्नापृच्छेत् ॥१५॥

गुरूणां पुरतो न यथेष्टमासितव्यम्[१] ॥१६॥

नानभिवाद्योपाध्यायाद्विद्यामाददीत[२] ॥१७॥

अध्ययनकाले व्यासङ्गं पारिप्लवमन्यमनस्कतां च न भजेत् ॥१८॥

सहाध्यायिषु बुद्धयतिशयेन नाभिभूयेत[३] ॥१९॥

प्रज्ञयातिशयानी न गुरुमवज्ञायेत[४] ॥२०॥

अर्थ—अधर्म, अनुचित-आचार-नीति-विरुद्ध प्रवृत्ति और अपने सत्कर्त्तव्यों में विघ्न की बातों को छोड़कर बाकी सभी स्थानों में शिष्य को गुरु के वचन उल्लंघन नहीं करना चाहिए ॥९॥ यदि शिष्य गुरु से शत्रुता और वाद-विवाद करने वाला नहीं है, तो उसके योग्य-अयोग्य कर्त्तव्य को गुरु ही जानता है ॥१०॥ गुरुजनों के कुपित होने पर शिष्य को जवाब न देना और उनकी सेवा करना उनके-क्रोध-शान्ति की औषधि है ॥११॥ शत्रुओं के सामने जाने वाला-उनसे लड़ाई-झगड़ा करने वाला-पुरुष प्रशंसनीय है, किन्तु गुरुजनों के सामने जाने वाला-उनसे शत्रुता व वाद-विवाद करने वाला शिष्य प्रशंसा के योग्य नहीं-निंद्य है ॥१२॥ यदि पूज्य (गुरु-आदि) अपने अधीन रहने वाले शिष्यादि की कल्याण-कामना करता है, तो उसे कुपित-नाराज-नहीं करना चाहिए ॥१३॥ जो इस लोक व परलोक सम्बन्धी सुख के नष्ट करने की इच्छा नहीं करते उन्हें गुरुजनों की कही हुई बात उल्लंघन नहीं करनी चाहिए ॥१४॥ सन्देह-युक्त शिष्य गुरु को कुपित (नाराज) न करके नम्रता से प्रश्न पूछे ॥१५॥ शिष्यों को गुरुजनों के सामने अपनी इच्छानुसार (उद्दण्डतापूर्वक) नहीं बैठना चाहिए ॥१६॥ गुरु को नमस्कार किये बिना उस से विद्याग्रहण नहीं करना चाहिए ॥१७॥

वसिष्ठ[५] विद्वान् ने भी कहा है कि, ''जिस प्रकार शूद्र वेद श्रवण नहीं कर सकता, उसी प्रकार गुरु को नमस्कार न करने वाले उद्दण्ड छात्र को भी विद्या प्राप्त नहीं हो सकती ॥१॥''

---

१. उक्त पाठ उक्त मू. प्रतियों से संकलन किया गया है।

२. मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में उक्त सूत्र के पश्चात् ''यद्युक्ति-जाति-श्रुताभ्यामाधिक्यं समानत्वं वा'' इस प्रकार का अधिक पाठ वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि यदि शिष्य अपने गुरु की अपेक्षा वक्तृत्वकला, जाति और विद्वत्ता से अधिक या समान है, तथापि उसे गुरु को नमस्कार किये बिना विद्या ग्रहण नहीं करना चाहिए।

३. 'नाभ्यसूयेत्' ऐसा पाठ उक्त मू. प्रतियों में है, जिसका अर्थ ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए शेष पूर्ववत्।

४. 'अवल्हादयेत्' ऐसा पाठ उक्त मू. प्रतियों में है जिसका अर्थ लज्जित करना है, शेष पूर्ववत्।

५. तथा च वसिष्ठः—नमस्कारं बिना शिष्यो यो विद्याग्रहणं क्रियात्। गुरोः स तां न चाप्नोति शूद्रो वेदश्रुतिं यथा॥

शिष्य को विद्याध्ययन करने के सिवाय दूसरा कार्य, शारीरिक व मानसिक चपलता तथा चित्तप्रवृत्ति को अन्यत्र ले जाना ये कार्य नहीं करने चाहिए ॥१८॥

गौतम[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो शिष्य पठन-काल में दूसरा कार्य चपलता और चित्त की प्रवृत्ति को अन्यत्र ले जाता है, वह मूर्ख रह जाता है ॥१॥''

तीक्ष्णबुद्धि छात्र को अपने सहपाठियों का तिरस्कार नहीं करना चाहिए ॥१६॥

गुरु[2] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो छात्र गुरु से विद्या पढ़ना चाहता है और यदि वह अपने सहपाठियों की अपेक्षा तीक्ष्णबुद्धि है, तथापि उसे उनका पराभव-तिरस्कार नहीं करना चाहिए ॥१॥''

शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह गुरु की अपेक्षा विशेष विद्वान् होने पर भी उसका तिरस्कार न करे ॥२०॥

भृगु[3] विद्वान् ने कहा है कि ''जो छात्र अधिक बुद्धिमान होने पर अपने गुरु को अनादर दृष्टि से देखता है, वह मरकर नरक जाता है और संसार में अपकीर्ति प्राप्त करता है ॥१॥''

माता-पिता से प्रतिकूल पुत्र की कड़ी आलोचना और पुत्रकर्त्तव्य क्रमशः-

स किमभिजातो मातरि यः पुरुषः शूरो वा पितरि ॥२१॥

अननुज्ञातो न क्वचिद् व्रजेत् ॥२२॥

मार्गमचलं जलाशयं च नैकोऽवगाहयेत्[4] ॥२३॥

अर्थ—जो मनुष्य माता-पिता के साथ वैर-विरोध करके अपनी वीरता प्रकट करता है, क्या वह कुलीन कहा जा सकता है ? नहीं कहा जा सकता। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी कुलीनता प्रकट करने के लिए माता-पिता की भक्ति करनी चाहिए ॥२१॥

मनु[5] विद्वान् ने भी कहा है कि ''सच्चा पुत्र वही है, जो माता-पिता से किसी प्रकार का द्वेष नहीं करता, परन्तु जो उनसे द्वेष करता है, उसे दूसरे का वीर्य समझना चाहिए ॥१॥''

पुत्र को माता-पिता की आज्ञा के बिना कहीं न जाना चाहिए ॥२२॥

वसिष्ठ[6] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो पुत्र माता-पिता की आज्ञा के बिना सूक्ष्म कार्य भी करता है, उसे कुलीन नहीं समझना चाहिए ॥१॥''

पुत्र को माता-पिता व साथियों के बिना अकेला किसी मार्ग में नहीं जाना चाहिए, व पहाड़

---

१. तथा च गौतमः-अन्यकार्ये च चापल्यं तथा चैवान्यचित्ततां। प्रस्तावे पठनस्यात्र यः करोति जड़ो भवेत् ॥१॥
२. तथा च गुरुः-न सहाध्यायिनः कुर्यात् पराभवसमन्वितान्। स्वबुद्ध्यतिशयेनात्र यो विद्यां वाञ्छति प्रभोः ॥१॥
३. तथा च भृगुः-बुद्ध्याधिकस्तु यश्छात्रो गुरुं पश्येदवज्ञया। स प्रेत्य नरकं याति वाच्यतामिह भूतले ॥१॥
४. 'अवगाहेत' इस प्रकार का पाठ मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में उपलब्ध है परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं है।
५. तथा च मनुः-न पुत्रः पितरं द्वेष्टि मातरं न कथंचन। यस्तयोर्द्वेषसंयुक्तस्तं विन्द्यादन्यरेतसं ॥१॥
६. तथा च वशिष्टः-पितृमातृसमादेशमगृहीत्वा करोति यः। सुसूक्ष्माण्यपि कृत्यानि स कुलीनो भवेन्न हि ॥१॥

पर नहीं चढ़ना चाहिए और न कुआं-बावड़ी आदि जलाशय में प्रविष्ट होना चाहिए ॥२३॥

गुरु[१] विद्वान् ने भी कहा है कि ''माता-पिता से रहित अकेले-पुत्र को बावड़ी-कूप आदि जलाशय में, तथा मार्ग और पहाड़ में प्रवेश नहीं करना चाहिए ॥१॥''

गुरु, गुरु पत्नी, गुरु-पुत्र व सहपाठी के प्रति छात्र-कर्त्तव्य क्रमशः-

पितरमिव गुरुमुपचरेद् ॥२४॥

गुरुपत्नीं जननीमिव पश्येत् ॥२५॥

गुरुमिव गुरुपुत्रं पश्येत् ॥२६॥

सब्रह्मचारिणि बान्धव इव स्निह्येत् ॥२७॥

अर्थ—शिष्य को गुरु की पिता के सदृश सेवा करनी चाहिए ॥२४॥

भारद्वाज[२] विद्वान् ने कहा है कि ''जो छात्र गुरु की पिता के समान भक्ति करता है, वह समस्त विद्याएँ प्राप्त कर ऐहिक व परलौकिक सुख प्राप्त करता है ॥१॥''

शिष्य गुरु-पत्नी को माता के समान पूज्य समझे ॥२५॥

याज्ञवल्क्य[३] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो छात्र गुरु-पत्नी को भोग-लालसा से देखता है, वह नरक जाता है और उसे विद्या प्राप्त नहीं होती ॥१॥''

छात्र गुरु-पुत्र को गुरु के सदृश पूज्य समझे ॥२६॥

वादरायण[४] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो शिष्य गुरु-पुत्र की गुरु के समान सेवा करता है, उसके लिए गुरु प्रसन्न होकर अपनी समस्त विद्या पढ़ा देता हैं ॥१॥''

छात्र को अपने सहपाठी ब्रह्मचारी से बन्धु की तरह स्नेह करना चाहिए ॥२७॥

मनु[५] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जिस प्रकार भाई से स्वाभाविक प्रेम किया जाता है, उसी प्रकार शिष्य को अपने सहपाठी विद्यार्थी के साथ स्वाभाविक प्रेम करना चाहिए ॥१॥''

शिष्य कर्त्तव्य (ब्रह्मचर्य व विद्याभ्यास) व अतिथियों से गुप्त रखने योग्य बात क्रमशः-

ब्रह्मचर्यमाषोडशाद्वर्षात्ततो गोदानपूर्वकं दारकर्म चास्य ॥२८॥

समविद्यैः सहाधीतं सर्वदाभ्यस्येत् ॥२९॥

---

१. तथा च गुरुः—वापीकूपादिकं यच्च मार्गं वा यदि वाचलं। नैकोऽवगाहयेत् पुत्रः पितृमातृविवर्जितः ॥१॥

२. तथा च भारद्वाजः—योऽन्तेवासी पितुर्यद्वद् गुरोर्भक्तिं समाचरेत्। स विद्यां प्राप्य निःशेषां लोकद्वयमवाप्नुयात् ॥१॥

३. तथा च याज्ञवल्क्यः—गुरुभार्यां च यः पश्येद् दृष्ट्वा चात्र सकामया। स शिष्यो नरकं याति न च विद्यामवाप्नुयात् ॥१॥

४. तथा च वादरायणः—यथा गुरुं तथा पुत्रं यः शिष्यः समुपाचरेत्॥ [तस्य रुष्टो गुरुः कृत्स्नां] निजां विद्यां निवेदयेत् ॥१॥
तृतीय चरण संशोधित। -संपादक

५. तथा च मनुः—यथा भ्रातुः प्रकर्त्तव्यः [स्नेहोऽत्र निर्निबन्धनः]। तथा स्नेहः प्रकर्त्तव्यः शिष्येण ब्रह्मचारिणः ॥१॥
द्वितीय चरण संशोधित व परिवर्तित। -सम्पादक

गृहदौः स्थित्यमागन्तुकानां पुरतो न प्रकाशयेत् ॥३०॥

अर्थ—छात्र सोलह वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत धारण करे, पश्चात् इसका गो-दानपूर्वक विवाह-संस्कार होना चाहिए ॥२८॥ ब्रह्मचारी छात्र को सहपाठियों के साथ पढ़े हुए शास्त्र का सदा अभ्यास करना चाहिए ॥२९॥ नैतिक मनुष्य को अपनी गृह-विपत्ति (दरिद्रता-आदि) अतिथियों के समक्ष प्रकाशित नहीं करनी चाहिए ॥३०॥

पर-गृह में प्रविष्ट हुए पुरुषों की प्रवृत्ति व महापुरुष का लक्षण क्रमशः—

परगृहे सर्वोऽपि विक्रमादित्यायते ॥३१॥

स खलु महान् यः स्वकार्येष्विव परकार्येषूत्सहते[१] ॥३२॥

अर्थ—सभी मनुष्य दूसरों के गृह में जाकर उसका धनादि-व्यय कराने के लिए विक्रमादित्य राजा की तरह उदार हो जाते हैं-धनाढ्यों का अनुकरण करने लगते हैं ॥३१॥

जो अपने कार्य समान दूसरों के कार्य उत्साहपूर्वक करता है, वही महापुरुष है ॥३२॥

वादीभसिंह [२]सूरि ने कहा है कि ''परोपकारी सज्जन पुरुष अपनी आपत्ति पर दृष्टि नहीं डालते ॥३॥'' दूसरों के कार्य-साधन में लोक प्रवृत्ति जैसी होती है—

परकार्येषु को नाम न शीतलः ॥३३॥

अर्थ—कौन पुरुष दूसरों के कार्य-साधन में ठंडा-आलसी (उद्योग-शून्य) नहीं होता ? सभी होते हैं॥ ३३॥

राज-कर्मचारी-प्रकृति, धनिक कृपणों की गुणगान से हानि व धनाभिलाषी को संतुष्ट करना क्रमशः—

राजासन्नः को नाम न साधुः ॥३४॥

अर्थपरेष्वनुनयः केवलं दैन्याय ॥३५॥

को नामार्थार्थी प्रणामेन तुष्यति ॥३६॥

अर्थ—कौन-सा राज-कर्मचारी राजा के समीप जाकर सज्जन नहीं होता ? सभी होते हैं। सारांश यह है कि ये लोग दण्ड-भय से कृत्रिम सज्जन होते हैं, न कि स्वाभाविक ॥३४॥ प्रयोजन-वश धनाढ्य कृपणों का अनुनय (गुण-गान-आदि) करने से केवल दीनता ही प्रकट होती है, न कि अर्थ-लाभादि प्रयोजन सिद्धि ॥३१॥ कौन धनाभिलाषी पुरुष केवल प्रणाम मात्र से सन्तुष्ट होता है ?

---

१. ''स खलु महान् यः स्वकार्येषु उत्सहते'' इस प्रकार मृ. प्रतियों में पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो अपने कर्तव्य-पालन में उत्साह रखता है वही महापुरुष है परन्तु सं. टी. पुस्तक का पाठ उत्तम व हृदयप्रिय है। -संपादक

२. तथा च वादीभसिंहसूरिः—स्वापदं न हि पश्यन्ति सन्तः पारार्थ्यतत्पराः ॥१/२॥ क्षत्रचूडामणौ

कोई नहीं ॥३६॥

राज-कर्मचारियों में समदृष्टि, दरिद्र से धनग्रहण और असमर्थ को प्रयोजन कहना क्रमशः-

आश्रितेषु कार्यतो विशेषकारणेऽपि[1] दर्शनप्रियालापनाभ्यां सर्वत्र समवृत्तिस्तंत्रं वर्द्धयति अनुरञ्जयति च ॥३७॥

तनुधनादर्थग्रहणं मृतमारणमिव ॥३८॥

अप्रतिविधातरि कार्यनिवेदनमरण्यरुदितमिव ॥३९॥

अर्थ—राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने आश्रित अमात्य-आदि प्रकृति के साथ अनुरक्त दृष्टि और मधुरभाषण-आदि शिष्ट व्यवहार समान रखे। क्योंकि पक्षपात-शून्य समदृष्टि से राजतंत्र की श्रीवृद्धि होती है व समस्त प्रकृति-अमात्य-आदि-उस से अनुरक्त रहती है। यदि उसमें से किसी कर्मचारी द्वारा उसकी विशेष प्रयोजन-सिद्धि हुई हो, तो उसे एकान्त में पारितोषिक-प्रदान द्वारा प्रसन्न करे, परन्तु उसका पक्षपात प्रकाशित नहीं होने पावे, अन्यथा अन्य प्रकृति के लोग राजा से द्वेष करने लगते हैं ॥३७॥ दरिद्र मनुष्य से धन लेना मरे हुए को मारने के समान कष्टदायक है। सारांश यह है कि राजा धनिकों से ही टैक्स वसूल करे, गरीबों से नहीं, क्योंकि उन्हें विशेष कष्ट होता है ॥३८॥ जिस प्रकार जंगल में रुदन करना व्यर्थ है, उसी प्रकार प्रयोजन-सिद्धि करने में असमर्थ पुरुष के लिए अपना प्रयोजन कहना निरर्थक है ॥३६॥

तुलसीदास[2] कवि ने भी कहा है कि नैतिक पुरुष को दूसरे के गृह जाकर अपना दुःख प्रकट नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे गम्भीरता नष्ट होती है और प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता ॥१॥''

हठी को उपदेश, कर्त्तव्य ज्ञान-शून्य को शिक्षा, विचार-शून्य (मूर्ख) को योग्य बात कहना और नीच पुरुष का उपकार करना इनकी क्रमशः निष्फलता-

दुराग्रहस्य हितोपदेशो बधिरस्याग्रतो गानमिव[3] ॥४०॥

अकार्यज्ञस्य शिक्षणमन्धस्य पुरतो नर्तनमिव[4] ॥४१॥

अविचारकस्य युक्तिकथनं तुषकण्डनमिव ॥४२॥

नीचेषूपकृतमुदके विशीर्णं लवणमिव ॥४३॥

अर्थ—हठग्राही पुरुष को हित का उपदेश देना बहरे के सामने गीत गाने के समान निष्फल

---

१. ''आश्रितेषु कार्यतो विशेषकरणं'' इत्यादि सं. टी. पु. में पाठ है, परन्तु हमने उक्त पाठ मु. व ह. लि. मू. प्रतियों से संकलन किया है। -सम्पादक

२. तथा च तुलसीदासः कविः-तुलसी पर घर जाय के दुःख न दीजे रोय। भरम गमावे आपना बात न बुझे कोय ॥१॥-संगृहीतम्

३-४.उक्त दोनों सूत्र मु. मू. प्रति में नहीं हैं, परन्तु अन्य ह. खि. मू. प्रतियों में वर्तमान हैं। -सम्पादक

है ॥४०॥ कर्त्तव्यज्ञान-शून्य-मूर्ख पुरुष को शिक्षा देना अन्धे के सामने नाचने के समान व्यर्थ है ॥४१॥ जिस प्रकार भूसे का कूटना निरर्थक है, उसी प्रकार विचार-शून्य-मूर्ख को योग्य बात कहना व्यर्थ है ॥४२॥

विद्वानों[1] ने भी कहा है कि ''जिस प्रकार सर्प को दूध पिलाना विष-वर्द्धक है, उसी प्रकार मूर्ख को उपदेश देना दुःखदायक है ॥१॥''

नीच मनुष्य के साथ किया हुआ उपकार पानी में फेंके हुए नमक की तरह नष्ट हो जाता है। सारांश यह है कि नीच मनुष्य प्रत्युपकार करने के बदले उल्टी हानि पहुँचाने तत्पर रहता है ॥४३॥

वादीभसिंहसूरि[2] ने भी कहा है कि जिस प्रकार सांप को पिलाया हुआ दूध विष-वर्धक होता है, उसी प्रकार नीच मनुष्य के साथ किया हुआ उपकार अपकार-हानि के लिए होता है ॥१॥

मूर्ख को समझाने में परिश्रम, परोक्ष में उपकार करना व बिना मौके की बात कहना इन की निष्फलता और उपकार को प्रकट करने से हानि क्रमशः-

अविशेषज्ञे प्रयासः शुष्कनदीतरणमिव ॥४४॥

परोक्षे किलोपकृतं सुप्तसंवाहनमिव ॥४५॥

अकाले विज्ञप्तमूषरे कृष्टमिव ॥४६॥

उपकृत्योद्घाटनं बैरकरणमिव ॥४७॥

अर्थ—मूर्ख पुरुष को समझाने में परिश्रम करना सूखी नदी में तैरने के समान निष्फल है ॥४४॥ जो मनुष्य पीठ पीछे किसी का उपकार करता है, वह सोते हुए के पैर दाबने के समान व्यर्थ कष्ट उठाता है। सारांश यह है कि यद्यपि पीठ पीछे उपकार करने से भी भलाई होती है परन्तु उसे मालूम नहीं रहता कि किसने मेरा उपकार किया है ? इसलिए वह कभी भी उपकारी का प्रत्युपकार नहीं करता, इसलिए परोक्ष में उपकार करना निरर्थक है ॥४५॥ बिना मौके की बात कहना ऊसर जमीन में बीज बोने के समान निरर्थक है अतः अवसर पर बात कहनी चाहिए ॥४६॥ जो पुरुष किसी की भलाई करके उसके सामने प्रकट करता है, वह उस से बैर-विरोध करने के समान है ॥४७॥

उपकार करने में असमर्थ की प्रसन्नता-आदि निरर्थक काय क्रमशः-

अफलवतः प्रसादः काशकुसुमस्येव[3] ॥४८॥

गुणदोषावनिश्चित्यानुग्रहनिग्रहविधानं ग्रहाभिनिवेश इव ॥४९॥

---

१. उक्तं च-उपदेशो हि मूर्खाणां केवलं दुःखवर्द्धनं। पयःपानं भुजंगानां केवलं विषवर्द्धनम् ॥१॥ संगृहीत-

२. तथा च वादीभसिंहसूरिः-उपकारोऽपि नीचानामपकाराय कल्पते। पन्नगेन पयः पीतं विषस्यैव हि वर्द्धनम् ॥१॥

३. ''अफलवतो नृपतेः प्रसादः काशकुसुमस्येव'' इस प्रकार का पाठ मू. प्रतियों में है, जिसका अर्थ राज-पक्ष में पूर्ववत् समझना चाहिए। -सम्पादक

उपकारापकारासमर्थस्य तोषरोषकरणमात्मविडम्बनमिव ॥५०॥

अर्थ—उपकार करने में असमर्थ पुरुष का प्रसन्न होना कास-घास विशेष-के पुष्प समान निरर्थक है। अर्थात् नदी के तटवर्ती कास (तृणविशेष) में फूल ही होते हैं, फल नहीं होते, अतः जिस प्रकार कास का फूल निष्फल-फल-रहित-होता है, उसी प्रकार उपकार करने में असमर्थ पुरुष का प्रसन्न होना निष्फल अर्थ-लाभादि प्रयोजन-रहित होता है। ॥४८॥

किसी विद्वान्[१] ने भी कहा है कि जिस मनुष्य के असन्तुष्ट-नाराज-होने पर किसी प्रकार का भय नहीं है और संतुष्ट होने पर धन-प्राप्ति नहीं होती व जो उपकार-अपकार नहीं कर सकता, वह नाराज होने पर भी क्या कर सकता है ? कुछ नहीं कर सकता ॥१॥''

नैतिक मनुष्य को किसी के गुण-दोष का निश्चय करके उसका क्रमशः उपकार-अनुपकार करना चाहिए। अर्थात् उसे गुणवान्-शिष्ट पुरुष का उपकार और दुष्ट पुरुष का अपकार करना चाहिए, परन्तु जो इससे विपरीत प्रवृत्ति करता है-गुण-दोष का निश्चय किये बिना ही किसी के अनुग्रह-निग्रह (उपकार-अपकार) में प्रवृत्त होता है, वह राहु-केतु या भूत-पिशाच के द्वारा व्याप्त पुरुष के समान कष्ट उठाता है अर्थात् जिस प्रकार राहु-केतु इन अशुभ ग्रहों से या पिशाचादि के आक्रमण से मनुष्य पीड़ित होता है, उसी प्रकार गुण-दोष की परीक्षा किये बिना किसी का उपकार-अनुपकार करने वाला मनुष्य भी अनेक कष्ट भोगता है ॥४९॥ जो मनुष्य उपकार करने में समर्थ नहीं है, उसे सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करना और अपकार करने में असमर्थ को असंतुष्ट करना अपनी हँसी कराने के सदृश है। सारांश यह है कि जिस प्रकार अपनी हँसी कराना अनुचित है, उसी प्रकार उपकार करने में असमर्थ को सन्तुष्ट करना और अपकार करने में असमर्थ को असन्तुष्ट करना अनुचित है, अतः नैतिक व्यक्ति अपने उपकारी को संतुष्ट और अपकारी को असंतुष्ट रखे, जिसके परिणामस्वरूप वह संतुष्ट से उपकार प्राप्त कर सके और असंतुष्ट से अपनी हानि का बचाव कर सके ॥५०॥

झूठी बहादुरी बताने वालों की एवं उदार-धन की प्रशंसापूर्वक कृपण-धन की क्रमशः कड़ी आलोचना-

ग्राम्यस्त्रीविद्रावणकारि गलगर्जितं ग्रामशूराणाम् ॥५१॥

स विभवो मनुष्याणां यः परोपभोग्यो न तु यः स्वस्यैवोपभोग्यो व्याधिरिव॥५२॥

अर्थ—जो मनुष्य स्वयं डरपोक हैं किन्तु झूठी शूरता दिखाकर ऊपरी भय दिखाते हैं, उनके भयंकर चिल्लाने से केवल ग्रामीण स्त्रियाँ ही भयभीत होती हैं, अन्य नागरिक मनुष्य नहीं ॥५१॥

मनुष्यों का वही धन प्रशंसनीय है, जो दूसरों द्वारा भोगा जा सके, किन्तु जिसको धनी पुरुष

---

१. उक्तं च-यस्मिन् रुष्टे भयं नास्ति तुष्टे नैव धनागमो। अनुग्रहोनिग्रहो नास्ति स रुष्टः किं करिष्यति ॥१॥ संगृहीत

रोग समान स्वयं भोगता है वह कृपण-धन निन्द्य है ॥५२॥

वल्लभदेव[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''उस कृपण-लक्ष्मी से क्या लाभ है ? जो कि कुलवधू-समान केवल उसी के द्वारा भोगी जाती है और जो सर्वसाधारण वेश्या की तरह पथिकों द्वारा नहीं भोगी जाती ॥१॥''

ईर्ष्यालु गुरु, पिता, मित्र तथा स्वामी की कड़ी आलोचना क्रमशः-

स किं गुरुः पिता सुहृद्वा योऽभ्यसूययाऽर्भं बहुदोषं बहुषु वा दोषं प्रकाशयति न शिक्षयति च ॥५३॥

स किं प्रभुर्यश्चिरसेवकेष्वेकमप्यपराधं न सहते ॥५४॥

अर्थ—वह गुरु, पिता व मित्र निन्द्य वा शत्रु सदृश है, जो कि ईर्ष्यावश अपने बहुदोषी शिष्य, पुत्र व मित्र के दोष दूसरों के समक्ष प्रकट करता है और उसे नैतिक शिक्षण नहीं देता ॥५३॥

गौतम[2] विद्वान् ने कहा है कि ''गुरु को ईर्ष्यावश अपने शिष्य के दोष बहुत मनुष्यों के समक्ष प्रकाशित नहीं करने चाहिए, किन्तु उसे हित की शिक्षा देनी चाहिए ॥१॥''

वह स्वामी निन्द्य है, जो कि अपने चिरकालीन सेवक का एक भी अपराध क्षमा नहीं करता ॥५४॥

शुक्र[3] विद्वान् ने भी कहा है कि ''स्वामी को उस सेवक का, जो कि भक्त होकर चिरकाल से उसकी सेवा कर रहा है, केवल एक दोष के कारण निग्रह नहीं करना चाहिए ॥१॥''

॥ इति पुरोहित-समुद्देशः ॥

---

१. तथा च वल्लभदेवः—किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला। या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥१॥

२. तथा च गौतमः—शिक्षां दद्यात् स्वशिष्यस्य तद्दोषं न प्रकाशयेत्। ईर्ष्यागर्भं भवेद्यच्च प्रभूतस्य जनाग्रतः ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—चिरकालचरो भृत्यो भक्तियुक्तः प्रसेवयेत्। न तस्य निग्रहः कार्यो दोषस्यैकस्य कारणात् ॥१॥

(१२) सेनापति-समुद्देशः

सेनापति के गुण-दोष व राज-सेवक की उन्नति क्रमशः–

अभिजनाचारप्राज्ञानुरागशौचशौर्यसम्पन्नः प्रभाववान्, बहुबान्धवपरिवारो, निखिलनयोपायप्रयोगनिपुणः समभ्यस्तसमस्तवाहनायुधयुद्धलिपिभाषात्मपरिज्ञानस्थितिः सकलतन्त्रसामन्ताभिमतः, साङ्ग्रामिकाभिरामिकाकारशरीरो, भर्तुरादेशाभ्युदयहितवृत्तिषु निर्विकल्पः स्वामिनात्मवन्मानार्थप्रतिपत्तिः, राजचिह्नैः सम्भावितः, सर्वक्लेशायाससह[1], इति सेनापतिगुणाः ॥१॥

स्वैः परैश्च प्रधृष्यप्रकृतिरप्रभाववान् स्त्रीजितत्वमौद्धत्यं व्यसनिताऽक्षयव्ययप्रवासोपहतत्वं तन्त्राप्रतीकारः सर्वैः सह विरोधः परपरीवादः परुषभाषित्वमनुचितज्ञताऽसंविभागित्वं स्वातन्त्र्यात्मसम्भावनोपहतत्वं स्वामिकार्यव्यसनोपेक्षः सहकारिकृतकार्यविनाशो राजहितवृत्तिषु चेर्ष्यालुत्वमिति सेनापतिदोषाः ॥२॥

स चिरंजीवति राजपुरुषो यो नगरनापित इवानुवृत्तिपरः[2] ॥३॥

अर्थ—जिस में निम्नप्रकार के गुण वर्तमान हों, उसे सेनाध्यक्ष-पद पर नियुक्त करना चाहिए। कुलीन, आचार-व्यवहार-सम्पन्न, राज-विद्याप्रवीण (विद्वान्), स्वामी व सेवको से अनुरक्त, पवित्रहृदय, बहुपरिवारयुक्त, समस्त नैतिक उपाय (साम-दामादि) के प्रयोग (अग्नि व जलःस्तम्भनप्रभृति) करने में कुशल, जिसने समस्त हाथी, घोड़े आदि वाहन, खड्गादिशस्त्र-संचालन, युद्ध और भिन्न देशवर्ती भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया हो, आत्मज्ञानी, समस्त सेना व अमात्यप्रभृति प्रधान राज-सेवकों का प्रेमपात्र, जिसका शरीर योद्धाओं से लोहा लेने की शक्ति-सम्पन्न और मनोज्ञ (युद्ध करने में उत्साही) हो, स्वामी की आज्ञा-पालन, युद्ध में विजय प्राप्ति व राष्ट्र के हित-चिंतन में विकल्प रहित, जिसे

१. इसके पश्चात ''स्वैः परैश्चाप्रधृष्यप्रकृतिः'' इतना अधिक पाठान्तर मू. प्रतियों में है, जिसका अर्थ यह है कि जिसकी प्रकृति-प्रधानपुरुष-आत्मीय-राष्ट्रीय और बाहर के शत्रुओं द्वारा पराजित न की जा सके।

२. इसके पश्चात् ''सर्वासु प्रकृतिषु'' इतना अधिक पाठ मू. प्रतियों में है, जिसका अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए। —सम्पादक

स्वामी ने अपने समान समझकर सम्मानित व धन देकर प्रतिष्ठित किया हो, छत्र-चामरादि राज-चिह्नों से युक्त और समस्त प्रकार के कष्ट व खेदों की सहन करने में समर्थ ये सेनाध्यक्ष के गुण हैं। सारांश यह है कि उक्त गुण-विभूषित वीर पुरुष को सेनाध्यक्ष-पद पर नियुक्त करने से विजिगीषु को विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है ॥१॥

शुक्र[1] विद्वान् ने भी कहा है कि "जो राजा समस्त गुण-विभूषित सेनाध्यक्ष की नियुक्ति करता है, वह शत्रु-कृत पराभव प्राप्त नहीं करता ॥१॥"

जिसकी प्रकृति (प्रधान पुरुष) आत्मीय व दूसरे शत्रुओं से पराजित हो सके, तेज-शून्य, स्त्रीकृत उपद्रवों से वश किया जानेवाला (जितेन्द्रियता-शून्य), अभिमानी; व्यसनासक्त, मर्यादा से बाहर धनव्ययी, चिरकाल पर्यन्त परदेशवासी, दरिद्र, सैन्यापराधी, सब के साथ बैर-विरोध करने वाला, अनुचित बात को जानने वाला, अपनी आय को अकेला खाने वाला, स्वच्छन्द प्रकृति-युक्त, स्वामी के कार्य व आपत्तियों का उपेक्षक, युद्ध-सहायक योद्धाओं का कार्य-विघातक और राज-हित चिन्तकों से ईर्ष्यालु ये सेनापति के दोष हैं। अभिप्राय यह है कि उक्त दोष-युक्त पुरुष को सेनाध्यक्ष बनाने से राज्य क्षति होती है॥ २॥

गुरु[2] विद्वान् ने कहा है कि "जो मन्दबुद्धि राजा सेनापति के दोष-युक्त पुरुष को सेनापति बनाता है, वह सेनापति प्रचुर सैनिक शक्ति युक्त होने पर भी विजयश्री प्राप्त नहीं कर सकता ॥१॥"

जो राज-सेवक राजकीय प्रधान पुरुषों की नाई की तरह विनय करता है, वह चिरकाल तक सुखी रहता है। अर्थात् जिस प्रकार नाई नगर में प्रविष्ट होकर समस्त मनुष्यों के साथ विनय का बर्ताव करने से जीवन-निर्वाह करता हुआ सुखी रहता है, उसी प्रकार राजकीय पुरुषों के साथ विनयशील राजसेवक भी चिरकाल तक सुखी रहता है॥ ३॥

शुक्र[3] विद्वान् ने कहा है कि "जो राज-सेवक राजकीय प्रकृति की सदा विनय करता है वह राजा का प्रेमपात्र होकर चिरकाल तक सुखी रहता है ॥१॥"

॥ इति सेनापति-समुद्देशः ॥

---

१. तथा च शुक्रः—सर्वैर्गुणैः समोपेतं सेनानाथं करोति यः। भूमिपालो न चाप्नोति स शत्रुभ्यः पराभवं ॥१॥

२. तथा च गुरुः—सेनापतिं स्वदोषाढ्यं यः करोति स मन्दधीः। न जयं लभते संख्ये बहुसेनोऽपि स क्वचित् ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—सेवकः प्रकृतीनां यो नम्रतां याति सर्वदा। स नन्दति चिरंकालं भूपस्यापि प्रियो भवेत् ॥१॥

(१३) दूत-समुद्देशः

दूत का लक्षण, गुण व भेद क्रमशः–

अनासन्नेष्वर्थेषु दूतो मंत्री[१] ॥१॥

स्वामिभक्तिरव्यसनिता दाक्ष्यं शुचित्वममूर्खता[२] प्रागल्भ्यं प्रतिभानवत्वं क्षान्तिः परमर्मवेदित्वं जातिश्च प्रथमे दूतगुणाः॥ २॥

स त्रिविधो निसृष्टार्थः परिमितार्थः शासनहरश्चेति॥ ३॥

यत्कृतौ स्वामिनः सन्धिविग्रहौ प्रमाणं स निसृष्टार्थः, यथा कृष्णः पाण्डवानाम्॥४॥

अर्थ–जो अधिकारी दूरदेशवर्ती राजकीय कार्य-सन्धि-विग्रहादि-का साधक या प्रदर्शक होने के कारण मंत्री समान होता है, उसे 'दूत' कहते हैं। ॥१॥

राजपुत्र[३] विद्वान् ने कहा है कि ''राजा का अन्य देशसम्बन्धी कार्य-सन्धि-विग्रहादि-दूत द्वारा ही सिद्ध होता है; अतः वह (दूत) मंत्रीतुल्य उसे सिद्ध करता है ॥१॥''

स्वामी-भक्त, द्यूत-क्रीड़ा, मद्यपानादि व्यसनों में अनासक्त, चतुर, पवित्र (निर्लोभी व निर्मल शरीर तथा विशुद्ध वस्त्र-युक्त), विद्वान्, उदार, बुद्धिमान, सहिष्णु, शत्रु-रहस्य का ज्ञाता और कुलीन ये दूत के मुख्य गुण हैं ॥२॥

शुक्र[४] विद्वान् ने कहा है कि ''जो राजा चतुर, कुलीन, उदार एवं अन्य दूतोचित गुणों से युक्त दूत को भेजता है, उसका कार्य सिद्ध होता है ॥१॥''

दूत तीन प्रकार के होते हैं। १. निसृष्टार्थ २. परिमितार्थ ३. शासनहर॥ ३॥ जिसके द्वारा

---

१. ''आसन्नेष्वर्थेषु दूतो मंत्री'' इस प्रकार का पाठान्तर मू. प्रतियों में वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि जो अधिकारी शीघ्र करने योग्य कार्य-सन्धिविग्रहादि-का साधक, या प्रदर्शक होने के कारण मंत्री-तुल्य है उसे 'दूत' कहते हैं।

२. इसके स्थान में 'अमुमूर्षता' ऐसा पाठ मू. प्रतियों में पाया जाता है, जिसका अर्थ यह है कि राज-दूत को रोगादि के कारण हीनशक्ति नहीं होना चाहिए, शेष अर्थ पूर्ववत् है।

३. तथा च राजपुत्रः–देशान्तरस्थितं कार्ये दूतद्वारेण सिद्ध्यति। तस्माद् दूतो यथा मंत्री तत्कार्यं हि प्रसाधयेत् ॥१॥

४. तथा च शुक्रः–दक्षं जात्यं प्रगल्भं च, दूतं यः प्रेषयेन्नृपः। अन्यैश्च स्वगुणैर्युक्तं तस्य कृत्यं प्रसिद्ध्यति ॥१॥

निश्चित किये हुए सन्धि-विग्रह को उसका स्वामी प्रमाण मानता है, वह 'निसृष्टार्थ' है, जैसे पांडवों का कृष्ण। अभिप्राय यह है कि कृष्ण ने पांडवों की ओर से जाकर कौरवों से विग्रह-युद्ध-निश्चित किया था, उसे पांडवों को प्रमाण मानना पड़ा; अतः कृष्ण पाण्डवों के 'निसृष्टार्थ' राज-दूत थे। इसी प्रकार राजा द्वारा भेजे हुए संदेश और शासन-लेख-को जैसे का तैसा शत्रु के पास कहने या देने वाले को क्रमशः 'परिमितार्थ' व 'शासनहर' जानना चाहिए॥ ४॥

भृगु[1] विद्वान् ने कहा है कि "जिसका निश्चित वाक्य-सन्धि-विग्रहादि-अभिलषित न होने पर भी राजाद्वारा उल्लंन न किया जा सके उसे नीतिज्ञों ने निसृष्टार्थ" कहा है ॥१॥ जो, राजा द्वारा कहा, हुआ संदेश-वाक्य-शत्रु के प्रति यथार्थ कहता है, उस से हीनाधिक नहीं कहता, उसे 'परिमितार्थ' जानना चाहिए॥ २॥ एवं जो राजाद्वारा लिखा हुआ लेख यथावत् शत्रु को प्रदान करता है, उसे नीतिज्ञों ने 'शासनहर' कहा है॥ ३॥"

दूत-कर्त्तव्य (शत्रु-स्थान में प्रवेश व प्रस्थान के नियम-आदि) क्रमशः-

अविज्ञातो दूतः परस्थानं न प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा॥ ५॥

मत्स्वामिनाऽसंधातुकामो रिपुर्मां विलुम्बयितुमिच्छतीत्यननुज्ञातोऽपि दूतोऽपसरोद् गूढपुरुषान्वाऽवसर्पयेत्॥ ६॥

परेणाशु प्रेषितो दूतः कारणं विमृशेत् ॥७॥

अर्थ—दूत शत्रु द्वारा अज्ञात होकर-उसकी आज्ञा के बिना-न तो शत्रु-स्थान में प्रविष्ट हो और न वहाँ से प्रस्थान करे। सारांश यह है कि जब दूत शत्रु की आज्ञा-पूर्वक प्रवेश या प्रस्थान करता है, तब उसे अपने घात का भय नहीं रहता ॥५॥

गुरु[2] विद्वान् ने कहा है कि "जो दूत शत्रु की आज्ञा बिना ही उसके स्थान में प्रवेश या प्रस्थान करता है, वह वध को प्राप्त होता है ॥१॥"

जब दूत को यह निश्चय हो जावे कि यह शत्रु मेरे स्वामी से सन्धि नहीं करेगा किन्तु युद्ध करने का इच्छुक है और इसी कारण मुझे यहाँ रोक रहा है, तब उसे शत्रु की आज्ञा के बिना ही वहाँ से प्रस्थान कर देना चाहिए या स्वामी के पास गुप्तदूत भेज देना चाहिए॥ ६॥

हारीत[3] विद्वान् ने कहा है कि "चतुर दूत शत्रु को अपने स्वामी से युद्ध करने का इच्छुक जानकर शत्रु की आज्ञा के बिना ही अपने स्वामी के स्थान पर पहुँच जावे या गुप्त दूत भेज

---

१. तथा च भृगुः-यद्वाक्यं नान्यथाभावि प्रभोर्यद्यप्यनीप्सितम्। निसृष्टार्थः स विज्ञेयो दूतो नीतिविचक्षणैः ॥१॥
यत् प्रोक्तं प्रभुणा वाक्यं तत् प्रमाणं वदेच्च यः। परिमितार्थ इति ज्ञेयो दूतो नान्यं ब्रवीति यः॥ २॥
प्रभुणा लेखितं यच्च तत् परस्य निवेद्येत्। यः शासनहरः सोऽपि दूतो ज्ञेयो नयान्वितैः॥ ३॥

२. तथा च गुरुः-शत्रुणा योऽपरिज्ञातो दूतस्तत्स्थानमाविशेत्। निर्गच्छेद्वा ततः स्थानात् स दूतो वधमाप्नुयात् ॥१॥

३. तथा च हारीतः-असन्धानं परं शत्रुं दूतो ज्ञात्वा विचक्षणः। अनुक्तोऽपि गृहं गच्छेद् गुप्तान् वा प्रेषयेष्वरान् ॥१॥

देवे ॥१॥''

यदि शत्रु ने दूत को देखकर ही वापस लौटा दिया हो, तो दूत उसका कारण सोचे ॥७॥

गर्ग[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''शत्रु द्वारा शीघ्र वापस भेजा हुआ दूत उसका कारण जानकर स्वामी का हित करे ॥१॥''

दूत का स्वामी-हितोपयोगी कर्तव्य-

कृत्योपग्रहोऽकृत्योत्थापनं सुतदायादावरुद्धोपजापः स्वमण्डलप्रविष्ट-गूढ़पुरुषपरिज्ञानमन्तपालाटविककोशदेशतन्त्रमित्रावबोधः कन्यारत्नवाहन-विनिश्रावणं स्वाभीष्टपुरुषप्रयोगात् प्रकृतिक्षोभकरणं दूतकर्म॥८॥

मन्त्रिपुरोहितसेनापतिप्रतिवद्धपूजनोपचारविश्रम्भाभ्यां शत्रोरितकर्त्तव्यतामन्तः सारतां च विद्यात् ॥९॥

स्वयमशक्तः परेणोक्तमनिष्टं सहेत ॥१०॥

गुरुषु स्वामिषु वा परिवादे नास्ति क्षान्तिः ॥११॥

अर्थ—दूत स्वामी-हितार्थ शत्रु-राजा के यहाँ ठहरकर निम्न प्रकार कर्त्तव्य-पालन करे। १. नैतिक उपाय द्वारा शत्रुकार्य-सैनिक-संगठन-आदि- को नष्ट करना, २. राजनैतिक उपाय द्वारा शत्रु का अनर्थ करना शत्रु-विरोधी-क्रुद्ध, लुब्ध, भीत और अभिमानी-पुरुषों को साम-दाम द्वारा वश में करना-आदि, ३. शत्रु के पुत्र, कुटुम्बी व जेलखाने में बन्दीभूत मनुष्यों में द्रव्य-दानादि द्वारा भेद उत्पन्न करना, ४. शत्रु द्वारा अपने देश में भेजे हुए गुप्त पुरुषों का ज्ञान, ५. सीमाधिप, आटविक (भिल्लादि), कोश देश, सैन्य और मित्रों की परीक्षा, ६. शत्रु राजा के यहाँ वर्तमान कन्यारत्न तथा हाथी-घोड़े आदि वाहनों को निकालने का प्रयत्न अथवा गुप्तचरों द्वारा स्वामी को बताना, ७. शत्रु-प्रकृति (मंत्री-सेनाध्यक्ष-आदि) में गुप्तचरों के प्रयोग द्वारा क्षोभ उत्पन्न करना ये दूत के कार्य हैं ॥८॥

दूत शत्रु के मंत्री, पुरोहित और सेनाध्यक्ष के समीपवर्ती पुरुषों को धन-दान द्वारा अपने में विश्वास उत्पन्न कराकर शत्रु-हृदय की गुप्त बात-युद्धादि-व उसके कोश-सैन्य के प्रमाण का निश्चय करे ॥९॥

दूत शत्रु के प्रति स्वयं कठोर वचन न कहकर उसके कहे हुए कठोर वचन सहन करे ॥१०॥

शुक्र[2] विद्वान् ने कहा है कि लक्ष्मी चाहने वाला दूत शत्रु से कर्कश वचन न कहकर उसके कठोर वचन सहे और उत्तर न देवे ॥१॥''

१. तथा च गर्गः-शत्रुणा प्रेषितो दूतो यच्छीघ्रं प्रविचिन्तयेत्। कारणं चैव विज्ञाय कुर्यात् स्वामिहितं ततः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः-असमर्थेन दूतेन शत्रोर्यत् पुरुषं वचः। तत् क्षन्तव्यं न दातव्यमुत्तरं श्रियमिच्छता ॥१॥

जब दूत शत्रु-मुख से अपने गुरु व स्वामी की निन्दा सुने तब उसे शान्त नहीं रहकर उसका यथायोग्य प्रतीकार करना चाहिए ॥११॥

जैमिनि[1] विद्वान् ने कहा है कि ''जो पुरुष शत्रु से की हुई अपने गुरु व स्वामी की निन्दा सुनकर कुपित नहीं होता, वह नरक जाता है ॥१॥''

निरर्थक विलम्ब से हानि-

स्थित्वापि यियासतोऽवस्थानं केवलमुपक्षयहेतुः ॥१२॥

अर्थ—जो मनुष्य स्थित हो करके भी किसी प्रयोजन-अर्थ-लाभादि-सिद्धि के लिए देशान्तर में गमन करने का इच्छुक है, यदि वह किसी कारणवश-आलस्य-आदि के कारण-रुक जाता है या जाने में विलम्ब कर देता है, तो इससे उसके धन-लाभादि प्रयोजन नष्ट हो जाते हैं, अतएव नैतिक व्यक्ति को गन्तव्य स्थान में अवश्य जाना चाहिए।

रैभ्य[2] विद्वान् ने भी कहा है कि ''नैतिक पुरुष गन्तव्य स्थान में जाने से विलम्ब न करे, अन्यथा उसकी धन-क्षति होती है ॥१॥'' राजनैतिक-प्रकरण में अभिप्राय यह है कि जो विजिगीषु स्थित हो करके भी शक्ति-संचय-सैनिक-संगठन-आदि करके शत्रु पर चढ़ाई करने के उद्देश्य से शत्रु-देश में जाने का इच्छुक है, यदि वह वहाँ नहीं जाता या विलम्ब कर देता है, तो उसके धन-जन-आदि की क्षति हो जाती है; क्योंकि शत्रु, उसे हीनशक्ति समझकर उस पर चढ़ाई कर देता है, जिसके फलस्वरूप उसके धन-जन की क्षति होती है ॥१२॥

दूतों से सुरक्षा व उसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन-

वीरपुरुषपरिवारितः शूरपुरुषान्तरितान् दूतान् पश्येत् ॥१३॥

श्रूयते हि किल चाणिक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगेणैकं नन्दं जघान ॥१४॥

अर्थ—विजिगीषु को स्वयं बहादुर सैनिकों से घिरा रहकर और शत्रु-देश से आये हुए दूतों को भी वीर सैनिकों के मध्य में रखकर उनसे वार्तालाप आदि करना चाहिए। सारांश यह है कि विजिगीषु कभी भी अरक्षित अवस्था में-पलटन के पहरे के बिना-शत्रु-देश से आये हुए दूतों से संभाषण-आदि न करे अन्यथा वह उनके खतरे से खाली नहीं रह सकता ॥१३॥

नारद[3] विद्वान् ने भी कहा है कि ''चिरकालीन जीवन की कामना करने वाला विजिगीषु बहुत से वीर सैनिकों से घिरा रहकर शत्रु-दूतों को देखे ॥१॥'' इतिहास बताता है कि आर्य चाणक्य (ई. से ३३० वर्ष पूर्वकालीन सम्राट् चन्द्रगुप्त का मंत्री) ने तीक्ष्णदूत-विषकन्या के प्रयोग द्वारा

---

१. तथा च जैमिनिः-गुरोर्वा स्वामिनो वापि कृतां निन्दां परेण तु। यः श्रृणोति न कुप्येच्च स पुमान्नरकं व्रजेत् ॥१॥

२. तथा च रैभ्यः-अवश्यं यदि गन्तव्यं तन्न कुर्याद्विलम्बनम्। गन्तव्यमेव नो चेद्धि तस्माद्धनपरिक्षयः ॥१॥

३. तथा च नारदः-परदूतान् नृपः पश्येद् वीरैर्वहुभिरावृतः। शूरैरन्तर्गतस्तेषां चिरंजीवितुमिच्छया ॥१॥

अरक्षित नन्द राजा को मार डाला था ॥१४॥

शत्रु-प्रेषित लेख-उपहार के विषय में राज-कर्त्तव्य व दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण क्रमशः-

शत्रुप्रहितं शासनमुपायनं च स्वैरपरीक्षितं नोपाददीत ॥१५॥

श्रूयते हि किल स्पर्शविषवासिताद्भुतवस्त्रोपायनेन करहाटपतिः कैटभो वसुनामानं राजानं जघान ॥१६॥

आशीविषविषधरोपेतरत्नकरण्डकप्राभृतेन च करवालः करालं जघानेतिं ॥१७॥

अर्थ—विजिगीषु राजा शत्रु द्वारा भेजे हुए लेख व उपहार आत्मीयजनों-प्रामाणिक राजवैद्य आदि से बिना परीक्षा किये हुए स्वीकार न करे ॥१५॥

शुक्र[1] विद्वान् ने कहा है कि ''राजा को शत्रु-प्रेषित पत्र व उपहार जब तक वैद्यादि आप्त-प्रामाणिक पुरुषों द्वारा परीक्षित न किये जावें तब तक ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥१॥''

नीतिविद्या-विशारदों की परम्परा से सुना जाता है कि करहाट देश के राजा कैटभने वसुनाम के प्रतिद्वन्दी राजा को दूत द्वारा भेजे हुए व फैलने वाले विष से वासित (वासना दिये गये-बार-बार भिगोये हुए) बहुमूल्य वस्त्रों के उपहार-भेंट द्वारा मार डाला। सारांश यह है कि वसुराजा ने विष-दूषित उन बहुमूल्य वस्त्रों को आप्त पुरुषों द्वारा परीक्षित किये बिना ज्यों ही धारण किया, त्यों ही वह तत्काल काल-कवलित हो गया। अतः शत्रु-कृत खतरे से सुरक्षित रहने के लिए विजिगीषु को शत्रु-प्रेषित उपहार आप्तपुरुषों द्वारा परीक्षित होने पर ही ग्रहण करना चाहिए ॥१६॥ इसी प्रकार करवाल नाम के राजा ने कराल नाम के शत्रु राजा को दृष्टिविष वाले सर्प से व्याप्त रत्नों के पिटारे की भेंट भेजकर मार डाला। सारांश यह है कि ज्यों ही कराल राजा ने शत्रु-प्रेषित उस रत्न-पिटोरे को खोला त्यों ही वह उस में वर्तमान दृष्टिविष सर्प के विष से तत्काल दीर्घ निद्रा (मृत्यु) को प्राप्त हो गया; अतः राजा को शत्रु-प्रेषित उपहार आप्त-परीक्षित हुए स्वीकार करना चाहिए ॥१७॥

दूत के प्रति राज-कर्त्तव्य-उसका वध न करना, दूत-लक्षण व दूतवचन-श्रवण क्रमशः-

महत्यपराधेऽपि न दूतमुपहन्यात्[2] ॥१८॥

उद्धृतेष्वपि शस्त्रेषु दूतमुखा वै राजानः[3] ॥१९॥

तेषामन्तावसायिनोऽप्यवध्याः ॥२०॥

---

१. तथा च शुक्रः-यावत् परीक्षितं न स्वैलिखितं प्राभृतं तथा। शत्रोरभ्यागतं राज्ञा तावद्ग्राह्यं न तद्भवेत् ॥१॥

२. ''महत्यपकारे दूतमपि हन्येत'' इस प्रकार का पाठान्तर मु. व ह. लि. मू. प्रतियों में है, जिसका अर्थ यह है कि दूत द्वारा गुरुतर अपराध या अपकार किये जाने पर राजा को उसका वध कर देना चाहिए।

३. उक्त सूत्र का ''उद्धृतेषु पद मू. प्रतियों से संकलित किया गया है, सं. टी.पु. में 'उद्धृतेषु' ऐसा पाठ हैं, अर्थ-भेद कुछ नहीं।

किं पुनर्ब्राह्मणः ॥२१॥

अवध्यभावो दूतः सर्वमेव जल्पति ॥२२॥

कः सुधीर्दूतवचनात् परोत्कर्षं स्वापकर्षं च मन्येतः[१] ॥२३॥

अर्थ—राजा का कर्त्तव्य है कि वह दूत द्वारा महान् अपराध किये जाने पर भी उसका बध न करे ॥१८॥

शुक्र[२] विद्वान् ने कहा है कि ''राजा यदि अपनी भलाई चाहता है तो उसे दूत द्वारा गुरुतर अपराध किये जाने पर भी उसका उस समय वध नहीं करना चाहिए ॥१॥''

वीर सैनिकों द्वारा शस्त्र संचालित किये जाने पर भी-घोर युद्ध-आरम्भ होने पर भी राजा लोग दूतमुख वाले होते हैं-दूत-वचनों द्वारा ही अपनी कार्य-सिद्धि (सन्धि-विग्रहादि से विजय लक्ष्मी प्राप्त करना) करते हैं। अभिप्राय यह है कि युद्ध के पश्चात् भी दूतों का उपयोग होता है; अतः दूत वध करने के अयोग्य हैं ॥१९॥

गुरु[३] विद्वान् ने कहा है कि ''महाभयंकर युद्ध आरम्भ होने पर भी दूत राजाओं के समक्ष सन्धि-आदि कराने के निमित्त विचरते रहते हैं; अतएव राजा को उनका वध नहीं कराना चाहिए ॥१॥

यदि दूतों के मध्य में से चाण्डाल भी दूत बनकर आये हों, तो वे भी वध करने के अयोग्य हैं उच्चवर्ण वाले ब्राह्मण दूतों का तो कहना ही क्या है? अर्थात् वे तो सर्वथा वध करने के अयोग्य होते हैं ॥२०-२१॥

शुक्र[४] विद्वान् ने भी कहा है कि ''दूतों में यदि चाण्डाल भी हों तो राजा को अपनी कार्य-सिद्धि के लिए उन का वध नहीं करना चाहिए ॥१॥''

दूत राजा द्वारा वध करने के अयोग्य होता है, इसलिए वह उसके समक्ष सभी प्रकार के-सत्य, असत्य, प्रिय व अप्रिय-वचन बोलता है; अतः राजा को उसके कठोर वचन सहन करना चाहिए ॥२२॥

कौन बुद्धिमान राजा दूत के वचन सुनकर शत्रु की उन्नति और अपनी अवनति मानता है ? कोई नहीं मानता। अभिप्राय यह है कि राजा को दूत द्वारा प्रकट हुई शत्रु-वृद्धि प्रामाणिक-सत्य-नहीं माननी चाहिए ॥२३॥

वसिष्ठ[५] विद्वान् ने भी कहा कि ''बुद्धिमान राजा को ईर्ष्या छोड़कर दूत द्वारा कहे हुए प्रिय

---

१. ''कः सुधीर्दूतमुखात् श्वानात्'' इत्यादि पाठान्तर मू. प्रतियों में वर्तमान है, परन्तु अभिप्राय में कोई भेद नहीं। -संपादक

२. तथा च शुक्रः-दूतं न पार्थिवो हन्यादपराधे गरीयसि। कृतेऽपि तत्क्षणात्तस्य यदीच्छेद् भूतिमात्मनः ॥१॥

३. तथा च गुरुः-अपि सङ्ग्रामकालेऽपि वर्तमाने सुदारुणे। सर्प्पन्ति संमुखा दूता [वधं तेषां न कारयेत्] ॥१॥ सं.

४. तथा च शुक्रः- अन्तावसायिनो येऽपि दूतानां प्रभवन्ति च। अवध्यास्तेऽपि भूतानां स्वकार्यपरिसिद्धये ॥१॥

५. तथा च वसिष्ठः-श्रोतव्यानि महीपेन दूतवाक्यान्यशेषतः। विज्ञेनेर्ष्यां परित्यज्य सुशुभान्यशुभान्यपि ॥१॥

और अप्रिय सभी प्रकार के वचन सुनने चाहिए ॥१॥''

दूत के प्रति शत्रु-रहस्यज्ञानार्थे राज-कर्त्तव्य व शत्रु लेख-

स्वयं रहस्यज्ञानार्थ परदूतो नयाद्यैः
स्त्रीभिरुभयवेतनैस्तद्गुणाचारशीलानुवृत्तिभिर्वा वंचनीयः॥२४॥
चत्वारि वेष्टनानि खड्गमुद्रा च प्रतिपक्षलेखानाम्॥२५॥

अर्थ—राजा का कर्त्तव्य है कि वह शत्रु राजा का गुप्त रहस्य-सैन्यशक्ति-आदि जानने के लिए उसके दूत को नीतिज्ञ वेश्याओं, दोनों तरफ से वेतन पाने वाले दूतों तथा दूत के गुण, आचार व स्वभाव से परिचित रहने वाले दूत-मित्रों द्वारा वश में करे ॥२५॥

शुक्र[1] विद्वान् ने कहा है कि ''राजा को शत्रु-दूत का रहस्य जिसके द्वारा शत्रु उन्नतिशील हो रहा है, जानने के लिए वेश्याओं, दोनों तरफ से वेतन पाने वाले तथा दूत-प्रकृति से परिचित व्यक्तियों द्वारा प्रयत्नशील रहना चाहिए ॥१॥''

विजिगीषु को शत्रु राजा के पास भेजे हुए लेखों-पत्रादि में चार वेष्टन व उनके ऊपर खड्ग की मुद्रा (मुहुर)लगा देनी चाहिए, जिससे वे मार्ग में न खुलने पावें ॥२५॥

॥ इति दूत-समुद्देशः ॥
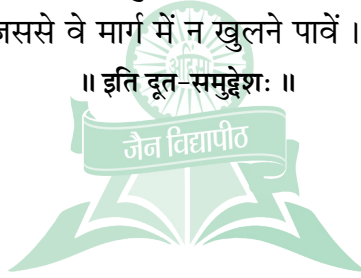
१. तथा च शुक्रः-दूतस्य यद्रहस्यं च तद्वेश्योभयवेतनैः। तच्छीलैर्वा परिज्ञेयं येन शत्रुः प्रसिद्धयति ॥१॥

(१४) चार-समुद्देशः

गुप्तचरों का लक्षण, गुण, वेतन व उसका फल क्रमशः–

स्वपरमण्डलकार्याकार्यावलोकने चाराः खलु चक्षूंषि क्षितिपतीनाम् ॥१॥

अलौल्यममान्द्यममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चारगुणाः॥ २॥

तुष्टिदानमेव चाराणां वेतनम्॥ ३॥

ते हि तल्लोभात् स्वामिकार्येषु त्वरन्ते॥ ४॥

अर्थ–गुप्तचर स्वदेश-परदेशसम्बन्धी कार्य-अकार्य का ज्ञान करने के लिए राजाओं के नेत्र हैं। अभिप्राय यह है कि राजा लोग गूढ़पुरुषों द्वारा ही अपने व दूसरे देश सम्बन्धी राजकीय वृत्तान्त जानते हैं, स्वयं नहीं ॥१॥

गुरु[1] विद्वान् ने कहा है कि ''राजा लोग दूरदेशवर्ती हो करके भी स्वदेश-परदेश सम्बन्धी कार्य-अकार्य गुप्तचरों द्वारा जानते हैं ॥१॥''

संतोष, आलस्य का न होना-उत्साह अथवा निरोगता, सत्यभाषण और विचार-शक्ति ये गुप्तचरों के गुण हैं ॥२॥

भागुरि[2] विद्वान् ने कहा है कि ''जिन राजाओं के गुप्तचर आलस्य-रहित-उत्साही, संतोषी, सत्यवादी और तर्कणाशक्ति-युक्त होते हैं, वे (गुप्तचर) अवश्य राजकीय कार्य सिद्ध करने वाले होते हैं ॥१॥''

कार्य सिद्धि हो जाने पर राजा द्वारा जो संतुष्ट होकर प्रचुर धन दिया जाता है, वही गुप्तचरों का वेतन है; क्योंकि उस धन प्राप्ति के लोभ से वे लोग अपने स्वामी की कार्य-सिद्धि शीघ्रता से करते हैं॥ ३-४॥

गौतम[3] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो गुप्तचर राजा से संतुष्ट होकर दिया हुआ प्रचुर धन प्राप्त करते हैं, वे उत्कंठित होकर राजकीय कार्य शीघ्र सिद्ध करते हैं ॥१॥''

---

१. तथा च गुरुः–स्वमण्डले परे चैव कार्याकार्यं च यद्भवेत्। चरैः पश्यन्ति यद्भूपा सुदूरमपि संस्थिताः ॥१॥

२. तथा च भागुरिः–अनालस्यमलौल्यं च सत्यवाद्वित्वमेव च। ऊहकत्वं भवेद्येषां ते चराः कार्यसाधकाः ॥१॥

३. तथा च गौतमः–स्वामितुष्ठि प्रदानं ये प्राप्नुवन्ति। समुत्सुकाः। ते तस्कार्याणि सर्वाणि चराः सिद्धिं नयन्ति च ॥१॥

गुप्तचर के वचनों पर विश्वास, गुप्तचर-रहित की हानि व उसका दृष्टांत द्वारा समर्थन क्रमशः-

असति संकेते त्रयाणामेकवाक्ये संप्रत्ययः[१] ॥५॥

अनवसर्पो हि राजा स्वैः परैश्चातिसन्धीयते ॥६॥

किमस्त्ययामिकस्य निशि कुशलम् ॥७॥

अर्थ—यदि राजा को गुप्तचर द्वारा कही हुई बातों में भ्रम या सन्देह उत्पन्न हो जावे, तो तीन गुप्तचरों की कही हुई एक सी बात मिलने पर उसे प्रमाण माननी चाहिए ॥५॥

भागुरि[२] विद्वान् ने कहा है कि ''जब गुप्तचरों के वाक्य निश्चित (विश्वास के योग्य) न हों, तब राजा को तीन गुप्तचरों की कही हुई एक सी बात सत्य मान लेनी चाहिए ॥१॥''

निश्चय से जिस राजा के यहां गुप्तचर नहीं होते उस पर स्वदेश और परदेश सम्बन्धी शत्रुओं द्वारा आक्रमण किया जाता है, अतः विजीगीषु को स्वदेश-परदेश में गुप्तचर भेजना चाहिए ॥६॥

चारायण[३] विद्वान् ने भी कहा है कि ''राजाओं को वैद्य, ज्योतिषी, विद्वान्, स्त्री, सपेरा और शराबी आदि विविध गुप्तचरों द्वारा अपनी तथा शत्रुओं की सैन्य शक्ति जाननी चाहिए ॥१॥''

क्या द्वारपाल के बिना धनाढ्य पुरुष का रात्रि में कल्याण हो सकता है ? नहीं हो सकता। उसी प्रकार गुप्तचरों के बिना राजाओं का कल्याण नहीं हो सकता ॥७॥

वर्ग[४] विद्वान् ने कहा है कि ''जिस प्रकार रात्रि में द्वारपाल के बिना धनाढ्य का कल्याण नहीं होता, उसी प्रकार चतुर गुप्तचरों के बिना राजा का भी कल्याण नहीं हो सकता ॥१॥''

गुप्तचरों के भेद और उनके लक्षण-

छात्र[५]कापटिकोदास्थित-गृहपति-वैदेहिक-तापस-किरात[६] यमपट्टिकाहि-तुण्डिकशौण्डिक-शौभिक-पाटच्चर-विट-विदूषक-पीठमर्द्द-नर्त्तक-गायन-वादक-वाग्जीवन-गणक शाकुनिक-भिषगैन्द्रजालिक-नैमित्तिक-सूदारालिक-

---

१. असति संकेते त्रयाणामेकवाक्ये युगपत् सम्प्रत्ययः'' इस प्रकार मू. प्रतियों में पाठान्तर है, किन्तु अर्थ-भेद नहीं। नोट-उक्त सूत्र का यह अभिप्राय भी है कि जब राजा परिचित स्थान में संकेत-शक्तिग्रह करके गुप्तचर भेजे, तो उसकी कही हुई बात प्रमाण मान लेनी चाहिए परन्तु जहां बिना संकेत किये ही भेजे, ऐसे अवसर पर पारितोषिक-लोभ से गुप्तचर मिथ्याभाषण भी कर सकता है, इसलिए वहाँ तीनों की एक-सी बात मिलने पर उस पर विश्वास कर लेना चाहिए। —सम्पादक

२. तथा वि भागुरिः-असंकेतेन चाराणां यदा वाक्यं प्रतिष्ठितम्। त्रयाणामपि तत्सत्यं विज्ञेयं पृथ्वीभुजा ॥१॥

३. तथा च चारायणः-वैद्यसंवत्सराचार्यैश्चारैर्ज्ञेयं निजं वलम्। वामाहिरण्डिकोन्मत्तैः परेषामपि भूभुजाम् ॥१॥

४. तथा च वर्गः-यथा प्राहरिकैर्बाह्यं रात्रौ क्षेमं न जायते। चारैर्विना न भूपस्य तथा ज्ञेयं विचक्षणैः ॥१॥

५. मू. प्रतियों में 'छात्र' पद नहीं है।

६. इसके पश्चात् ''मू. प्रतियों में आक्षिशालिक'' पद है, जिसका अर्थ-द्यूत-क्रीड़ा में निपुण गुप्तचर है।

संवादक-तीक्ष्ण[1] क्रूर-जड़-मूकबधिरान्धछद्मावस्थायियायिभेदेनावसर्पवर्गः॥८॥

परमर्मज्ञः प्रगल्भश्छात्रः ॥९॥

यं कमपि समयमास्थाय प्रतिपन्नछात्रवेषकः कापाटिकः ॥१०॥

प्रभूतान्तेवासी प्रज्ञातिशययुक्तो राज्ञा परिकल्पितवृत्तिरुदास्थितः ॥११॥

गृहपतिवैदेहिकौ ग्रामकूटश्रेष्ठिनौ ॥१२॥

वाह्यव्रतविद्याभ्यां लोकदम्भहेतुस्तापसः ॥१३॥

अल्पाखिलशरीरावयवः किरातः ॥१४॥

यमपट्टिको गलत्रोटिकः प्रतिगृहं चित्रपटदर्शी वा ॥१५॥

अहितुण्डिकः सर्पक्रीड़ाप्रसरः ॥१६॥

शौण्डिकः कल्यपालः ॥१७॥

शौभिकः क्षपायां पटावरणेन रूपदर्शी ॥१८॥

पाटच्चरश्चौरो बन्दीकारो वा ॥१९॥

व्यसनिनां प्रेषणानुजीवो विटः ॥२०॥

सर्वेषां प्रहसनपात्रं विदूषकः ॥२१॥

कामशास्त्राचार्यः पीठमर्द्दः ॥२२॥

गीताङ्गपटप्रावरणेन नृत्यवृत्त्याजीवी नर्तको नाटकाभिनयरङ्गनर्त्तको वा ॥२३॥

रूपाजीवावृत्त्युपदेष्टा गायकः ॥२४॥

गीतप्रबन्धगतिविशेषवादकचतुर्विधातोद्यप्रचारकुशलो वादकः ॥२५॥

वाग्जीवी वैतालिकः सूतो वा ॥२६॥

गणकः संख्याविद्दैवज्ञो वा ॥२७॥

शाकुनिकः शकुनवक्ता ॥२८॥

भिषगायुर्वेदविद्वैद्यः शस्त्रकर्मविच्च ॥२९॥

ऐन्द्रजालिकतन्त्रयुक्त्या मनोविस्मयकरो मायावी वा ॥३०॥

---

१. इसके पश्चात् मू. प्रतियों में 'रसद' पाठ है जिसका अर्थ–आलसी गुप्तचर है।

नैमित्ति को लक्ष्यवेधी दैवज्ञो वा ॥३१॥

महासाहसिकः सूदः॥ ३२॥

विचित्रभक्ष्यप्रणेता आरालिकः ॥३३॥

अङ्गमर्दनकलाकुशलो भारवाहको वा संवाहकः। ३४॥

द्रव्यहेतोः कृच्छ्रेण कर्मणा यो जीवितविक्रयी स तीक्ष्णोऽसहनो वा ॥३५॥

बन्धुस्नेहरहिताः क्रूराः ॥३६॥

अलसाश्च रसदाः॥ ३७॥

जड़-मूक-बाधिरान्धाः प्रसिद्धाः॥ ३८॥

अर्थ—गुप्तचरों (खुफिया पुलिस) के निम्न प्रकार ३४ भेद हैं, उनमें कुछ अवस्थायी (जिन्हें राजा अपने ही देश में मंत्री व पुरोहित-आदि की जाँच के लिए नियुक्त करता है) और कुछ स्थायी (जिन्हें शत्रुराजा के देश में भेजा जाता है) होते हैं। छात्र, कापटिक, उदास्थित, गृहपति, वैदेहिक, तापस, किरात, यमपहिक, अहितुण्डिक, शौण्डिक, शौभिक, पाटच्चर, विट, विदूषक, पीठमर्द्द, नर्त्तक, गायन, वादक, वाग्जीवन, गणक, शाकुनिक, भिषग्, ऐन्द्रजालिक, नैमित्तिक, सूद, आरालिक, संवादक, तीक्ष्ण, क्रूड़, रसद, जड़, मूक, बधिर और अन्ध ॥८॥

दूसरों के गुप्त रहस्य का ज्ञाता व प्रतिभाशाली गुप्तचर को 'छात्र' कहते हैं ॥९॥ किसी भी शास्त्र को पढ़कर छात्र-वेश में रहने वाले गुप्तचर को 'कापटिक' कहते हैं ॥१०॥ बहुत-सी शिष्य-मण्डली सहित, तीक्ष्ण बुद्धि-युक्त (विद्वान्) और जिसकी जीविका राजा द्वारा निश्चित की गई है, ऐसे गुप्तचर को 'उदास्थित' कहते हैं ॥११॥ कृषक-वेश में रहने वाला 'गृहपति' और सेठ के वेष में रहने वाला गुप्तचर 'वैदेहिक' कहा जाता है ॥१२॥ कपट-युक्त (बनावटी) व्रत विद्या द्वारा ठगने वाले और सन्यासी-वेशधारी गुप्तचर को 'तापस' कहा है ॥१३॥ जिसके समस्त शरीर के अङ्गोपाङ्ग (हस्तपादादि) कद में छोटे हों, उस (बोने) गुप्तचर को 'किरात' कहते हैं ॥१४॥ प्रत्येक गृह में जाकर चित्रपटवस्त्र में उकारी हुई तस्वीर-दिखाने वाला अथवा गला फाड़कर चिल्लाने वाला (कोटपाल-वेषी) गुप्तचर 'यमपट्टिक' है ॥१५॥ सर्प-क्रीड़ा में चतुर-सपेरे के वेष में वर्तमान-गुप्तचर 'अहितुण्डिक' कहा गया है ॥१६॥ शराब बेचने वाले के वेष में वर्तमान गुप्तचर को 'शौण्डिक' कहा है ॥१७॥ जो गुप्तचर रात्रि में नाट्य-भूमि में पर्दा लगाकर नाटक का पात्र बनकर अनेक रूप प्रदर्शन करता है, उसे 'शौभिक' कहते हैं ॥१८॥ चोर अथवा कैदी के वेष में वर्तमान गुप्तचर को 'पाटच्चर' कहते हैं ॥१९॥ जो गुप्तचर व्यभिचार-आदि व्यसनों में प्रवृत्ति करने वाले व्यभिचारियों आदि को वेश्या-आदि के यहाँ भेजकर अपनी जीविका करता हुआ राजकीय प्रयोजन-सिद्धि करता है उसे

'विट' कहते हैं ॥२०॥ सभी दर्शकों या श्रोताओं को हँसाने की कला में प्रवीण गुप्तचर ''विदूषक'' है ॥२१॥ कामशास्त्र (वात्स्यायनकामसूत्र-आदि) के विद्वान् गुप्तचर को 'पीठमर्द्द' कहते हैं ॥२२॥ जो गुप्तचर कमनीय व स्त्रीवेष-प्रदर्शक वस्त्र-साड़ी-जम्फर-आदि पहनकर नाचने की जीविका करता हो अथवा नाटक की रङ्गभूमि में सुन्दर वेष-भूषा से अलंकृत होकर भाव प्रदर्शन पूर्वक नृत्य करने वाला हो उसे 'नर्तक' कहते हैं ॥२३॥ जो वेश्याओं की जीविका-पुरुष-वशीकरण द्वारा धन-निष्कासन व संगीतकला-आदि का उपदेश देने वाला हो,उसे 'गायक' कहते हैं ॥२४॥ गीत सम्बन्धी प्रबन्धों को गतिविशेषों को बजाने वाला और चारों प्रकार के-तत, अवनद्ध, घन व सुषिर (मृदङ्ग-आदि) वाद्य बजाने की कला में प्रवीण गुप्तचर को 'वादक' कहते हैं ॥२५॥ जो स्तुति पाठक या बन्दी बनकर राजकीय प्रयोजन सिद्धि करता है, उसे 'वाग्जीवी' कहते हैं ॥२६॥ गणित शास्त्र का वेत्ता अथवा ज्योतिष विद्या के विद्वान् गुप्तचर को 'गणक' कहते हैं ॥२७॥ शुभ-अशुभ लक्षणों से शुभाशुभ फल बताने वाले को 'शाकुनिक' कहते हैं ॥२८॥ अष्टाङ्ग आयुर्वेद का ज्ञाता व शस्त्रचिकित्सा-प्रवीण गुप्तचर को 'भिषक्' कहते हैं ॥२९॥

जो तन्त्रशास्त्र में कही हुई युक्तियों द्वारा मन को आश्चर्य उत्पन्न करने वाला हो अथवा मायाचारी हो उसे 'ऐन्द्रजालिक' कहते हैं ॥३०॥ निशाना मारने में प्रवीण-धनुर्धारी अथवा निमित्तशास्त्र के विद्वान् गुप्तचर को 'नैमित्तिक' कहते हैं ॥३१॥ पाक-विद्या-प्रवीण गुप्तचर को 'सूद' कहते हैं॥ ३२॥ नाना प्रकार की भोज्यसामग्री बनाने वाले गुप्तचर को 'आरालिक' कहते हैं ॥३३॥ हाथ-पैर आदि अंगों के दाबने की कला में निपुण या भार ढोने वाले(कुली के भेष में रहने वाले)गुप्तचर को 'संवाहक' कहते हैं ॥३४॥ जो गुप्तचर धन-लोभ से अत्यंत कठिन कार्यों से अपनी जीविका करते हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी अपने जीवन को भी खतरे में डालते हों। उदाहरणार्थ-ये लोग धन-लोभ से कभी-कभी हाथी और शेर का भी मुकाबला करने में तत्पर हो जाते हैं, इन्हें अपनी जान तक का खतरा नहीं रहता ऐसे तथा सहनशीलता न रखने वाले गुप्तचरों को तीक्ष्ण' कहा गया है ॥३५॥ जो गुप्तचर अपने बंधुजनों से प्रेम नहीं करता, उसे 'कर' कहते हैं ॥३६॥ कर्त्तव्य पालन में उत्साह न रखने वाले आलसी गुप्तचरों को 'रसद' कहते हैं ॥३७॥ मूर्ख को 'जड़' गूंगे को 'मूक' बहिरे को 'बधिर' और अंधे को 'अंध' कहते हैं परन्तु ये स्वभाव से मूर्ख, गूंगे बहरे और अन्धे नहीं होते, किन्तु कपट से अपनी प्रयोजन-सिद्धि के लिए होते हैं ॥३८॥

शुक्र[1] विद्वान् ने भी कहा है कि जिस राजा के यहां स्वदेश में 'स्थायी' और शत्रु देश में 'यायी' गुप्तचर घूमते रहते हैं, उसके राज्य की वृद्धि होती है ॥१॥

॥ इति चार-समुद्देशः ॥

---

१. तथा च शुक्रः-स्थायिनो यायिनश्चारा यस्य सर्पन्ति भूपतेः। स्वपक्षे परपक्षे वा तस्य राज्यं विवर्द्धते ॥१॥

(१५) विचार-समुद्देशः

विचार पूर्वक कर्त्तव्य-प्रवृत्ति, विचार-प्रत्यक्ष का लक्षण व ज्ञानमात्र से प्रवृत्ति-निवृत्ति क्रमशः-

नाविचार्य कार्यं किमपि कुर्यात् ॥१॥

प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथावस्थितवस्तुव्यवस्थापनहेतुर्विचारः॥२॥

स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षम् ॥३॥

न ज्ञानमात्रत्वात् प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा ॥४॥

स्वयं दृष्टेऽपि मतिर्विमुह्यति संशेते विपर्यस्यति वा किं पुनर्न परोपदिष्टे वस्तुनि॥५॥

अर्थ—नैतिक पुरुष बिना विचारे-बिना सोचे-समझे (प्रत्यक्ष, प्रामाणिक पुरुषों के वचन व युक्ति द्वारा निर्णय किये बिना) कोई भी कार्य न करे ॥१॥

जैमिनि[1] विद्वान् ने कहा है कि-''प्रजा द्वारा प्रतिष्ठा चाहने वाला राजा सूक्ष्म कार्य भी बिना विचारे न करे ॥१॥

सत्य-यथार्थ (जैसी की तैसी) वस्तु को प्रतिष्ठा (निर्णय) प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम इन तीन प्रमाणों से होती है, न कि केवल एक प्रमाण से। इसलिए उक्त प्रत्यक्षादि तीनों प्रमाण द्वारा जो सत्य वस्तु की प्रतिष्ठा का कारण है उसे 'विचार' कहते हैं ॥२॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी कहा है कि-''प्रत्यक्षदर्शी, दार्शनिक व प्रामाणिक पुरुषों द्वारा किया हुआ विचार प्रतिष्ठित-सत्य व मान्य होता है, अतः प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम प्रमाण द्वारा किये हुए निर्णय को यथार्थ 'विचार' कहते हैं ॥१॥

चक्षु-आदि इन्द्रियों द्वारा स्वयं देखने व जानने को 'प्रत्यक्ष' कहा है ॥३॥ बुद्धिमान विचारक पुरुषों को हितकारक पदार्थों में प्रवृत्ति और अहितकारक पदार्थों से निवृत्ति सिर्फ ज्ञानमात्र से नहीं करनी चाहिए। उदाहरण में जैसे किसी मनुष्य ने मृगतृष्णा-सूर्य-रश्मियों से व्याप्त बालुका पुञ्ज में

१. तथा च जैमिनिः-
अपि स्वल्पतरं कार्यं नाविचार्य समाचरेत्। यदीच्छेत् सर्वलोकस्य शंसां राजा विशेषतः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः-
दृष्टानुमानागमज्ञैर्यो विचारः प्रतिष्ठितः। स विचारोऽपि विज्ञेयस्त्रिभिरेतैश्च यः कृतः ॥१॥

जल मान लिया पश्चात् उसे उस भ्रान्त विचार को दूर करने के लिए अनुमान प्रमाण से यथार्थ निर्णय करना चाहिए कि क्या मरुस्थल में ग्रीष्मऋतु में जल हो सकता है ? नहीं हो सकता। पश्चात् उसे किसी विश्वासी पुरुष से पूछना चाहिए कि क्या वहाँ जल है ? पश्चात् उसके मनाई करने पर वहाँ से निवृत्त होना चाहिए। सारांश यह है कि विचारक व्यक्ति सिर्फ ज्ञान मात्र से किसी भी पदार्थ में प्रवृत्ति या निवृत्ति न करे॥ ४॥

गुरु[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''बुद्धिमान पुरुष को सिर्फ देखने मात्र से किसी पदार्थ में प्रवृत्ति या उस से निवृत्ति नहीं करनी चाहिए, जब तक कि उसने अनुमान और विश्वासी शिष्ट पुरुषों द्वारा वस्तु का यथार्थ निर्णय न कर लिया हो ॥१॥''

क्योंकि जब स्वयं प्रत्यक्ष किये हुए पदार्थ में बुद्धि को मोह-अज्ञान, संशय और भ्रम होता है, तब क्या दूसरों के द्वारा कहे हुए पदार्थ में अज्ञान आदि नहीं होते ? अवश्य होते हैं ॥५॥

गुरु[2] विद्वान् ने भी उक्त बात की पुष्टि की है ''क्योंकि स्वयं देखी और सुनी हुई वस्तु में मोह-अज्ञान व संशय हो जाता है, इसलिए सिर्फ एक ही बुद्धि से पदार्थ का निश्चय नहीं करना चाहिए ॥१॥''

विचारज्ञ-लक्षण, बिना विचारे कार्य करने से हानि व राज्य-प्राप्ति के चिह्न क्रमशः-

स खलु विचारज्ञो यः प्रत्यक्षेणोपलब्धमपि साधु परीक्ष्यानुतिष्ठति ॥६॥

अतिरभसात् कृतानि कार्याणि किं नामानर्थं न जनयन्ति ॥७॥

अविचार्य कृते कर्मणि यत् पश्चात् प्रतिविधानं गतोदके सेतुबन्धनमिव॥८॥

आकारः शौर्यमायतिर्विनयश्च राजपुत्राणां भाविनो राज्यस्य लिङ्गानि॥९॥

अर्थ—जो मनुष्य प्रत्यक्ष द्वारा जानी हुई वस्तु को भी अच्छी तरह परीक्षा-संशय, भ्रम व अज्ञान रहित निश्चय-करके उसमें प्रवृत्ति करता है, उसे निश्चय से विचारज्ञ-विचारशास्त्र का वेत्ता कहते हैं ॥६॥

ऋषिपुत्रक[3] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो व्यक्ति स्वयं देखी हुई वस्तु की अच्छी तरह जाँच किये बिना उसका निश्चय नहीं करता-जाँच पूर्वक ही निर्णय करता है, उसे 'विचारज्ञ' जानना

---

१. तथा च गुरुः-
दृष्टमात्रान्न कर्त्तव्यं गमनं वा निवर्तनम्। अनुमानेन नो यावदिष्टवाक्येन भाषितम् ॥१॥

२. तथा च गुरुः-
मोहो वा संशयो वाथ दृष्टश्रुतविपर्ययः। यतः संजायते तस्मात् तामेकां न विभावयेत् ॥१॥

३. तथा च ऋषिपुत्रकः-
विचारज्ञः स विज्ञेयः स्वयं दृष्टेऽपि वस्तुनि। तावन्नो निश्चयं कुर्याद् यावन्नो साधु वीक्षितम्१

चाहिए ॥१॥''

बिना विचारे-अत्यन्त उतावली से किये हुए कार्य लोक में कौन-कौन से अनर्थ-हानि (इष्ट प्रयोजन क्षति उत्पन्न नहीं करते ? सभी प्रकार के अनर्थ उत्पन्न करते हैं ॥७॥

भागुरि[1] विद्वान् ने कहा है कि ''विद्वान् सार्थक या निरर्थक कार्य करते समय सब से पहले उसका परिणाम-फल प्रयत्न से निश्चय कर लेना चाहिए। क्योंकि बिना विचार पूर्वक अत्यन्त उतावली से किये हुए कार्यों का फल चारों तरफ से विपत्ति-युक्त होने से हृदय को संतापित करने वाला और कीले के समान चुभने वाला होता है ॥१॥''

जो मनुष्य बिना विचारे उतावली में आकर कार्य कर बैठता है और पश्चात् उसका प्रतीकार (इलाज-अनर्थ दूर करने का उपाय) करता है, उसका वह प्रतीकार उपयोगी जल-प्रवाह के निकल जाने पर पश्चात् उसको रोकने के लिए पुल था बंधान बाँधने के सदृश निरर्थक होता हैं, इसलिए नैतिक पुरुष को समस्त कार्य विचार पूर्वक ही करना चाहिए ॥८॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी कहा है कि जो मनुष्य समस्त कार्य करने के पूर्व उन का प्रतीकार-अनर्थ परिहार नहीं सोचता और पश्चात् सोचता है, उसका ऐसा करना पानी का प्रवाह निकल जाने पर पश्चात् बंधान बांधने के समान निरर्थक होता है ॥१॥''

शारीरिक मनोज्ञ आकृति, पराक्रम, राजनैतिक-ज्ञान-सम्पत्ति, प्रभाव (सैन्य व कोश शक्तिरूप तेज) और नम्रता, राजकुमारों में वर्तमान ये सद्गुण उन्हें भविष्य में प्राप्त होने वाली राज्यश्री के अनुमापक चिह्न हैं ॥९॥

राजपुत्र[3] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जिन राज-पुत्रों में शारीरिक सौन्दर्य, वीरता, राजनैतिक ज्ञान, सैनिक व कोश सम्बन्धी वृद्धि और विनयशीलता ये गुण पाये जावें, तो वे भविष्य में राजा होते हैं ॥१॥''

अनुमान का लक्षण व फल, भवितव्यता-प्रदर्शक चिह्न तथा बुद्धि-प्रभाव क्रमशः-

कर्मसु कृतेनाकृतावेक्षणमनुमानम् ॥१०॥

संभावितैकदेशो नियुक्तं विद्यात् ॥११॥

---

१. तथा च भागुरिः-
सगुणमविगुणं वा कुर्वता कार्यमादौ, परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः-
सर्वेषामपि कार्याणां यो विधानं न चिन्तयेत्। पूर्वं पश्चाद् भवेद् व्यर्थं सेतुर्नष्टे यथोदके ॥१॥

३. तथा च राजपुत्रः-
आकारो विक्रमो बुद्धिर्विस्तारो नम्रता तथा। वालानामपि येषां स्युस्ते स्र्युभूपा नृपात्मजाः ॥१॥

प्रकृतेर्विकृतिदर्शनं हि प्राणिनां भविष्यतः शुभाशुभस्य चापि लिङ्गम् ॥१२॥

य एकस्मिन् कर्मणि दृष्टबुद्धिः पुरुषकारः स कथं कर्मान्तरेषु न समर्थः ॥१३॥

अर्थ—बहुत कार्यों में से किये हुए कार्य द्वारा बिना किये हुए कार्य का बुद्धि से निश्चय करना 'अनुमान' है। सारांश यह है कि किसी से की हुई एकदेश कार्य-सिद्धि द्वारा उस में पूर्ण कार्य-सिद्धि की सामर्थ्य का निश्चय करना अनुमान है। क्योंकि जो मनुष्य एकदेश कार्य-सिद्धि करने में कुशल होता है, उसे अनुमान प्रमाण द्वारा पूर्ण कार्य-सिद्धि में समर्थ जान लेना चाहिए ॥१०-११॥

प्रकृति (शुभ-अशुभ स्वभाव) से विकृति (विकारयुक्त-बदलना) दिखाई देना प्राणियों के भविष्यकालीन अच्छी-बुरी होनहार का ज्ञापक चिह्न है। सारांश यह है कि जब कोई पुरुष नैतिकमार्ग-सदाचार से अनीति-दुराचार में प्रवृत्त हुआ दिखाई दे तो समझ लेना चाहिए कि इस की होनहार बुरी है। इसी प्रकार जब कोई मनुष्य सत्सङ्ग-आदि द्वारा अनीति से नीति में प्रवृत्त हुआ प्रतीत हो तो उसकी होनहार अच्छी समझनी चाहिए ॥१२॥

नारद[१] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जब मनुष्यों का शुभभाव पाप में प्रवृत्ति करने लगता है, तब उनका अनिष्ट (बुरा) होता है और जब उन का अशुभ भाव शुभ में प्रवृत्ति करने लगता है तब उन का कल्याण होता है ॥१॥''

जो मनुष्य अपनी बुद्धि और पौरुष (उद्योग) एक कार्य सिद्धि करने में सफल कर चुका है, वह दूसरे कार्य सिद्ध करने में क्यों नहीं समर्थ हो सकता ? अवश्य हो सकता है। अर्थात् संभव है कि बुद्धिमान पुरुष किसी दूसरे अपरिचित कार्य में कुशल न भी हो तथापि वह अपनी बुद्धि के प्रभाव से उस कार्य को सफल कर सकता है ॥१३॥

जैमिनि[२] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जिसकी बुद्धि और पौरुष एक कार्य में सफल देखे जा चुके हैं, उसे उसी अनुमान प्रमाण से दूसरा कार्य सिद्ध करने में भी समर्थ जानना चाहिए ॥१॥ ''

आगम और आप्त का लक्षण, निरर्थक वाणी, वचनों की महत्ता, कृपण-धन की कड़ी आलोचना और जनसाधारण की प्रवृत्ति क्रमशः—

आप्तपुरुषोपदेश आगमः ॥१४॥

यथानुभूतानुमितश्रुतार्थाविसंवादिवचनः पुमानाप्तः ॥१५॥

सा वागुक्ताऽप्यनुक्तसमा, यत्र नास्ति सद्युक्तिः ॥१६॥

---

१. तथा च नारदः—
शुभभावो मनुष्याणां यदा पापे प्रवर्तते। पापो वाथ शुभे तस्य तदा अनिष्टं शुभं भवेत् ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः—
पूर्वं यस्य मतिर्दृष्टा पुरुषार्थोऽपरस्तथा। पश्चात्तेनानुमानेन तस्य ज्ञेया समर्थता ॥१॥

वक्तुर्गुणगौरवाद्वचनगौरवम् ॥१७॥

किं मितंपचेषु धनेन चाण्डालसरसि वा जलेन यत्र सतामनुपभोगः ॥१८॥

लोको गतानुगति को यतः सदुपदेशिनीमपि कुद्दिनीं तथा न प्रमाणयति यथा गोघ्नमपि ब्राह्मणम् ॥१९॥

अर्थ—आप्त (वीतराग, सर्वज्ञ व हितोपदेशी तीर्थंकर प्रभु अथवा आगमानुकूल सत्यवक्ता शिष्टपुरुष) के उपदेश को 'आगम' कहते हैं ॥१४॥

जो अनुभव, अनुमान एवं आगम प्रमाण द्वारा निश्चित किये हुए पदार्थों को तदनुकूल-विरोधशून्य-वचनों द्वारा निरूपण करता है, उस यथार्थ वक्ता तीर्थंकर महापुरुष को वा उक्त गुण-सहित प्रामाणिक शिष्ट पुरुष को 'आप्त' कहते हैं ॥१५॥

हारीत[1] विद्वान् ने भी कहा है कि जो पुरुष सत्यवक्ता, लोक-मान्य, आगमानुकूल पदार्थों का निरूपण करने वाला और मिथ्यावादी नहीं है, उसे 'आप्त' कहते हैं ॥१॥''

वक्ता द्वारा कही हुई जिस वाणी में प्रशस्त युक्ति-कहे हुए पदार्थ को समर्थन करने वाले वचन व शोभन-अभिप्राय-नहीं है, वह कही हुई भी बिना कही हुई के समान है ॥१६॥

हारीत[2] विद्वान् ने कहा है कि ''वक्ता की जो वाणी युक्ति-शून्य और श्रोताओं के अल्प या अधिक प्रयोजन को समर्थन करने वाली नहीं है, उसे जंगल में रोने के समान निरर्थक जाननी चाहिए ॥१॥''

वक्ता के गुणों-विद्वत्ता व नैतिक प्रवृत्ति-आदि- में महत्ता होने से उसके कहे हुए वचनों में महत्ता प्रामाणिकता व मान्यता होती है ॥१७॥

रैभ्य[3] विद्वान् ने भी कहा है कि ''यदि वक्ता गुणवान् होता है तो उसके वचन भी गुण-युक्त होते हैं और जो सभा के मध्य निरर्थक प्रलाप करता है उसकी हँसी होती है ॥१॥''

जिस प्रकार चाण्डाल के सरोवर का पानी अधिक मात्रा में होने पर भी शिष्ट पुरुषों के उपयोग में न आने के कारण व्यर्थ है, उसी प्रकार कृपण-धन भी सज्जनों के उपयोग में न आने से व्यर्थ है ॥१८॥

---

१. तथा च हारीतः—
यः पुमान् सत्यवादी स्यात्तथालोकस्य सम्मतः। श्रुतार्थो यस्य नो वाक्यमन्यथाप्तः स उच्यते ॥१॥

२. तथा च हारीतः—
सा वाग्युक्तिपरित्यक्ता कार्यस्वाल्पधिकस्य वा। सा प्रोक्तापि वृथा ज्ञेया त्वरण्यरुदितं यथा ॥१॥

३. तथा च रैभ्यः—
यदि स्याद् गुणसंयुक्तो वक्ता वाक्यं च सद्गुणम्। मूर्खो वा हास्यतां याति सभामध्ये प्रजल्पितम्१

नारद[१] विद्वान् ने कहा है कि ''सज्जनों के उपभोग-शून्य चाण्डाल-तालाब के पानी समान कृपण-धन से क्या लाभ है ? कोई लाभ नहीं ॥१॥''

जनसाधारण एक दूसरे की देखा देखी करते हैं-यदि कोई मनुष्य किसी शुभ-अशुभ मार्ग से जाता है तो उसे देखकर दूसरे लोग भी बिना परीक्षा किये ही उसका अनुकरण करने लगते हैं। क्योंकि यदि वृद्ध वेश्या धर्म का उपदेश देती है तो उसे कोई प्रमाण नहीं मानता और यदि गो-घातक ब्राह्मण धर्म का उपदेश देता है, तो लोग उसकी बात प्रमाण मानते हैं ॥१६॥

गौतम[२] विद्वान् ने भी कहा है कि ''वेश्या धार्मिक होने पर भी यदि धर्मोपदेश देती है तो उसे कोई नहीं पूछता और गोहत्या करने वाला ब्राह्मण यदि धर्म का उपदेश देता है तो उसको सब प्रमाण मानते हैं ॥१॥''

किसी विद्वान्[३] ने भी कहा है कि जनसमूह वास्तविक कर्त्तव्य-मार्ग पर नहीं चलते किन्तु एक दूसरे की देखादेखी करने वाले होते हैं। बालुका-रेत में लिङ्ग का चिह्न बनाने से मेरा (कथा-नायक का) तांबे का बर्तन नष्ट हो गया[४] ॥१॥''

॥ इति विचार-समुद्देशः ॥

---

१. तथा च नारदः–
किं कीनाशधनेनात्र किमन्त्यजतड़ागजम्। सलिलं यद्धि नो भोग्यं साधूनां संप्रजायते ॥१॥

२. तथा च गौतमः–
कुट्टिनी धर्मयुक्तापि यदि स्यादुपदेशिनी। न च तां कोऽपि पृच्छेत जनो गोध्नं द्विजं यथा ॥१॥

३. तथा चोक्तं–
गतानुगति को लोको न लोकः पारमार्थिकः। वालुकालिङ्गमात्रेण गतं मे ताम्रभाजनम् ॥१॥

४. **कथानक–**
कोई दरिद्र ब्राह्मण हाथ में ताम्र-बर्तन लेकर समुद्र तट पर स्नानार्थ गया। उसने उसे चोरी के भय से समुद्र-तट पर खुला न रखकर बालु खोदकर उसके बीच में गाड़ दिया और स्मृति के लिए उसकी रेत के ऊपर लिङ्ग का चिह्न बनाकर स्नान करने चला गया। इसी अवसर पर बहुत से लोग वहाँ स्नान करने के लिए आये व ब्राह्मण रचित हुए बालुका-लिङ्ग को देखकर ''इस पर्व में यही कल्याणकारक है'' ऐसा समझकर उन्होंने वहाँ पर बहुत से बालुकालिङ्ग बना डाले ऐसा होने से वह ब्राह्मण अपने बनाये हुए बालुका-लिङ्ग को न समझ सका; अतएव उसका ताम्रमय बर्तन न मिलने से नष्ट हो गया। निष्कर्ष यह है जनसाधारण परीक्षक नहीं होते किन्तु एक दूसरे को देखादेखी करते हैं। -संगृहीत

(१६) व्यसन-समुद्देशः

व्यसन-लक्षण, भेद, सहज व्यसन-निवृत्ति, शिष्ट-लक्षण व कृत्रिम व्यसनों से निवृत्ति-

व्यस्यति पुरुषं श्रेयसः इति व्यसनम् ॥१॥

व्यसनं द्विविधं सहजमाहार्यं च॥२॥

सहजं व्यसनं धर्माभ्युदयहेतुभिरधर्मजनितमहाप्रत्यवायप्रतिपादनैरुपाख्यानैर्योग-पुरुषैश्च प्रशमं नयेत्॥३॥

परचित्तानुकूल्येन तदभिलषितेषूपायेन विरक्तिजननहेतवो योगपुरुषाः॥४॥

शिष्टजनसंसर्गदुर्जनाऽसंसर्गाभ्यां पुरातनमहापुरुषचरितोत्थिताभिः कथाभिराहार्य व्यसनं प्रतिबध्नीयात्॥५॥

अर्थ—जो दुष्कर्म-द्यूत-क्रीड़ा व मद्यपानादि-मनुष्य को कल्याण-मार्ग से गिराते हैं, उन्हें 'व्यसन' कहते हैं ॥१॥

शुक्र[1] विद्वान् ने कहा है कि "मनुष्य जिस असत्प्रवृत्ति से निरन्तर उत्तमस्थान से जघन्यस्थान को प्राप्त होता है उसे विद्वानों को 'व्यसन' जानना चाहिए ॥ ५॥"

व्यसन दो प्रकार के हैं-१. सहज-स्वाभाविक (जन्म से ही उत्पन्न होने वाले दुःख) २. आहार्य-कुसंग के कारण उत्पन्न होने वाले (मद्यपान-परकलत्र-सेवन-आदि)॥२॥ मनुष्य को स्वाभाविक व्यसनधर्म व स्वर्ग के उत्पादक कल्याण-कारक पदार्थों (विशुद्ध भाव-आदि) के चिंतवन, पापों से उत्पन्न हुए महादोषों का कथन-श्रवण तथा उन दोषों के निरूपक चरित्र-(रावण-दुर्योधन-आदि अशिष्ट पुरुषों के भयंकर चरित्र) श्रवण द्वारा एवं शिष्ट पुरुषों की सङ्गति से नष्ट करना चाहिए ॥३॥

गुरु[2] विद्वान् ने भी कहा है कि "धर्म से सुखी व पाप से दुःखी होने वाले शिष्ट-दुष्ट पुरुषों के चरित्रश्रवण व महापुरुषों के सत्सङ्ग से स्वाभाविक व्यसन नष्ट होते हैं ॥१॥"

जो व्यसनी पुरुष के हृदय-प्रिय बनकर अपने नैतिक उपाय द्वारा उसे उन अभिलषित वस्तुओं

---

१. तथा च शक्रः-उत्तमादधमं स्थानं यदा गच्छति मानवः। तद्वा तद्व्यसनं ज्ञेयं बुधैस्तस्य निरन्तरम् ॥१॥

२. तथा च गुरुः-धर्मेणाभ्युदयो यस्य प्रत्यवायम्त्वधर्मतः। तं श्रुत्वा सहजं याति व्यसनं योगिसङ्गतः ॥१॥

मद्य-पानादि से जिनमें उसे व्यसन (निरन्तर आसक्ति) उत्पन्न हुआ है, विरक्ति उत्पन्न करते हैं-छुड़ा देते हैं-उन्हें योग (शिष्ट) पुरुष कहते हैं ॥४॥

हारीत[१] विद्वान् ने भी शिष्ट पुरुषों का इसी प्रकार लक्षण किया है ॥१॥

बुद्धिमान मनुष्य को शिष्ट पुरुषों की संगति और दुष्टों की कुसंगति के त्याग द्वारा एवं जिन उत्तम कथानकों में प्राचीन महापुरुषों का आदर्श चरित्र-चित्रण किया गया है, उनके पठन-श्रवण द्वारा अपने कृत्रिम-कुसंग-जनित-व्यसनों का नाश कर देना चाहिए॥ ५॥

शुक्र[२] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

निजस्त्री-आसक्ति, मद्य-पान, मृगया (शिकार), द्यूत, पैशुन्य प्रभृति १८ प्रकार के व्यसन-

स्त्रियमतिशयेन भजमानो भवत्यवश्यं तृतीया प्रकृतिः ॥६॥ सौम्यधातुक्षयेण सर्वधातुक्षयः ॥७॥ पानशौण्डश्चित्तविभ्रमान् मातरमपि गच्छति ॥८॥ मृगयासक्तिः स्तेनव्यालद्विषद्दायादानामामिषं पुरुषं करोति ॥९॥ द्यूतासक्तस्य किमप्यकृत्यं नास्ति[३] ॥१०॥ मातर्यपि हि मृतायां दीव्यत्येव हि कितवः ॥११॥ पिशुनः सर्वेषामविश्वासं जनयति ॥१२॥ दिवास्वापः गुप्तव्याधि व्यालानामुत्थापनदण्डः सकलकार्यान्तरायश्च ॥१३॥ न परपरीवादात् परं सर्वविद्वेषणभेषजमस्ति ॥१४॥ तौर्यत्रयासक्तिः प्राणार्थमानैर्वियोजयति[४] ॥१५॥ वृथाट्या नाविधाय कमप्यनर्थं विरमति ॥१६॥ अतीवेर्ष्यालुं स्त्रियो घ्नन्ति त्यजन्ति वा पुरुषम् ॥१७॥ परपरिग्रहाभिगमः कन्यादूषणं वा साहसम् ॥१८॥ यत् साहसं दशमुखदण्डिकाविनाशहेतुः सुप्रसिद्धमेव ॥१९॥ यत्र नाहमस्मीत्यध्यवसायस्तत् साहसम् ॥२०॥ अर्थदूषकः कुबेरोऽपि भवति भिक्षाभाजनम् ॥२१॥ अतिव्ययोऽपात्रव्ययश्चार्थदूषणम् ॥२२॥ हर्षामर्षाभ्यामकारणं तृणाङ्कुरमपि नोपहन्यात्किंपुनर्मर्त्यम् ॥२३॥ श्रूयते किल निष्कारणभूतावमानिनौ वातापिरिल्वलश्च द्वावसुरावगस्त्याशनाद्विनेशतुरिति॥२४॥ यथादोषं कोटिरपि गृहीता न दुःखायते। अन्यायेन पुनस्तृणशलाकापि गृहीता प्रजाः खेदयति॥ २५॥ तरुच्छेदेन फलोपभोगः सकृदेव ॥२६॥ प्रजाविभवो हि स्वामिनोऽद्वितीयो भाण्डागारोऽतो युक्तितस्तमुपभुञ्जीत ॥२७॥

---

१. तथा च हारीतः-परचित्तानुकूल्येन विरक्तिं व्यसनात्मके। जनयन्तीष्टनाशेन ते ज्ञेया योगिनो नराः ॥१॥''

२. तथा च शुक्रः-आहार्यव्यसनं नश्येत् [सत्सङ्गेनाहितासितम्] महापुरुषवृत्तान्तैः श्रुतैश्चैव पुरातनैः ॥१॥ सं.प.

३. 'नास्त्यकृतं द्यूतासक्तस्य' इस प्रकार का मू. प्रतियों में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

४. 'तौर्यत्रिकासक्तिः कं नाम प्राणार्थमानैर्न वियोजयति' इस प्रकार का पाठ मू.प्रतियों में है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

राजपरिगृहीतं तृणमपि काञ्चनीभवति [जायते पूर्वसञ्चितस्याप्यर्थस्यापहाराय[१]] ॥२८॥ वाक्पारुष्यं शस्त्रपातादपि विशिष्यते॥२९॥ जातिवयोवृत्तविद्यादोषाणामनुचितं वचो वाक्पारुष्यम् ॥३०॥ स्त्रियमपत्यं भृत्यं च तथोक्त्या विनयं ग्राहयेद्यथा हृदयप्रविष्टाच्छल्यादिव न ते दुर्मनायन्ते॥ ३१॥ वधः परिक्लेशोऽर्थहरणमक्रमेण दण्डपारुष्यम् ॥३२॥ एकेनापि व्यसनेनोपहतश्चतुरङ्गोऽपि राजा विनश्यति, किं पुनर्नाष्टादशभिः॥३३॥

अर्थ—अपनी स्त्री को अधिक मात्रा में सेवन करने वाला मनुष्य अधिक वीर्य धातु के क्षय हो जाने से असमय में वृद्ध या नपुंसक हो जाता है ॥६॥

धन्वन्तरि[२] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

क्योंकि स्त्री सेवन से पुरुष की शुक्र (वीर्य) धातु क्षय होती है, इससे शरीर में वर्तमान बाकी समस्त छह धातुएँ-रस, रुधिर, मांस, मेद व अस्थि-आदि नष्ट हो जाती हैं। निष्कर्ष यह है कि नैतिक पुरुष को वीर्य रक्षार्थ ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए अथवा अपनी स्त्री को अधिक मात्रा में सेवन का त्याग करना चाहिए ॥७॥

वैद्यक[३] विद्वान् ने भी वीर्य-क्षय से इसी प्रकार हानि बताकर वीर्य रक्षा करने वाले शेर की हाथी से अधिक बलिष्ठता का निरूपण किया है ॥१-२॥

मद्यपी-शराबी-पुरुष मानसिक विकार-वश (नशे में आकर) माता को भी सेवन करने लगता है। अतः ऐसे अनर्थकारक मद्य का त्याग करना श्रेयस्कर है ॥८॥

नारद[४] विद्वान् ने भी इसी प्रकार मद्य-पान के दोष बताकर उसके त्याग करने में प्रवृत्त किया है ॥१॥

शिकार खेलने में आसक्त पुरुष, चोर-डाकू, सिंह-व्याघ्रादि हिंसक जन्तु, शत्रु और कुटुम्बियों द्वारा मार डाला जाता है ॥९॥

भारद्वाज[५] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

---

१. कोष्ठाङ्कित पाठ मू. प्रतियों में नहीं है। इसके पश्चात् ''येन हृदयसन्तापो जायते तद्वचनं वाक्पारुष्यम्'' ऐसा मू. प्रतियों में अधिक पाठान्तर वर्तमान है, जो कि क्रम-प्राप्त एवं उपयुक्त भी है, जिसका अर्थ यह है कि जिस अप्रिय वचन से हृदय संतापित हो उसे 'वाक्पारुष्य' कहते हैं।

२. तथा च धन्वन्तरिः—अकालं जरसा युक्तः पुरुषः स्त्रीनिषेवणात्। अथवा यक्ष्मणा युक्तस्तस्माद् युक्तं निषेवयेत् ॥१॥

३. तथा च वैद्यकः—सौम्यधातुक्षये पुंसां सर्वधातुक्षयो यतः। तस्मात्तं रक्षयेद् यत्नान्मूलोच्छेदं न कारयेत् ॥१॥ सौम्यधातुवलात् सर्वे बलवन्तो हि धातवः। [तं रक्षति यतः सिंहो] लघुस्तुङ्गेन सोऽधिकः॥२॥

४. तथा च नारदः—यदा स्यान्मद्यमत्तस्तु कुलीनोऽपि पुमांस्तदा। मातरं भजते मोहत्तास्माद्युक्तं निषेचयेत् ॥१॥

५. तथा च भारद्वाजः—मृगयाव्यसनोपेतः पुरुषो वधमाप्नुयात्। चौरव्यालारिदायादपार्श्वादेकतमस्य च ॥१॥

जुआरी पुरुष लोक में ऐसा कौन सा अनर्थ (पाप) है जिस में प्रवृत्ति न करता हो; क्योंकि निश्चय से माता के मर जाने पर भी जुआरी पुरुष जुआ खेलता रहता है। सारांश यह है कि जुआरी कर्त्तव्य-बोध से विमुख होकर अनर्थ करता रहता है। अतः जुआ का त्याग ही श्रेयस्कर है ॥१०-११॥

शुक्र[1] विद्वान् ने कहा है कि ''यदि जुआरी मनुष्य प्रेम-वश कभी अपनी प्रिया की ग्रन्थि स्पर्श करता है तब उसकी स्त्री ''कहीं यह मेरी सुन्दर साड़ी अपहरण करके जुए के दाव में न लगा देवे? इस डर से उसे बिल्कुल नहीं चाहती ॥१॥''

चुगलखोर अपने ऊपर सभी पुरुषों का अविश्वास उत्पन्न करता है। अर्थात् वह अपने कपट-पूर्ण बर्ताव (चुगली करने) के कारण लोक में किसी का भी विश्वास-पात्र नहीं रहता ॥१२॥

वसिष्ठ[2] विद्वान् ने भी राजा के समक्ष चुगली करने वाले को सभी का अविश्वास-पात्र कहा है ॥१॥ दिन में शयन शरीर में छिपे हुए अनेक रोगरूपी सर्पों को जगाने का कारण और समस्त कार्य-सिद्धि में बाधक है। निष्कर्ष यह है कि स्वास्थ्य व कार्य-सिद्धि चाहने वाले व्यक्ति को ग्रीष्म-ऋतु को छोड़कर अन्य ऋतुओं में दिन में नहीं सोना चाहिए ॥१३॥

धन्वन्तरि[3] विद्वान् ने भी ग्रीष्म-ऋतु को छोड़कर अन्य ऋतुओं में दिन में सोने वाले के रोग-वृद्धि व मृत्यु होने का निरूपण किया है ॥१॥

लोक में पर-निंदा को छोड़कर सब से द्वेष उत्पन्न कराने वाली कोई औषधि नहीं है। अर्थात् जो मनुष्य पर-निंदा करता है, उससे सभी लोग द्वेष करने लगते हैं। अथवा जो मनुष्य पर-निंदा करता है, उस निंदा-निवृत्ति की निंदा किये जानेवाले पुरुष की प्रशंसा को छोड़कर अन्य कोई अमोघ औषधि नहीं है।

उदाहरणार्थ—जब सोहन, मोहन की निंदा हमारे सामने करता है तब हमें चाहिए कि हम उस समय मोहन की अधिक प्रशंसा करें; ताकि वह उसकी निंदा करना छोड़ दे ॥१४॥

हारीत[4] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

गान-श्रवण, नृत्य-दर्शन व वादित्र-श्रवण में आसक्त हुआ कौन पुरुष अपने प्राण, धन और मानमर्यादा को नष्ट नहीं करता ? अर्थात् सभी नष्ट करते हैं अतः विवेकी को उक्त गान-श्रवण आदि में आसक्त नहीं होना चाहिए ॥१५॥ निरर्थक यहाँ वहाँ घूमने-फिरने वाला व्यक्ति अपूर्व अनर्थ (महान् पाप) किए बिना विश्राम नहीं लेता अर्थात् निष्प्रयोजन फिरने वाला सभी पापों में फँस

---

१. तथा च शुक्रः—सानुरागोऽपि चेन्नीवीं पत्न्याः स्पृशति कर्हिचित्। द्यूतविन्नेच्छते साधुर्वस्त्राहरणशङ्कया ॥१॥

२. तथा च वसिष्ठः—विद्वानपि कुलीनोऽपि राजाग्रे चैव पैशुनम्। यः करोति नरो मूर्खस्तस्य कोऽपि न विश्वसेत् ॥१॥

३. तथा च धन्वन्तरिः—ग्रीष्मकालं परित्यज्य योऽन्यकाले दिवा स्वपेत्। तस्य रोगाः प्रवर्द्धन्ते यैः स याति यमालयम् ॥१॥

४. तथा च हारीतः—क्षयव्याधिपरीतस्य यथा नास्त्यत्र भेषजम्। परीवादप्रयोगस्य स्तुतिं मुक्त्वा न भेषजम् ॥१॥

जाता है, अतः अर्थलाभादि प्रयोजन शून्य फिरने का त्याग करना चाहिए ॥१६॥

भृगु[१] विद्वान् ने भी निरर्थक फिरने वाले के विषय में यही कहा है ॥१॥

जो लोग अपनी स्त्रियों से अत्यंत ईर्ष्या (डाह-द्वेष) करते हैं, उन्हें स्त्रियां छोड़ देती हैं या मार डालती हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति स्त्री से प्रेम का बर्ताव करे ॥१७॥

भृगु[२] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

दूसरों की स्त्रियों का सेवन और कन्याओं को दूषित (सेवन) करना 'साहस' है जिसके द्वारा रावण और दाण्डिक्य को मृत्यु-दण्ड प्राप्त हुआ था यह पुराणों में प्रसिद्ध ही है ॥१८-१९॥

भारद्वाज[३] विद्वान् ने भी परकलत्र-सेवन व कन्या-दूषण को दुःख देने वाला निरूपण किया है ॥१॥

भृगु[४] विद्वान् ने भी 'साहस' का यही लक्षण निर्देश किया है ॥१॥

२० का अर्थ मूल ग्रन्थ में नहीं है।

जो मनुष्य आमदनी से अधिक खर्च व अपात्र-दान करता है, वह कुबेर समान धनाढ्य होने पर भी दरिद्र हो जाता है पुनः साधारण व्यक्ति का दरिद्र होना स्वाभाविक है ॥२१॥

हारीत[५] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

आमदनी से अधिक धन-व्यय करना व अपात्रों को धन-आदि देना अर्थदूषण है ॥२२॥ नैतिक पुरुष अहङ्कार व क्रोधवश निष्प्रयोजन घास का अंकुर भी नष्ट न करे, फिर मनुष्य के विषय में तो कहना ही क्या है। अर्थात् उसका सताना या वध करना महाभयंकर है ॥२३॥

भारद्वाज[६] विद्वान् ने भी निष्कारण कष्ट देने या वध करने के विषय में यही कहा है ॥१॥

वृद्ध-परम्परा से पुराण ग्रन्थों के आधार से सुना जाता है कि निष्प्रयोजन प्रजा को पीड़ित करने वाले 'वातापि' व 'इल्वल' नाम के दो असुर 'अगस्त्य' नाम के संन्यासी द्वारा नष्ट हुए ॥२४॥

यदि राजा द्वारा अपराधी के अपराधानुकूल न्यायोचित जुर्माना आदि करके करोड़ रुपए भी ले लिए गये हों, तो उससे उसे दुःख नहीं होता, परन्तु बिना अपराध के-अन्याय द्वारा तृण-शलाका बराबर दण्ड दिया जाता हो, तो उससे प्रजा पीड़ित होती है ॥२५॥

भागुरि[७] विद्वान् ने अन्याय-पूर्वक द्रव्य हरण के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

---

१. तथा च भृगुः-वृथाटनं नरो योऽत्र कुरुते बुद्धिवर्जितः। अनर्थं प्राप्नुयाद्रौद्रं यस्य चान्तो न लभ्यते ॥१॥

२. तथा भृगुः- ईर्ष्याधिकं त्यजन्तिस्म घ्नन्ति वा पुरुषं स्त्रियः। कुलोद्भूता अपि प्रायः किं पुनः कुकुलोद्भवाः ॥१॥

३ तथा च भारद्वाजः-अन्यभार्यापहारो यस्तथा कन्याप्रदूषणम्। तत् साहसं परिज्ञेयं लोकद्वयभयप्रदम् ॥१॥

४. तथा च भृगुः-अङ्गीकृत्यात्मनो मृत्युं यत् कर्म क्रियते नरैः। तरसाहसं परिज्ञेयं रौद्रकर्मणि निर्भयम् ॥१॥

५. तथा च हारीतः-अतिव्ययं च योऽर्थस्य कुरुते कुत्सितं सदा। दरिद्रयोपहतः स स्याद्धनदोऽपि न किं परः ॥१॥

६. तथा च भारद्वाजः-तृणच्छेदोपि नो कार्यो बिना कार्येण साधुभिः। येन नो सिद्ध्यते किंचित् न [किपुनर्मानुषं महाः]।

७. तथा च भागुरिः-गृहीता नैव दुःखाय कोटिरप्यपराधिनः। अन्यायेन गृहीतं यद्भू भुजा तृणमर्त्तिदम् ॥१॥

जिस प्रकार वृक्ष का मूलोच्छेद करने से उससे फल-प्राप्ति केवल उसी समय एक बार होती है उसी प्रकार जो राजा अन्याय के द्वारा प्रजा का सर्वस्व अपहरण करता है, उसे उसी समय केवल एक बार ही धन मिलता है, भविष्य में नहीं ॥२६॥

बल्लभदेव[1] विद्वान् ने भी प्रजा का सर्वस्व अपहरण करने वाले राजा के विषय में यही कहा है ॥१॥ प्रजा की सम्पत्ति निश्चय से राजा का विशाल खजाना है, इसलिए उसे उसका उपयोग न्याय से करना चाहिए अनुचित उपाय-अपराध-प्रतिकूल आर्थिक दण्ड आदि द्वारा नहीं ॥२७॥

गौतम[2] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो व्यक्ति राजकीय तृण भी चुरा लेता है, उसे उसके बदले में सुवर्ण देना पड़ता है क्योंकि राजकीय साधारण वस्तु की चोरी राज-दण्ड-आदि के कारण पूर्व-संचित समस्त-धन को भी नष्ट कराने में कारण होती है, अतः नैतिक व्यक्ति को राजकीय चोरी-काला बाजार आदि-द्वारा धन संचय करना छोड़ देना चाहिए ॥२८॥ गर्ग[3] विद्वान् ने भी कहा है कि राजकीय अल्प धन का भी अपहरण गृहस्थ के समस्त धन के नाश का कारण है ॥१॥

मर्म-भेदी कर्कश वचन शस्त्र के घाव से भी अधिक कष्टदायक होते हैं। इसलिए मनुष्य को किसी के लिए शस्त्र से चोट पहुँचाना अच्छा है, परन्तु कर्कश- कठोर-वचन बोलना अच्छा नहीं ॥२९॥

विदुर[4] विद्वान् ने भी कहा है कि ''कर्कश वचनरूपी बाण महाभयंकर होते हैं; क्योंकि वे दूसरों के मर्मस्थलों में प्रविष्ट होकर पीड़ा पहुँचाते हैं, जिनसे ताड़ित हुआ व्यक्ति दिन-रात शोकाकुल रहता है ॥१॥ मनुष्य की जाति, आयुष्य, सदाचार, विद्या, व निर्दोषता के अयोग्य-विरुद्ध (विपरीत) वचन कहना वाक्पौरुष्य है, अर्थात् कुलीन को नीचकुल का वयोवृद्ध को बालक, सदाचारी को दुराचारी, विद्वान् को मूर्ख और निर्दोषी को सदोषी कहना वाक्पौरुष्य है ॥३०॥

जैमिनि[5] विद्वान् ने भी वाक्पौरुष्य का यही लक्षण करके उसे त्याग करने को कहा है ॥१॥

नैतिक मनुष्य को अपनी स्त्री, पुत्र व नौकरों को वाक्पौरुष्य-कर्कश वचन का त्यागपूर्वक हित, मित और प्रिय वचन बोलते हुए इस प्रकार विनयशील बनाना चाहिए, जिससे उसे हृदय में चुभे हुए कीले के समान कष्टदायक न होने पावें, किन्तु आनन्ददायक हों ॥३१॥

---

१. तथा च वल्लभदेव-मूलच्छेदे यथा नास्ति तत्फलस्य पुनस्तरोः। सर्वस्वहरणे तद्वन्न नृपस्य तदुद्भवः ॥१॥

२. तथा च गौतमः-प्रजानां विभवो यश्च सोऽपरः कोश एव हि। नृपाणां युक्तितो ग्राह्यः सोऽन्यायेन न कर्हिचित् ॥१॥

३. तथा च गर्गः-यो हरेद्भूपजं वित्तमपि स्वल्पतरं हि यत्। गृहस्थस्यापि विज्ञस्य तन्नाशाय प्रजायते ॥१॥

४. तथा च विदुर-वाक्सायका रौद्रतमा भवन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि। परस्य मर्मस्वापि ते पतन्ति तान् पण्डितो नैव क्षिपेत् परेषु ॥१॥

५. तथा च जैमिनिः-[जातिविद्यासुवृत्ताढ्यान्] निर्दोषान् यस्तु भर्त्सयेद्। तद्गुणैर्वामतां नीतैः पारुष्यं तन्न कारयेत्।

शुक्र[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जिसके कर्कश वचनों द्वारा स्त्री, पुत्र व सेवक पीड़ित रहते हैं, उसे उनके द्वारा लेशमात्र भी सुख नहीं मिलता ॥१॥''

अन्याय से किसी का वध करना, जेलखाने की सजा देना और उसका समस्त धन अपहरण करना या उसकी जीविका नष्ट करना 'दण्डपारुष्य' है ॥३२॥

गुरु[2] विद्वान् ने भी दण्डपारुष्य का यही लक्षण किया है ॥१॥

जो राजा उक्त १८ प्रकार के व्यसनों में से एक भी व्यसन में फँस जाता है, वह चतुरंग सेना (हाथी, घोड़े, रथ और पदाति) से युक्त होता हुआ भी नष्ट हो जाता है, फिर १८ प्रकार के व्यसनों में फँसा हुआ क्या नष्ट नहीं होता? अवश्य नष्ट होता है॥ ३३॥

भावार्थ—इस समुद्देश में आचार्यश्री ने निम्न प्रकार १८ प्रकार के व्यसनों का निर्देश किया है। १. स्त्री-आसक्ति, २. मद्यपान, ३. शिकार खेलना ४. द्यूत-क्रीड़ा, ५. पैशून्य (चुगली करना), ६. दिन में शयन, ७. पर-निन्दा, ८. गीत-श्रवण में आसक्ति, ९. नृत्यदर्शन में आसक्ति, १०. वादित्र-श्रवण में आसक्ति, ११. वृथागमन, १२. ईर्ष्या, १३. साहस (परस्त्री-सेवन व कन्या-दूषण), १४. अर्थदूषण, १५. अकारणवध, १६. द्रव्य-हरण, १७. कर्कशवचन और १८. दण्डपारुष्य। नैतिक व्यक्ति को इनका त्याग करना चाहिए।

॥ इति व्यसन-समुद्देशः॥

१. तथा च शुक्रः—
भार्याभृत्यसुता यस्य वाक्पारुष्यसुदुःखिताः। भवन्ति तस्य नो सौख्यं तेषां पार्श्वात् प्रजायते ॥१॥

२. तथा च गुरुः—
[वधं क्लैशापहारं यः] प्रजानां कुरुते नृपः। अन्यायेन हि तत् प्रोक्तं दण्डपारुष्यमेव च ॥१॥ संशो.

(१७) स्वामी-समुद्देशः

राजा का लक्षण, अमात्य-आदि प्रकृति-स्वरूप, असत्य व धोखा देने से हानि-

धार्मिकः कुलाचाराभिजनविशुद्धः प्रतापवान्नयानुगतवृत्तिश्च स्वामी ॥१॥ कोपप्रसादयोः स्वतन्त्रः॥२॥ आत्मातिशयं धनं वा यस्यास्ति स स्वामी[1]॥३॥ स्वामिमूलाः सर्वाः प्रकृतयोऽभिप्रेतार्थयोजनाय भवन्ति नास्वामिकाः॥४॥ उच्छिन्नमूलेषु तरुषु किं कुर्यात् पुरुषप्रयत्नः॥५॥ असत्यवादिनो नश्यन्ति सर्वे गुणाः॥६॥ वञ्चकेषु न परिजनो नापि चिरायुः ॥७॥

अर्थ—जो धर्मात्मा, कुलाचार व कुलीनता के कारण विशुद्ध, भाग्यशाली, नैतिक, दुष्टों से कुपित व शिष्टों से अनुरक्त होने में स्वाधीन और आत्म-गौरव-युक्त तथा प्रचुर सम्पत्तिशाली हो उसे ''राजा कहते हैं ॥१-३॥

शुक्र[2] गर्ग[3] व गुरु[4] विद्वानों ने भी राजा का इसी प्रकार लक्षण-निर्देश किया है ॥१-३॥

समस्त प्रकृति के लोग (मंत्री-आदि) राजा के कारण से ही अपने अभिलषित अधिकार प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, राजा के बिना नहीं ॥४॥

गर्ग[5] विद्वान् ने भी कहा है कि ''समस्त प्रकृति वर्ग राजा के रहने पर ही अपने अधिकार प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं ॥१॥''

जिन वृक्षों की जड़ें उखड़ चुकी हों, उनसे पुष्प-फलादि की प्राप्ति के लिए किया हुआ प्रयत्न क्या सफल हो सकता है ? नहीं हो सकता, उसी प्रकार राजा के नष्ट हो जाने पर प्रकृति वर्ग द्वारा अपने अधिकार प्राप्ति के लिए किया हुआ प्रयत्न भी निष्फल होता है ॥५॥

भागुरि[6] विद्वान् ने भी राज-शून्य प्रकृति को अभिलषित अधिकार प्राप्त न होने के विषय में

---

१. ''आत्मातिशयजननं वा यस्याति स स्वामी'' इस प्रकार मू. प्रतियों में पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो अन्य से अतिशयवान् हो वह स्वामी है, शेष पूर्ववत्।

२. तथा च शुक्रः-धार्मिको यः कुलाचारैर्विशुद्धः पुण्यवान्नयी। स स्वामी कुरुते राज्यं विशुद्धं राज्यकंटकैः ॥१॥

३. तथा व गर्गः-स्वायत्तः कुरुते यश्च निग्रहानुग्रहौ जने। पापे साधुसमाचारे स स्वामी नेतरः स्मृतः ॥१॥

४. तथा च गुरुः-आत्मा च विद्यते यस्य धनं चा विद्यते बहु। स स्वामी प्रोच्यते लोकैर्नेतरोऽत्र कथंचन ॥१॥

५. तथा च गर्गः-स्वामिना विद्यमानेन स्वाधिकारानवाप्नुयात्। सर्बाः प्रकृतयो नैव बिना तेन समाप्नुयुः ॥१॥

६. तथा च भागुरिः-छिन्नमूलेषु वृक्षेषु यथा नो पल्लवादिकम्। तथा स्वामिविहीनानां प्रकृतीनां न वाञ्छितम् ॥१॥

इसी प्रकार कहा है ॥१॥

झूठ बोलने वाले मनुष्य के सभी गुण (ज्ञान-सदाचार-आदि) नष्ट हो जाते हैं॥ ६॥

रैभ्य[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''मिथ्याभाषी मनुष्यों के कुलीनता, शील व विद्या प्रभृति समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं ॥१॥''

धोखे बाजों के पास न सेवक ठहरते हैं और न वे चिरकाल तक जीवित रह सकते हैं; क्योंकि धोखे बाजों द्वारा सेवकों को वेतन नहीं मिलता, इससे उनके पास सेवक नहीं ठहरते एवं जनसाधारण उनसे द्वेष करते हैं, अतः वे असमय में मार दिये जाते हैं; अतः वे दीर्घजीवी भी नहीं होते अतः शिष्ट पुरुषों को धोखा देना छोड़ देना चाहिए ॥७॥

भागुरि[2] विद्वान् ने भी धोखे बाजों के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

लोक-प्रिय पुरुष, उत्कृष्ट दाता, प्रत्युपकार से लाभ पूर्वक सच्चा परोपकार, प्रत्युपकार-शून्य की कड़ी आलोचना व स्वामी की निरर्थक प्रसन्नता-

स प्रियो लोकानां योऽर्थं ददाति॥ ८॥

स दाता महान् यस्य नास्ति प्रत्याशोपहतं चेतः[3]॥९॥ प्रत्युपकर्तुरुपकारः सवृद्धिकोऽर्थन्यास इव तज्जन्मान्तरेषु च न केषामृणं येषामप्रत्युपकार-मनुभवनम् ॥१०॥ किं तया गवा या न क्षरति क्षीरं न गर्भिणी वा ॥११॥ किं तेन स्वामि-प्रसादेन यो न पूरयत्याशाम् ॥१२॥

अर्थ—जो धन या अभिलषित वस्तु देकर दूसरों की भलाई करता है, वही उदार पुरुष लोगों का प्यारा होता है॥ ८॥

अत्रि[4] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो मनुष्य अपना धन देता है, वह चाण्डाल, पापी, समाज-बहिष्कृत व निर्दयी होने पर भी जनता का प्रेमपात्र होता है ॥१॥''

संसार में वही दाता श्रेष्ठ है, जिसका मन पात्र (याचक) से प्रत्युपकार या धनादिक लाभ की

---

१. तथा च रैभ्यः-कुलशीलोद्भवा ये च गुणा विद्यादयोऽपराः। ते सर्वे नाशमायान्ति ये मिथ्यावचनात्मकाः ॥१॥

२. तथा च भागुरिः-यः पुमान् वंचनासक्तस्तस्य न स्यात् परिग्रहः। न चिरं जीवितं तस्मात् सद्भिस्त्याज्यं द्वि वचनम्

३. इयमुच्चधियामलौकिकी महती कापि कठोरचित्तता (च), यदुपकृत्य भवन्ति निः स्पृहाः परतः प्रत्युपकारभीरवश्च, इस प्रकार का उक्त सूत्र के पश्चात् मू. प्रतियों में अधिक पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि उच्च ज्ञानवान महापुरुषों की ऐसी कोई अलौकिक व श्रेष्ठ प्रकृति (स्वभाव) और दृढ़ चित्त-वृत्ति होती है, जिससे वे दूसरों का उपकार करके उनसे निःस्पृहः-कुछ मतलब न रखने वाले-होते हैं एवं उन्हें इस बात का भय रहता है कि उपकृत पुरुष मेरा कहीं प्रत्युपकार न कर दें।

४. तथा च अत्रिः-अन्त्यजोऽपि च पापोऽपि लोकवाह्योऽपि निर्दयः। लोकानां वल्लभः सोऽत्र यो ददाति निजं धनम् ॥१॥

इच्छा से दूषित नहीं है; क्योंकि प्रत्युपकार की इच्छा से पात्र-दान करना वणिक वृत्ति ही है। सारांश यह है कि आत्महितैषी उदार पुरुष प्रत्युपकार की कामना-शून्य होकर दान धर्म में प्रवृत्ति करे ॥९॥

ऋषिपुत्रक[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो व्यक्ति लोक में दान देकर याचक से धनादि चाहता है, उसका दान व्यर्थ है ॥१॥''

प्रत्युपकार करने वाले का उपकार बढ़ने वाली धरोहर समान है। सारांश यह है कि यद्यपि विश्वासपात्र शिष्ट पुरुष के यहाँ रक्खी हुई धरोहर (सुवर्ण-आदि बढ़ती नहीं है, केवल रखने वाले को जैसी की तैसी वापस मिल जाती है परन्तु प्रत्युपकारी के साथ किया हुआ उपकार (अर्थ-दानादि) उपकारी को विशेष फलदायक होने से-उसके बदले विशेष धनादि-लाभ होने के कारण बढ़ने वाली धरोहर के समान समझना चाहिए; अतः प्रत्युपकारी का उपकार विशेष लाभप्रद है। इसी प्रकार जो लोग बिना प्रत्युपकार किये ही परोपकार का उपभोग करते हैं वे जन्मान्तर में किन उपकारियों दाताओं के ऋणी नहीं होते ? सभी के होते हैं। निष्कर्ष यह है कि शिष्ट पुरुष को कृतज्ञता-प्रकाश-पूर्वक उपकारी का प्रत्युपकार करना चाहिए ॥१०॥

ऋषिपुत्रक[2] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

उस गाय से क्या लाभ है, जो कि दूध नहीं देती और न गर्भवती है ? कोई लाभ नहीं। उसी प्रकार उस मनुष्य के उपकार करने से क्या लाभ है, जो कि वर्तमान या भविष्य में प्रत्युपकार नहीं कर सकता ? कोई लाभ नहीं ॥११॥

उस स्वामी की प्रसन्नता से क्या लाभ है, जो कि सेवकों के न्याय-युक्त मनोरथ पूर्ण नहीं कर सकता ? कोई लाभ नहीं। क्योंकि सेवकों के मनोरथ पूर्ण करना ही स्वामी-प्रसाद का फल है ॥१२॥

दुष्ट-अधिकारी-युक्त राजा, कृतघ्नता, मूर्खता, लोभ, आलस्य से हानि-

क्षुद्रपरिषत्कः सर्पाश्रय इव न कस्यापि सेव्यः ॥१३॥

अकृतज्ञस्य व्यसनेषु न सहन्ते सहायाः ॥१४॥

अविशेषज्ञो विशिष्टैर्नाश्रीयते ॥१५॥

आत्मम्भरिः परित्यज्यते कलत्रेणापि ॥१६॥

अनुत्साहः सर्वव्यसनानामागमनद्वारम् ॥१७॥

अर्थ—जिसकी सभा में अमात्य-आदि प्रकृति दुष्ट होती है, वह राजा सर्प-युक्त गृह समान महाभयंकर होता है, इसलिए वह किसी के द्वारा सेवन करने के योग्य नहीं ॥१३॥

---

१. तथा च ऋषिपुत्रकः-दत्वा दानं पुरुषोत्र तस्माल्लाभं प्रवाञ्छति। प्रगृहीतुः सकाशाच्च तद् दानं व्यर्थतां भवेत् ॥२॥

२. तथा च ऋषिपुत्रकः-उपकारं गृहीत्वा यः प्रकरोति पुनर्नवा। जन्मान्तरेषु तत्तस्य वृद्धिं याति कुसीदवत् ॥१॥

गुरु[१] विद्वान् ने कहा है कि ''यदि राजा हंस समान शुद्ध चित्त व सौम्य प्रकृति-युक्त भी हो, परन्तु यदि वह गृद्ध पक्षियों की तरह दुष्ट और घातक मंत्री आदि सभासदों से युक्त है, तो सर्प-युक्त गृह समान प्रजा द्वारा सेवन करने योग्य नहीं ॥१॥''

जो कृतघ्न है-दूसरों की भलाई को नहीं मानता, उसकी आपत्ति-काल में सेवक लोग सहायता नहीं करते, अतएव प्रत्येक व्यक्ति को कृतज्ञ होना चाहिए ॥१४॥

जैमिनि[२] विद्वान् ने भी कृतघ्न के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

मूर्ख पुरुष शिष्ट पुरुषों द्वारा सेवन नहीं किया जाता ॥१५॥

शुक्र[३] विद्वान् ने कहा है कि ''कांच को मणि और मणि को काँच समझने वाले मूर्ख राजा की जब साधारण मनुष्य भी सेवा नहीं करता, फिर क्या विद्वान् पुरुष उसकी सेवा कर सकता है ? नहीं कर सकता ॥१॥''

कुटुम्ब-आदि के संरक्षण में असमर्थ केवल अपनी उदर-पूर्ति करने वाले अत्यन्त लोभी पुरुष को जब उसकी स्त्री भी छोड़ देती है, फिर दूसरे सेवकों आदि द्वारा छोड़े जाने के विषय में तो कहना ही क्या है। अर्थात् वे तो उसे अवश्य छोड़ देते हैं ॥१६॥

गुरु[४] विद्वान् ने भी आत्मम्भरि-पेटू के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

आलस्य सभी आपत्तियों का द्वार है-आलसी समस्त प्रकार के कष्ट भोगता है ॥१७॥

वादरायण[५] विद्वान् ने भी कहा है कि आलसी को आपत्तियाँ कहीं पर भी किसी प्रकार नहीं छोड़तीं ॥१॥

उद्योग, अन्यायी, स्वेच्छाचारी, ऐश्वर्य-फल व राजाज्ञा-

शौर्यममर्षः शीघ्रकारिता सत्कर्मप्रवीणत्वमुत्साहगुणाः ॥१८॥

अन्यायप्रवृत्तस्य न चिरं सम्पदो भवन्ति ॥१९॥

यत्किञ्चनकारी स्वैः परैर्वाभिहन्यते ॥२०॥

आज्ञाफलमैश्वर्यम् ॥२१॥

राजाज्ञा हि सर्वेषामलंघ्यः प्राकारः ॥२२॥

अर्थ—उत्साही पुरुष में शूरता, दूसरे व्यक्तियों द्वारा अनिष्ट किये जाने पर क्रुद्ध होना, कर्त्तव्य

१. तथा च गुरुः—हंसाचारोऽपि चेद्राजा गृध्राकारैः सभासदैः असेव्यः स्यात् स लोकस्य ससर्प इव संश्रयः ॥१॥
२. तथा च जैमिनिः—अकृतज्ञस्य भूपस्य व्यसने समुपस्थिते। साहाय्यं च करोत्येव कश्चिदाप्तोऽपि मानवः ॥१॥
३. तथा च शुक्रः—काचं मणिं मणिं काचं यो वेत्ति पृथ्वीपतिः। सामान्योऽपि न त सेवेत् किं पुनर्विवुधो जनः ॥१॥
४. तथा च गुरुः—उपार्जितं यो नो दृद्यात् कस्यचिद्भक्षयेत् स्वयम्। आत्मभरिः स विज्ञेयस्त्यज्यते भार्ययापि च ॥१॥
५. तथा च वादरायणः—आलस्योपहतो यस्तु पुरुषः संप्रजायते। व्यसनानि न तं क्वापि संत्यजन्ति कथंचन ॥१॥

शीघ्रता, व प्रशस्त कार्य चतुराई से करना ये गुण होते हैं ॥१८॥

शौकन[1] विद्वान् ने भी उत्साही के उक्त सभी गुण निर्दिष्ट किये हैं ॥१॥

अन्यायी पुरुष की सम्पत्तियां चिरकालीन नहीं होतीं-नष्ट हो जाती हैं ॥१९॥

अत्रि[2] विद्वान् ने भी अन्यायी सम्पत्तियों के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

स्वेच्छाचारी-अपनी इच्छानुकूल प्रवृत्ति करने वाला-आत्मीयजनों अथवा शत्रुओं द्वारा मार दिया जाता है ॥२०॥

अत्रि[3] विद्वान् ने भी कहा है कि ''ज्ञान-वृद्ध पुरुषों से बिना पूछे ही अपनी इच्छानुकूल चलने वाला पुरुष अंकुशहीन (मर्यादा-बाह्य) हुआ अपने कुटुम्बियों या शत्रुओं द्वारा वध कर दिया जाता है ॥१॥''

राजकीय ऐश्वर्य-सैन्य-कोश-शक्ति-प्रजा व प्रकृति (अमात्य-प्रभृति) द्वारा आज्ञा-पालन से हो सफल होता है ॥२१॥

वल्लभदेव[4] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जिसकी आज्ञा सर्व-मान्य हो, वही राजा कहा जाता है, परन्तु जिसकी आज्ञा नहीं मानी जाती ऐसा कोई भी व्यक्ति, केवल अभिषेक, व्यंजन (चमरप्रभृति से हवा किया जाना) और पट्टबंधन आदि चिह्नों से राजा नहीं हो सकता। क्योंकि उक्त अभिषेक आदि कार्य व्रण (फोड़ा) के भी किये जाते हैं अर्थात् व्रण-फोड़े का भी अभिषेक (जल से धोया जाना), व्यंजन (पंखों से हवा किया जाना) व पट्टबंधन (पट्टी बाँधना) होता है ॥१॥

राजकीय आज्ञा समस्त मनुष्यों से उल्लंघन न किये जानेवाले प्राकार (कोट) के समान होती है अर्थात् जिस प्रकार अत्यन्त विशाल व ऊँचा कोट उल्लंघन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार राजकीय आज्ञा भी किसी के द्वारा उल्लंघन नहीं की जाती ॥२२॥

गुरु[5] विद्वान् ने भी राजकीय आज्ञा के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

राज-कर्त्तव्य (अपराधानुरूप दण्ड विधान), आज्ञाहीन राजा की कड़ी आलोचना, सजा के योग्य पुरुष व मनुष्य कर्त्तव्य-दूसरे का गुप्त रहस्य न कहना-

आज्ञाभंगकारिणं पुत्रमपि न सहेत ॥२३॥ कस्तस्य चित्रगतस्य च विशेषो यस्याज्ञा नास्ति ॥२४॥ राजाज्ञावरुद्धस्य तदाज्ञां न भजेत्[6] ॥२५॥

---

१. तथा च शौनकः-शौर्यं कार्यार्थकोपश्च शीघ्रता सर्वकर्मसु। तत्कर्मणः प्रवीणत्वमुत्साहस्य गुणाः स्मृताः ॥१॥

२. तथा च अत्रिः-अन्यायेन प्रवृत्तस्य न चिरं सन्ति सम्पदः। अपि शौर्यसमेतस्य प्रभूतविभवस्य च ॥१॥

३. तथा च अत्रिः-स्वेच्छया वर्तते यस्तु न वृद्धान्त् परिपृच्छति। स परैर्हन्यते नूनमात्मीयैर्वा निरङ्कुशः ॥१॥

४. तथा च वल्लभदेवः- स एव प्रोच्यते राजा यस्याज्ञा सर्वतः स्थिता। अभिषेको व्रणस्यापि व्यजनं पट्टमेव च ॥१॥

५. तथा च गुरुः-अलंघ्यो यो भवेद्राजा प्राकार इव मानवैः। यमादेशमसौ दद्याद् कार्यं एव हि स ध्रुवम् ॥१॥

६. ''राजाज्ञावरुद्धस्य पुनस्तदाज्ञाप्रतिपादनेन उत्तमसाहसो दण्डः। सम्बन्धाभावे तद्वातुश्च'' इस प्रकार का पाठान्तर

परमर्माकार्यमश्रद्धेयं च न भाषेत[१]॥ २६॥

अर्थ—राजा आज्ञा-भंग करने वाले पुत्र पर भी क्षमा न करे-यथोचित दण्ड देवे ॥२३॥

नारद[२] विद्वान् ने कहा है कि ''राजाओं को आज्ञा-भंग होने से बिना शस्त्र के होने वाला वध समान महाकष्ट होता है, इसलिए प्राण-रक्षा के इच्छुक पुरुषों को किसी प्रकार भी राजकीय आज्ञा उल्लंघन न करनी चाहिए ॥१॥

जिसकी आज्ञा प्रजाजनों द्वारा उल्लंघन की जाती है, उसमें और चित्र (फोटो) के राजा में क्या अन्तर है ? कोई अन्तर नहीं। अर्थात् उसे मृत-प्राय समझना चाहिए ॥२४॥

गुरु[३] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जिसे राजकीय आज्ञा से जेलखाने आदि की सजा मिल चुकी है, उस दंडित पुरुष का पक्ष नहीं करना चाहिए। अन्यथा पक्ष करने वाला सजा का पात्र होता है ॥२५॥

भारद्वाज[४] विद्वान् ने भी सजा पाए हुए का पक्ष करने वाले के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

नैतिक पुरुष निरर्थक व विश्वास करने के अयोग्य दूसरे की गुप्त बात न कहे ॥२६॥

भागुरि[५] विद्वान् के उद्धरण से भी यही बात प्रतीत होती है ॥१॥

अज्ञात वेष-आचार, राज-क्रोध व पापी राजा से हानि, राजा द्वारा अपमानित व पूजित पुरुष–

वेषमाचारं वानभिज्ञातं न भजेत्[६] ॥२७॥

विकारिणि प्रभौ को नाम न विरज्यते ॥२८॥

अधर्मपरे राज्ञि को नाम नाधर्मपरः ॥२९॥

राज्ञावज्ञातो यः स सर्वैरवज्ञायते ॥३०॥

मू. प्रतियों में वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि राजकीय आज्ञा से जेलखाने की सजा पाया हुआ अपराधी यदि फिर से आज्ञा उल्लंघन करे तो उसे उत्तम साहसदण्ड (पूर्वापेक्षा विशेष कड़ी सजा) दिया जावे, परन्तु दण्ड देने वाले को उसका अपराध मालूम न होने पर भी व उस पर शङ्का होने से उसे वही उत्तम साहस दण्ड दिया जावे।

१. ''परमर्मस्पर्शकरमश्रद्धेयमसत्यमतिमात्रं च न भाषेत'' इस प्रकार का पाठान्तर मू. प्रतियों में है, जिसका अर्थ यह है कि विवेकी मनुष्य दूसरों के हृदय को चोट पहुँचाने वाले, विश्वास के अयोग्य, अधिक मात्रा-युक्त और झूठे वचन न बोले।

२. तथा च नारदः–आज्ञाभंगो नरेन्द्राणामशस्त्रो वध उच्यते। प्राणार्थिभिर्न कर्त्तव्यस्तस्मात् सोऽत्र कथंचन ॥१॥

३. तथा च गुरुः–यस्याज्ञां नैव कुर्वन्ति भूमौ भूपस्य मानवाः। आलेख्यगः स मन्तव्यो न मनुष्यः कथंचन ॥१॥

४. तथा च भारद्वाजः–विरुद्धो वर्तते यस्तु भूपतेः सहमानवः। तस्याज्ञां कुरुते यस्तु स दण्डोर्हो भवेन्नरः ॥१॥

५. तथा च भागुरिः–परमर्म न वक्तव्यं कायबाह्यं कथंचन। अश्रद्धेयं च विज्ञेयं य इच्छेद्धितमात्मनः ॥१॥

६. ''वेषं समाचारं वाऽनभिजानन्न तं भजेत्'' इस प्रकार मू. प्रतियों में पाठ है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

पूजितं पूजयन्ति लोकाः ॥३१॥

अर्थ—विजिगीषु ऐसे वेष (बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत कमनीय कान्ता-आदि के सुन्दर भेष) व व्यवहार-बर्ताव-पर विश्वास न करे और न उन्हें काम में लावे जो कि अज्ञात-बिना जाने हुए वा आप्त पुरुषों द्वारा बिना परीक्षा किये हुए हों, क्योंकि शत्रु लोग भी नाना प्रकार के छलकपट-पूर्ण वेश्याओं आदि के वेष व मायाचार-युक्त बर्ताव द्वारा विजिगीषु को धोखा देकर भयंकर खतरे में डाल देते हैं ॥२७॥ जिस मनुष्य से राजा कुपित हो गया है, उस पर कौन कुपित नहीं होता है ? सभी कुपित होते हैं ॥२८॥

हारीत[१] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

राजा के पापी होने से कौन पुरुष पाप में प्रवृत्त नहीं होता ? सभी होते हैं ॥२९॥

व्यास[२] विद्वान् ने भी कहा है कि प्रजा राजा का अनुकरण करती है अर्थात् जैसा राजा वैसी प्रजा हो जाती है। वह राजा के धर्मात्मा होने से धर्मात्मा, पापी होने से पापी व दुष्ट होने से दुष्ट हो जाती है ॥१॥''

जो व्यक्ति राजा द्वारा तिरस्कृत-अपमानित किया जाता है, उसका सभी लोग अपमान करने लगते हैं और राज-सम्मानित पुरुष की सभी पूजा करते हैं ॥३०-३१॥

नारद[३] विद्वान् ने भी राजा द्वारा तिरस्कृत व सम्मानित के विषय में यही कहा है ॥१॥

राज-कर्त्तव्य (प्रजा-काय का स्वयं विचार, प्रजा से मिलने से लाभ, न मिलने से हानि) व अधिकारियों की अनुचित जीविका—

प्रजाकार्यं स्वयमेव पश्येत् ॥३२॥ यथावसरमसङ्ग द्वारं कारयेत् ॥३३॥

दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्य विपर्यासमासन्नैः कार्यते द्विषतामतिसन्धानीयश्च भवति ॥३४॥

वैद्येषु श्रीमतां व्याधिवर्द्धनादिव नियोगिषु भर्तृव्यसनादपरो नास्ति जीवनोपाय ॥३५॥

अर्थ—राजा प्रजा कार्य-शिष्टपालन व दुष्टनिग्रह आदि स्वयं ही विचारे व अमात्य आदि के भरोसे पर न छोड़े, अन्यथा रिश्वतखोरी और पक्षपात वगैरह के कारण प्रजा पीड़ित होती है। ३२॥

देवल[४] विद्वान् ने भी प्रजा कार्य को अधिकारियों के भरोसे पर छोड़ देने से प्रजा-पीड़ा-आदि

---

१. तथा च हारीतः—विकारान् कुरुते योऽत्र प्रकृत्या नैव तिष्ठति। प्रभोस्तस्य विरज्येत निजा अपि च बन्धवः ॥१॥

२. तथा च व्यासः—राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः खले खलाः। राजानमनुवर्तेन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥१॥

३. तथा च नारदः—अवज्ञातस्तु यो राज्ञा स विद्वानपि मानवैः। अवज्ञायेत मूर्खोऽपि पूज्यते नृपपूजितः ॥१॥

४. तथा च देवलः—ये स्युर्विचार का राज्ञामुत्कोचां प्राप्य तेऽन्यथा। विचारयन्ति कार्याणि तत् पापं नृपतेर्यतः।

हानि बताई है ॥१॥

राजा मौके-मौके पर अपना राज-द्वार खुला रखे, जिससे प्रजा उसका दर्शन सुलभता से कर सके ॥३३॥

गर्ग[१] विद्वान् ने तो कहा है कि केवल एक मौका छोड़कर बाकी समयों में राजा अपना द्वार सदा सुरक्षित रखे व अवसर आने पर भी प्रजा को अपना दर्शन न देवे तो निश्चय से प्रजा को दर्शन न देने वाले राजा का कार्य अधिकारी वर्ग स्वार्थ-वश बिगाड़ देते हैं और शत्रु लोग भी उससे बगावत करने तत्पर हो जाते हैं, अतः प्रजा को राजकीय दर्शन सरलता से होना चाहिए ॥३४॥

राजपुत्र[२] और गर्ग[३] विद्वान् ने भी क्रमशः कहा है कि जो राजा अपने द्वार पर आए हुए विद्वान् धनाढ्य, दीन (गरीब) साधु व पीड़ित पुरुष की उपेक्षा करता है उसे लक्ष्मी छोड़ देती है ॥१॥ स्त्रियों में आसक्त रहने वाले राजा का कार्य मंत्रियों द्वारा बिगाड़ दिया जाता है और शत्रु भी उससे युद्ध करने तत्पर हो जाते हैं ॥२॥

जिस प्रकार धनिकों की बीमारी बढ़ाना छोड़कर वैद्यों की जीविका का कोई दूसरा उपाय नहीं उसी प्रकार राजा को व्यसनों में फँसाने के सिवाय, मंत्री आदि अधिकारियों की जीविका का भी कोई दूसरा उपाय नहीं है सारांश यह है कि अशिष्ट वैद्यों की तरह अशिष्ट अधिकारी वर्ग की घृणित स्वार्थवश लोक में ऐसी अनुचित प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः राजा को उनसे सावधान रहना चाहिए, जिससे वे उसे व्यसनों में फंसाकर स्वयं रिश्वतखोर आदि न होने पावें ॥३५॥

रैभ्य[४] विद्वान् ने कहा है कि जिस प्रकार धनिकों की बीमारी के इलाज करने से वैद्यों को विशेष सम्पत्ति प्राप्त होती है उसी प्रकार स्वामी को व्यसन में फँसा देने से नौकरों को सम्पत्ति मिलती है ॥१॥''

राज-कर्त्तव्य (रिश्वतखोरों से प्रजा-रक्षा) और रिश्वत से प्रजा व राजकीय हानि-

कार्यार्थिनः पुरुषान् लञ्चलुञ्चानिशाचराणां भूतवलीन्न कुर्यात्[५]॥ ३६॥ लञ्चलुञ्चा हि सर्वपातकानामागमनद्वारम् ॥३७॥ मातुः स्तनमपि लुञ्चन्ति लञ्चोपजीविनः ॥३८॥ लञ्चेन कार्यकारिभिरूर्ध्वः स्वामी विक्रीयते[६] ॥३८॥

---

१. तथा च गर्गः-मुक्त्वावसरमेकं च द्वारं गुप्तं प्रकारयेत्। प्रस्तावेपि परिज्ञाते न दृष्टव्यो महींभुजा ॥१॥

२. तथा च राजपुत्रः-ज्ञानिनं धनिनं दीनं योगिनं वार्त्तिसंयुतं। द्वारस्थं य उपपेक्षेव स श्रिया समुपेक्ष्यते ॥१॥

३. तथा च गर्गः-स्त्रीसमासक्तचित्तो यः क्षितिपः संप्रजायते। वामतां सर्वकृत्येषु सचिवैर्नीयतेऽरिभि ॥१॥

४. तथा च रैभ्यः-ईश्वराणां यथा व्याधिर्वैद्यानां निधिरुत्तमः। नियोगिनां तथा ज्ञेयः स्वामिव्यसन सम्भव ॥१॥

५. ''कार्यार्थिनः पुरुषान् लञ्चा लुञ्चन्ति, लञ्चचरां भूतवलिं न कुर्यात्'' इस प्रकार का पाठान्तर मू. प्रतियों में है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

६. ''लञ्चेन कार्याभिरुद्धः स्वामी विक्रीयते'' इस प्रकार का पाठ मू. प्रतियों में है, जिस में 'कार्याभिरुद्धः' पद का अर्थ 'कार्यों में फंसा हुआ' है, शेषार्थ पूर्ववत् है।

अर्थ—राजा आये हुए प्रयोजनार्थी पुरुषों को, बलात्कार-पूर्वक रिश्वत लेने वाले (रिश्वतखोर) अमात्य-आदि अधिकारियों के लिए अपने प्राणों की बलि देने वाले (रिश्वत देने वाले) न बनाये। सारांश यह है कि रिश्वतखोरी से प्रजा-पीड़ा, अन्याय-वृद्धि व राज-कोश-क्षति होती है, अतः राजा को प्रयोजनार्थी पुरुषों का रिश्वतखोरों से बचाव करना चाहिए ॥३६॥

शुक्र[१] विद्वान् ने भी प्रयोजनार्थियों का रिश्वतखोरों से बचाव न करने वाले राजा की आर्थिक-क्षति का निरूपण किया है ॥१॥

बलात्कार पूर्वक रिश्वत लेना समस्त पापों (हिंसा-आदि) का द्वार है ॥३७॥

वशिष्ठ[२] विद्वान् ने भी चापलूस व रिश्वतखोर अधिकारियों से युक्त राजा को समस्त पापों का आश्रय बतलाया है ॥१॥

रिश्वतखोरी से जीविका करने वाले अन्यायी रिश्वतखोर अपनी माता का स्तन भी भक्षण कर लेते हैं-अपने हितैषियों से भी रिश्वत ले लेते हैं फिर दूसरों से रिश्वत लेना तो साधारण बात है ॥३८॥

भारद्वाज[३] विद्वान् ने भी रिश्वतखोरों की निर्दयता व विश्वास-घात के विषय में इसी प्रकार कथन किया है। रिश्वतखोर अपने उन्नतिशील स्वामी को बेच देते हैं। क्योंकि जिस प्रयोजनार्थी से रिश्वत ली जाती है, उसका अन्याय-युक्त कार्य भी न्याय-युक्त बताकर रिश्वतखोरों को सिद्ध करना पड़ता है, जिससे स्वामी को आर्थिक-क्षति होती है यही रिश्वतखोरों द्वारा स्वामी का बेचना-पराधीन करना समझना चाहिए॥ ३६॥

भृगु[४] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

बलात्कारपूर्वक प्रजा से धन-ग्रहण करने वाले राजा व प्रजा की हानि, व राजकीय अन्याय की दृष्टान्तमाला द्वारा कड़ी आलोचना-

प्रासादध्वंसनेन लोहकीलकलाभ इव लञ्चेन राज्ञोऽर्थलाभः ॥४०॥

राज्ञो लञ्चेन कार्यकरणे कस्य नाम कल्याणम् ॥४१॥

देवतापि यदि चौरेषु मिलति कुतः प्रजानां कुशलम् ॥४२॥

लुञ्चेनार्थोपाश्रयं दर्शयन् देशं कोशं मित्रं तन्त्रं च भक्षयति ॥४३॥

---

१. तथा च शुक्रः-कार्यार्थिनः समायातान् यश्च भूपो न पश्यति। स चाड़ै र्ग्रह्यते तेषां दत्तं कोशे न जायते ॥१॥

२. तथा च वशिष्ठः-लञ्चलुञ्चानको यस्य चाटुकर्मरतो नरः। तस्मिन् सर्वाणि पापानि संश्रयन्तीह सर्वदा ॥१॥

३. तथा च भारद्वाजः-
लञ्चोपजीविनो येऽत्र जनन्या अपि च स्तनम्। भक्षयन्ति सुनिस्तृंशा आन्यलोकस्य का कथा ॥१॥

४. तथा च भृगुः-लञ्चेन कर्मणा यत्र कार्यं कुर्वन्ति भूपतेः। विक्रीतमपि चात्मानं नो जानाति स मूढधीः ॥१॥

राज्ञोऽन्यायकरणं समुद्रस्य मर्यादालङ्घनमादित्यस्य तमः पोषणमिव मातुश्चापत्यभक्षणमिव कलिकालविजृम्भितानि ॥४४॥

अर्थ—जो राजा बलात्कार पूर्वक प्रजा से धन ग्रहण करता है, उसका वह अन्याय-पूर्ण आर्थिक लाभ महल को नष्ट करके लोह कीले के लाभ समान हानिकारक है। अर्थात् जिस प्रकार जरा से-साधारण लोह-कीले के लाभार्थ अपने बहुमूल्य प्रासाद (महल) का गिराना स्वार्थ-नाश के कारण महामूर्खता है, उसी प्रकार क्षुद्र स्वार्थ के लिए लूट-मार करके प्रजा से धन-ग्रहण करना भी भविष्य में राज्य-क्षति का कारण होने से राजकीय महामूर्खता है। क्योंकि ऐसा घोर अन्याय करने से प्रजा पीड़ित व संत्रस्त होकर बगावत कर देती है, जिसके फल-स्वरूप राज्य-क्षति होती है। अभिप्राय यह है कि राज्य-सत्ता बहुमूल्य प्रासाद-तुल्य है, उसे चोर समान नष्ट करके तुच्छ लञ्च (लूट-मार या रिश्वत) रूप कीले का ग्रहण करने वाला राजा हंसी का पात्र होता है, क्योंकि वह ऐसा महाभयंकर अन्याय करके अपने पैरों पर कुल्हाड़ी पटकता है॥ ४०॥

गर्ग[1] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो राजा बलात्कार करके प्रजा से धनादि का अपहरण करता है, उसके राज्य में किस का कल्याण हो सकता है ? किसी का नहीं॥ ४१॥

भागुरि[2] विद्वान् ने भी अन्यायी राजा के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

क्योंकि यदि देवता भी चोरों की सहायता करने लगे, तो फिर किस प्रकार प्रजा का कल्याण हो सकता है ? नहीं हो सकता। उसी प्रकार रक्षक ही जब भक्षक हो जाय-राजा ही जब रिश्वत खोरों व लूटमार करने वालों की सहायता करने लगे, तब प्रजा का कल्याण किस प्रकार हो सकता है? नहीं हो सकता ॥४२॥

अत्रि[3] विद्वान् ने भी अन्यायी लूट-मार करने वाले राजा के विषय में इसी प्रकार कथन किया है। रिश्वत वा लूट-मार आदि घृणित उपाय द्वारा प्रजा का धन अपहरण करने वाला राजा अपने देश (राज्य) खजाना, मित्र व सैन्य नष्ट कर देता है। ४३॥

भागुरि[4] विद्वान् ने भी रिश्वत व लूट-मार करके धन बटोरने वाले अन्यायी राजा के विषय में इसी प्रकार कहा है।

राजा का प्रजा के साथ अन्याय (लूट-मार आदि) करना, समुद्र की मर्यादा उल्लंघन, सूर्य को अँधेरा फैलाना व माता को अपने बच्चे का भक्षण करने के समान किसी के द्वारा निवारण न किया

---

१. तथा च गर्गः—लञ्चद्वारेण यो लाभो भूमिपानां स कीदृशः। लोहकीलकखामस्तु यथा प्रासादध्वंसने ॥१॥

२. तथा च भागुरिः—लञ्चनद्वारमाश्रित्य यो राजोत्थधनं हरेत्। न तस्य किंचित् कल्याणं कदाचित् संप्रजायते ॥१॥

३. तथा च अत्रिः—राशो लुञ्चाप्रवृत्तस्य कीदृक् स्याज्जनतासुखम्। यथा दुर्गाप्रसादेन चौरोपरि कृतेन च ॥१॥

४. तथा च भागुरिः—दर्शनं लुञ्चनार्थस्य यः करोति महीपतिः। स देशकोशमित्राणां तन्त्रस्य च क्षयंकरः ॥१॥

जाने वाला महाभयंकर अनर्थ है, जिसे कलिकाल का ही प्रभाव समझना चाहिए। सारांश यह है कि जिस प्रकार समुद्र ही अपनी मर्यादा-सीमा का उल्लंघन करने लगे और सूर्य अपना प्रकाश धर्म छोड़कर लोक में अंधकार का प्रसार करने तत्पर हो जाय एवं माता भी अपने बच्चे का पालन रूप धर्म छोड़कर यदि उसे भक्षण करने लग जाय, तो इन्हें कौन रोक सकता है ? कोई नहीं रोक सकता, उसी प्रकार राजा भी अपना शिष्ट-पालन व दुष्टनिग्रहरूप धर्म छोड़कर प्रजा के साथ अन्याय करने को तत्पर हो जाय, तो उसे दण्ड देने वाला कौन हो सकता है ? कोई नहीं हो सकता और इसे कलि-दोष ही समझना चाहिए; अतएव राजा को प्रजा के साथ अन्याय करना उचित नहीं ॥४४॥

न्याय से प्रजापालन का परिणाम, न्यायवान् राजा की प्रशंसा व राजकर्तव्य-

न्यायतः पारपालके राज्ञि प्रजानां कामदुधा भवन्ति सर्वा दिशः ॥४५॥

काले वर्षति मघवान्, सर्वाश्चेतयः प्रशाम्यन्ति, राजानमनुवर्त्तन्ते सर्वेऽपि लोकपालाः तेन मध्यममप्युत्तमं लोकपालं राजानमाहुः ॥४७॥

अव्यसनेन क्षीणधनान् मूलधनप्रदानेन सम्भावयेत् ॥४८॥

राज्ञो हि समुद्रावधिर्मही कुटुम्बं, कलत्राणि च वंशवर्द्धनक्षेत्राणि ॥४९॥

अर्थ—जब राजा न्यायपूर्वक प्रजा-पालन करता है, तब सभी दिशाएँ प्रजा को अभिलषित वस्तु देने वाली होती हैं, क्योंकि ललितकला, कृषि वाणिज्य-आदि की प्रगति न्याय-युक्त शासन के अधीन है ॥४५॥

नीतिकारों[१] ने कहा है कि जब राजा प्रजा-पालन में चिन्तित रहता है तब देश की स्वार्थ-सिद्धि होती है; क्योंकि न्याय-युक्त शासन में कृषक क्षेम से धान्य और धनाढ्य व्यापार द्वारा धन प्राप्त करते हैं ॥१॥''

न्यायी राजा के प्रभाव से मेघों से यथासमय जल-वृष्टि होती है और प्रजा के सभी उपद्रव शान्त होते हैं तथा समस्त लोकपाल राजा का अनुकरण करते हैं-न्याययुक्त कर्त्तव्य पालन करते हैं ॥४६॥

गुरु[२] विद्वान् ने भी न्याययुक्त शासन की इसी प्रकार प्रशंसा की है ॥१॥''

इसी कारण विद्वान् पुरुष राजा को मध्यम लोकपाल-मध्य लोक का रक्षक-होने पर भी उत्तम लोकपाल स्वर्गलोक का रक्षक कहते हैं ॥४७॥

रैभ्य[३] विद्वान् के उद्धरण का भी यही आशय है ॥१॥

---

१. तथा चोक्तं-राज्ञा चिन्तापरे देशे स्वार्थसिद्धिः प्रजायते। क्षेमेण कर्षकाः सस्यं प्राप्नुयुर्धनिनो धनम् ॥१॥

२. तथा च गुरुः-इन्द्रादिलोकपाला ये पार्थिवे परिपालके। पालयन्ति च तद्राष्ट्रं वामे वामं च कुर्वते ॥१॥

३. तथा च रैभ्यः-[लञ्चादिविकलो राजा] मध्यमोऽप्यथ मानवैः। श्लाघ्यते यस्तु लोकानां सम्यक् स्यात् परिपालकः [संशोधित व परिवर्तित]

राजा प्रजा के उन कुटुम्बियों को जो कि द्यूत-क्रीड़ा प्रभृति व्यसनों के बिना ही केवल व्यापार आदि में नुकसान (घाटा) लग जाने से दरिद्र हुए है, मूल धन (व्यापारियों के लिए कर्जा में दिया जाकर उनसे वापस लिया जाने वाला स्थाई धन) देकर संतुष्ट करे ॥१॥

शुक्र[१] विद्वान् भी कहा है कि ''राजा जुआ-आदि व्यसनों के कारण दरिद्र होने वालों को छोड़कर दूसरे दरिद्रता वश दुःखी कुटुम्बियों के लिए सौ सौ रुपये ब्याज से कर्जा दे देवे ॥१॥''

समुद्रपर्यन्त पृथ्वी (उस में वर्तमान प्रजा) राजा का कुटुम्ब है और अन्न-प्रदान द्वारा प्रजा का संरक्षण-संवर्द्धन करने वाले खेत उसकी स्त्रियाँ है। अभिप्राय यह है कि धार्मिक राजा को प्रजा का जीवन-निर्वाह करने वाली कृषि की उन्नति करते हुए समस्त प्रजा को अपने कुटुम्ब समान समझ कर पालन करना चाहिए ॥४९॥

राज-कर्त्तव्य व मनुष्य कर्तव्य स्वीकार न करने योग्य भेंट, हँसी-मजाक की सीमा, वाद-विवाद का निषेध व निरर्थक आशा न देना-

अर्थिनामुपायनमप्रतिकुर्वाणो न गृह्णीयात् ॥५०॥

आगन्तुकैरसहनैश्च सह नर्म न कुर्यात् ॥५१॥

पूज्यै सह नाधिकं वदेत्[२]॥ ५२॥

भर्त्तुमशक्यप्रयोजनं च जनं नाशया परिक्लेशयेत्[३] ॥५३॥

अर्थ—यदि राजा प्रयोजनार्थियों का इष्ट प्रयोजन सिद्ध न कर सके, तो उसे उनकी भेंट स्वीकार न करनी चाहिए किन्तु वापस भेज देनी चाहिए। क्योंकि प्रत्युपकार न किये जाने वाले मनुष्य की भेंट स्वीकार करने से लोक में हँसी व निन्दा के सिवाय कोई लाभ नहीं होता ॥५०॥

नारद[४] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

नैतिक मनुष्य को अपरिचित और सहन न करने वाले व्यक्तियों से हँसी-मजाक न करनी चाहिए। क्योंकि इसका परिणाम महाभयंकर होता है, पुराण ग्रन्थों में लिखा है कि रुक्मी ने जुआ खेलते समय बलदेव की हँसी की थी, परन्तु वे उसे सहन न कर सके; इसलिए उन्होंने क्रुद्ध होकर रुक्मी पर गदा-प्रहार द्वारा घात कर डाला ॥५१॥

---

१. तथा च शुक्रः-प्रतिकं च शतं वृद्ध्या देयं राश कुटुम्बिने। सीदमानाय नो देयं द्यूताद्यैर्निधनाय च ॥१॥

२. ''पूज्यैः सहाधिरुह्य न वदेत्'' इस प्रकार मू. प्रतियों में पाठ है, जिसका अर्थ है ''शिष्ट पुरुष को आसन वगैरह पर उद्दण्डता पूर्वक बैठकर पूज्य पुरुषों के साथ बातचीत नहीं करनी चाहिए॥''

३. ''भृत्यमशक्यप्रयोजनं नाशया क्लेशयेत्'' इस प्रकार मू. प्रतियों में पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि स्वामी को प्रयोजन सिद्धि में असमर्थ सेवक को पारितोषिक-आदि का लोभ देकर क्लेशित नहीं करना चाहिए।

४. तथा च नारदः-उपायनं न गृह्णीयाद्यदि काय न साधयेत्। अर्थिनां पृथ्वीपालो नो चेद्याति स वाच्यताम् ॥१॥

शौनक[1] विद्वान् ने भी अपरिचित व सहन करने में असमर्थ पुरुषों के साथ हास्य-क्रीड़ा करने का निषेध किया है ॥१॥

नैतिक व्यक्ति पूज्य पुरुषों के साथ वाद-विवाद न करे ॥५२॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो मूर्ख व्यक्ति पूज्य पुरुषों के साथ वाद-विवाद करता है, वह लोक में निन्दा और परलोक में नरक के दुःख भोगता है ॥१॥

विवेकी पुरुष ऐसे व्यक्ति को धनादि देने की आशा से क्लेशित न करे, जिसका उसके द्वारा भरण-पोषण नहीं किया जा सकता अथवा जिससे उसकी कोई प्रयोजन-सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ५३॥

शुक्र[3] विद्वान् ने भी उक्त बात को इसी प्रकार कहा है ॥१॥

मनुष्य जिसका सेवक है, दरिद्र व्यक्ति की लघुता व विद्या माहात्म्य-

पुरुषस्य पुरुषो न दासः किन्तु धनस्य ॥५४॥

को नामधनहीनो न भवेल्लघुः[4] ॥५५॥

सर्वधनेषु विद्यैव धनं प्रधानमहार्यत्वात् सहानुयायित्वाच्च ॥५६॥

सरित्समुद्रमिव नीचोपगतापि विद्या दुर्दर्शमपि राजानं संगमयति ॥५७॥

परन्तु भाग्यानां व्यापारः ॥५८॥

सा खलु विद्या विदुषां कामधेनुर्यतो भवति समस्तजगत्स्थितिज्ञानम् ॥५९॥

अर्थ—लोक में मनुष्य केवल हाथ-पाँव वाले मनुष्य का सेवक नहीं होता, किन्तु उसके धन का सेवक होता है, क्योंकि जीवन-निर्वाह धनाधीन है॥ ५४॥

गुरु[5] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

व्यास[6] विद्वान् ने भी महाभारत के भीष्मपर्व में लिखा है कि ''महात्मा भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर से कहा कि हे महाराज! मनुष्य धन का दास है, परन्तु धन किसी का दास नहीं। अतः धन के कारण ही मैं कौरवों के अधीन हुआ हूँ ॥१॥

---

१. तथा च शौनकः—हास्यकेलिं न कुर्वीत भूपः सार्द्धं समारातैः। ये चापि न सहन्तेस्म दोषोऽयं यतोऽपरः ॥१॥

२. तथा च शुक्र-पूज्यैः सह विवादं यः कुरुते मतिवर्जितः। स निन्दां लभते लोके परत्र नरकं व्रजेत् ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—पुष्टिं नेतुं न शक्येत यो जनः पृथ्वीभुजा। वृथाशया न संक्लेश्यो विशेषान्निष्प्रयोजनः ॥१॥

४. ''पराधीनेषु नास्ति शर्मसम्पत्तिः'' इस प्रकार का विशेष पाठ उक्त (५५वें) सूत्र के पश्चात् पूर्ण सं. टी. पुस्तक में वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि पराधीन पुरुषों को सुख-सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती।

५. तथा च गुरुः—पुमान् सामान्यगात्रोऽपि न चान्यस्य स कर्मकृत्। यत् करोति पुनः कर्म दासवत्तद्धनस्य च ॥१॥

६. तथा च व्यासः—अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्। इति सत्यं महाराज बद्धोऽसम्यर्थेन कौरवेः ॥१॥

लोक में कौन-सा दरिद्र मनुष्य लघु-छोटा-नहीं होता ? सभी होते हैं ॥५५॥

महाकवि कालिदास[१] ने भी मेघदूत काव्य में कहा है कि ''लोक में सभी मनुष्य निर्धनता-दरिद्रता से छोटे और धन से बड़े होते हैं ॥१॥''

सुवर्ण-आदि समस्त धनों में विद्या ही प्रधान धन है, क्योंकि वह चोरों द्वारा चुराई नहीं जाती एवं जन्मान्तर में भी जीवात्मा के साथ जाती है ॥५६॥

नारद[२] विद्वान् ने भी इसी प्रकार विद्या की महत्ता निर्देश की है ॥१॥

जिस प्रकार नीचे मार्ग से बहने वाली नदी अपने प्रवाह-वर्ती पदार्थों-तृणादिकों को दूरवर्ती समुद्र के साथ मिला देती है, उसी प्रकार नीच पुरुष की विद्या भी उसे बड़ी कठिनाई से दर्शन होने योग्य राजा से मिला देती है ॥५७॥

गुरु[३] विद्वान् के उद्धरण से भी यही आशय प्रकट होता है ॥१॥

परन्तु ऐसा हो जाने पर भी राजा से अर्थ-लाभादि प्रयोजन सिद्धि उसके भाग्याधीन है, क्योंकि भाग्य के प्रतिकूल होने पर विद्या-प्रभाव नहीं हो सकता ॥५८॥

गुरु[४] विद्वान् ने भी इसी प्रकार विद्या प्रभाव निर्देश किया है ॥१॥

विद्या निश्चय से कामधेनु समान विद्वानों के मनोरथ पूर्ण करने वाली है, क्योंकि उससे उन्हें समस्त संसार में प्रतिष्ठा व कर्त्तव्य-बोध प्राप्त होता है ॥५९॥

शुक्र[५] विद्वान् ने इसी प्रकार कहा है ॥१॥

लोक व्यवहार-निपुण की प्रशंसा, बुद्धि के पारदर्शी व कर्त्तव्यबोध न कराने वालों की आलोचना-

लोकव्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञोऽन्यस्तु प्राज्ञोऽप्यवज्ञायत एव ॥६०॥

ते खलु प्रज्ञापारमिताः पुरुषा ये कुर्वन्ति परेषां प्रतिबोधनम् ॥६१॥

अनुपयोगिना महतापि किं जलधिजलेन ॥६२॥

अर्थ—निश्चय से लोक व्यवहार जानने वाला मनुष्य सर्वज्ञ समान और लोक व्यवहार-शून्य विद्वान् होकर भी लोक द्वारा तिरस्कृत समझा जाता है ॥६०॥

नारद[६] विद्वान् ने भी व्यवहार-चतुर की इसी प्रकार प्रशंसा की है ॥१॥

---

१. तथा च महाकविः कालिदासः-रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥१॥

२. तथा च नारदः-धनानामेव सर्वेषां विद्याधनमनुत्तमम्। हियते यन्न केनापि प्रस्थितेन समं ब्रजेत् ॥१॥

३. तथा च गुरुः-नीचादपि च यो विद्यां प्राप्नुयाद् बुद्धिमान्नरः। दुर्दर्शमपि राजानं तत्प्रभावात् स पश्यति ॥१॥

४. तथा च गुरुः-दुर्दर्शमपि राजानं विद्या दर्शयति ध्रुवम्। आत्मप्रभावतो लोके तस्य भाग्यानि केवलम् ॥१॥

५. तथा च शुक्रः-विद्या कामदुघा धेनुर्विज्ञानं संप्रजायते। यतस्तस्याः प्रभावेन पूज्याः स्युः सर्वतो दिशः ॥१॥

६. तथा च नारदः-लोकानां व्यवहारं यो विजानाति स पण्डितः। मूर्खोऽपि योऽथवान्यस्तु स विज्ञोऽपि यथा जड़ः॥१॥

जो मनुष्य सदुपदेश आदि द्वारा दूसरों को कर्त्तव्य-बोध कराते हैं, वे निश्चय से ज्ञान-समुद्र के पारदर्शी हैं ॥६१॥

जैमिनि[1] विद्वान् ने भी कहा है कि जो विद्वान् दूसरों को कर्त्तव्य-बोध कराने की कला में प्रवीण है, वे सर्वज्ञ हैं, परन्तु इसके विपरीत-कर्त्तव्यबोध न कराने वाले-घड़े में वर्तमान दीपक की तरह-केवल स्वयं विद्वत्ता-युक्त हैं। वे मूर्ख हैं ॥१॥''

जिस प्रकार उपयोग-शून्य पीने के अयोग्य (खारे) बहुत समुद्र जल से क्या लाभ ? कोई लाभ नहीं, उसी प्रकार विद्वान् के कर्त्तव्य-ज्ञान कराने में असमर्थ प्रचुर ज्ञान से भी कोई लाभ नहीं ॥६२॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

॥ इति स्वामी-समुद्देशः॥

१. तथा च जैमिनिः-अथ विज्ञाः प्रकुर्वन्ति येऽन्येषां प्रतिबोधनम्। सर्वज्ञास्ते परे मूर्खा यत्ते स्युर्घटदीपवत् ॥१॥

२. तथा च शुक्रः-किं तया विद्यया कार्यं या न बोधयते परान्। प्रभूतैश्चापि किं तोयैर्जलधेर्व्यर्थतां गतैः ॥१॥

(१८) अमात्य-समुद्देशः

सचिव-(मन्त्री) माहात्म्य, मंत्री के बिना राजकार्य हानि व दृष्टान्तमाला द्वारा समर्थन-

चतुरङ्गेऽस्ति द्यूते नानमात्योऽपि राजा किं पुनरन्यः[1] ॥१॥

नैकस्य कार्यसिद्धिरस्ति ॥२॥

नह्येकं चक्रं परिभ्रमति ॥३॥

किमवातः सेन्धनोऽपि वह्निर्ज्वलति[2] ॥४॥

अर्थ-जब शतरंज का बादशाह मन्त्री के बिना चतुरङ्ग सेना (शतरंज के हाथी, प्यादे, आदि) सहित होकर भी उसका बादशाह नहीं हो सकता-अर्थात् उस खेल के बादशाह आदि प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर विजय-श्री प्राप्त नहीं कर सकता, तब क्या पृथ्वीपति (राजा) हस्ति, अश्व आदि चतुरङ्ग सैन्ययुक्त होकर के भी बिना मन्त्री के राजा हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥१॥

गुरु[3] विद्वान् का उद्धरण भी उक्त बात का इसी प्रकार समर्थन करता है ॥१॥

जिस प्रकार रथ आदि का एक पहिया दूसरे पहिये की सहायता के बिना नहीं घूम सकता, उसी प्रकार अकेला राजा भी मंत्री आदि सहायकों के बिना राजकीय कार्य (सन्धि विग्रह प्रभृति) में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता ॥२-३॥ एवं जिस प्रकार अग्नि ईन्धन युक्त होने पर भी हवा के बिना प्रज्वलित नहीं हो सकती उसी प्रकार बलिष्ठ व सुयोग्य राजा भी राज्यशासन करने में समर्थ नहीं हो सकता ॥४॥

वल्लभदेव[4] विद्वान् के उद्धरण से भी उक्त बात की इसी प्रकार पुष्टि होती है ॥१॥

मन्त्री-लक्षण, कर्तव्य, व आय-व्यय का दृष्टान्त-

---

१. ''चतुरङ्गयुतोऽपि नानमात्यो राजास्ति, किं पुनरेकः'' इस प्रकार का पाठान्तर मू. प्रतियों में वर्तमान है, परन्तु इसमें शतरंज के बादशाह रूप दृष्टान्तालङ्कार द्वारा प्रकृत विषयों का समर्थन नहीं है, शेषार्थ पूर्ववत् है।

२. ''प्रवातः सेन्धनोऽपि'' इत्यादि पाठान्तर मु. मू. प्रति में है, जिसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार प्रतिकूल व प्रचण्ड वायु ईंधन युक्त अग्नि को बुझा देती है उसी प्रकार प्रतिकूल-विरुद्ध मंत्री भी राज्य-क्षति कर देता है-सम्पादक

३. तथा च गुरुः-चतुरङ्गेऽपि नो द्यूते मन्त्रिणा परिवर्जितः। स्वराज्यं कर्तुमीशः स्यात् किं पुनः पृथ्वीपतिः ॥१॥

४. तथा च वल्लभदेवः-किं करोति समर्थोऽपि राजा मन्त्रिवर्जितः। प्रदीप्तोऽपि यथा वह्निः समीरणविना कृतः ॥१॥

स्वकर्मोत्कर्षापकर्षयोर्दानमानाभ्यां सहोत्पत्तिविपत्ती येषां तेऽमात्याः॥ ५॥

आयो व्ययः स्वामिरक्षा तन्त्रपोषणं चामात्यानामधिकारः ॥६॥

आयव्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुर्निदर्शनम् ॥७॥

अर्थ—जो राजा द्वारा दिये हुए, दान-सम्मान प्राप्त कर अपने कर्त्तव्य-पालन में उत्साह व आलस्य करने से क्रमशः राजा के साथ सुखी-दुःखी होते हैं, उन्हें 'अमात्य' कहते हैं ॥५॥

शुक्र[1] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो राजा के सुख-दुःख में समता-युक्त-सुखी-दुःखी होते हों, उन्हें राज्य-मान्य 'अमात्य' जानना चाहिए ॥१॥''

मन्त्रियों के निम्न प्रकार चार मुख्य कर्त्तव्य हैं। १. आय-सम्पत्ति को उत्पन्न करने वाले उपायों (समुचित टेक्स प्रभृति) का प्रयोग, २. व्यय-स्वामी की आज्ञानुसार आमदनी के अनुकूल प्रजा-संरक्षणार्थ सैनिक विभाग-आदि में उचित खर्च, ३. स्वामी-रक्षा (राजा व उसके कुटुम्ब का संरक्षण), ४. हाथी-घोड़ा प्रभृति चतुरङ्ग सेना का पालन-पोषण ॥६॥

शुक्र[2] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

सम्पत्ति की आमदनी व खर्च करने में मुनियों का कमण्डलु दृष्टान्त समझना चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार मुनिराज का कमण्डलु जल-ग्रहण अधिक परिमाण में व शीघ्रता से करता है, परन्तु उसका खर्च-जल निष्कासन (निकालना) सूक्ष्म नली के अग्रभाग द्वारा धीरे-धीरे करता है, उसी प्रकार नैतिक पुरुष व राज-मन्त्री को क्रमशः व्यापारादि द्वारा और टेक्स द्वारा सम्पत्ति को आमदनी अधिक परिमाण में करते हुए अल्प खर्च करना चाहिए ॥७॥

गुरु[3] विद्वान् ने भी कहा है कि ''मन्त्रियों को खर्च की अपेक्षा धन की आमदनी अधिक परिमाण में करनी चाहिए, अन्यथा राज्य-क्षति होती है ॥१॥''

आय-व्यय का लक्षण, आमदनी से अधिक खर्च का निषेध, स्वामी शब्द का अर्थ और तन्त्र का लक्षण—

आयो द्रव्यस्योत्पत्तिमुखम् ॥८॥

यथास्वामिशासनमर्थस्य विनियोगो व्ययः ॥९॥

आयमनालोच्य व्ययमानो वैश्रमणोऽप्यवश्यं श्रमणायते ॥१०॥

राज्ञः शरीरं धर्मः कलत्रं अपत्यानि च स्वामिशब्दार्थः ॥११॥

तन्त्रं चतुरङ्गबलम् ॥१२॥

---

१. तथा च शुक्रः—अप्रसादे प्रसादे च येषां च समतास्थितिः। अमात्यास्ते हि विज्ञेया भूमिपालस्य संमताः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—आगतिर्व्ययसंयुक्ता तथा स्वामीप्ररक्षणम्। तन्त्रस्य पोषणं कार्यं मन्त्रिभिः सर्वदैव हि ॥१॥

३. तथा च गुरुः—आयोऽनल्पतरः कार्यो व्ययान्नित्यञ्च मन्त्रिभिः। विपरीतो व्ययो यस्य स राज्यस्य विनाशकः ॥१॥

अर्थ—सम्पत्ति उत्पन्न करने वाले न्यायोचित साधन उपाय कृषि, व्यापार व राज पक्ष में उचित कर-टेक्स लगाना-आदि को 'आय' (आमदनी) कहा है ॥८॥ स्वामी की आज्ञानुसार धन खर्च करना ''व्यय है। सारांश यह है कि राजनैतिक प्रकरण में मंत्री को राजा की आज्ञापूर्वक राजकोश से सैन्य-रक्षा आदि में धन खर्च करना चाहिए ॥९॥ जो मनुष्य आमदनी को न विचार कर अधिक खर्च करता है, वह कुबेर समान असंख्य धन का स्वामी होकर भी भिक्षुक समान आचरण करता है– दरिद्र हो जाता है, फिर अल्पधनी मनुष्य व राजा का दरिद्र होना तो स्वाभाविक ही है ॥१०॥ राजा का शरीर, धर्म, रानियाँ व राजकुमार इनका स्वामी शब्द से बोध होता है। सारांश यह है कि मंत्री को इन सबकी रक्षा करनी चाहिए क्योंकि इनमें से किसी के साथ वैर विरोध करने से राजा रुष्ट हो जाता है ॥११॥ चतुरङ्ग (हाथी, घोड़े अथवा रोही व पैदल इन चारों अङ्गवाली) सेना को 'तन्त्र' कहा है ॥१२॥

मंत्री के दोष और उनका विवेचन एवं अपने देश का मंत्री–

तीक्ष्णं बलवत्पक्षमशुचिं व्यसनिनमशुद्धाभिजनमशक्यप्रत्यावर्त्तनमतिव्यय-शीलमन्य[1] देशायातमतिचिक्कणं चामात्यं न कुर्वीत ॥१३। तीक्ष्णोऽभियुक्तो म्रियते मारयति वा स्वामिनम् ॥१४॥ बलवत्पक्षो नियोगाभियुक्तः कल्लोलइव[2] समूलं नृपांघ्रिपमुन्मूलयति ॥१५॥ अल्पायतिर्महाव्ययो भक्षयति राजार्थम् ॥१६॥ अल्पायमुखो जनपदपरिग्रहौ पीड़यति ॥१७॥ नागन्तुकेष्वर्थाधिकारः प्राणाऽधिकारो वास्ति यतस्ते स्थित्वापि गन्तारोऽपकर्तारो वा[3] ॥१८॥ स्वदेशजेष्वर्थः कूपपतित इव कालान्तरादपि लब्धुं शक्यते ॥१९॥ चिक्कणादर्थलाभः पाषाणाद्वल्कलोत्पाटनमिव ॥२०॥

अर्थ—राजा या प्रजा को निम्न प्रकार दोष-दूषित व्यक्ति के लिए मंत्री पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए। १. अत्यन्त क्रोधी, २. जिसके पक्ष में बहुत से शक्तिशाली पुरुष हों, ३. बाह्य-अभ्यन्तर सम्बन्धी मलिनता से दूषित, ४. व्यसनी-द्यूत-क्रीड़ा मद्यपान आदि व्यसनों से दूषित, ५. नीचकुलवाला, ६. हठी-जो उपदेश द्वारा असत् कार्य करने से न रोका जा सके, ७. आमदनी से भी अधिक खर्च करने वाला, ८. परदेशी और ९. कृपण (लोभी) अभिप्राय यह है कि ये मंत्री में वर्तमान दोष राज्य-क्षति के कारण हैं। क्योंकि क्रोधी पुरुष मंत्री होने से जब कभी अपराधवश दण्डित

---

१. इसके पश्चात् 'अल्पागं' पद मू. प्रतियों में है, जिसका अर्थ थोड़ी आय करने वाला है।

२. इसके पश्चात् 'मत्तगज इव' यह पद मू. प्रतियों में है, जिसका अर्थ मदोन्मत हाथी के समान जानना चाहिए शेष पूर्ववत्।

३. 'यतस्ते' पद से लेकर अखीर तक का पाठ मू. प्रतियों से संकलन किया गया है।

किया जाता है, तो वह अपनी क्रूर प्रकृति के कारण या तो स्वयं मर जाता है अथवा अपने स्वामी को मार डालता है इसी प्रकार जिसका पक्ष-माता-पिता-आदि बलिष्ठ होता है, वह अपने पक्ष की सहायता से राजा को नष्ट कर देता है। इसी तरह अपवित्र मंत्री प्रभाव-हीन व राजा को अपने स्पर्श से दूषित करता है एवं व्यसनी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के ज्ञान रहित,नीच कुल का थोड़ा-सा वैभव पाकर मदोन्मत्त, हठी दुराग्रह-वश हितकारक उपदेश की अवहेलना करने वाला, अधिक खर्चीला स्वार्थ-क्षति होने पर राजकीय सम्पत्ति को भी हड़प करने वाला, परदेशी मंत्री प्रजा की भलाई करने में असमर्थ व स्थिरता से अपना कर्त्तव्य पालन न करने वाला एवं लोभी मंत्री भी कर्त्तव्य-पराङ्मुख होता है। अतः उक्त दोष-दूषित पुरुष को मंत्री नहीं बनाना चाहिए ॥१३॥

शुक्र[१] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

क्रोधीमंत्री होने से अपराध-वश दण्डित किए जाने पर अपनी क्रूर प्रकृति-वश विचार-शून्य होकर या तो स्वयं अपना या अपने स्वामी का घात कर डालता है ॥१४॥

प्रबल पक्ष वाला व्यक्ति मंत्री पद पर नियुक्त हुआ महान् नदी-पूर समान राजारूपी वृक्ष को जड़ से उखाड़ देता है। अर्थात् जिस प्रकार नदी का शक्तिशाली जल-प्रवाह अपने तटवर्ती वृक्षों को जड़ से उखाड़ देता है, उसी प्रकार शक्तिशाली कुटुम्ब-युक्त मंत्री भी राज-रूपी वृक्ष को जड़ से उखाड़कर फेंक देता है ॥१५॥

शुक्र[२] विद्वान् ने भी बलिष्ठ पक्ष वाले मंत्री के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जो मंत्री राज कोश में आमदनी कम करता हुआ अधिक खर्च करता है, वह राजकीय मूलधन खा जाता है-नष्ट कर डालता है ॥१६॥

गुरु[३] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

थोड़ी आमदनी करने वाला मंत्री दरिद्रता के कारण देश व राजकुटुम्ब को पीड़ित करता है ॥१७॥

गर्ग[४] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

राजा का कर्तव्य है कि वह विदेशी पुरुषों को धन के आय व्यय का अधिकार एवं प्राण-रक्षा करने का अधिकार न देवे। अर्थात् उन्हें अर्थ-सचिव व सेना-सचिव के उत्तर-दायित्व-पूर्ण पदों पर नियुक्त न करे। क्योंकि वे उसके राज्य में कुछ समय ठहर करके भी अपने देश को प्रस्थान कर जाते हैं एवं मौका पाकर राज-द्रोह करने लगते हैं। अतः अर्थसचिव व सेनासचिव अपने देश का

---

१. तथा च शुक्रः- तीव्रं क्षुद्रं दुराचारमकुलीनं विदेशजम्। एकग्राहं व्ययप्रायं कृपणं मन्त्रिणं त्यजेत् ॥१॥

२. तथा च शुक्रः-वलवत्पक्षभागमन्त्री उन्मूलयति पार्थिवम्। कल्लोलो बलवान् बद्धत्तटस्थं च महीरुहम् ॥१॥

३. तथा च गुरुः-मन्त्रिणांकुरुते यस्तु स्वल्पलाभं महाव्ययं। आत्मवित्तस्व भक्षार्थं सकरोति न संशयः ॥१॥

४. तथा च गर्गः-अल्पायमुखमेवात्र मन्त्रिणं प्रकरोतियः। तस्य राष्ट्रं क्षयं याति तथा चैव परिग्रहः ॥१॥

योग्य व्यक्ति होना चाहिए ॥१८॥

शुक्र[१] विद्वान् ने भी कहा है कि जो राजा अन्यदेश से आये हुए पुरुषों को धन के आय व्यय का व शरीर-रक्षा अधिकार देता है वह अपना धन व प्राण खो बैठता है ॥१॥

अपने देशवासी पुरुषों को अर्थ-सचिव आदि पदों पर नियुक्त करने से उनके द्वारा लोभवश ग्रहण किया हुआ धन-कुएं में गिरी हुईं धनादि वस्तु के समान कुछ समय के बाद भी मिल सकता है। अर्थात् जिस प्रकार कुएं में गिरी हुई धनादि वस्तु कालान्तर में प्राप्त की जा सकती है, उसी प्रकार अपने देश से अधिकारियों-अर्थ-सचिव आदि द्वारा कारणवश ग्रहण किया हुआ धन भी कालान्तर में मिल सकता है, परन्तु विदेशी अधिकारियों द्वारा गृहीत धन कदापि नहीं सिल सकता, अतः अर्थ-सचिव आदि मंत्री मण्डल अपने देश का ही होना चाहिए ॥१९॥

नारद[२] विद्वान् ने भी स्वदेशवासी अर्थ-सचिव के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

अत्यन्त कृपण मन्त्री जब राजकीय धन ग्रहण कर लेता है, तब उससे पुनः धन वापस मिलना पाषाण से वक्कल छीलने समान असंभव है। अर्थात् जिस प्रकार पत्थर से वक्कल निकालना असंभव है, उसी प्रकार अत्यन्त लुब्ध मंत्री से गृहीत धन की प्राप्ति भी असम्भव है, अतः कृपण पुरुष को कदापि अर्थमंत्री आदि पदों पर नियुक्त नहीं करना चाहिए ॥२०॥

अत्रि[३] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

योग्य-अयोग्य अधिकारी, अयोग्यों से हानि, बंधु सम्बन्ध के भेद व लक्षण-

सोऽधिकारी यः स्वामिना सति दोषे सुखेन निगृहीतुं शक्यते ॥२१॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-सम्बन्धिनो न कुर्यादधिकारिणः ॥२२॥

ब्राह्मणो जातिवशात्सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेण प्रयच्छति, न प्रयच्छति वा ॥२३॥

क्षत्रियोऽभियुक्तः खड्गं दर्शयति ॥२४॥

सम्बन्धी ज्ञातिभावेनाक्रम्य सामवायिकान् सर्वमप्यर्थं ग्रसते ॥२५॥

सम्बन्धस्त्रिविधः श्रौतो मौख्यो[४] यौनश्च ॥२६॥

सहदीक्षितः सहाध्यायी वा श्रौतः[५] ॥२७॥

---

१. तथा च शुक्रः-अन्यदेशागतानां च योऽधिकारं धनोद्भवम्। ददाति गात्ररक्षां वा सोऽर्थप्राणैर्वियुज्यते ॥१॥

२. तथा च नारदः-अर्थाधिकारिणं राजा यः करोति स्वदेशजं। तेन द्रव्य गृहीतं यदनष्टं कूपवद्गतम् ॥१॥

३. तथा च अत्रिः-वल्कलं दृषदो यद्वत् कृपणेन हृतं धनम्। यतस्तन्न प्रलभ्येत् तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ॥१॥

४. इसके स्थान में 'मैत्रौ' ऐसा पाठान्तरं मू. प्रतियों में वर्तमान है जिसका अर्थ राजा का मित्र रूप अमात्य है।

५. ''पितृपैतामहाद्यागतः श्रौतः'' इस प्रकार का पाठान्तर मू. प्रतियों में है, जिसका अर्थ यह है कि वंश परम्परा से चले आने वाले अमात्य को श्रौत बन्धु कहते हैं

मुखेन परिज्ञातो मौख्यः[१]॥२८॥ यौनेर्जातो यौनः ॥२९॥

वाचिकसम्बन्धे नास्ति सम्बन्धान्तरानुवृत्तिः ॥३०॥

अर्थ—वही व्यक्ति मन्त्री आदि पद के योग्य है, जो अपराध करने पर राजा द्वारा सरलता से दण्डित किया जा सके ॥२१॥

किसी नीतिज्ञ[२] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

राजा के ब्राह्मण, क्षत्रिय व बन्धु आदि सम्बन्धियों को अमात्य आदि अधिकारी नहीं बनाना चाहिए ॥२२॥ क्योंकि ब्राह्मण अधिकारी होने पर अपनी जाति स्वभाव के कारण ग्रहण किया हुआ धन बड़ी कठिनाई से देता है अथवा नहीं देता ॥२३॥

सारांश यह है कि धन-लम्पटता व कातरता ब्राह्मण जाति का स्वाभाविक दोष है, अतः उससे गृहीत राज-धन की प्राप्ति दुर्लभ है, इसलिए ब्राह्मण अधिकारी पद के योग्य नहीं ॥२३॥

क्षत्रिय अधिकारी विरुद्ध हुआ तलवार दिखलाता है। सारांश यह है कि क्षत्रिय अधिकारी द्वारा ग्रहण किया हुआ धन शस्त्र-प्रहार के बिना नहीं प्राप्त हो सकता, अतएव उसे मंत्री आदि पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए ॥२४॥ जब राजा द्वारा अपना कुटुम्बी या सहपाठी बन्धु आदि मंत्री आदि अधिकारी बनाया जाता है, तो वह ''मैं राजा का बन्धु हूँ'' इस गर्व से दूसरे अधिकारियों को तुच्छ समझ कर स्वयं समस्त राजकीय धन हड़प कर लेता है अर्थात् सब अधिकारियों को तिरस्कृत करके स्वयं अत्यन्त प्रबल शक्तिशाली हो जाता है ॥२५॥

बन्धु तीन प्रकार के हैं-(१) श्रौत, (२) मौख्य और (३) यौन ॥२६॥

जो राजा की राज्य-लक्ष्मी सम्बन्धी दीक्षा के साथ ही अमात्य-पद की दीक्षा से दीक्षित हुआ हो। अर्थात् जिस प्रकार राजा का राज्य-लक्ष्मी वंश परम्परा से-पिता व पितामह के राजा होने से प्राप्त हुई है, उसी प्रकार जिसे अमात्य पद भी वंश परम्परा से प्राप्त हुआ हो अर्थात् जिसके पितामह व पिता भी इसी वंश में पहले अमात्य पद पर आसीन हो चुके हों, पश्चात् इसे भी कुल क्रम-वंशपरम्परा से अमात्य पदवी प्राप्त हुई हो, उसे अथवा राजा के सहपाठी को श्रौत बन्धु कहते हैं ॥२७॥ जो मौखिक वार्तालाप व सहवास आदि के कारण राजा का मित्र रह चुका है, वह 'मौख्य' है ॥२८॥ राजा के भाई व चाचा वगैरह 'यौन' बन्धु हैं ॥२९॥

वार्तालाप व सहवास आदि के कारण जिसके साथ मित्रता सम्बन्ध स्थापित हो चुका है-जो राजा का मित्र बन चुका है-उसे दूसरे अमात्य आदि के पदों पर नियुक्त नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से वह राजकीय आज्ञा का उल्लंघन करेगा, जिससे राजा के वचनों को प्रतिष्ठा नहीं रह

---

१. ''आत्मना प्रतिपक्षो मैत्रः'' इस प्रकार का मू. प्रतियों में पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो राजा के पास मैत्री के लिए आया हो और उसने उसे मित्र मान लिया हो।

२. तथा चोक्तं-सोऽधिकारी सदा शस्यः कृत्वा दोषं महीभुजे। ददाति याचितो वित्तं साम्नाय समबल्गुना ॥१॥

सकती, अतः मित्र को भी मंत्री पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए॥ ३०॥

अधिकारी (अर्थ-सचिव व सेनासचिव आदि) होने के अयोग्य व्यक्ति-

न तं कमप्यधिकुर्यात् सत्यपराधे यमुपहत्यानुशयीत ॥३१॥

मान्योऽधिकारी राजाज्ञामवज्ञाय निरवग्रहश्चरति ॥३२॥

चिरसेवको नियोगी नापराधेष्वाशङ्कते ॥३३॥

उपकर्त्ताधिकारस्य उपकारमेव ध्वजीकृत्य सर्वमवलुम्पति ॥३४॥

सहपांशुक्रीड़ितोऽमात्योऽतिपरिचयात् स्वयमेव राजायते ॥३५॥

अन्तर्दुष्टो नियुक्तः सर्वमनर्थमुत्पादयति ॥३६॥

शकुनि-शकटालावत्र दृष्टान्तौ ॥३७॥

सुहृदि नियोगिन्यवश्यं भवति धनमित्रनाशः ॥३८॥

मूर्खस्य नियोगे भर्तुर्धर्मार्थयशसां संदेहो निश्चितौ चानर्थ-नरकपातौ ॥३९॥

अर्थ—राजा पूर्वोक्त तीनों प्रकार के बन्धुओं में से किसी बन्धु की अथवा ऐसे किसी पुरुष को अर्थ-मंत्री आदि अधिकारी-पद पर नियुक्त न करे, जिसे अपराध-वश कड़ी सजा देने पर पश्चाताप करना पड़े ॥३१॥

गुरु[1] विद्वान् ने भी अर्थ-सचिव के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

राजा को पूज्य पुरुष के लिए अधिकारी नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि वह अपने को राजा द्वारा पूज्य समझकर निडर व उच्छृङ्खल होता हुआ राजा की आज्ञा उल्लंघन करता है व राजकीय-धन का अपहरण आदि मनमानी प्रवृत्ति करता है, जिससे राजकीय अर्थ-क्षति होती है ॥३२॥

नारद[2] विद्वान् ने भी राज-पूज्य पुरुष को अधिकारी बनाने से यही हानि निरूपण की है ॥१॥

चिरकालीन-पुराना-सेवक अधि नियुक्त हुआ अति परिचय के कारण चोरी-आदि अपराध कर लेने पर भी निडर रहता है; अतः राजा पुराने सेवक को अधिकारी न बनाये ॥३३॥

देवल[3] विद्वान् ने भी चिरकालीन सेवक को अर्थ सचिव बनाने के विषय में इसी प्रकार निषेध किया है ॥१॥

जो राजा अपने उपकारी पुरुष को अधिकारी पद पर नियुक्त करता है, तो वह (अधिकारी) पूर्व कृत उपकार राजा के समक्ष प्रकट करके समस्त राजकीय धन हड़प कर जाता है, अतः उपकारी

---

१. तथा च गुरुः—सम्बन्धिनां त्रयाणां च न चैकमपि योजयेत। अर्थाविकारे तं चापि चं हत्वा दुःखमाप्नुयात् ॥१॥

२. तथा च नारदः—मान्योऽशिकारी मान्योऽहमिति मत्वा न शङ्कते। भक्षयत् नृपवित्तानि तस्मातं परिवर्जयेत् ॥१॥

३. तथा च देवलः—चिरभृत्यं च यो राजा निराकृत्येषु योजयेत्। स वित्तं भक्षणम् शङ्कां न करोति कथंचन ॥१॥

को अधिकारी नहीं बनाना चाहिए॥ ३४॥

वसिष्ठ[१] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

राजा ऐसे बाल मित्र व्यक्ति को अर्थ-सचिव आदि अधिकारी न बनाये, जो कि बाल्यकाल में उसके साथ धूलि में खेल चुका हो; क्योंकि वह अति-परिचय के कारण अभिमान-वश अपने को राजा समान समझता है॥ ३५॥

जैमिनि[२] विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी यही आशय है ॥१॥

क्रूर हृदय वाला पुरुष अधिकारी बनकर समस्त अनर्थ उत्पन्न करता है ॥३६॥

गर्ग[३] विद्वान् ने भी दुष्ट हृदय वाले व्यक्ति को अमात्य बनाने से राज्य-क्षति होने का निर्देश किया है ॥१॥

राज-द्वेषी क्रूर हृदय वाले पुरुष को मंत्री बनाने से जो हानि होती है उसके समर्थक शकुनि[४] दुर्योधन का मामा जिसे उसने कौरवों का राज-मंत्री बनाया था) और शकटाल[५] (नन्द राजा का मंत्री) ये दो ऐतिहासिक उदाहरण जानने चाहिए अर्थात् उक्त दोनों दुष्ट हृदय वाले मंत्रियों ने अपने-अपने स्वामियों से द्वेष कर राज्य में अनेक अनर्थ उत्पन्न किये, जिसके फलस्वरूप राज्य-क्षति हुई ॥३७॥

मित्र को अमात्य आदि अधिकारी बनाने से राजकीय-धन व मित्रता की क्षति होती है। अर्थात् मित्र अधिकारी राजा को अपना मित्र समझकर निर्भयता-पूर्वक उच्छृंखल होकर उसका धन खा लेता है, जिससे राजा उसका वध कर डालता है, इस प्रकार मित्र को अधिकारी बनाने से राजकीय धन व मित्रता दोनों को नाश होता है, अतः मित्र को अधिकारी नहीं बनाना चाहिए ॥३८॥

---

१. तथा च वशिष्ठः-पूर्वोपकारिणं भूपो नाधिकारे नियोजयेत्। स तं कीर्त्तवमानस्तु सर्व वित्तं प्रभक्षयेत् ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः-वाल्यात्प्रभृति यः सार्द्धं क्रीड़ितो भूभुजा सदा। स च स्यान्मन्त्रिणः स्थाने तन्नूनं पार्थिवायते॥१॥

३. तथा च गर्गः-अन्तर्दुष्टममात्यं यः कुरुते पृथ्वीपतिः। सोऽनर्थान्नित्यशः कृत्वा सर्वराज्यं विनाशयेत् ॥१॥

४. शकुनिका वृत्तान्त-यह गान्धार देश के राजा सुबल का पुत्र व दुर्योधन का मामा था, जो कि कौरव (धृतराष्ट्र) के बड़े पुत्र दुर्योधन द्वारा राज-मंत्री पद पर नियुक्त किया गया था। यह बड़ा क्रूर हृदय था, इसलिए जब पांडवों के वनवास व अज्ञातवास की अवधि पूर्ण हुई, तब महात्मा कृष्ण व नीति निपुण विदुरजी ने इसे बहुत समझाया कि आप पाण्डवों का न्याय-प्राप्त राज्य दुर्योधन से वापस दिला दो, परन्तु इसने एक न मानी और पाण्डवों से वैर-विरोध रक्खा और दुर्योधन को उसने सन्धि न करने दी। जिसके फलस्वरूप महाभारत हुआ, जिसमें इसने अपने स्वामी दुर्योधन का वध करवाया और स्वयं मारा गया।

५. शकटाल का वृत्तान्त-यह ई. से ३३० वर्ष पूर्व राजा नन्द का मंत्री था, जो कि बड़ा दुष्ट-हृदय-युक्त था। इसे अपराध-वश जेलखाने की कड़ी सजा दी गई थी। कुछ दिनों के पश्चात् राजा ने इसे जेलखाने से मुक्त कर पुनः राज-मंत्री पद पर अधिष्ठित किया, परन्तु यह राजा से रुष्ट था, इसलिए यह उसके घात की प्रतीक्षा कर रहा था, अतः अवसर पाकर यह सम्राट चन्द्रगुप्त के प्रधान अमात्य चाणक्य से मिल गया और उसकी सहायता से इसने अपने स्वामी राजा नन्द की मरवा डाला ?

रैभ्य[१] विद्वान् ने भी मित्र को अधिकारी बनाने से यही हानि निर्दिष्ट की है ॥१॥

मूर्ख को मन्त्री-आदि का अधिकार देने से स्वामी को धर्म, धन व यश प्राप्ति कठिनाई से होती है अथवा निश्चित नहीं होती। क्योंकि मूर्ख अधिकारी से स्वामी को धर्म का निश्चय नहीं होता और न धन प्राप्ति होती है एवं यश-प्राप्ति भी नहीं होती। परन्तु दो बातें निश्चित होती हैं, (१) स्वामी को आपत्ति में फंसना और (२) उसे नरक ले जाना। अर्थात् मूर्ख अधिकारी ऐसे दुष्कृत्य कर बैठता है, जिससे उसका स्वामी आपद्ग्रस्त हो जाता है एवं ऐसे दुष्कर्म कर डालता है, जिससे प्रजा पीड़ित होती है, जिसके फलस्वरूप स्वामी नरक जाता है ॥३९॥

नारद[२] विद्वान् ने भी मूर्ख को अधिकारी बनाने से उक्त हानि निरूपण की है ॥१॥

अधिकारियों की उन्नति, उनकी निष्फलता, अधिकारी शून्य राजा की हानि, स्वेच्छाचारी अधिकारियों का स्वरूप व उनकी देख-रेख रखना-

सोऽधिकारी चिरं नन्दति स्वामिप्रसादो नोत्सेकयति ॥४०॥

किं तेन परिच्छदेन यत्रात्मक्लेशेन कार्यं सुखं वा स्वामिनः ॥४१॥

का नाम निर्वृत्तिः स्वयमूढतृणभोजिनो गजस्य ॥४२॥

अश्वसधर्माणः पुरुषाः कर्म्मसु नियुक्ता विकुर्वते तस्मादहन्यहनि तान् परीक्षेत्॥४३॥

अर्थ—जो मन्त्री-आदि अधिकारी स्वामी के प्रसन्न होने पर भी किसी प्रकार का अभिमान नहीं करता वही चिरकाल तक उन्नतिशील रहता है अर्थात् कभी पदच्युत न होकर कार्तिव-अर्थ-लाभ आदि द्वारा उन्नति करता है ॥४०॥

शुक्र[३] विद्वान् ने भी गर्व-शून्य अधिकारी के विषय में यही कहा है ॥१॥

राजा को उन मन्त्री आदि अधिकारियों से क्या लाभ ? कोई लाभ नहीं, जिन के होने पर भी उसे स्वयं कष्ट उठाकर अपने-आप राजकीय कार्य करना पड़े। अथवा स्वयं कर्तव्य पूरा करके सुख प्राप्त करना पड़े। सारांश यह है कि मन्त्री-आदि अधिकारियों का यही गुण है कि वे स्वयं राजकीय कार्य पूर्ण करके दिखाते हैं, जिससे स्वामी को कुछ कष्ट न हो और वह सुखी रहे। अन्यथा उनका होना व्यर्थ हैं। जिस प्रकार घास का बोझा वहन कर उसका भक्षण करने वाला हाथी सुखी नहीं हो सकता उसी प्रकार मन्त्री आदि सहायकों के बिना स्वयं राजकीय कार्य-भार को वहन करने वाला राजा भी सुखी नहीं हो सकता। अतएव विजिगीषु राजा को योग्य अधिकारियों व सेवकों की सहायता से राजकीय कार्य सुसम्पन्न करना चाहिए, तभी वह सुखी हो सकता है अन्यथा नहीं ॥४१-४२॥

---

१. तथा च रैभ्यः-नियोगे संनियुक्तस्तु सुहृद्वित्तंप्रभक्षयेत्। स्नेहाधिक्येन निःशंकस्ततो बधमवाप्नुयात् ॥१॥

२. तथा च नारदः-मूर्खे नियोगयुक्ते तु धर्मार्थयशसां सदा। सन्देहोत्र पुनर्नूनमनर्थो नरके गतिः ॥१॥

३. तथा च शुक्रः-स्वामिप्रसादमासाद्य न गर्वं कुरुतेऽत्र यः। स नन्दति चिरं कालं भ्रश्यते नाधिकारलः ॥१॥

नारद[१] विद्वान् ने भी मन्त्री आदि सहायकों के बिना स्वयं राजकीय कार्य-भार को वहन करने वाले राजा के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

क्षुद्र प्रकृति वाले मन्त्री आदि अधिकारी अपने-अपने अधिकारों में नियुक्त किये हुए सैन्धव जाति के घोड़ों के समान विकृत-मदोन्मत्त हो जाते हैं। अर्थात् जिस प्रकार सैन्धव जाति के घोड़े योग्यता प्राप्त कर लेने पर (चाल आदि सीख लेने पर) दमन करने से उन्मत्त होकर सवार को जमीन पर पटकना आदि विकार-युक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार अधिकारी गण भी क्षुद्रप्रकृति-वश गर्व-युक्त होकर राज्य क्षति करने तत्पर रहते हैं, अतः राजा को सदा उनकी परीक्षा-जाँच करते रहना चाहिए ॥४३॥

वादरायण[२] और भृगु[३] विद्वानों ने भी क्षुद्र प्रकृति-युक्त अधिकारियों के विषय में यही कहा है ॥१-२॥

उक्त बात का दृष्टान्त द्वारा समर्थन, अधिकारियों की लक्ष्मी, समृद्ध अधिकारी व अमात्य दोष-

मार्जारेषु दुग्धरक्षणमिव नियोगिषु विश्वास-करणम् ॥४४॥ ऋद्धिश्चित्तविकारिणी नियोगिनामिति सिद्धानामादेशः ॥४५॥ सर्वोऽप्यतिसमृद्धोऽधिकारी भवत्यायत्यामसाध्यः कृच्छ्रसाध्यः स्वामिपदाभिलाषी वा ॥४६॥ भक्षणमुपेक्षणं प्रज्ञाहीनत्वमुपरोधः प्राप्तार्थाप्रवेशो द्रव्यविनिमयश्चेत्यमात्यदोषाः ॥४७॥

अर्थ—स्वामी का मन्त्री आदि अधिकारियों पर विश्वास करना दूध की रक्षार्थ रखे हुए विलावों के समान है। अर्थात् जिस प्रकार विलावों से दूध की रक्षा नहीं हो सकती, उसी प्रकार मन्त्री आदि अधिकारियों से भी राजकोष की रक्षा नहीं हो सकती, अतः राजा को उनकी परीक्षा करते रहना चाहिए ॥४७॥

भारद्वाज[४] विद्वान् ने भी अधिकारियों के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

''सम्पत्ति अधिकारियों का चित्त विकार-युक्त (गर्व युक्त) करती है'' यह प्रामाणिक नीतिज्ञ पुरुषों का वचन है ॥४५॥

नारद[५] विद्वान् ने भी कहा है कि ''पृथ्वी पर कुलीन पुरुष भी धनाढ्य होने पर गर्व करने

---

१. तथा च नारदः—स्वयमाहृत्य भुंजाना बलिनोऽपि स्वमाचवः। नरेन्द्राश्च गजेन्द्राश्च प्रायः सीदन्ति केवलाः ॥१॥

२. तथा च वादरायणः—अश्वा यथा विकुर्वन्ति दान्ता अपि च सैन्धवाः। तथाप्यपुरुषा ज्ञेया येधिकारे नियोजिताः ॥१॥

३. तथा च भृगुः—परीक्षा भूभुजा कार्या नित्यमेवाधिकारिणाम्। यस्मात्ते विकृतिं यान्ति प्राप्य सम्पदमुत्तमाम् ॥१॥

४. तथा च भारद्वाजः—मार्जारिष्विव बिश्वासो यथा नो दुग्धरक्षणे। नियोगिनां नियोगेषु तथा कार्यों न भूभुजा ॥१॥

५. तथा च नारदः—तावन्न विकृतिं याति पुरुषोऽपि कुलोद्भवः। यावत्समृद्धिसंयुक्तो न भवेदत्र भूतले ॥१॥

लगता है ॥१॥

सभी अधिकारी अत्यन्त धनाढ्य होने पर भविष्य में स्वामी के वशवर्ती नहीं होते अथवा कठिनाई से वश में होते हैं अथवा उसकी पद-प्राप्ति के इच्छुक होते हैं ॥४६॥

नारद[१] विद्वान् ने भी कहा है कि अत्यन्त धनाढ्य अधिकारी का राजा के वश में रहना असम्भव है, क्योंकि वह इससे विपरीत राज-पद का इच्छुक हो जाता है ॥१॥

गुरु[२] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जो राज-सेवक कर्त्तव्य-पटु, धनाढ्य व आलसी होते हैं उनका जोंकों के समान पूर्ण सम्पत्तिशाली होना न्याय-युक्त नहीं। अर्थात् उनका दरिद्र रहना ही उत्तम है।

सारांश यह है कि जिस प्रकार जोंकें पूर्ण (भरपेट दूषित खून पीने वाली) होने पर फट जाती हैं, उसी प्रकार क्षुद्र प्रकृति वाले सेवक भी अत्यन्त धनाढ्य होने पर मदोन्मत्त होकर अपने स्वामी का अनर्थ करने तत्पर रहते हैं, अतः उन्हें दरिद्र रखना ही न्याय-युक्त है ॥१॥

जिस सचिव-अमात्य में निम्न प्रकार छह दोष पाये जावें, उसे अमात्य पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए। १.भक्षण-राजकीय धन खानेवाला, २. उपेक्षण राजकीय सम्पत्ति नष्ट करने वाला, अथवा धन प्राप्ति में अनादर करने वाला ३. प्रज्ञाहीनत्व-जिसकी बुद्धि नष्ट हो गई हो, या जो राजनैतिक ज्ञान-शून्य (मूर्ख) है, ४. उपरोध-प्रभावहीन (उदाहरणार्थ-राजकीय द्रव्य हड़प करने वाले दूसरे अधिकारियों को देखते हुए जिसके द्वारा रोके जाने पर भी वे लोग अनर्थ करने से न चूकें ऐसा प्रभावहीन व्यक्ति) ५. प्राप्तार्था प्रवेश-जो टैक्स आदि उपायों द्वारा प्राप्त हुआ धन राज-कोष में जमा नहीं करता हो, ६. द्रव्य विनिमय जो राजकीय बहुमूल्य द्रव्य अल्पमूल्य में निकाल लेता हो। अर्थात् जो बहुमूल्य सिक्कों (असर्फी आदि) को स्वयं ग्रहण करके और उनके बदले में अल्प मूल्य वाले सिक्के (रुपये आदि) राजकीय खजाने में जमाकर देता हो अथवा चलाने में प्रयत्नशील हो। सारांश यह है कि जो राजा या प्रजा उक्त दोष-युक्त पुरुष को अर्थ सचिव बनाती है, उसका राज्य नष्ट हो जाता है ॥४७॥

शुक्र[३] विद्वान् ने भी कहा है कि जो अमात्य दुष्ट प्रकृति-वश राजकीय धन अपने प्रकार से नष्ट कर डालता हो, वह राजा द्वारा त्यागने योग्य है ॥१॥

राज-तन्त्र, स्वयं देख रेख के योग्य, अधिकार, राज-तन्त्र व नीवी-लक्षण, आयव्यय-शुद्धि और उसके विवाद में राज-कर्त्तव्य-

---

१. तथा च नारदः-अतिसमृद्धिसंयुक्तो नियोगी यस्य जायते। असाध्यो भूपतेः स स्यात्तस्यापि पदवाञ्छकः ॥१॥

२. तथा च गुरुः-
प्रेष्याः कर्मसुपटवः पूर्णा अलसा भवन्ति ये भृत्याः। तेषां जलौकसामिव पूर्णा नैवात्र ऋद्धता न्याय्या ॥१॥

३. तथा च शुक्रः-योऽमात्यो राजकीयं स्वं बहुधा विप्रकारयेत्। सदैव दुष्टभावेन स त्याज्यो सचिवो नृपैः ॥१॥

बहुमुख्यमनित्यं च करणं स्थापयेत् ॥४८॥ स्त्रीष्वर्थेषु च मनागप्यधिकारे न जातिसम्बन्धः ॥४९॥ स्वपरदेशजावनपेक्ष्यानित्यश्चाधिकारः ॥५०॥ आदायकनिबन्धक प्रतिबन्धकनीवीग्राहक राजाध्यक्षाः करणानि ॥५१॥ आयव्ययविशुद्धं द्रव्यं नीवी ॥५२॥ नीवीनिबन्धकपुस्तकग्रहणपूर्वकमायव्ययौ विशोधयेत् ॥५३॥ आयव्ययविप्रतिपत्तौ कुशलकरणकार्यपुरुषेभ्यस्तद्विनिश्चयः ॥५४॥

अर्थ—राजा या प्रजा द्वारा ऐसे राज्यतंत्र की स्थापना होनी चाहिए, जो बहुत से शिष्ट अधिकारियों की बुद्धि से संचालित हो एवं जिसमें अधिकारियों की नियुक्ति स्थायी न हो क्योंकि अकेला अधिकारी स्वेच्छा से अनर्थ भी कर सकता है एवं स्थायी नियुक्ति वाले अधिकारी राज-कोष की क्षति करने वाले भी हो सकते हैं। अतः मंत्री सेनाध्यक्ष आदि करण की नियुक्ति अनेक नीतिज्ञ शिष्ट पुरुषों सहित तथा क्रमानुसार बदलने वाली होनी चाहिए ॥४८॥

गुरु[1] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

राजा या नैतिक पुरुष अपनी स्त्रियों व धन का रक्षक किसी को न बनाये ॥४९॥

गुरु[2] विद्वान् ने भी स्त्रियों व धन-रक्षा के विषय में यही कहा है ॥१॥

मंत्री आदि अधिकारियों की नियुक्ति स्वदेश व परदेश का विचार न कर अस्थायी रूप से करनी चाहिए क्योंकि अधिकारियों की स्थायी नियुक्ति का परिणाम हानिकर होता है अर्थात् वे राजकीय धन-अपहरण द्वारा राज्य-क्षति कर डालते हैं। परदेशवासी व्यक्ति जिस अधिकारी के कर्त्तव्य में कुशल हो, उसे उस पद पर अस्थायी तौर पर नियुक्त कर देना चाहिए ॥५०॥

राजा के राज्यतन्त्र संचालनार्थ निम्न प्रकार पाँच करण-पंचकुल होते हैं। १. आदायक-व्यापारी व कृषकों से चुंगी व टैक्स के जरिये द्रव्य वसूल कर राज-कोष में जमा करने वाला कोषाध्यक्ष। २. निबंधक-उक्त उपाय द्वारा प्राप्त द्रव्य व माल का हिसाब वही-आदि में लिखने वाला। ३. प्रतिबन्धक चुंगी आदि के माल पर या खजाने में जमा होने वाली वस्तुओं पर राजकीय मुहर लगाने वाला। ४. नीवी ग्राहक-राजकीय द्रव्य को राज कोष में जमा करने वाला (खजानची)। ५. राजाध्यक्ष-उक्त चारों अधिकारियों की देख-रेख रखने वाला प्रधान पुरुष ॥५१॥

आमदनी में से उपयुक्त खर्च करने के पश्चात् बची हुई और जाँच पड़ताल-पूर्वक खजाने में जमा की हुई सम्पत्ति को 'नीवी' कहते हैं ॥५२॥

राजा उक्त नीवी ग्राहक-खजांची से उस वही की जिसमें राजकीय द्रव्य के आय-व्यय का

---

१. तथा च गुरुः—अशाश्वतं प्रकर्त्तव्यं करणं क्षितिपालकैः। बहुशिष्टं च यस्मात्तदन्यथा वित्तभक्षकम् ॥१॥

२. तथा च गुरुः—स्त्रीप्यर्थेषु च विज्ञेयो नित्योयं जातिसम्भवः ॥१॥

हिसाब लिखा है, लेकर अच्छी तरह जांच-पड़ताल करके आय-व्यय को विशुद्ध करे ॥५३॥

किसी नीतिकार[1] ने भी राजकीय संपत्ति की आय-व्यय शुद्धि के-विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जब सम्पत्ति का आय-व्यय करने वाले अधिकारियों में आमदनी व खर्च के विषय में विवाद समान शक्तिवाला विरोध-उपस्थित हो जाय तब राजा को जितेन्द्रिय व राजनीतिज्ञ प्रधान पुरुषों मंत्री आदि से विचार-परामर्श करके उसका निश्चय कर लेना चाहिए। अभिप्राय यह है कि किसी अवसर पर, कारणवश राज्य में टैक्स आदि द्वारा होने वाली सम्पत्ति की आय-आमदनी बिल्कुल रुक गई हो और धन का व्यय अधिक हो रहा हो, जो कि अवश्य करने योग्य प्रतीत हो जैसे शत्रुकृत हमले के समय राष्ट्र रक्षार्थ सैनिक शक्ति के बढ़ाने में अधिक और आवश्यक खर्च। ऐसे अवसर पर यदि अधिकारियों में आय-व्यय सम्बन्धी विवाद उपस्थित हो जावे, तो राजा को सदाचारी व राजनीतिज्ञ शिष्ट पुरुषों की समिति बैठाकर उक्त विषय का निश्चय कर लेना चाहिए अर्थात् यदि महान् प्रयोजन-सिद्ध (विजय) होता हो तो आमदनी से अधिक खर्च करने का निश्चय कर लेना चाहिए अन्यथा नहीं ॥५४॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी सम्पत्ति के आय-व्यय सम्बन्धी विवाद के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

रिश्वत से संचित धन का उपाय पूर्वक ग्रहण व अधिकारियों को धन व प्रतिष्ठा की प्राप्ति-

नित्यपरीक्षणं कर्मविपर्ययः प्रतिपत्तिदानं नियोगिष्वर्थोपायाः ॥५५॥ नापीड़िता नियोगिनो दुष्टव्रणा इवान्तःसारमुद्वमन्ति ॥५६॥ पुनः पुनरभियोगे नियोगिषु भूपतीनां वसुधाराः ॥५७॥ सकृन्निष्पीड़ितं हि स्नानवस्त्रं किं जहाति स्निग्धताम् ॥५८॥ देशमपीड़यन् बुद्धिपुरुषकाराभ्यां पूर्वनिबन्धमधिकं कुर्वन्नर्थमानौ लभते ॥५९॥

अर्थ—राजा अधिकारियों से रिश्वत द्वारा संचित धन निम्न प्रकार तीन उपायों से प्राप्त कर सकता हैं॥ १. नित्य परीक्षण-सदा अधिकारियों की जाँच-पड़ताल करना। अर्थात् गुप्तचरों द्वारा उनके दोष जानकर कड़ी सजा देना। २. कम विपर्यय उन्हें उच्च पदों से पृथक् कर साधारण पदों पर नियुक्त करना, जिससे वे भयभीत होकर रिश्वत से संचित धन बताने में बाध्य हो सकें। ३. प्रतिपत्तिदानं-अधिकारियों के लिए छत्रचमर आदि बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट देना; जिससे वे स्वामी से प्रसन्न होकर रिश्वत द्वारा गृहीत गुप्त धन दे देवें ॥५५॥

---

१. तथा च चोक्तः-शुद्धपुस्तक हस्ते वत् पुस्तकं समवस्थितम्। आयव्ययौ च तत्रस्थौ यौ तौ चितस्य शुद्धिदौ ॥१॥

२. तथा च शुक्रः-यदा विप्रतिपत्तिश्च करणस्य प्रजायते। [प्रवेशे निश्क्रये वापि] साधुभ्यो निश्चयं क्रियात् ॥१॥
संशोधित व परिवर्तित।

गुरु विद्वान्[1] ने भी रिश्वत द्वारा गृहीत-धन प्राप्ति के उपायों के विषय में इसी प्रकार कहा है।

अधिकारी लोग दुष्ट व्रण (पके हुए दूषित फोड़े) समान बिना ताड़न-बंधन आदि किये गृह में रक्खा हुआ रिश्वत का धन नहीं बताते अर्थात् जिस प्रकार पके हुए दूषित फोड़े शस्त्रादि द्वारा छेदन-भेदन किये बिना भीतर का दूषित रक्त नहीं निकालते उसी प्रकार अधिकारी-गण भी कड़ी सजा पाये बिना रिश्वत का धन नहीं बताते ॥५६॥

नीतिकार चाणक्य[2] ने भी अधिकारियों द्वारा अपहृत धन प्राप्त करने के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

अधिकारियों को बार बार ऊँचे पदों से पृथक् करके साधारण पदों में नियुक्त करने से राजाओं को उनके द्वारा गृहीत रिश्वत का प्रचुर धन मिल जाता है। क्योंकि वे पदच्युत आदि होने के भय से रिश्वत का धन दे देते हैं ॥५७॥

केवल एक बार धोया हुआ स्नान-वस्त्र (धोती वगैरह) क्या अपनी मलीनता छोड़ सकता है? नहीं छोड़ सकता। अर्थात् जिस प्रकार नहाने का कपड़ा बार-बार पछाड़कर धोने से साफ होता है उसी प्रकार अधिकारी वर्ग भी बार-बार दंडित किये जाने से संचित रिश्वत आदि का गृहीत धन दे देता है ॥५८॥

शुक्र[3] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो अधिकारी (अमात्य आदि) देश को पीड़ित नहीं करता (अधिक चुंगी व टैक्स द्वारा प्रजा को कष्ट नहीं देता) और अपनी बुद्धि-पटुता व उद्योगशीलता द्वारा राष्ट्र के पूर्व व्यवहार को विशेष उन्नतिशील बनाता हैं। अर्थात् राष्ट्र सम्बन्धी कृषि व वाणिज्य आदि की पूर्वापेक्षा विशेष उन्नति करके दिखाता है उसे स्वामी द्वारा धन व प्रतिष्ठा मिलती है ॥५९॥

शुक्र[4] विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी यही आशय है ॥१॥

योग्यतानुसार नियुक्ति, कार्यसिद्धि में उपयोगी गुण तथा समर्थन व अधिकारी का कर्त्तव्य-

यो यत्र कर्मणि कुशलस्तं तत्र विनियोजयेत् ॥६०॥ न खलु स्वामिप्रसादः सेवकेषु कार्यसिद्धिनिबन्धनं किंन्तु बुद्धिपुरुषकारावेव ॥६१॥ शास्त्रविदप्यदृष्टकर्मा कर्मसु विषादं गच्छेत् ॥६२॥ अनिवेद्यभर्तुर्न किंचिदारम्भं कुर्यादन्यत्रापत्प्रतीकारेभ्यः ॥६३॥

---

१. तथा च गुरुः-छिद्रान्वेषणतो लाभो नियोगिजनसम्भवः। अधिकारविपर्यासात् प्रतिपत्तेस्तथापरः ॥१॥

२. तथा च चाणक्यः-शान्त्याधिकारिणो वित्तमन्तःसारं वदन्ति नो। निपीड्यन्ते न ते यावद् गाढं दुष्टव्रणा इव ॥१॥

३. तथा च शुक्रः-यथाहि स्नानजं वस्त्रं सकृत् प्रक्षालितं न हि। निर्मलं स्यान्नियोगी च सकृद्दण्डे न शुद्ध्यति ॥१॥

४. तथा च शुक्रः-यो देशं रक्षयन् यत्नात् स्वबुद्ध्या पौरुषेण च। निबन्धान् बर्द्धयेद्राज्ञः सवित्तं मानमाप्नुयात् ॥१॥

अर्थ—जो अधिकारी जिस पद के कर्त्तव्य पालन में कुशल हो, उसे उस पद पर नियुक्त कर देना चाहिए ॥६०॥ निश्चय से स्वामी के प्रसन्न रहने से ही सेवक लोग कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते किन्तु जब उनमें कार्योपयोगी बुद्धि व पुरुषार्थ (उद्योग) गुण होंगे तभी वे कर्त्तव्य में सफलता प्राप्त कर सकते हैं ॥६१॥ शास्त्रवेत्ता विद्वान् पुरुष भी जिन कर्त्तव्यों से परिचित नहीं है, उनमें मोह (अज्ञान) प्राप्त करता है ॥६२॥

भृगु[१] विद्वान् ने भी कर्त्तव्य-कुशलता से शून्य अधिकारी के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

असह्य संकट दूर करने के सिवाय दूसरा कोई भी कार्य सेवक को स्वामी से निवेदन किये बिना नहीं करना चाहिए। अर्थात् युद्ध-कालीन शत्रु-कृत उपद्रवों का नाश सेवक को स्वामी से बिना पूछे कर देना चाहिए इसके सिवाय उसे कोई भी कार्य स्वामी की आज्ञा बिना नहीं करना चाहिए ॥६३॥

भागुरि[२] विद्वान् के उद्धरण से भी इसी प्रकार अधिकारी का कर्त्तव्य प्रतीत होता है ॥१॥

अचानक धन मिलने पर राज-कर्त्तव्य अधिक मुनाफाखोर व्यापारियों के प्रति राजकर्तव्य व अधिकारियों में पारस्परिक कलह से लाभ—

सहसोपचितार्थो मूलधनमात्रेणावशेषयितव्यः ॥६४॥

मूलधनाद् द्विगुणाधिको लाभो भाण्डोत्थो यो भवति स राज्ञः ॥६५॥

परस्परकलहो नियोगिषु भूभुजां निधिः ॥६६॥

अर्थ—राजा अचानक मिला हुआ धन (लावारिस मरे हुए धनाढ्य व्यक्तियों को भाग्याधीन मिली हुई सम्पत्ति) खजाने में स्थापित कर उसकी वृद्धि करे ॥६४॥

अत्रि[३] विद्वान् ने भी अधिकारियों से प्राप्त हुई भाग्याधीन सम्पत्ति के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जब व्यापारी लोग बर्तनों आदि के व्यापार में मूलधन से दूने से भी अधिक धन कमाते हों तब राजा को व्यापारियों के लिए मूल धन से दूना धन देकर अधिक धन जब्त कर लेना चाहिए। क्योंकि व्यापारी गण इतना अधिक मुनाफा छल-कपट व चोरी आदि कुमार्ग का अनुसरण किये बिना नहीं कर सकते ॥६५॥

शुक्र[४] विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

---

१. तथा च भृगुः—येन यत्र कृतं कर्म स तस्मिन्-योजितो नृपै। नियोगी मोहमायाति यद्यपि स्याद्विचक्षणः ॥१॥

२. तथा च भागुरिः—न स्वामिवचनाद् बाह्यं कर्म कार्यनियोगिना। अपि प्वल्पतरं यच्च मुक्त्वा शत्रुसमागमम् ॥१॥

३. तथा च अत्रिः—अचिन्तितस्तु लाभो यो नियोगाद्यस्तु जायते। स कोशे संनियोज्यश्च येन तत्त्वाधिकं भवेत् ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—यदि मूलधनात् कश्चिद् द्विगुणाभ्यधिकं लभेत्। तत्तस्य मूलाद्विगुणं दत्वा शेषं नृपस्य हि ॥१॥

अधिकारियों में आपसी फूट-लड़ाई झगड़ा होने से राजाओं को खजाने के मिलने के समान महा लाभ होता है, क्योंकि ऐसा होने से अधिकारी वर्ग राजा के समक्ष एक दूसरे का अपराध प्रकट कर देते हैं, जिसके फलस्वरूप दण्डित किये जाने पर वे लोग रिश्वत द्वारा हड़प किया हुआ धन बता देते हैं ॥६६॥

गुरु[1] विद्वान् ने भी अधिकारियों के पारस्परिक विरोध से राजाओं को महान आर्थिक लाभ निर्दिष्ट किया है ॥१॥

धनाढ्य अधिकारियों से लाभ, संग्रह करने योग्य मुख्य वस्तु धान्य संचय का माहात्म्य व चिरस्थायी धान्य-

नियोगिषु लक्ष्मीः क्षितीश्वराणां द्वितीयः कोशः ॥६७॥

सर्वसंग्रहेषु धान्यसंग्रहो महान्, यतस्तन्निबन्धनं जीवितं सकलप्रयासश्च ॥६८॥

न खलु मुखे प्रक्षिप्तःखरोऽपि द्रम्मः प्राणत्राणाय यथा धान्यं ॥६९॥

सर्वधान्येषु चिरजीविनः कोद्रवाः ॥७०॥

अर्थ—अधिकारियों की सम्पत्ति राजाओं का दूसरा खजाना है क्योंकि उनके ऊपर संकट पड़ने पर अधिकारियों की सम्पत्ति उनके काम आ जाती है ॥६७॥

नारद[2] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

समस्त हाथी-घोड़े-आदि के संग्रह में से अन्न-संग्रह उत्तम माना गया है क्योंकि वह प्राणियों के जीवन-निर्वाह का साधन है, एवं जिसके कारण मनुष्यों को कृषि आदि जीविकोपयोगी कार्यों में कष्ट उठाना पड़ता है ॥६८॥

भृगु[3] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जिस प्रकार भक्षण किया हुआ धान्य प्राण-रक्षाकर सकता है, उस प्रकार निश्चय से बहुमूल्य सुवर्ण का सिक्का मुख में रक्खा हुआ प्राणरक्षा नहीं कर सकता ॥६९॥

गर्ग[4] विद्वान् ने भी धान्य के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

समस्त धान्यों में कोदों चिरस्थायी (घुण न लगने वाले) होते हैं, अतः उनका संग्रह करना चाहिए ॥७०॥

भारद्वाज[5] विद्वान् ने भी छिलकों वाले धान्य व कोदों को चिरस्थायी बताया है ॥१॥

---

१. तथा च गुरुः—नियोगिनां मिथो वादो राज्ञां पुण्यैः प्रजायते। यतस्तेषां विवादे च लाभः स्याद्भूपतेर्बहुः ॥१॥

२. तथा च नारदः—यैव भृत्यगता संपदं सैव सपंन्हीपतेः। यतः कार्ये समुत्पन्ने निःशेषस्तां समानयेत् ॥१॥

३. तथा च भृगुः—सर्वेषां संग्रहाणां च शस्योऽन्नस्यच संग्रहः। यतः सर्वाणि भूतानि क्लिश्यन्ति च तदर्थतः।

४. तथा च गर्ग-प्रभूतैरपि नो द्रव्यैः प्राणत्रयं विधीयते। मुखे क्षिप्ते यथान्नेन स्वल्पेनापि विधीयते ॥१॥

५. तथा च भारद्वाजः—तुषधान्यानि सर्वाणि कोद्रवप्रभृतीनि च। चिरजीवीनि तान्याहुस्तेषां युक्तः सुसंग्रहः ॥१॥

संचित धन का उपयोग, प्रधान व संग्रह करने योग्य रस व लवण का माहात्म्य–

अनवं नवेन वर्द्धयितव्यं व्ययितव्यं च ॥७१॥

लवणसंग्रहः सर्वरसानामुत्तमः ॥७२॥

सर्वरसमयमप्यन्नमलवणं गोमयायते ॥७३॥

अर्थ–पुरानी संचित धान्य ब्याज न (फसल के मौके पर कृषकों को बाड़ी में देना) देकर बदले में नवीन धान्य के आय द्वारा बढ़ानी चाहिए और ब्याज द्वारा प्राप्त हुई धान्य खर्च करते रहना चाहिए, ताकि मूलधन की हानि न हो सके ॥७१॥

वशिष्ठ[१] विद्वान् ने भी पुरानी संचित धान्य को ब्याजून देने के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

समस्त घृत व तेल प्रभृति रसों के संग्रह में नमक संग्रह उत्तम है अतः विवेकी पुरुष उसका संग्रह करे क्योंकि नमक के बिना सब रसों से युक्त अन्न भी गोबर समान अरुचिकर लगता है ॥७२-७३॥

हारीत[२] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

॥ इति अमात्य-समुद्देशः ॥

---

१. तथा च वशिष्टः–अनवं यद्भवेत् सस्यं तन्नवेन विवर्द्धयेत्। वृद्ध्या प्राप्तो भवेद्यस्तु तस्य कार्यो व्ययो बुधैः ॥१॥

२. तथा च हारीतः–स्याद्रसैः पञ्चभिर्युक्तं लवणेनोज्झितं यदि। जिह्वा सद्गोमयास्वादं [गृहीत्वाऽरुचिमाप्नुवात्] ॥१॥

संशोधित व नवीन रचित–सम्पादक

(१९) जनपद-समुद्देशः

देश के नामों-राष्ट्र, देश, विषय, मण्डल, जनपद, दारक व निर्गम शब्दों की सार्थक व्याख्या-

पशुधान्यहिरण्यसंपदा राजते इति राष्ट्रम् ॥१॥

भर्त्तुर्दण्डकोषवृद्धिं दिशतीति देशः ॥२॥

विविधवस्तुप्रदानेन स्वामिनः सद्मनि गजान् वाजिनश्च विषिणोति बध्नातीति विषयः ॥३॥ सर्वकामधुक्त्वेन नरपतिहृदयं मण्डयति भूषयतीति मण्डलम् ॥४॥ जनस्य वर्णाश्रमलक्षणस्य द्रव्योत्पत्तेर्वा पदं स्थानमिति जनपदः ॥५॥ निजापतेरुत्कर्षजनकत्वेन शत्रु हृदयानि दारयति भिनत्तीति दारकम् ॥६॥ आत्मसमृद्ध्या स्वामिनं सर्वव्यसनेभ्यो निर्गमयतीति निर्गमः ॥७॥

अर्थ—क्योंकि देश गाय भैंस-आदि पशु गेहूँ-चावल प्रभृति अन्न व सुवर्ण-आदि सम्पत्ति से शोभायमान होता है, इससे इसकी 'राष्ट्र' संज्ञा है ॥१॥

भागुरि[1] विद्वान् ने भी देश को पशु, धान्य, ताँबा-लोहा प्रभृति धातु व बर्तनों से सुशोभित होने के कारण 'राष्ट्र' कहा है ॥१॥

यह स्वामी को सैन्य-कोष की वृद्धि देता है, अतः इस की 'देश' संज्ञा है ॥२॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी देश शब्द की यही सार्थक व्याख्या की है ॥१॥

क्योंकि यह नाना प्रकार को सुवर्ण-धान्यादि वस्तुएँ प्रदान कर राज-महल में हाथी घोड़े बाँधता है, अतः इसे 'विषय' कहते हैं ॥३॥

शुक्र[3] विद्वान् ने भी 'विषय' शब्द की यही व्याख्या की है ॥१॥

क्योंकि यह समस्त मनोरथों की पूर्ति द्वारा राजा के हृदय को अलंकृत करता है, इसलिए इसे मण्डल कहते हैं ॥४॥

शुक्र[4] विद्वान् के उद्धरण से भी 'मण्डल' शब्द का यही अर्थ प्रतीत होता है ॥१॥

---

१. तथा च भागुरिः—पशुभिर्विविधैर्धान्यैः कुप्यभाण्डैः पृथग्विधैः। राजते येन लोकेऽत्र तद्राष्ट मिति कीर्त्यते ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—स्वामिनः कोशवृद्धिं च सैन्यवृद्धिं तथा परम्। यस्माद्दिशति नित्यं स तस्माद्देश उदाहृतः ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—विविधान् वाजिनो गाश्च स्वामिसद्मनि नित्यशः। सिनोति च यतस्तस्माद्विषयः प्रोच्यते बुधैः ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—सर्वकामसमृद्ध्या च नृपतेर्हृदयं यतः। मण्डनेन समा युक्तं कुरुतेऽनेन मण्डलम् ॥१॥

क्योंकि देश वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र) और आश्रमों (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति) में वर्तमान प्रजाजनों का निवास-स्थान अथवा धन का उत्पत्ति-स्थान है अतः इसे 'जनपद' कहते है ॥५॥

शुक्र[१] विद्वान् ने भी 'जनपद' शब्द की यही व्याख्या की है ॥१॥

क्योंकि देश अपने स्वामी की उन्नति करके शत्रु हृदयों को विदीर्ण करता है अतः इसे 'दारक' कहा है ॥६॥

जैमिनि[२] विद्वान् ने कहा है कि ''देश बहुत से ऊँटों द्वारा अपने स्वामी की उन्नति करके शत्रु हृदयों को विदीर्ण करता है अतः उसे 'दारक' कहते हैं ॥१॥

क्योंकि यह अपने धनादि वैभव द्वारा स्वामी को समस्त आपत्तियों से छुड़ाता है अतः इसे विद्वानों ने 'निर्गम' कहा है ॥७॥

शुक्र[३] विद्वान् ने भी निर्गम शब्द की यही सार्थक व्याख्या की है ॥१॥

देश के गुण व दोष-

अन्योऽन्यरक्षकः खन्याकरद्रव्यनागधनवान् नातिवृद्धनातिहीनग्रामो बहुसारविचित्रधान्यहिरण्यपण्योत्पत्तिरदेवमातृकः पशुमनुष्यहितः श्रेणिशूद्रकर्षकप्राय इति जनपदस्य गुणाः ॥८॥

विषतृणोदकोषरपाषाणकण्टकगिरिगर्त्तगह्वरप्रायभूमिर्भूरिवर्षा जीवनो व्याल-लुब्धकम्लेच्छबहुलः स्वल्पसस्योत्पत्तिस्तरुफलाधार इति देशदोषाः ॥९॥

तत्र सदा दुर्भिक्षमेव, यत्र जलदजलेन सस्योत्पत्तिरकृष्टभूमिश्चारम्भः ॥१०॥

अर्थ—देश के निम्न प्रकार गुण होते हैं-१. परस्पर की रक्षा करने वाला-जहाँ पर राजा देश की और देश राजा की रक्षा करता हो, २. जो स्वर्ण, रत्न, चाँदी, तांबा व लोहा आदि धातुओं की तथा गन्धक, नमक आदि खनिज द्रव्यों की खानियों से युक्त एवं रुपया असर्फी आदि धन और हाथीरूप धन से परिपूर्ण हो, ३. जिसके ग्रामों की जनसंख्या न बहुत बढ़ी हुई और न बहुत कम हो, ४. जहाँ पर बहुत से उत्तम पदार्थ, नाना भाँति के अन्न, सुवर्ण और व्यापारियों के खरीदने व बेचने योग्य वस्तुएँ पाई जाती हों, ५. जो मेघजल की अपेक्षा से रहित हो-जहाँ रहट व चरसों के जल से खेती होती हो। ६. जो मनुष्य व पशुओं को सुख देने वाला हो, ७. जहाँ पर बढ़ई, जुलाहा, नाई, धोबी व चमार आदि शिल्प-शूद्र तथा किसान बहुलता से वर्तमान हों, सारांश यह है कि जिस देश

---

१. तथा च शुक्रः-वर्णाश्रमाणां सर्वेषां द्रव्योत्पत्तेश्च वा पुनः। यस्मात् स्थानं भवेत् सोऽत्र तस्माज्जनपदः स्मृतः ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः-भर्तुरुत्कर्षदानेन शत्रूणां हृदयं यतः। दारका दारयन्तिस्म प्रभूता दारकं ततः ॥२॥

३. तथा च शुक्रः-मोचापयति यो वित्तैर्निजैः स्वामिनमात्मनः। व्यसनेभ्यः प्रभूतेभ्यो निर्गमः स इहोच्यते ॥१॥

में उक्त गुण पाए जाते हैं, वह सुखी रहता है ॥८॥

देश के निम्न प्रकार दोष होते हैं जिनसे वह निंदनीय समझा जाता है। १. जिसका घास पानी रोगजनक होने से विष समान हानिकारक हो, २. जहाँ की जमीन ऊसर-घास अन्न की उपज से शून्य हो, ३. जहाँ की जमीन विशेष पथरीली, अधिक कंटकाकीर्ण तथा बहुत पहाड़, गड्ढे और गुफाओं से व्याप्त हो, ४. जहाँ पर बहुत-सी जल-वृष्टि द्वारा प्रजाजनों का जीवन (धान्य की उपज) होता हो, ५. जहाँ पर बहुलता से सर्प, भील और म्लेच्छों का निवास हो। ६. जिसमें थोड़ी-सी धान्य (अन्न) उत्पन्न होती हो। ७. जहाँ के लोग धान्य की उपज कम होने के कारण वृक्षों के फलों द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करते हों ॥९॥

जिस देश में मेघों के जल द्वारा धान्य उत्पन्न होती है और खेती कर्षण-क्रिया के बिना होती है, अर्थात् जहाँ कछवारों की पथरीली जमीन में बिना हल जोते ही बीज बिखेर दिये जाते हैं, वहाँ सदा अकाल रहता है। क्योंकि मेघों द्वारा जल वृष्टि का यथासमय व उचित परिमाण में होना निश्चित नहीं रहता एवं कर्षण क्रिया की अपेक्षा शून्य पथरीली जमीन भी ऊसर जमीन समान उपज-शून्य अथवा बिल्कुल कम उपजाऊ होती है, अतः ऐसे देश में सदा अकाल होना निश्चित ही है ॥१०॥

गुरु[1] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

क्षत्रिय व ब्राह्मणों की अधिक संख्या-युक्त ग्रामों से हानि व परदेश-प्राप्त स्वदेशवासी के प्रति राज-कर्त्तव्य-

क्षत्रियप्राया हि ग्रामाः स्वल्पास्वपि बाधासु प्रतियुद्ध्यन्ते ॥११॥

म्रियमाणोऽपि द्विजलोको न खलु सान्त्वेन सिद्धमप्यर्थं प्रयच्छति ॥१२॥

स्वभूमिकं भुक्तपूर्वमभुक्तं वा जनपदं स्वदेशाभिमुखं दानमानाभ्यां परदेशादावहेत् वासयेच्च[2] ॥१३॥

अर्थ—जिन ग्रामों में क्षत्रिय शूरवीर पुरुष अधिक संख्या में निवास करते हैं वहाँ पर वे लोग थोड़ी-सी पीड़ाओं-आपसी तिरस्कार आदि से होने वाले कष्टों के होने पर आपस में लड़ मरते हैं-अनर्थ कर बैठते हैं ॥११॥

शुक्र[3] विद्वान् ने भी क्षत्रियों की बाहुल्यता-युक्त ग्रामों के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

---

१. तथा च गुरुः-मेवजेनाम्भसा यत्र सस्यं च न ग्रैष्मिकम्। सदैव तत्र दुर्भिक्षं कृष्यारम्भो न यत्र च ॥१॥

२. ''भूमिकं भुक्तपूर्वं वा जनपदं स्वदेशामिमुख्यं दानमानाम्यां परदेशोपवाहनेन वा वासयेत्'' इस प्रकार का पाठान्तर मू. प्रतियों में वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि राजा परदेशवासी व उपद्रवकारी मनुष्य को जो कि इसके देश में रहना चाहता है, दानमान पूर्वक दूसरे देश में भेज देवें। क्योंकि ऐसा करने से प्रजा परदेशवासी प्रजा के उपद्रवों से सुरक्षित रहती है।

३. तथा च शुक्रः-वसन्ति क्षत्रिया येषु ग्रामेष्वतिनिरर्गलाः। स्वल्पापराधतोऽप्येव तेषु युद्धं न शाम्यति ॥१॥

ब्राह्मण लोग अधिक कृपण-लोभी होने के कारण राजा के लिए देने योग्य टैक्स आदि का धन प्राण जाने पर भी बिना दण्ड के शान्ति से नहीं देते ॥१२॥

शुक्र[१] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

राजा का कर्त्तव्य है कि वह परदेश में प्राप्त हुए अपने देशवासी मनुष्य को, जिससे कि इसने पूर्व में कर-टैक्स ग्रहण किया हो अथवा न भी किया हो, दान सम्मान से वश में करे और अपने देश के प्रति अनुरागी बनाकर उसे वहाँ से लाकर अपने देश में बसावे। सारांश यह है कि अपने देशवासी, शिष्ट व उद्योगशील पुरुष को परदेश से लाकर बसाने से राष्ट्र की जन-संख्या-वृद्धि, व्यापारिक उन्नति, राजकोष की वृद्धि एवं गुप्त रहस्य-संरक्षण आदि अनेक लाभ होते हैं, जिसके फलस्वरूप राज्य की श्रीवृद्धि होती है ॥१३॥

शुक्र[२] विद्वान् ने भी परदेश में प्राप्त हुए स्वदेशवासी मनुष्य के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

शुल्कस्थानवर्ती अन्याय से हानि, कच्ची धान्य फसल कटाने व पकी हुई धान्य में से सेना निकालने का परिणाम-

स्वल्पोऽप्यादायेषु प्रजोपद्रवो महान्तमर्थं नाशयति[३] ॥१४॥

क्षीरिषु कणिशेषु सिद्धादायो जनपदमुद्वासयति ॥१५॥

लवनकाले सेनाप्रचारो दुर्भिक्षमावहति ॥१६॥

अर्थ—जो राजा धन की आमदनी के स्थानों (चुंगीघर आदि) में व्यापारियों से थोड़ा-सा भी अन्याय का धन ग्रहण करता है-अधिक टैक्स लेता है उसे महान आर्थिक हानि होती है, क्योंकि व्यापारियों के क्रय-विक्रय के माल पर अधिक टैक्स लगाने से वे लोग उसके भय से क्षुब्ध होकर व्यापार बंद कर देते हैं या छल-कपट पूर्ण बर्ताव करते हैं जिसके फलस्वरूप राजा की अधिक हानि होती है ॥१४॥

गुरु[४] विद्वान् ने भी शुल्क स्थानों में प्रवृत्त होने वाली अन्याय-प्रवृत्ति के विषय में इसी प्रकार

---

१. तथा च शुक्रः-ब्रह्मणैर्भक्षितो योऽर्थो न स सान्त्वेन लभ्यते। यावन्न दण्डपारुष्यं तेषां च क्रियते नृपैः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः-परदेशगतं लोकं निजदेशे समानवेत्। भुक्तपूर्वमभुक्तं वा सर्वदैव महीपतिः ॥१॥

३. ''स्वल्पोऽपि राष्ट्रेषु परग्रजोपद्रवो महान्तमर्थं नाशयति'' ऐसा पाठान्तर मू. प्रतियों में वर्तमान है, जो कि पूर्वोक्त १३ वें सूत्र के पाठान्तर का समर्थक है, जिसका अर्थ यह है कि जिन देशों की प्रजा परदेश की दुष्ट प्रजा द्वारा जरा-सी भी पीड़ित की जाती है, वहाँ पर राजा को महान् आर्थिक-हानि होती है, क्योंकि परदेशी आततायियों दुष्टों द्वारा सताई हुई प्रजा राजा से एकदम असंतुष्ट व क्षुब्ध हो जाती है, जिससे राजकीय आर्थिक क्षति अधिक होती है॥

४. तथा च गुरुः-शुक्लस्थानेषु योऽन्यायः स्वल्पोऽपि च प्रवर्तते। तत्र नागच्छते कश्चिद्व्यवहारी कथंचन ॥१॥

कहा है ॥१॥

जो राजा लगान न देने कारण किसानों की अपरिपक्व (बिना पकी हुई) धान्य मंजरी-गेहूँ-चावल आदि की कच्ची फसल-कटाकर ग्रहण कर लेता है, वह उन्हें दूसरे देश में भगा देता है, जिससे कृषक आर्थिक संकट भोगते हैं, अतः राजा को कृषकों के प्रति ऐसा अन्याय करना उचित नहीं है ॥१५॥

शुक्र[1] विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो राजा पकी हुई धान्य की फसल काटते समय अपने राष्ट्र के खेतों में से हाथी घोड़े-आदि की सेना निकालता है उसका देश अकाल-पीड़ित हो जाता है। क्योंकि सेना धान्य-फसल का सत्यानाश कर डालती है, जिससे अन्न के अभाव से देश में अकाल हो जाता है ॥१६॥

जैमिनि[2] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

प्रजा को पीड़ित करने से हानि, पहले से टैक्स से मुक्त मनुष्यों के प्रति राजकर्त्तव्य, मर्यादा उल्लंघन से हानि, प्रजा की रक्षा के उपाय व न्याय से सुरक्षित राष्ट्र के शुल्क स्थानों से लाभ-

सर्वबाधा प्रजानां कोशं पीडयति[3] ॥१७॥ दत्तपरिहारमनुगृह्णीयात् ॥१८॥

मर्यादातिक्रमेण फलवत्यपि भूमिर्भवत्यरण्यानी ॥१९॥

क्षीणजनसम्भावनं तृणशलाकाया अपि स्वयमग्रहः[4]

कदाचित्किंचिदुपजीवनामति परमः प्रजानां वर्धनोपायः ॥२०॥

न्यायेन रक्षिता पणयपुटभेदिनी पिष्ठा राज्ञां कामधेनुः[5] ॥२१॥

अर्थ—जो राजा अपनी प्रजा को समस्त प्रकार के कष्ट देता है-अधिक टैक्स आदि लगाकर प्रजा को पीड़ित करता हे, उसका खजाना नष्ट हो जाता है। क्योंकि पीड़ित प्रजा असंतुष्ट होकर एकदम राजा

---

१. तथा च शुक्रः-क्षीरयुक्तानि धान्यानि यो गृह्णाति महीपतिः। कर्षकाराणां करोत्यत्र विदेशगमनं हि सः ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः-सस्यानां परिपक्वानां समये यो महीपतिः। सैन्यं प्रचारयेत्तच्च दुर्भित्वं प्रकरोति सः ॥१॥

३. सर्वा वाधाः प्रजानां कोषं कर्षयन्ति'' ऐसा पाठान्तर मू. प्रतियों में है, जिसका अर्थ यह है कि पूर्व में कही हुई (कृषकों के खेतों में से सेना निकालना-आदि) व न कही हुई बाधाओं-प्रजा को दी गई पीड़ाओं- से प्रजा की सम्पत्ति नष्ट होती है ॥१७॥

४. ''स्वयं संग्रहः ऐसा पद मू. प्रतियों में है जिससे उक्त सूत्र का यह अर्थ होता है, कि जिस प्रकार तृणसंग्रह भी कभी उपयोगी होता है, उसी प्रकार दरिद्र व्यक्ति भी कभी उपयोगी होता है, अतएव राजा को दरिद्र (निर्धन) प्रजा की धन से सहायता करनी चाहिए, शेषार्थ पूर्ववत् समझना चाहिए।

५. ''न्यायेन रक्षिता पण्यपुटभेदिनी राज्ञां कामधेनुः'' इस प्रकार का पाठ मू. प्रतियों में है, जिसका अर्थ यह है कि न्याय सुरक्षित जहाँ योग्य टैक्स-आदि लिया जाता है और व्यापारियों के क्रय-विक्रय योग्य वस्तुओं से व्याप्त नगरी काम धेनु समान राजाओं के मनोरथ पूर्ण करती है ॥२१॥

से बगावत कर देती है जिसके फलस्वरूप राजकीय खजाना खाली हो जाता है ॥१७॥

गर्ग[१] विद्वान् ने भी टैक्स द्वारा प्रजा को पीड़ित करने वाले, राजा की इसी प्रकार हानि निर्दिष्ट की है ॥१॥

राजा ने जिन को पूर्व में टैक्स लेने से मुक्त कर दिया है, उनसे वह फिर से टैक्स न लेकर उनका अनुग्रह करे, क्योंकि इससे उसकी वचन-प्रतिष्ठा व कीर्ति होती है ॥१८॥

नारद[२] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

मर्यादा-लोकव्यवहार-का उल्लंघन करने से धन-धान्यादि से समृद्धिशाली भूमि भी जंगल समान फल-शून्य हो जाती है; अतः विवेकी मनुष्य व राजा को मर्यादा (नैतिक प्रवृत्ति) का उल्लंघन नहीं करना चाहिए ॥१९॥

गुरु[३] विद्वान् ने भी मर्यादा उल्लंघन न करने वाले राजा के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

प्रजा की रक्षा करने के निम्न प्रकार हैं। (१) धन नष्ट हो जाने से विपत्ति में फँसे हुए (दरिद्र) कुटुम्बीजनों की द्रव्य से सहायता करना। (२) प्रजा से अन्याय पूर्वक तृणमात्र भी अधिक टैक्स वसूल न करना न्यायपूर्वक उचित टैक्स लेना अथवा दरिद्रतावश-आपत्ति में फँसी हुई प्रजा से तृणमात्र भी टैक्स न लेना। (३) किसी समय (अपराध करने पर)-अपराधानुकूल दण्ड-विधान करना ॥२०॥

नारद[४] विद्वान् ने भी लोक-रक्षा के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

राष्ट्र के शुल्क-स्थान (प्रधान शहर और बड़े-बड़े कृषिप्रधान ग्राम), जो कि न्याय से सुरक्षित होते हैं (जहाँ पर अधिक टैक्स न लेकर न्यायोचित टैक्स लिया जाता हो तथा चोरों-आदि द्वारा चुराई हुई प्रजा की धनादि वस्तु वापस दे दी जाती हो) और जहाँ पर व्यापारियों की खरीदने और बेचने योग्य वस्तुओं (केसर, हींग वस्त्रादि) की अधिक संख्या में दुकानें हों, वे राजाओं को कामधेनु समान अभिलषित वस्तु देने वाले होते हैं क्योंकि शुल्कस्थानों से राजा टैक्स के जरिये प्रचुर सम्पत्ति संचय कर शिष्टपालन व दुष्टनिग्रह में उपयोगी सैनिक-विभाग, शिक्षा विभाग व स्वास्थ्य-विभाग आदि की उन्नति करने में समर्थ होता हैं एवं राष्ट्र को शत्रु-कृत उपद्रवों से सुरक्षित हुआ खजाने की वृद्धि करता है। परन्तु शुल्क स्थान न्याय से सुरक्षित होने चाहिए, अन्यथा प्रजा असंतुष्ट और क्षुब्ध हो जाती है, जिसका परिणाम भयंकर होता है-आय के द्वार रुक जाने से कोष-क्षति व शत्रुकृत उपद्रवों द्वारा राज्य नष्ट होता है ॥२१॥

---

१. तथा च गर्गः-प्रजानां पीड़नाद्वित्तं न प्रभूतं प्रजायते। भूपतीनां ततो ग्राह्यं प्रभूतं येन तद्भवेत् ॥१॥

२. तथा च नारदः-अकरा ये कृताः पूर्वं तेषां ग्राह्यः करो न हि। निजवाक्यप्रतिष्ठार्थं भूभुजा कीर्तिमिच्छता ॥१॥

३. तथा च गुरुः-मर्यादातिक्रमो यस्यां भूमौ राज्ञः प्रजायते। समृद्धापि च सा द्रव्यैर्जायतेऽरण्यसन्निभा ॥२॥

४. तथा च नारदः-[चिन्तनं क्षीणं वित्तानां] स्वग्राहस्य विवर्जम्। युक्तदण्डं च लोकानां परमं वृद्धिकारणम् ॥१॥ सशो. परि.।

शुक्र[१] विद्वान् ने भी शुल्क स्थानों को न्याय से सुरक्षित रखने के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

सेना व राजकोष की वृद्धि के कारण, विद्वान् व ब्राह्मणों को देने योग्य भूमि, भूमि-दान व तालाब दान आदि में विशेषता अथवा वादविवाद के उपरान्त न्यायोचित निर्णय–

राज्ञां चतुरंगबलाभिवृद्धये भूयांसो भक्तग्रामा ॥२२॥

सुमहच्च गोमण्डलं हिरण्याय युक्तं शुल्कं कोषवृद्धिहेतुः ॥२३॥

देवद्विजप्रदेया गोरुतप्रमाणा भूमिर्दातुरादातुश्च सुखनिर्वाहा ॥२४॥

क्षेत्र व प्रखंडधृर्मायतनानामुत्तरः पूर्वं वाधते न पुनरुत्तरं पूर्वः[२] ॥२५॥

अर्थात् राजा ज्यादा धान्य की उपज वाले बहुत से ग्राम जो कि उसकी चतुरंग सेना (हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल) की वृद्धि के कारण हैं, उन्हें किसी को न देवे ॥२२॥

शुक्र[३] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

बहुत-सा गोमण्डल-गाय-बैलों का समूह, सुवर्ण और चुंगी टैक्स (लगान) आदि द्वारा प्राप्त हुआ धन राज-कोष की वृद्धि का कारण है ॥२३॥

गुरु[४] विद्वान् ने भी राजकोष की वृद्धि के उक्त कारण निरूपण किये हैं। ॥१॥

राजा द्वारा विद्वान् और ब्राह्मणों के लिए इतनी थोड़ी भूमि दान में दी जानी चाहिए, जिसमें गाय के रम्हाने का शब्द सुनाई पड़े; क्योंकि इतनी थोड़ी भूमि देने से दाता और पात्र (ग्रहण करने वाला) को सुख मिलता है। अर्थात् दाता भी दरिद्र नहीं होने पाता एवं कोई राजकीय अधिकारी उतनी थोड़ी-सी जमीन पर कब्जा नहीं कर सकता ॥२४॥

गौतम[५] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

क्षेत्र, तालाब, कोट, गृह और मन्दिर का दान इन पाँच चीजों के दानों में आगे आगे की चीजों का दान पूर्व के दान को बाधित कर देता है। अर्थात् हीन-(गौण) समझा जाता है। परन्तु पहली वस्तु

---

१. तथा च शुक्रः–ग्राह्यं नैवाधिकं शुल्कं चौरैर्यच्चाहृतं भवेत्। पिण्ठायं भूभुजा देयं वणिजां तत् स्वकोषतः ॥१॥

२. इसके पश्चात् मू. प्रतियों में 'नामुद्रहस्तो.' श्रूयते हि किल. व 'खेटकखड्ग.' इन तीनों सूत्रों का उल्लेख है, जो कि सं. टी. पुस्तक के दुर्म-समुद्देश में वर्तमान है, उनका अनुवाद वहाँ किया जायेगा। इनके सिवाय मू. प्रतियों में "न हि भर्तुरभियोगात् परः सर्वजनविशुद्धिहेतुरस्ति" इस प्रकार का अधिक पाठ वर्तमान है; जिसका अर्थ यह है कि राजा द्वारा दिये जाने वाले अपराधानुकूल दण्ड-विधान रूप न्याय से राष्ट्र की समस्त प्रजा विशुद्ध रहती हैं-नीति मार्ग पर आरूढ़ रहती है, इसके सिवाय प्रजा की विशुद्धि का दूसरा कोई उपाय नहीं।

३. तथा च शुक्रः–चतुरंगवलं येषु भक्तग्रामेषु तृप्यति। वृद्धिं याति न देवास्ते कस्पचित् सस्पदा यतः ॥१॥

४. तथा च गुरुः–प्रभूता धेनवो यस्य राष्ट्रे भूपस्य सर्वदा। हिरण्याय तथा च शुल्कं युक्तं कोषाभिवृद्धये ॥१॥

५. तथा च गौतमः–देवद्विजप्रदत्ता भूः प्रदत्ता खोपं नाप्नुयात्। दातुश्च बाह्मणस्थापि शुभा गोशब्द मात्र का ॥१॥

का दान आगे की वस्तु के दान को हीन नहीं करता। अर्थात् क्षेत्र (खेत) के दान की अपेक्षा तालाब का दान उत्तम है, इसी प्रकार तालाब-दान से कोट-दान, कोट-दान से गृह-दान और गृह-दान से मन्दिर-दान उत्तम और मुख्य है। आगे की वस्तुओं के दान की अपेक्षा पूर्व वस्तु का दान उत्तम या मुख्य नहीं है; क्योंकि आगे-आगे वस्तुओं का दान विशेष पुण्यबंध का कारण है।

(२) अर्थ-विशाल खाली पड़ी हुई किसी जमीन पर भिन्न-भिन्न पुरुषों ने भिन्न-भिन्न समयों में, खेत, कोट, घर और मन्दिर बनवाये पश्चात् उनमें अपने स्वामित्व के विषय में वाद-विवाद उपस्थित हो गया। उनमें से धर्माध्यक्ष (न्यायाधीश) किसको अधिकारी (स्वामी) निश्चित करे ? अर्थात् सबसे प्रथम किसी एक पुरुष ने किसी स्थान को भूमि को खाली पड़ी हुई देखकर वहाँ खेत बना लिए। पश्चात् दूसरे ने उस पर कोट खड़ा कर दिया और तीसरे ने उस पर मकान बनवा लिया, और चौथे ने मन्दिर निर्माण करा दिया तत्पश्चात् उन सब का आपस में वाद-विवाद प्रारम्भ हो गया। ऐसे अवसर पर आगे-आगे की वस्तु बनाने वाले मनुष्य न्यायोचित मुख्य अधिकारी समझे जावेंगे अर्थात् खेत बनाने वाले की अपेक्षा कोट बनाने वाला, कोट बनाने वाले की अपेक्षा गृह बनाने वाला और गृह बनाने वाले की अपेक्षा मन्दिर बनाने वाला बलवान और प्रधान अधिकारी समझा जावेगा। परन्तु पूर्व-पूर्व की चीजें बनाने वाला नहीं।

भावार्थ—उनमें से मन्दिर बनाने वाला व्यक्ति का उस जमीन पर पूर्ण अधिकार समझा जावेगा। पूर्व वस्तु बनाने वाले का नहीं ॥२५॥

॥ इति जनपद-समुद्देशः॥

(२०) दुर्ग-समुद्देशः

दुर्ग शब्दार्थ व उसके भेद–

यस्याभियोगात्परे दुःखं गच्छन्ति दुर्जनोद्योगविषया व स्वस्यापदो गमयतीति दुर्गम् ॥१॥

तद्द्विविधं स्वाभाविकमाहार्यं च ॥२॥

अर्थ–क्योंकि जिसके पास प्राप्त होकर या जिसके सामने युद्ध के लिए बुलाये गये शत्रु लोग, दुःख अनुभव करते हैं। अथवा यह दुष्टों के उद्योग द्वारा उत्पन्न होने वाली विजिगीषु की आपत्तियाँ नष्ट करता है, इसलिए इसे 'दुर्ग' कहते हैं। सारांश यह है कि जब विजिगीषु राजा अपने राज्य में शत्रु, द्वारा हमला होने के अयोग्य विकट स्थान (किला, खाई आदि) बनवाता है, तब शत्रु लोग उन विकट स्थानों से दुःखी होते हैं, क्योंकि उनके हमले सफल नहीं हो पाते एवं दुष्टों द्वारा होने वाले आक्रमण सम्बन्धी विजिगीषु के कष्ट-नाशक होने से भी इसे 'दुर्ग' कहते हैं ॥१॥

शुक्र[1] विद्वान् ने कहा है कि जिसके समीप प्राप्त होकर शत्रु दुःखी होते हैं व जो संकट पड़ने पर अपने स्वामी की रक्षा करता है, उसे 'दुर्ग' कहते हैं जिस प्रकार दंत-शून्य सर्प, मद-शून्य हाथी वश कर लिया जाता है, उसी प्रकार दुर्ग-शून्य राजा भी शत्रुओं द्वारा हमला करके वश कर लिया जाता है ॥२॥

जो दुर्ग देश के मध्य की सीमाओं पर बनाया जाता है उसकी विद्वान् लोग प्रशंसा करते हैं। परन्तु देश के प्रान्त भाग में बना हुआ दुर्ग अच्छा नहीं कहा जाता, क्योंकि वह मनुष्यों द्वारा पूर्ण रूप से सुरक्षित नहीं होता ॥१॥

अर्थ–दुर्ग दो तरह के होते हैं-(१) स्वाभाविक (२) आहार्य।

स्वाभाविक दुर्ग-स्वयं उत्पन्न हुए, युद्धोपयोगी व शत्रुओं द्वारा आक्रमण करने के अयोग्य पर्वत-खाई आदि विकट स्थानों को स्वाभाविक दुर्ग कहते हैं।

---

१. तथा च शुक्रः–यस्य दुर्गस्य संप्राप्तेः शत्रवो दुःखमाप्नुयुः। स्वामिनं रक्षयस्येव व्यसने दुर्गमेव तत् ॥१॥
दंष्ट्राविरहितः सर्पो यथा नागो मदच्युतः। दुर्गेण रहितो राजा तथा गम्यो भवेद्रिपोः ॥२॥
देशगर्भे तु यद्दुर्गं तद्दुर्गं शस्यते बुधैः। देशप्रान्तगतं दुर्गं न सर्वं रक्षितो जनैः ॥३॥

अर्थशास्त्र-वेत्ता विद्वान् चाणक्य[1] ने इसके चार भेद निरूपण किये हैं।

(१) औदक-जलदुर्ग, (२)पार्वत-पवर्तदुर्ग, (३) धान्वन (४) वनदुर्ग-स्थलदुर्ग।

औदक-चारों ओर नदियों से वेष्टित व मध्य में टापू समान विकट स्थान अथवा बड़े-बड़े तालाबों से वेष्टित मध्य स्थान को 'औदक' कहते हैं।

पार्वत-बड़े-बड़े पत्थरों या महान् चट्टानों से घिरे हुए अथवा स्वयं गुफाओं के आकार बने हुए विकट स्थान 'पार्वत दुर्ग' हैं।

धान्वन-जल व घास-शून्य भूमि या ऊसर जमीन में बने हुए विकट स्थान को 'धान्वन दुर्ग' कहते हैं।

वन दुर्ग-चारों और घनी कीचड़ से अथवा कांटेदार झाड़ियों से घिरे हुए स्थान को 'वनदुर्ग' कहते हैं।

जल-दुर्ग और पर्वत-दुर्ग देश रक्षा के एवं धान्वन और वन-दुर्ग आटविकों की रक्षा के स्थान हैं और राजा भी शत्रु कृत हमलों आदि आपत्ति के समय भागकर इन दुर्गों में आश्रय ले सकता है।

(२) आहार्यदुर्ग-कृत्रिम उपायों द्वारा बनाये हुए शत्रुओं द्वारा आक्रमण न किये जाने वाले, युद्धोपयोगी खाई-कोट आदि विकट स्थानों को 'आहार्य दुर्ग' कहते हैं।

दुर्ग-विभूति व दुर्ग शून्य देश तथा राजा की हानि-

वैषम्यं पर्याप्तावकाशो यवसेन्धनोदकभूपस्त्वं स्वस्य परेषामभावो बहुधान्यरस-संग्रहः प्रवेशापसारौ[2] वीरपुरुषा इति[3] दुर्गसम्पत् अन्यद्वन्दिशालावत् ॥३॥

अदुर्गो देशः कस्य नाम न परिभवास्पदं ॥४॥

अदुर्गस्य राज्ञः पयोधिमध्ये पोतच्युतपक्षिवदापदि नास्त्याश्रयः ॥५॥

अर्थ—निम्न प्रकार दुर्ग की विभूति-गुण है जिससे विजिगीषु शत्रुकृत उपद्रवों से अपना राष्ट्र सुरक्षित कर विजयश्री प्राप्त कर सकता है।

१. दुर्ग की जमीन-पर्वत आदि के कारण विषम-ऊँची-नीची व विस्तीर्ण (विस्तार युक्त)

---

१. तथा च चाणक्यः-''अन्तर्दीपं स्थलं वा निम्नावरुद्धमौदकं, प्रस्तरं गुहां वा पार्वतं, निरुदकस्तन्वभिरिणं वा धान्वनं, लञ्जनोदकं स्तम्वगहनं वा वनदुर्गम्। कौटिलीय अर्थशास्त्र प्र. २१, सूत्र २।
''तेषां नदीपर्वतदुर्गं जनपदारक्षस्थानं धान्वनवनदुर्गमटवीस्थानं, आपन्नपसारो वा। कौटि. अर्थ २१. प्र. सूत्र ३।

२. प्रवेशापसारो'' इस प्रकार मू. प्रतियों में पाठ है जिसका अर्थ यह है कि दुर्ग इतना मजबूत-दृढ़ व सैनिकों से व्याप्त हो जिसमें शत्रुओं का प्रवेश न हो सके।

३. इसके पश्चात् ''प्रत्येकं प्राकारगिरिकुञ्जबन्धनं दुर्गवर्य स्येति'' इतना विशेष पाठ मू. प्रतियों में वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि दुर्ग के प्रत्येक परकोटा में उक्त चीजें वर्तमान हों एवं वह ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों की शिखरों से व्याप्त होना चाहिए।

हो। २. जहाँ पर अपने स्वामी के लिए ही घास, ईंधन और जल बहुतायत से प्राप्त हो सकें; परन्तु हमला करने वाले शत्रुओं के लिए नहीं। ३. जहाँ पर गेहूँ-चावल-आदि अन्न व नमक; तेल व घी वगैरह रसों का प्रचुर संग्रह हो। ४. जिसके पहले दरवाजे से प्रचुर धान्य और रसों का प्रवेश एवं दूसरे से निकासी होती हो। ५. जहाँ पर बहादुर सैनिकों का पहरा हो। यह दुर्ग की सम्पत्ति जाननी चाहिए, जहाँ पर उक्त सम्पत्ति नहीं है, उसे दुर्ग न समझ कर जेलखाने का सामान अपने स्वामी का घातक समझना चाहिए ॥३॥

शुक्र[१] विद्वान् ने कहा है कि जिसमें एक द्वार से वस्तु-प्रवेश और दूसरे से निकासी न हो, वह दुर्ग नहीं जेलखाना है ॥१॥

दुर्गविहीन देश किसके पराजय का स्थान नहीं ? सभी के पराजय का स्थान है ॥४॥ आपत्तिकाल में-शत्रुकृत आक्रमणों के समय दुर्ग शून्य राजा का समुद्र के मध्य में नौका से गिरे हुए पक्षी के समान कोई रक्षक नहीं अर्थात् जिस प्रकार नौका से समुद्र में गिरे हुए पक्षी का कोई रक्षक नहीं, उसी प्रकार शत्रु कृत आक्रमण द्वारा संकट में फँसे हुए दुर्ग-शून्य राजा का भी कोई रक्षक नहीं है ॥५॥

शुक्र[२] विद्वान् ने भी दुर्ग-शून्य राजा के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

शत्रु के दुर्ग को नष्ट करने का उपाय, दुर्ग के विषय में राज कर्त्तव्य व ऐतिहासिक दृष्टान्त-

उपायतोऽधिगमनमुपजापश्चिरानुबन्धोऽवस्कन्दतीक्ष्णपुरुषोपयोगश्चेति परदुर्गलंभोपायाः ॥६॥

नामुद्रहस्तोऽशोधितो वा दुर्गमध्ये कश्चित् प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥७॥

श्रूयते किल हूणाधिपतिः पण्यपुटवाहिभिः सुभटैः चित्रकूटं जग्राह ॥८॥

खेटखड्गधरैः सेवार्थं शत्रुणा भद्राख्यं कांचीपतिमिति[३] ॥९॥

अर्थ—विजिगीषु को शत्रु, दुर्ग का नाश या उस पर अपना अधिकार करने के लिए निम्न प्रकार उपाय काम में लाने चाहिए।

१. अधिगमन-सामादि उपायपूर्वक शत्रुदुर्ग पर शस्त्रादि से सुसज्जित सैन्य प्रविष्ट करना। २. उपजाप-विविध उपाय (सामादि) द्वारा शत्रु के अमात्य-आदि अधिकारियों में भेद करके शत्रु के प्रतिद्वन्दी बनाना। ३. चिरानुबन्ध-शत्रु के दुर्ग पर सैनिकों का चिरकालतक घेरा डालना। ४.

---

१. तथा च शुक्रः-न निर्गमः प्रवेशश्च यत्र दुर्गे प्रविद्यते। अन्यद्वारेण वस्तूनां न दुर्गं तद्धि गुप्तिदं ॥१॥

२. तथा च शुक्रः-दुर्गेण रहितो राजा पोतभ्रष्टो यथा खगः। समुद्रमध्ये स्थानं न लभते तद्वदेव सः ॥१॥

३. ''खेटक-खड्गसहायश्च भद्रः कांचीपतिमिति'' इस प्रकार का पाठान्तर मू. प्रतियों में वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है, कि भद्र नामक राजा ने खड्गधारी सैनिकों को शिकारियों के वेष में काञ्ची देश के दुर्ग में प्रविष्ट कराकर वहाँ के नरेश को मार डाला।

अवस्कन्द–शत्रु, दुर्ग के अधिकारियों को प्रचुर सम्पत्ति और मान देकर वश करना। ५. तीक्षणपुरुषप्रयोग–घातक गुप्तचरों की शत्रु, राजा के पास भेजना ॥६॥

शुक्र[१] विद्वान् ने कहा है कि विजिगीषु शत्रु दुर्ग को केवल युद्ध द्वारा ही नष्ट नहीं कर सकता, अतएव उसे उसके अधिकारियों में भेद आदि उपायों का प्रयोग करना चाहिए ॥१॥ दुर्ग में स्थित केवल एक धनुर्धारी सैकड़ों शक्तिशाली शत्रुओं को अपने बाणों का निशाना बना सकता है, इसलिए दुर्ग में रहकर युद्ध किया जाता है ॥२॥

विजिगीषु, को, जिसके हाथ में राजमुद्रा नहीं दी गई हो ऐसे अज्ञात वा अपरीक्षित (जिसके निवास व गन्तव्य स्थान एवं उद्देश्य आदि की जाँच पड़ताल नहीं की गई हो) व्यक्ति को अपने दुर्ग में प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिए और न दुर्ग से बाहर निकलने देना चाहिए ॥७॥

शुक[२] विद्वान् ने भी कहा है कि ''जिसके शासनकाल में दुर्ग में राजमुद्रा–विहीन व अपरीक्षित पुरुष प्रविष्ट हो जाते हैं अथवा वहाँ से बाहर निकल आते हैं, उसका दुर्ग नष्ट हो जाता है ॥१॥''

इतिहास में लिखा है कि हूण देश के नरेश ने अपने सैनिकों को विक्रय योग्य वस्तुओं को धारण करने वाले व्यापारियों के वेश में दुर्ग में प्रविष्ट कराया और उनके द्वारा दुर्ग के स्वामी को मरवा कर चित्रकूट देश पर अपना अधिकार कर लिया ॥८॥

इतिहास बताता है कि किसी शत्रु राजा ने कांची नरेश की सेवा के बहाने भेजे हुए शिकार खेलने में प्रवीण होने से खङ्ग–धारण में अभ्यस्त सैनिकों को उसके देश में भेजा; जिन्होंने दुर्ग में प्रविष्ट होकर भद्र नाम के राजा को मारकर अपने स्वामी को काँची देश का अधिपति बनाया ॥९॥

जैमिनि[३] विद्वान् ने कहा है कि ''जो राजा अपने देश में प्रविष्ट हुए सेवकों पर विश्वास करता है, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥१॥''

॥ इति दुर्ग–समुद्देशः ॥

---

१. तथा च शुक्रः–च युद्धेन प्रशक्यं स्यात् परदुर्गं कथंचन। मुक्त्वा भेदाद्युपायांश्च तस्मातान् विनियोजयेत् ॥१॥
शतमेकोऽपि सन्धत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः। परेषामपि वीर्याढ्यं तस्माद् दुर्गेण युध्यते ॥२॥

२. तथा च शुक्रः–प्रविशन्ति नरा यत्र दुर्गे मुद्राविवर्जिताः। अशुद्धा निःसरन्ति स्म तद्दुर्गं तस्य नश्यति ॥१॥

३. तथा च जैमिनिः–स्वदेशजेषु भृत्येषु विश्वासं यो नृपो विजेद्। स. द्रुतं नाशमामाति जैमिनिस्विदमब्रवीत् ॥१॥

(२१) कोष-समुद्देशः

कोष शब्द की व्याख्या, उसके गुण व उसके विषय में राजकर्तव्य-

यो विपदि सम्पदि च स्वामिनस्तंत्राभ्युदयं कोषयतीति कोषः ॥१॥ सातिशयहिरण्यरजतप्रायो व्यावहारिकनाणकबहुलो महापदि व्ययसहश्चेति कोषगुणाः ॥२॥ कोषं वर्धयन्नुत्पन्नमर्थमुपयुञ्जीत ॥३॥

अर्थ—जो विपत्ति और संपत्ति के समय राजा के तंत्र (हाथी, घोड़े, रथ और प्यादे रूप चतुरङ्ग सेना), की वृद्धि करता है एवं उसको सुसंगठित करने के लिए धन-वृद्धि करता है, उसे कोष (खजाना) कहते हैं ॥१॥

शुक्र[१] विद्वान् ने भी कोष शब्द की यही व्याख्या की है ॥१॥

अधिक तादाद में सोना व चांदी से युक्त जिसमें व्यवहार में चलने वाले रुपयों और अशर्फियों-आदि सिक्कों का आधिक संग्रह पाया जावे और जो संकट समय, अधिक खर्च करने में समर्थ हो, ये कोष के गुण हैं। अर्थात् ऐसे खजाने से राजा व राष्ट्र दोनों का कल्याण होता है ॥२॥

गुरु[२] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कोष-गुण निरूपण किये हैं ॥१॥

नीतिकार कामन्दक[३] ने भी कहा है, कि ''जो मोती सुवर्ण और रत्नों से भरपूर, पिता व पितामह से चला आने वाला न्याय से संचय किया हुआ व पुष्कल खर्च सहन करने वाला हो, उसे सम्पत्ति शास्त्र के विद्वानों ने 'कोष' कहा है ॥१॥ कोषवान-धनाढ्य पुरुष को धर्म और धन की रक्षा के निमित्त एवं भृत्यों के भरण पोषणार्थ तथा आपत्ति से बचाव करने के लिए सदा कोष की रक्षा करनी चाहिए ॥२॥''

राजा अपना कोष बढ़ाता हुआ कर आदि न्यायोचित उपायों द्वारा प्राप्त किये हुए धन में से कुछ धन उपयोग में लावे ॥३॥

वशिष्ठ[४] विद्वान् ने कहा है कि बुद्धिमान नरेशों को आपत्तिकाल को छोड़कर राज्य रक्षक

---

१. तथा च शुक्रः-आपत्काले च सम्प्राप्ते सम्पत्काले विशेषतः। तन्त्रं विवर्धयते राज्ञां स कोशः परिकीर्तितः ॥१॥

२. तथा च गुरुः-आपत्काले तु लम्प्राप्ते बहुव्ययसहक्षमः। हिण्यादिभिः संयुक्तः स कोषो गुणवान् स्मृतः ॥१॥

३. तथा च कामन्दकः-मुक्ताकनकरत्नाढ्यः पितृपैताहमहोचितः। धर्मार्जितो व्ययसहः क्रोषः कोषज्ञसम्मतः ॥१॥ धर्महेतोस्तथार्थाय भृत्यानां भरणाय च। आपदर्थञ्च संरक्ष्यः कोषः कोषवता सदा ॥२॥

४. तथा च वशिष्टः-कोषवृद्धि सदा कार्या नैव हानिः कथंचन। आपत्कालादृते प्राज्ञैर्यत्कोषो राज्यरक्षकः ॥१॥

कोष की सदा वृद्धि करनी चाहिए, न कि हानि ॥१॥

कोषवृद्धि न करने वाले राजा का भविष्य, कोष का माहात्म्य व कोषविहीन राजा के दुष्कृत्य व विजयलक्ष्मी का स्वामी–

कुतस्तस्यायत्यां श्रेयांसि यः प्रत्यहं काकिण्यापि कोषं न वर्धयति ॥४॥

कोषो हि भूपतीनां जीवनं न प्राणाः ॥५॥

क्षीणकोषो हि राजा पौरजनपदानन्यायेन ग्रसते ततो राष्ट्रशून्यता स्यात् ॥६॥

कोषो राजेत्युच्यते न भूपतीनां शरीरं ॥७॥

यस्य हस्ते द्रव्यं स जयति ॥८॥

अर्थ–जो राजा सदा कौड़ी-कौड़ी जोड़कर भी, अपने कोष की वृद्धि नहीं करता, उसका भविष्य में किस प्रकार कल्याण हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥४॥

गुरु[1] ने भी कोषवृद्धि के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

निश्चय से कोष ही राजाओं का जीवन-प्राण-रक्षा का साधन है; प्राण नहीं। सारांश यह है कि राज-तन्त्र कोषाश्रित है, इसके बिना वह नष्ट हो जाता है ॥५॥

भागुरि[2] विद्वान् ने लिखा है कि जिस प्रकार पक्षीगण कुलीन (पृथ्वी में लीन) और ऊँचे भी पेड़ को सूखा-फल-पुष्प विहीन देखकर दूसरे फल-पुष्पयुक्त पेड़ पर चले जाते हैं, उसी प्रकार राजकीय सेवक लोग-पदाधिकारी कुलीन और उन्नतिशील राजा को छोड़कर दूसरे (धनाढ्य) की सेवा करने लगते हैं ॥१॥

कोषविहीन राजा देशवासियों के निर्दोष होने पर भी उन्हें अन्याय से दण्डित कर जुर्माना आदि द्वारा उनसे प्रचुर धनराशि ग्रहण करने को सतत प्रयत्नशील रहता है। जिसके फलस्वरूप अन्याय से पीड़ित प्रजा वहाँ से भाग जाती है, जिससे राष्ट्र में शून्यता हो जाती है। सारांश यह है कि राजा को न्यायोचित उपायों से कोष वृद्धि करते रहना चाहिए ॥६॥

गौतम[3] विद्वान् ने भी उपरोक्त कथन की पुष्टि की है ॥१॥

नीतिज्ञ पुरुष राज-कोष को ही राजा मानते हैं, न कि उसके शरीर को। क्योंकि कोष-शून्य होने से वह शत्रुओं द्वारा पीड़ित किया जाता है ॥७॥

रैभ्य[4] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

---

१. तथा च गुरुः–काकिण्यापि न वृद्धिं यः कोषं नयति भूमिपः। आपत्काले तु सम्प्राप्ते शत्रुभिः पीड्यते हि सः ॥१॥

२. तथा च भागुरिः–कोशहीनं नृपं भृत्या कुलीनमपि चोन्नतं। संत्यज्यान्यत्र गच्छन्ति शुष्कं वृक्षमिवाण्डजाः ॥१॥

३. तथा च गौतमः–कोषहीनो नृपो लोकान् निर्दोषानपि पीडयेत्। तेऽन्यदेशं ततो यान्ति ततः कोषं प्रकारयेत् ॥१॥

४. तथा च रैभ्यः–राजा शब्दोऽत्र कोषस्य न शरीरे नृपस्य च। कोषहीनो नृपो यस्माच्छत्रुभिः परिपीड्यते॥ ५॥

जिसके पास धन-राशि है वही विजयलक्ष्मी प्राप्त करता है ॥८॥

निर्धन की कड़ी आलोचना, कुलीन होने पर भी सेवा के योग्य न माने जाने वाले राजा का वर्णन, धन का माहात्म्य, और मनुष्य की कुलीनता और बड़प्पन व्यर्थ होने के कारण–

धनहीनः कलत्रेणापि परित्यज्यते किं पुनर्नान्यैः ॥९॥

न खलु कुलाचाराभ्यां पुरुषः सर्वोऽपि सेव्यतामेति किन्तु वित्तेनैव ॥१०॥

स खलु महान् कुलीनश्च यस्यास्ति धनमनूनं ॥११॥

किं तया कुलीनतया महत्तया वा या न सन्तपर्यति परान् ॥१२॥

अर्थ–निर्धन को, जबकि उसे स्वयं उसकी पत्नी भी छोड़ देती है, तो फिर सेवकों द्वारा उसे छोड़े जाने में विशेषता ही क्या है ? सारांश यह है कि संकट पड़ने पर निर्धन की कोई सहायता नहीं करता। अतः विवेकी पुरुष को न्यायोचित उपायों द्वारा धन-संचय करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए ॥९॥

सेवक लोग कुलीन और सदाचारी होने से ही मनुष्य को श्रेष्ठ या सेवा-योग्य नहीं समझते बल्कि धनाढ्य होने से ही उसे श्रेष्ठ मानते हैं। संसार में दरिद्र व्यक्ति के कितने ही कुलीन और सदाचारी होने पर उसकी सेवार्थ कोई प्रस्तुत नहीं होता, क्योंकि वहाँ जीविकोपार्जन का साधन (धन) नहीं है, जबकि नीच कुल में उत्पन्न और चारित्रभ्रष्ट होने पर भी धनाढ्य व्यक्ति को जीविका हेतु सभी लोग सेवा करते हैं। निष्कर्ष यह है कि कुलीन और सदाचारी होने पर भी राजा के लिए राज-तन्त्र को नियमित व व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए न्यायोचित उपायों द्वारा धन संग्रह कर कोष-वृद्धि करते रहना चाहिए ॥१०॥

व्यास[१] विद्वान् ने लिखा है कि संसार में मनुष्य धन का नौकर है, धन किसी का नहीं। क्योंकि धनार्थ कुलीन व्यक्ति भी धनाढ्य की सेवा करते हैं ॥१॥

जिसके पास प्रचुर धन विद्यमान है, वही महान् और कुलीन कहलाता है ॥११॥

जैमिनि[२] विद्वान् ने लिखा है कि संसार में उच्च होने पर भी धनहीन नीचकुल में, और धनवान् नीचकुल का होने पर भी उच्चकुल में गिना जाता है ॥१॥

जो आश्रितों को सन्तुष्ट नहीं कर पाता, उसकी निरर्थक कुलीनता और बड़प्पन से कोई लाभ नहीं है। निष्कर्ष यह है कि पुरुष लोक में अपनी कुलीनता व बड़प्पन धन द्वारा आश्रितों की रक्षा करने के उपरान्त ही कायम रख सकता है, अतएव धन-संग्रह अनिवार्य है। धनाढ्य पर कंजूस

---

१. तथा च व्यासः–अर्थस्य पुरुषो दासो नार्थो दासोऽत्र कस्यचिद्। अर्थार्थं येन सेव्यन्ते नीचा अपि कुलोद्भवैः ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः–कुलीनोऽपि सुनीचोऽत्र यस्य नो विद्यते धनम्। अकुलीनोऽपि संदृश्यो यस्य सन्ति कपर्दिकाः ॥१॥

मनुष्य का बड़प्पन व्यर्थ है क्योंकि उसके आश्रित उससे संतुष्ट नहीं रह पाते ॥१२॥

गर्ग[1] विद्वान् ने भी कृपण के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

उक्त बात का दृष्टान्त द्वारा समर्थन, व खाली खजाने की वृद्धि का उपाय–

तस्य किं सरसो महत्वेन यत्र न जलानि ॥१३॥

देवद्विजवणिजां धर्माध्वरपरिजनानुपयोगिद्रव्यभागैराढ्यविधवानियोगिग्राम-कूटगणिकासंघपाखण्डिविभवप्रत्यादानैः समृद्धपौरजानपदद्रविण संविभागप्रार्थनैरनुपक्षयश्रीकामंत्रिपुरोहितसामन्तभूपालानुनयग्रहागमनाभ्यां क्षीणकोषः कोषं कुर्यात् ॥१४॥

अर्थ–उस तालाब के विस्तीर्ण होने से क्या लाभ है ? जिसमें पर्याप्त जल नहीं परन्तु जल से परिपूर्ण छोटा तालाब भी इससे कहीं अधिक प्रशंसनीय है। उसी प्रकार मनुष्य कुलीनता आदि से बड़ा होने पर भी यदि दरिद्र है तो उसका बड़प्पन व्यर्थ है। अतः न्यायोचित साधनों द्वारा धन-संचय महत्त्वपूर्ण होता हैं ॥१३॥

खाली खजाने को भरने के लिए राजा निम्नलिखित चार उपाय उपयोग में लावे (१) विद्वान् ब्राह्मण और व्यापारियों से उनके द्वारा संचित किये हुए धन में से क्रमशः धर्मानुष्ठान यज्ञानुष्ठान और कौटुम्बिक-पालन के अतिरिक्त जो धन-राशि शेष बचे, उसे लेकर अपनी कोष-वृद्धि करे।

(२) धनाढ्य पुरुष, सन्तान-हीन धनाढ्य, विधवायें, धर्माध्यक्ष आदि ग्रामीण अधिकारीवर्ग, वेश्याओं का समूह और कापालिक आदि पाखंडी लोगों के धन पर कर लगाकर उनकी सम्पत्ति का कुछ अंश लेकर अपने कोष की वृद्धि करे।

(३) सम्पत्तिशाली देशवासियों की प्रचुर धन-राशि का विभाजन करके उनके भलीभाँति निर्वाह योग्य छोड़कर, अवशिष्ट धन को उनसे प्रार्थनापूर्वक शान्ति के साथ लेकर अपने कोष की वृद्धि करे।

(४) अचल सम्पत्तिशाली, मंत्री, पुरोहित और अधीनस्थ राजा लोगों का अनुनय और विनय करके उनके घर जाकर उनसे धन-याचना करे और उस धन से अपनी कोष-वृद्धि करे ॥१४॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी राजकीय कोष-वृद्धि के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

॥ इति कोष-समुद्देशः॥

---

१. तथा च गर्गः–वृथा तद्धनिनां वित्तं यन्न पुष्टिं नवेत्परान्। कुलीनोऽपि हि किं तेन कृपणेन स्वभावतः ॥१॥

२. देखो नीति. सं. टी. पृ० २०६।

(२२) बल-समुद्देशः

बल शब्द की व्याख्या, प्रधान सैन्य, हस्तियों का माहात्म्य व उनकी युद्धोपयोगी प्रधान शक्ति–

द्रविणदानप्रियभाषणाभ्यामरातिनिवारणेन यद्धि हितं स्वामिनं सर्वावस्थासु बलते संवृणोति बलम् ॥१॥ बलेषु हस्तिनः प्रधानमंगं स्वैरवयवैरष्टायुधा हस्तिनो भवन्ति ॥२॥ हस्तिप्रधानो विजयो राज्ञां यदेकोऽपि हस्ती सहस्त्रं योधयति न सीदति प्रहारसहस्त्रेणापि ॥३॥ जातिः कुलं वनं प्रचारश्च न हस्तिनां प्रधानं किन्तु शरीर बलं शौर्यं शिक्षा च तदुचिता च सामग्री सम्पत्तिः ॥४॥

अर्थ–जो शत्रुओं का निवारण करके धन-दान व मधुर भाषण द्वारा अपने स्वामी के सभी प्रयोजन सिद्ध करके उसका कल्याण करता है एवं उसे आपत्तियों से सुरक्षित रखकर शक्ति प्रदान करता है अतः उसे बल-सैन्य (हाथी, घोड़े, रथ, पैदल रूप चतुरङ्ग सेना) कहते हैं ॥१॥

शुक्र[१] विद्वान् ने भी 'बल' शब्द की यही व्याख्या की है ॥१॥

चतुरङ्ग सेना में हाथी प्रधान माने जाते हैं, क्योंकि वे अष्टायुध हैं। अर्थात् वे अपने चारों पैरों, दो दाँत, पूँछ और सूंड रूप शस्त्रों से युद्ध में शत्रुओं का विनाश करते हुए विजय-श्री प्राप्त करते हैं। जबकि अन्य पैदल आदि सैनिक दूसरे खङ्ग आदि हथियारों के धारण करने से आयुधवान (शस्त्रधारी) कहे जाते हैं।

पालकि[२] विद्धान् ने भी अष्टायुध हाथियों की प्रशंसा की है ॥१॥

राजाओं की विजय के प्रधान कारण हाथी ही होते हैं; क्योंकि युद्धभूमि में वह शत्रुकृत हजारों प्रहारों से ताड़ित किये जाने पर भी व्यथित न होकर अकेला ही हजारों सैनिकों से युद्ध करता रहता है ॥३॥

शुक्र[३] विद्वान् ने युद्ध में विजय-प्राप्ति का कारण हाथी ही माना है ॥१॥

हाथी जाति, कुल, वन और प्रचार के ही कारण प्रधान नहीं माने जाते परन्तु निम्नलिखित चार

---

१. तथा च शुक्रः–धनेन प्रियसंभाषैर्यतश्चैव पुरार्जितम्। आपद्भवः स्वामिनं रक्षेत्ततो बलमिति स्मृतम् ॥१॥

२. तथा च पालकिः–अष्टायुधो भवेद्दन्ती दन्ताभ्यां चरणैरपि। तथा च पुच्छशुण्डाभ्यां संख्ये तेन स शस्यते ॥१॥

३. तथा च शुक्रः–सहस्त्रं योधयत्येको यतो याति न च व्यथां। प्रहारैर्बहुभिर्लग्नैस्तस्माद्धस्तिमुखो जयः ॥१॥

गुणों से मुख्य माने जाते हैं

(१) उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट व शक्तिशाली होना चाहिए; क्योंकि यदि वे बलिष्ठ नहीं हैं और उनमें अन्य मन्द व मृग-आदि जाति, ऐरावत-आदि कुल, प्राच्य-आदि वन, पर्वत व नदी-आदि प्रचार के पाये जाने पर भी वे युद्ध-भूमि में विजयी नहीं हो सकते। (२) शौर्य, पराक्रम-हाथियों का पराक्रमी होना आत्यावश्यक है क्योंकि इसके बिना आलसी हाथी अपने ऊपर आरूढ़ महावत के साथ-साथ युद्धभूमि में शत्रुओं द्वारा मार डाले जाते हैं। (३) उनमें युद्धोपयोगी शिक्षा का होना भी अनिवार्य है, क्योंकि शिक्षित हाथी युद्ध में विजयी होते हैं, जबकि अशिक्षित अपने साथ-साथ महावत को भी ले डूबता है और बिगड़ जाने पर उलटकर अपने स्वामी की सेना को भी रौंद डालता है। (४) युद्धोपयोगी कारण सामग्री रूप लक्ष्मी-हाथियों में युद्धोपयोगी कर्त्तव्यशीलता आदि सामग्री (कठिन स्थानों में गमन करना, शत्रुसेना का उन्मूलन करना आदि) का होना भी प्रधान है; क्योंकि इसके बिना वे विजयश्री प्राप्त कराने में असमर्थ होते हैं ॥४॥

बल्लभदेव[1] विद्वान् ने भी हाथी के शक्तिशाली होने के विषय में इसी प्रकार कहा है।

अशिक्षित हाथी व उनके गुण-

अशिक्षिता हस्तिनः केवलमर्थप्राणहराः ॥५॥

सुखेन यानमात्मरक्षा परपुरावमर्दनमरिव्यूहविघातो जलेषु सेतुबन्धो वचनादन्यत्र सर्वविनोदहेतवश्चेति हस्तिगुणाः ॥६॥

अर्थ—युद्धोपयोगी शिक्षा-शून्य हाथी केवल अपने स्वामी का धन व महावत आदि के प्राण नष्ट कर देते हैं। क्योंकि उनके द्वारा विजय-लाभ रूप प्रयोजन-सिद्धि नहीं होती, इससे वे निरर्थक घास व अन्न आदि भक्षण द्वारा अपने स्वामी की आर्थिक-तृप्ति करके अपने आरूढ़ महावत के भी प्राण ले लेते हैं एवं बिगड़ जाने पर उलट कर अपने स्वामी की सेना को भी रौंद डालते हैं ॥५॥

नारद[2] विद्वान् ने भी अशिक्षित हाथियों के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

हाथियों में निम्न प्रकार गुण होते हैं। १. कठिन मार्ग को सरलता पूर्वक पार कर जाना। २. शत्रु-कृत प्रहारों से अपनी तथा महावत की रक्षा करना। ३. शत्रु-नगर का कोट व प्रवेश द्वार भंग कर उसमें प्रविष्ट होकर नेस्तनावूद करना। ४. शत्रु के सैन्य-समूह को कुचलकर नष्ट करना। ५. नदी के जल में एक साथ कतारबार खड़े होकर पुल बाँधना। ६. केवल वचनालाप-बोलना छोड़कर अपने स्वामी के लिए सभी प्रकार के आनन्द उत्पन्न करना ॥६॥

भागुरि[3] विद्वान् ने भी हाथियों के उक्त गुण निरूपण किये हैं ॥१॥

---

१. तथा च बल्लभदेवः—जातिवंशवनभ्रान्तैर्बलैरेतैश्चतुर्विधैः। युक्तोऽपि बलहीनः स यदि पुष्टो भवेन्न च ॥१॥

२. तथा च नारदः—शिखाहीना गजा यस्य प्रभवन्ति महीभृतः। कुर्वन्ति धननाशं ते केवलं धनसंचयम् ॥१॥

३. तथा च भागुरिः—सुखयानं सुरक्षा च शत्रोः पुरविभेदनम्। शत्रुव्यूहविघातश्च सेतुबन्धो गजैः स्मतः ॥१॥

घोड़ों की सेना, उसका माहात्म्य व जात्यश्व का माहात्म्य–

अश्वबलं सैन्यस्य जंगमं प्रकारः ॥७॥ अश्वबलप्रधानस्य हि राज्ञः कदनकन्दुकक्रीड़ाः प्रसीदन्ति श्रियः, भवन्ति दूरस्था अपि शत्रवः करस्थाः। आपत्सु सर्वमनोरथ–सिद्धिस्तुरंगे एव, सरणमपसरणमवस्कन्दः परानीकभेदनं च तुरङ्गमसाध्यमेतत् ॥८॥ जात्यारूढ़ो विजिगीषुः शत्रोर्भवति तत्तस्य गमनं नारातिर्ददाति ॥९॥ तर्जिका, (स्व) स्थलाणा करोखरा गाजिगाणा केकाणा पुष्टाहारा गव्हारा सादुयारा सिन्धुपारा जात्याश्वानां नवोत्पत्तिस्थानानि ॥१०॥

अर्थ–घोड़ों की सेना चतुरङ्ग सेना का चलता-फिरता भेद है, क्योंकि वे अत्यन्त चपल व वेग से गमन करने वाले होते हैं ॥७॥

नारद[१] विद्वान् ने भी अश्व-सैन्य के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जिस राजा के पास अश्व-सेना प्रधानता से विद्यमान है, उस पर युद्ध रूपी गेंद से क्रीड़ा करने वाली लक्ष्मी-विजयश्री प्रसन्न होती है जिसके फलस्वरूप उसे प्रचुर सम्पत्ति मिलती है। और दूरवर्ती शत्रु लोग भी निकटवर्ती हो जाते हैं। इसके द्वारा विजिगीषु आपत्तिकाल में अभिलषित पदार्थ प्राप्त करता है। शत्रुओं के सामने जाना और मौका पाकर वहाँ से भाग जाना, छल से उन पर हमला करना व शत्रु-सेना को छिन्न-भिन्न कर देना, ये कार्य अश्व-सेना द्वारा ही सिद्ध होते हैं रथादि से नहीं ॥८॥

शुक्र[२] विद्वान् ने भी कहा है कि ''राजा लोग अश्व-सैन्य द्वारा देखने वालों के समक्ष शत्रुओं पर हमला करके प्रस्थान कर दूरवर्ती शत्रु को मार डालते हैं। ॥१॥

जो विजिगीषु जात्यश्व पर आरूढ़ होकर शत्रु पर हमला करता है, इससे उसकी विजय होती है और शत्रु विजिगीषु, पर प्रहार नहीं कर सकता ॥९॥

जाति-अश्व के ९ उत्पत्ति स्थान-जातियाँ-हैं। १. तार्जिका, २. स्वस्थलाणा, ३. करोखरा, ४ गाजिगाणा, ५ केकाणा, ६ पुष्टाहारा, ७. गाव्हारा, ८. सादुयारा व ९. सिन्धुपारा ॥१०॥

शालिहोत्र[३] विद्वान् ने भी अश्वों की ९ उक्त जातियों का उल्लेख किया है ॥१॥

रथ-सैन्य का माहात्म्य, व सप्तम-उत्साही सेना एवं उसके गुण–

---

१. तथा च नारदः–तुरंगमबलं यच्च तत्प्रकारो बलं स्मृतं। सैन्यस्य भूभुजा कार्यं तस्मातद्वेगवत्तरम् ॥१॥

२. तथा च शुक्रः–प्रेक्षतामपि शत्रूणां यतो यान्ति तुरंगमैः। भूपाला येन निघ्नन्ति शत्रुं दूरेऽपि संस्थितम् ॥१॥

३. तथा च शालिहोत्रम्–
तर्जिका स्वस्थलाणा सुतोखरास्थोत्तमा हयाः। गाजिगाणा सकेकाणाः पुष्ठाहाराच मध्यमाः ॥१॥
गाव्हारा सादुयाराश्च सिन्धुपारा कनीयस्थाः। अश्वानां शलिहोत्रेण जातयो नव कीर्तितः ॥२॥

समा भूमिर्धनुर्वेदविदो रथारूढ़ाः प्रहर्तारो यदा तदा किमसाध्यं नाम नृपाणाम् ॥११॥

रथैरवमर्दितं परबलं सुखेन जीयते मौल-भृत्यकभृत्यश्रेणी मित्राटविकेषु पूर्वं पूर्वं बलं यतेत ॥१२॥ अथान्यत्सप्तममौत्साहिकं बलं यद्विजिगीषोर्विजययात्राकाले परराष्ट्रबिलोडनार्थमेव मिलति क्षत्रसारत्त्वं शस्त्रज्ञत्वं शौर्यसारत्वमनुरक्तत्वं चेत्यौत्साहिकस्य गुणाः ॥१३॥

अर्थ—जब धनुर्विद्या में प्रवीण धनुर्धारी योद्धागण रथारूढ़ होकर समतल युद्धभूमि में शत्रुओं पर प्रहार करते हैं, तब विजिगीषु राजाओं को कोई भी चीज-विजय-लाभादि-असाध्य नहीं। सारांश यह है, कि समतल भूमि-गर्त-पाषाणादि रहित जमीन व प्रवीण योद्धाओं के होने से ही युद्ध में विजिगीषु को विजय श्री प्राप्त होती है। क्योंकि ऊबड़-खाबड़ भूमि और अकुशल योद्धाओं के कारण रथ-संचालन व युद्धादि भली-भाँति न होने से निश्चय ही हार होती है ॥१॥

शुक्र[1] विद्वान् के उद्धरण का भी यही आशय है ॥१॥

विजिगीषु के रथों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट हुई शत्रु सेना आसानी से जीती जाती है, परन्तु उसे मौल (वंशपरम्परा से चली आई, प्रामाणिक विश्वास-पात्र व युद्ध विद्या-विशारद पैदल सेना,) अधिकारी सैन्य, सामान्य सेवक, श्रेणी सेना, मित्र सेना व आटमिक सैन्य इन छह प्रकार की सेना में से सबसे पहले सारभूत सैन्य को युद्ध में सुसज्जित करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि फल्गुसैन्य (कमजोर, अविश्वासी व युद्ध करने में अकुशल निस्सार सैन्य) द्वारा हार होना निश्चित रहता है ॥१२॥

विमर्श-नीतिकार चाणक्य[2] ने कहा है कि ''वंशपरम्परा से चली आने वाली, नित्य वश में रहने वाली प्रामाणिक व विश्वास-पात्र पैदल सेना को 'सारबल' कहते हैं एवं गुणनिष्पन्न हाथियों व घोड़ों की सेना भी 'सारभूत सैन्य' है। अर्थात् कुल, जाति, धीरता, काय करने योग्य आयु, शारीरिक बल, आवश्यक ऊँचाई-चौड़ाई आदि, वेग, पराक्रम, युद्धोपयोगी शिक्षा, स्थिरता, सदा ऊपर मुँह उठाकर रहना, सवार की आज्ञा में रहना व अन्य शुभलक्षण और शुभ चेष्टाएँ, इत्यादि गुणयुक्त हाथी व घोड़े का सैन्य भी 'सारबल' है। अतः विजिगीषु उक्त सारभूत सैन्य द्वारा शत्रुओं को सुखपूर्वक आसानी से नष्ट करे॥

नारद[3] विद्वान् ने भी सारभूत सेना को ही युद्ध में विजय प्राप्त करने का कारण माना है ॥१॥

---

१. तथा च शुक्रः-रथारूढाः सुधानुष्का भूमिभागे समे स्थिताः। युद्ध्यन्ते अस्य भूपस्य तस्यासाध्यं न किंचन ॥१॥

२. तथा च चाणिक्यः-दण्डसंपत्सारबलं पुंसाम्। हस्त्यश्वयोर्विशेषः-कुलं जातिः सत्वं वयस्तथा प्राणोवर्ष्म जवस्तेजः शिल्पं स्थैर्यमुदग्रता। विधेयत्वं सुव्यञ्जनाचारतेति। कौटिलीये अर्थशास्त्र सांग्रामिक प्रक. पृ० ४८६

३. तथा च नारदः-रथैरवमर्दितं पूर्वं परसैन्यं जयेन्नृपः। षडभिर्वलैः समादिष्टैमौखाद्यैः ससुखेन च ॥१॥

उक्त छह प्रकार की सेनाओं के सिवाय एक सातवीं उत्साही सेना भी होती है। जब बिजिगीषु शत्रु, को जीतने के लिए उस पर चतुरङ्ग सेना द्वारा प्रबल आक्रमण करता है, तब वह शत्रु-राष्ट्र को नष्ट-भ्रष्ट नेस्तनाबूद-करने व धन लूटने के लिए इस की सेना में मिल जाती है। इसमें क्षात्र तेज-युक्त शस्त्र-विद्याप्रवीण व इसमें अनुराग युक्त क्षत्रिय वीर पुरुष सैनिक होते हैं ॥१३॥

नारद विद्वान् ने भी उक्त गुण सम्पन्न सैन्य को सेना कहा है ॥१॥

औत्साहिक सैन्य के प्रति राज-कर्त्तव्य, प्रधान सेना का माहात्म्य व स्वामी द्वारा सेवकों को दिये हुए सम्मान का प्रभाव-

मौलवलाविरोधेनान्यद्बलमर्थमानाभ्यामनुगृह्णीयात् ॥१४॥ मौलाख्यमापद्यनुगच्छति दण्डितमपि न द्रुह्यति भवति चापरेषामभेद्यम् ॥१५॥ न तथार्थः पुरुषान् योधयति यथा स्वाभिसम्मानः ॥१६॥

अर्थ—राजा अपने मौल सैन्य-प्रधान सेना-का अपमान न करके-धन मानादि द्वारा अनुरक्त करके-उसके साथ-साथ उत्साही सैन्य (शत्रु पर आक्रमणार्थ अपनी ओर प्रविष्ट हुई अन्य राजकीय सेना) को भी धन व मान देकर प्रसन्न रखे ॥१४॥

वादरायण[१] विद्वान् ने भी मौल व औत्साहिक सैन्य को सन्तुष्ट रखने के लिए इसी प्रकार कहा है ॥१॥

विजिगीषु का मौलसैन्य आपत्ति काल में भी उसका साथ देता है और दण्डित किये जाने पर भी द्रोह नहीं करता, एवं शत्रुओं द्वारा फोड़ा नहीं जाता। अतः विजिगीषु उसे धन-मानादि देकर सदा सन्तुष्ट रखे ॥१५॥

वशिष्ठ[२] विद्वान् ने भी मौल सैन्य की यही विशेषता बताई है ॥१॥

जिस प्रकार राजा से दिया गया सम्मान सैनिकों को युद्ध करने में प्रेरित करता है उस प्रकार दिया हुआ धन प्रेरित नहीं करता। अर्थात सैनिकों के लिए धन देने की अपेक्षा सम्मान देना कहीं ज्यादा श्रेयस्कर है ॥१६॥

नारायण[३] विद्वान् ने भी सैनिकों को अनुरक्त रखने का यही उपाय बताया है ॥१॥

सेना के राज-विरुद्ध होने के कारण, स्वयं सैन्य की देखरेख न करने से हानि और दूसरों के द्वारा न कराने योग्य कार्य-

स्वयमनवेक्षणं देयांशहरणं कालयापना व्यसनाप्रतीकारो विशेषविधावसंभावनं च तंत्रस्य विरक्तिकारणानि ॥१७॥

---

१. तथा च वादरायणः-अन्यद्बलं समायातमौत्सक्यात् परनाशनं। दानमानेन तत्तोच्यं मौलसौन्याविरोधतः ॥१॥
२. तथा च वशिष्ठः-न दण्डितमपि स्वल्पं द्रोहं कुर्यात कथंचन। मौल बलं न मेद्यं च शत्रु वर्गेण जायते ॥१॥
३. तथा च नारायणः-न तथा पुरुषानर्थः प्रभूतोऽपि महाहयं। कारापयति योंद्धृणां स्वामिसं भावना यथा ॥१॥

स्वयमवेक्षणीयसैन्यं परैरवेक्षयन्नर्थतंत्राभ्यां परिहीयते ॥१८॥ आश्रितभरणे स्वामिसेवायां धर्मानुष्ठाने पुत्रोत्पादने च खलु न सन्ति प्रतिहस्ता: ॥१९॥

अर्थ—राजा के निम्नलिखित कार्यों से, उसकी सेना उसके विरुद्ध हो जाती है।

स्वयं अपनी सेना को देखरेख न करना, उनके देने योग्य वेतन में से कुछ भाग हड़प कर लेना, आजीविका के योग्य वेतन को यथासमय न देकर विलम्ब से देना, उन्हें विपत्तिग्रस्त देखकर भी सहायता न करना और विशेष अवसरों (पुरुषोत्पत्ति, विवाह व त्यौहार आदि खुशी के मौकों) पर उन्हें धनादि से सम्मानित न करना ॥१७॥ इसलिए राजा को समस्त प्रयत्नों से अपनी सेना को सन्तुष्ट रखना चाहिए।

भारद्वाज[१] विद्वान् ने भी राजा से सेना के विरुद्ध होने के उपरोक्त कारण बताये हैं ॥१॥

जो राजा आलस्यवश स्वयं अपने सैन्य की देखरेख न करके दूसरे धूर्तों से कराता है, वह नि:संदेह धन और सैन्य से रहित हो जाता है ॥१८॥

जैमिनि[२] विद्वान् का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

नैतिक व्यक्ति को निश्चय से सेवकों का भरण-पोषण, स्वामी की सेवा,धार्मिक कार्यों का अनुष्ठान और पुत्रों को उत्पन्न करना, ये चार बातें किसी दूसरे पुरुष से न कराकर स्वयं करना चाहिए ॥१९॥

शुक्र[३] विद्वान् ने भी उपरोक्त कार्य दूसरों से न कराने के लिए लिखा है ॥१॥

सेवकों के लिए देने योग्य धन, वेतन प्राप्त न होने पर भी सेवकों का कर्त्तव्य और उक्त बात का दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

तावद्देयं यावदाश्रिता: सम्पूर्णतामाप्नुवन्ति ॥२०॥

न हि स्वं द्रव्यमव्ययमानो राजा दण्डनीय: ॥२१॥

को नाम सचेता: स्वगुड़ंचौर्यात्खादेत् ॥२२॥

अर्थ—स्वामी को अपने अधीन सेवकों के लिए इतना पर्याप्त धन देना चाहिए; जिससे वे सन्तुष्ट हो सकें ॥२०॥

शुक्र[४] विद्वान् ने भी सेवकों को आर्थिक कष्ट देने से राजा की हानि बताई है ॥१॥

राजा, यदि सेवकों को अपना धन (वेतन आदि) नहीं देता, तो भी उन्हें उससे झगड़ा नहीं

---

१. देखिये नीतिवाक्यामृत पृ० २१३. श्लोक १ से ३ तक।

२. तथा च जैमिनि:—स्वयं नालोकयेत्तंत्रं प्रमादाद्यो महीपति:। तदन्यै: प्रेक्षितंधूर्तैर्विनश्यति न संशय: ॥१॥

३. तथा च शुक्र:—भृत्यानां पोषणं हस्ते स्वामिसेवाप्रयोजनम्। धर्मेकृत्यं सुतोत्पत्तिं परपाश्चान्न कारयेत् ॥१॥

४. तथा च शुक्र:—आश्रितायस्य सीदन्ते शत्रु स्तस्य महीपते:। स सर्वैर्वेष्यते लोकै: कार्पण्याच्च सुदु:स्थित: ॥५॥

करना चाहिए ॥२०॥

शुक्र[1] विद्वान् का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जिस प्रकार स्वाभिमानी पुरुष अपने गुड़ को चोरी से नहीं खाता उसी प्रकार वह राजा से क्रोधित होकर अपनी हानि भी नहीं करवाना चाहता ॥२०॥

कृपण राजा के विषय में दृष्टान्त, कड़ी आलोचना योग्य स्वामी और योग्य अयोग्य के विचार से शून्य राजा की हानि

किं तेन जलदेन यः काले न वर्षति ॥२३॥

स किं स्वामी य आश्रितेषु व्यसने न प्रविधत्ते ॥२४॥

अविशेषज्ञे राज्ञि को नाम तस्यार्थे प्राणव्यये नोत्सहेत ॥२५॥

अर्थ—उस मेघ से क्या लाभ हैं ? जो समय पर पानी नहीं बरसाता उसी प्रकार जो समय पर अपने सेवकों की सहायता नहीं करता, वह स्वामी भी व्यर्थ है ॥२३॥

जो स्वामी संकटकालीन समय में अपने आधीन सेवकों की सहायता नहीं करता वह निंद्य है ॥२४॥

जो राजा सेवकों के गुणों और दोषों को परखने में शून्य है, अर्थात् जो विश्वासी और अविश्वासी (मणि और काँच) में फर्क न जान कर दोनों के साथ समान व्यवहार करता है, उसके लिए कौन सेवक

प्राणों का बलिदान करने के लिए युद्धभूमि में शत्रु से लड़ेगा ? अर्थात् कोई नहीं ॥२५॥

आंगिर[2] विद्वान् ने भी मणि और कांच में फर्क न जानने वाले राजा की उपरोक्त हानि निर्दिष्ट की है।

॥ इति बल-समुद्देशः॥

---

१. तथा च शुक्रः—भृत्यर्थे कलहः कार्यो न भृत्यैर्भूभुजा समं। यदि यच्छतिनो वृतिं नमस्कृत्य परित्यजेत् ॥१॥

२. तथा आंगिरः—काचो मणिर्मणि काचो यस्य सम्भावनेदृशी। कस्तस्य भूपतेरग्रे संग्रामे निधनं ब्रजेत् ॥१॥

(२३) मित्र-समुद्देशः

मित्र का लक्षण व उसके भेद-

यः सम्पदीव विपद्यपि मेद्यति तन्मित्रम् ॥१॥

यः कारणमन्तरेण रक्ष्यो रक्षको वा भवति तन्नित्यं मित्रम् ॥१॥

तत्सहजं मित्रं यत्पूर्वपुरुषपरम्परायातः सम्बन्धः ॥३॥

यद्वृत्तिजीवितहेतोराश्रितं तत्कृत्रिमं मित्रम् ॥४॥

जो पुरुष सम्पत्तिकाल की तरह विपत्तिकाल में भी स्नेह करता है उसे मित्र कहते हैं। सारांश यह है कि जो लोग सम्पत्तिकाल में स्वार्थ-वश स्नेह करते हैं और विपत्तिकाल में धोखा देते हैं

वे मित्र नहीं किन्तु शत्रु हैं ॥१॥

जैमिनि[१] विद्वान् ने भी सम्पत्ति व विपत्तिकाल में स्नेह करने वाले व्यक्ति को 'मित्र' कहा है ॥१॥

वे दोनों व्यक्ति परस्पर में नित्यमित्र हो सकते हैं, जो शत्रुकृत-पीड़ा-आदि आपत्तिकाल में परस्पर एक दूसरे के द्वारा बचाये जाते हैं या बचाने वाले हैं ॥२॥

नारद[२] विद्वान् ने भी नित्यमित्र का यही लक्षण बताया है ॥१॥

वंशपरम्परा के सम्बन्ध से युक्त, भाई-आदि सहज मित्र हैं ॥३॥

भागुरि[३] विद्वान् ने भी सहजमित्र का यही लक्षण किया है ॥१॥

जो व्यक्ति अपनी उदरपूर्ति और प्राणरक्षा के लिए अपने स्वामी से वेतन आदि लेकर स्नेह करता है, वह 'कृत्रिम मित्र' है। क्योंकि वह स्वार्थ-सिद्धिवश मित्रता करता है और जीविकोपयोगी वेतन न मिलने पर अपने स्वामी से मित्रता करना छोड़ देता है ॥४॥

भारद्वाज[४] विद्वान् ने भी 'कृत्रिम मित्र' का यही लक्षण किया है ॥१॥

मित्र के गुण व उसके दोष, मित्रता-नाशक कार्य व निष्कपट मैत्री का उज्ज्वल दृष्टान्त-

---

१. तथा च जैमिनिः-यस्समृद्धो क्रियास्स्नेहं यद्वत्तद्वत्तथापदि। तन्मित्रं प्रोच्यते सद्भिर्वैपरीत्येन वैरिणः ॥१॥

२. तथा च नारदः-रक्ष्यते वध्यमानस्तु अन्यैर्निष्कारणं नरः। रक्षेद्वा वध्यमानं यत्तन्नित्यं मित्रमुच्यते ॥१॥

३. तथा च भागुरिः-सम्बन्धः पूर्वजानां यस्तेन योऽत्र समाययौ। मित्रत्वं कथितं तच्च सहजं मित्रमेव हि ॥१॥

४. तथा च भारद्वाजः-वृत्तिं गृह्णाति यः स्नेहं नरस्य कुरुते नरः। तन्मित्रं कृत्रिमं प्राहुर्नीतिशास्त्रविदो जनाः ॥१॥

व्यसनेषूपस्थानमर्थेष्वविकल्पः स्त्रीषु परमं शौचं कोपप्रसादविषये वाप्रतिपक्षत्वमिति मित्रगुणाः ॥५॥ दानेन प्रणयः स्वार्थपरत्वं विपद्युपेक्षणमहितसम्प्रयोगो विप्रलम्भनगर्भप्रश्रयश्चेति मित्रदोषाः ॥६॥ स्त्रीसंगतिर्विवादोऽभीक्ष्णयाचनमप्रदानमर्थसम्बन्धः परीक्षदोषग्रहणं पैशून्याकर्णनं च मैत्रीभेदकारणानि ॥७॥ न क्षीरात् परं महदस्ति यत्संगतिमात्रेण करोति नीरमात्मसमं ॥८॥

मित्र के निम्न प्रकार गुण हैं–

अर्थ–जो संकट पड़ने पर मित्र के रक्षार्थ बिना बुलाये उपस्थित होता हो, जो मित्र से स्वार्थ-सिद्धि न चाहता हो अथवा जो उसके धन को छल-कपट से हड़प करने वाला न हो, जिसकी मित्र की स्त्री के प्रति दुर्भावना न हो और मित्र के क्रुद्ध व प्रसन्न होने पर भी उससे ईर्ष्या न रखे ॥१॥

नारद[1] विद्वान् ने भी संकट में सहायता करना-आदि मित्र के गुण बताये हैं ॥१॥

मित्र-द्वारा धनादि प्राप्त होने पर स्नेह करना, स्वार्थ-सिद्धि में लीन रहना, विपत्तिकाल में सहायता न करना, मित्र के शत्रुओं से जा मिलना, छल-कपट और धोखेबाजी से युक्त ऊपरी नम्रता प्रदर्शित करना और मित्र के गुणों की प्रशंसा न करना, ये मित्र के दोष हैं ॥६॥

रैभ्य[2] विद्वान् ने भी इसी प्रकार मित्र के दोष प्रकट किये हैं ॥१॥

मित्र की स्त्री पर कुदृष्टि रखना, मित्र से वाद-विवाद करना, सदा उससे धनादि मांगना, पर अपना कभी न देना, आपस में लेन-देन का सम्बन्ध रखना, मित्र की निन्दा व चुगली करना, इन बातों से मित्रता भंग (नष्ट) हो जाती है ॥७॥

शुक्र[3] विद्वान् ने भी मित्रता-नाशक यही कार्य बताये हैं ॥१॥

पानी का, दूध को छोड़कर दूसरा कोई पदार्थ उत्तम मित्र नहीं, क्योंकि वह अपनी संगति मात्र से पानी को अपने समान गुण-युक्त बना देता है। उसी प्रकार मनुष्य को ऐसे उत्तम पुरुष की संगति करनी चाहिए जो उसे अपने समान गुणयुक्त बना सके ॥८॥

गौतम[4] विद्वान् का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

मैत्री की आदर्श परीक्षा, प्रत्युपकार की दुर्लभता व दृष्टान्त द्वारा समर्थन–

न नीरात्परं महदस्ति यन्मिलितमेव संवर्धयति रक्षति च स्वक्षयेण क्षीरम् ॥९॥

---

१. तथा च नारदः–आपत्काले च सम्प्राप्ते काये च महति स्थिते। कोपे प्रसादनं नेच्छेन्मित्रस्येति गुणाः स्मृताः ॥१॥

२. तथा च रैभ्यः–दानस्नेहो निजार्थत्वमुपेक्षा व्यसनेषु च। वैरिसंगो प्रशंसा च मित्रदोषाः प्रकीर्तिताः ॥१॥

३. तथा च शुक्रः–स्त्रीसंगतिर्विवादोऽथ सदार्थित्वमदानता। स्वसम्बन्धस्तथा निन्दा पैशून्यं मित्रवैरिता ॥१॥

४. तथा च गौतमः–गुणहीनोऽपि चेत्संगं करोति गुणिभिः सह। गुणवान् मन्यते लोकैर्दुग्धाढ्यं कं यथा पयः ॥२॥

येन केनाप्युपकारेण तिर्यंचोऽपि प्रत्युपकारिणोऽव्यभिचारिणश्च न पुनः प्रायेण मनुष्याः ॥१०॥ तथा चोपाख्यानकं-अटव्यां किलान्धकूपे पतितेषु कपिसर्पसिंहाक्षशालिकसौवर्णिकेषु कृतोपकारः कंकायननामा कश्चित्पान्थो विशालायां पुरि तस्मादक्षशालिकाद्व्यापादनमवाप नाडीजंघश्च गोतमादिति ॥११॥

अर्थ—पानी को छोड़कर दूसरा कोई पदार्थ दूध का सच्चा मित्र नहीं, जो मिलने मात्र से ही उसकी वृद्धि कर देता है और अग्निपरीक्षा के समय अपना नाश करके भी दूध की रक्षा करता है ॥९॥

भागुरि विद्वान् ने भी पानी को दूध का सच्चा मित्र बताया है ॥१॥

संसार में पशुगण भी उपकारी के प्रति कृतज्ञ व विरुद्ध न चलने वाले होते हैं न कि कृतघ्न। मनुष्य प्रायः इसके विपरीत चलने वाले भी देखे जाते हैं-वे उपकारी के प्रति भी कभी-कभी कृतघ्नता कर डालते हैं ॥१०॥

इतिहास बताता है कि एक समय किसी अटवी (वनी) के घास वगैरह से आच्छादित अन्धकूप में भाग्य से प्रेरित हुए बन्दर, सर्प और शेर ये तीनों जीवजन्तु व आज्ञशालिक-एक जुआरी व सुनार ये दोनों पुरुष गिर पड़े। पश्चात् किसी कांकायन नाम के पान्थ ने उन्हें उस अन्धकूप से बाहर निकाला। उपकृत हुए उन पाँचों में से बन्दर, सर्प, शेर व सुनार उसका अनिष्ट न कर उसकी आज्ञोपरान्त अपने-अपने निर्दिष्ट स्थान को चले गए। जुआरी कृतघ्नी होने के कारण उस पान्थ से कपटपूर्ण व्यवहारों से मित्रता कर उसके धन को हरण करने की इच्छा से उसके साथ हो लिया और अनेक ग्रामों व नगरों में भ्रमण करता रहा। पश्चात् एक समय विशाला नाम की नगरी के शून्य मन्दिर में जबकि पान्थ सो रहा था, तब इस जुआरी ने मौका पाकर उसके धन को हरण कर लिया। इससे सिद्ध होता है कि तिर्यंच भी कृतज्ञ होते हैं पर मनुष्य कभी-कभी इसके विपरीत कृतघ्नी भी होते देखे गये हैं।

इसी प्रकार गौतम नाम के किसी तपस्वी ने नाड़ीजंघ नाम के उपकारी को स्वार्थवश मार डाला (यह कथानक अन्य ग्रन्थों से जान लेना चाहिए) ॥११॥

॥ इति मित्र-समुद्देशः ॥

(२४) राजरक्षा-समुद्देशः

राजा की रक्षा, उसका उपाय, अपनी रक्षार्थ पास में रखने के योग्य व अयोग्य पुरुष–

राज्ञि रक्षिते सर्वं रक्षितं भवत्यतःस्वेभ्यः परेभ्यश्च नित्यं राजा रक्षितव्यः ॥१॥

अतएवोक्तं नयविद्धः—पितृपैतामहं महासम्बन्धानुबद्धं शिक्षितमनुरक्तं कृतकर्मणं च जनं आसन्नं कुर्वीत ॥२॥

अन्यदेशीयमकृतार्थमानं स्वदेशीयं चापकृत्योपगृहीतमासन्नं न कुर्वीत ॥३॥

चित्तविकृतेर्नास्त्यविषयः किन्न भवति मातापि राक्षसी ॥४॥

अर्थ—राजा की रक्षा होने से समस्त राष्ट्र सुरक्षित रहता है, इसलिए उसे अपने कुटुम्बियों तथा शत्रुओं से सदा अपनी रक्षा करनी चाहिए ॥१॥

रैभ्य[1] विद्वान् ने भी राज-रक्षा के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

इसलिए नीतिज्ञों ने कहा है कि राजा अपनी रक्षार्थ ऐसे पुरुष को नियुक्त करे, जो उसके वंश का (भाई-वगैरह) हो अथवा वैवाहिक सम्बन्ध से बंधा हुआ-साला वगैरह हो, और वह नीतिशास्त्र का वेत्ता राजा से अनुराग रखने वाला और राजकीय कर्तव्यों में कुशल हो ॥२॥

गुरु[2] विद्वान् ने भी राजा के शरीर रक्षार्थ यही कहा है ॥१॥

राजा, विदेशी पुरुष को, जिसे धन व मान देकर सम्मानित न किया गया हो और पूर्व में सजा पाये हुए स्वदेशवासी व्यक्ति को जो कि बाद में अधिकारी बनाया गया हो, अपनी रक्षार्थ नियुक्त न करे; क्योंकि असम्मानित व दण्डित व्यक्ति द्वेष युक्त होकर उससे बदला लेने की कुचेष्टा करेगा ॥३॥

शुक्र[3] विद्वान् के संगृहीत श्लोकों का भी यही अभिप्राय है ॥१-२॥

विकृत-दुष्ट-चित्तवाला पापीपुरुष कौन-कौन से अनर्थों में प्रवृत्ति नहीं करता ? अर्थात् सभी में प्रवृत्ति करता है, अत्यन्त स्नेहमयी माता भी विकृत-द्वेष युक्त हो जाने पर क्या राक्षसी (हत्यारी)

---

१. तथा च रैभ्यः-रक्षिते भूमिनाथे तु आत्मीयेभ्यः सदैव हि। परेभ्यश्च यतस्तस्य रक्षा देशस्य जायते ॥१॥

२. तथा च गुरुः-वंशज च सुसम्बन्ध शिक्षित राजसंयुतं। कृतकर्म जनं पार्श्वे रक्षार्थं धारयेन्नृपः ॥१॥

३. तथा च शुक्रः-नियोगिनं, समीपस्थं दण्डयित्वा न धारयेत्। दण्ड को यो न वित्तस्य बाधा चित्तस्य जायते ॥१॥
अन्यदेशोद्भवं लोकं समीपस्थं न धारयेत्। अपूजितं स्वदशीयं वा विरुद्ध्य प्रपूजितं ॥२॥

नहीं होती ? अवश्य होती है ॥४॥

शुक्र[१] विद्वान् ने भी विकृत चित्त वाले पुरुष के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

स्वामी से हित अमात्य-आदि की हानि, आयु-शून्य पुरुष, राज-कर्तव्य (आत्मरक्षा) व, स्त्रीसुखार्थ प्रवृत्ति व जिसका धन-संग्रह निष्फल है-

अस्वामिकाः प्रकृतयः समृद्धा अपि निस्तरीतुं न शक्नुवन्ति ॥५॥

देहिनि गतायुषि सकलांगे किं करोति धन्वन्तरिरपि वैद्यः ॥६॥

राज्ञस्तावदासन्ना स्त्रिय आसन्नतरा दायादा आसन्नतमाश्च पुत्रास्ततो राज्ञः प्रथमं स्त्रीभ्यो रक्षणं ततो दायादेभ्यस्ततः पुत्रेभ्यः ॥७॥

आवष्ठादाचक्रवर्तिनः सर्वेऽपि स्त्रीसुखाय क्लिश्यति ॥८॥

निवृत्तस्त्रीसंगस्य धनपरिग्रहो मृतमण्डनमिव ॥९॥

अर्थ—प्रकृति वर्ग (मंत्री व सेनापति-आदि राजकर्मचारी) समृद्धिशाली हो करके भी जब राजा से रहित होते हैं, तब आपत्ति को पार नहीं कर सकते-शत्रुओं द्वारा होने वाले संकटों से राष्ट्र का बचाव नहीं कर सकते ॥५॥

वशिष्ठ[२] विद्वान् ने भी उक्त बात का समर्थन किया है ॥१॥

जिसकी आयु बाकी नहीं है, वह सकल अङ्गोपांगों या ७२ कलाओं से युक्त होने पर भी धन्वन्तरि समान अति निपुण वैद्य के द्वारा भी नहीं बचाया जा सकता। सारांश यह है कि जिस प्रकार जीवन रक्षा में आयु मुख्य है, उसी प्रकार राष्ट्र के सात अंगों (स्वामी, मंत्री, राज्य, किला, खजाना, सेना व मित्र वर्ग में राजा की प्रधानता है, अतः सबसे प्रथम उसे अपनी रक्षा करनी चाहिए ॥६॥

व्यास[३] ने भी कहा है कि ''काल-पीड़ित पुरुष मंत्र, तप, दान, वैद्य व औषधि द्वारा नहीं बचाया जा सकता ॥१॥

राजा के पास रहने वाली स्त्रियाँ होती हैं और विशेष तौर से पास रहने वाले कुटुम्बीजन व पुत्र होते हैं; इसलिए उसे सबसे पहले स्त्रियों से पश्चात् कुटुम्बियों और पुत्रों से अपनी रक्षा करनी चाहिए ॥७॥

संसार में निकृष्ट-लकड़हारा-आदि जघन्य-पुरुष से लेकर चक्रवर्ती पर्यन्त सभी मनुष्य स्त्री सुख प्राप्त करने के लिए, कृषि व व्यापार आदि जीविकोपयोगी कार्य करके क्लेश उठाते हैं, पश्चात् धनसंचय द्वारा स्त्री-सुख प्राप्त करते हैं ॥८॥

---

१. तथा च शुक्रः-यस्य चित्ते विकारः स्यात् सर्वं पापं करोति सः। जातं हन्ति सुखं भाता शाकिनीं मार्गमाश्रिता ॥१॥

२. तथा च वशिष्ठः-राजप्रकृतयो नैव स्वामिना रहिताः सदा। गन्तुं निर्वाहणं यद्वत् स्त्रियः कान्तविवर्जिताः ॥१॥

३. तथा च व्यासः-न मंत्रा न तपो दानं न वैद्यो न च भेषजं। शक्नुवन्ति परित्रातुं नरं कालेन पीडितम् ॥१॥

गर्ग[१] विद्वान् का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जिस प्रकार मुर्दे को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करना व्यर्थ है, उसी प्रकार स्त्री-रहित पुरुष का धनसंचय करना व्यर्थ है ॥९॥

बल्लभदेव[२] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

स्त्रियों की प्रकृति वा स्वरूपः-

सर्वाः स्त्रियः क्षीरोदवेला इव विषामृतस्थानम् ॥१०॥ मकरदंष्ट्रा इव स्त्रियः स्वभावादेव वक्रशीलाः ॥११॥ स्त्रीणां वशोपायो देवानामपि दुर्लभः ॥१२॥ कलत्रं रूपवत्सुभगमनवद्याचारमपत्यवदिति महतः पुण्यस्य फलम् ॥१३॥ कामदेवोत्संगस्थापि स्त्री पुरुषान्तरमभिलषति च ॥१४॥ न मोहो लज्जा भयं स्त्रीणां रक्षणं किन्तु परपुरुषादर्शनं संभोगः सर्वसाधारणताच ॥१५॥

अर्थ—जिस प्रकार क्षीर समुद्र की लहरों में विष व अमृत दोनों पाये जाते हैं उसी प्रकार स्त्रियों में भी विष (दुःख देना) और अमृत (सुख देना) या क्रूरता एवं मृदुता ये दोनों दोष व गुण पाये जाते हैं, क्योंकि प्रतिकूल स्त्री हानिकारक एवं अनुकूल सुख देने वाली होती है ॥१०॥

बल्लभदेव[३] ने भी स्त्रियों को इसी प्रकार विष व अमृत-तुल्य बताया है ॥१॥

जिस प्रकार मगर की डाढें स्वभावतः कुटिल होती हैं; उसी प्रकार स्त्रियाँ भी स्वभावतः कुटिल होती हैं ॥११॥

बल्लभदेव[४] विद्वान् ने भी स्त्रियों को स्वभावतः कुटिल व भयंकर बताया है ॥१॥

विरुद्ध हुई स्त्रियों को वशीभूत करने का उपाय देवता भी नहीं जानते ॥१२॥

बल्लभदेव[५] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

रूपवती, सौभाग्यवती, पतिव्रता, सदाचारिणी एवं पुत्रवती स्त्री पूर्वजन्म-कृत महान पुण्य से प्राप्त होती है ॥१३॥

चारायण[६] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

चंचल प्रकृति वाली स्त्री कामदेव के समान सुन्दर पति के पास रहकर भी दूसरे पुरुष की कामना करती है ॥१४॥

---

१. तथा च गर्गः-कृषिं सेवां विदेशं च युद्धं वाणिज्यमेव च। सर्वं स्त्रीयां सुखार्थाय स सर्वो कुरुते मनः ॥१॥

२. तथा च बल्लभदेवः-प्रभूतमपि चेद्वित्तं पुरुषस्य स्त्रियं बिना। मृतस्य मण्डनं यद्वत् ततस्य व्यर्थमेव हि ॥१॥

३. तथा च बल्लभदेवः- नामृतं न विषं किंचिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम्। विरक्ता मारयेयस्मात्सुखायत्यनुरागिनी ॥१॥

४. तथा च बल्लभदेवः- स्त्रियोऽतिवक्रतायुक्ता यथा दंष्ट्रा झषाद्भवाः। ऋजुत्वं नाधिगच्छन्ति तीक्ष्णस्वादति भीषणाः ॥१॥

५. तथा च बल्लभदेवः-चतुरः सृजता पूर्वमुपायांस्तेन वेधसा। न सृष्टः पंचमः कोऽपि गृह्यन्ते येन योषितः ॥१॥

६. तथा च चारायणः-सुरूपं सुभगं यद्वा सुचरित्रं सुतान्विश्वं। यस्येदृशं कलत्रं स्यात्पूर्वपुण्यफलं हि तत् ॥१॥

नारद[1] विद्वान् ने भी चंचल प्रकृति वाली स्त्री को कुपथगामिनी बताया है।

पर-पुरुष से सम्पर्क न रखने वाली, पति द्वारा काम सेवन-सुख व अभिलषित वस्तुएँ प्राप्त करने वाली और ईर्ष्याहीन पति वाली स्त्री सदाचारिणी (पतिव्रता) रह सकती है, पर स्नेह, लज्जा और डर रखने वाली नहीं ॥१५॥

जैमिनि[2] विद्वान् का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

स्त्रियों को अनुकूल रखने का उपाय, विवाहित व कुरूप स्त्रियों के साथ पति-कर्तव्य, स्त्रीसेवन का निश्चित समय,

ऋतु काल में स्त्रियों की उपेक्षा से हानि, व स्त्री रक्षा-

दानदर्शनाभ्यां समवृत्तौ हि पुंसि नापराध्यन्ते स्त्रियः ॥१६॥ परिगृहीतासु स्त्रीषु प्रियाप्रियत्वं न मन्येत ॥१७॥ कारणवशान्निबोऽप्यनुभूयते एव ॥१८॥ चतुर्थदिवसस्नाता स्त्री तीर्थं तीर्थोपराधो महानधर्मानुबन्धः ॥१९॥ ऋतावपि स्त्रियमुपेक्षमाणः पितृणामृणभाजनं ॥२०॥ अवरुद्धाः स्त्रियः स्वयं नश्यन्ति स्वामिनं वा नाशयन्ति ॥२१॥ न स्त्रीणामकर्त्तव्ये मर्यादास्ति वरमविवाहो नोढापेक्षणं ॥२२॥ अकृतरक्षस्य किं कलत्रेणाकृषतः किं क्षेत्रेण ॥२३॥

अर्थ—जिन स्त्रियों का पति दान (वस्त्रभूषण-आदि का देना) व दर्शन-प्रेम पूर्ण दृष्टि द्वारा सबके साथ पक्षपात-रहित एक-सा बर्ताव करता है, उससे वे वैर-विरोध नहीं करतीं-उसके वश में रहती हैं ॥१६॥

नारद[3] विद्वान् ने भी स्त्रियों को अनुकूल रखने के यही उपाय बताये हैं ॥१॥

नैतिक पुरुष अपनी विवाहित सुन्दर पत्नियों से प्रेम व कुरूप स्त्रियों से ईर्ष्या न करे-पक्षपात रहित एक-सा व्यवहार रखे, अन्यथा कुरूप स्त्रियाँ विरुद्ध होकर उसका अनिष्ट-चिंतन करने लगती हैं ॥१७॥

भागुरि[4] विद्वान् ने भी विवाहित स्त्रियों के साथ पक्षपात-रहित (एक-सा) बर्ताव करने के लिए लिखा है ॥१॥

जिस प्रकार रोग-निवृत्ति के लिए कड़वी नीम औषधि के रूप में सेवन की जाती है, उसी प्रकार अपनी रक्षा-आदि प्रयोजनवश कुरूप स्त्री भी उपभोग की जाती है ॥१८॥

---

१. तथा च नारदः—कामदेवोपमं त्यक्त्वा मुखप्रेक्षं निजं पतिं। चापल्याद्वाञ्छते नारी विरूपांगमपीतरम् ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः—अन्यस्यादर्शनं कोपात् प्रसादःकामसंभवः। सर्वासामेव नारीणामेतद्रक्षत्रयं मतम् ॥१॥

३. तथा च नारदः—दानदर्शनसंभोगं समं स्त्रीषु करोति यः। प्रसादेन विशेषं च न विरुध्यन्ति तस्य ताः ॥१॥

४. तथा च भागुरिः—समत्वेनैव दृष्टव्या याः स्त्रियोऽत्र विवाहिताः। विशेषो नैव कर्त्तव्यो नरेण श्रियमिच्छता ॥१॥

भारद्वाज[1] विद्वान् का भी इस विषय में यही मत है ॥१॥

रजःस्राव के पश्चात् चौथे दिन स्नान की हुई स्त्री तीर्थ-शुद्ध (उपभोग करने योग्य) मानी गई है, उस समय जो व्यक्ति उसका त्याग कर देता है-सेवन नहीं करता वह अधर्मी है। क्योंकि उसने गर्भधारण में बाधा उपस्थित कर धर्मपरम्परा को अक्षुण्ण चलाने वाली एवं वंश-वृद्धि में सहायक सज्जाति (कुलीन) संतानोत्पत्ति में बाधा उपस्थित की, अतएव चौथे दिन स्नान की हुई स्त्री की उपेक्षा न करनी चाहिए ॥१९॥

ऋतु-स्नात-चौथे दिन स्नान की हुई अपनी स्त्री की उपेक्षा करने वाला व्यक्ति सन्तानोत्पत्ति में बाधक होने से अपने पूर्वजों का ऋणी है ॥२०॥

ऋतुकाल में भी सेवन न की जाने वाली स्त्रियाँ अपना वा अपने पति का अनिष्ट कर बैठती हैं ॥२१॥

गर्ग[2] विद्वान् ने भी यही कहा है ॥१॥

विरुद्ध स्त्रियाँ अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर अनर्थ कर बैठती हैं, अतएव ऋतुकाल में विवाहित स्त्रियों का त्याग करने की अपेक्षा उनसे विवाह न करना ही कहीं अधिक श्रेष्ठ है ॥२२॥

भार्गव[3] विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जिस प्रकार बिना जोतने-बोने वाले कृषक के लिए खेत व्यर्थ हैं, उसी प्रकार ऋतुकाल में स्त्री का उपभोग न करने वाले मनुष्य के लिए भी स्त्री निरर्थक है, क्योंकि उससे उसका कोई इष्टप्रयोजन (धार्मिक सन्तान-आदि) सिद्ध नहीं होता ॥२३॥

स्त्रियों के प्रतिकूल होने के कारण, उनकी प्रकृति, दूतीपन व रक्षा का उद्देश्य-

सपत्नीविधानं पत्युरसमंजसं च विमाननमपत्याभावश्च चिरविरहश्च स्त्रीणां विरक्तकारणानि ॥२४॥ न स्त्रीणां सहजो गुणो दोषो वास्ति किंतु नद्यः समुद्रमिव यादृशं पतिमाप्नुवन्ति तादृश्यो भवन्ति स्त्रियः ॥२५॥ स्त्रीणां दौत्यं स्त्रिय एव कुर्युस्तैरश्चोऽपि पुंयोगः स्त्रियं दूषयति किं पुनर्मानुष्यः ॥२६॥ वंशविशुद्ध्यर्थमनर्थपरिहारार्थं स्त्रियो रक्ष्यन्ते न भोगार्थं ॥२७॥

अर्थ—निम्नलिखित बातों से स्त्रियाँ अपने पति से विरक्त (प्रतिकूल) हो जाती हैं-

सपत्नीविधान (पति द्वारा सौत का रखना), पति का मनोमालिन्य (ईर्ष्या व द्वेष-आदि) अपमान, अपत्याभाव (सन्तान का अभाव) व चिरविरह (पति का चिरकाल तक विदेश में रहना) अतः नैतिक पुरुष स्त्रियों को अनुकूल रखने के लिए उक्त पाँचों बातों का त्याग करे ॥२४॥

---

१. तथा च भारद्वाजः-दुर्भगापि विरूपापि सेव्या कान्तेन कामिनी। यथौषधकृते निंबः कटुकोऽपि प्रदीयते ॥१॥

२. तथा च गर्गः-ऋतुकाले च सम्प्राप्ते न भजेद्यस्तु कामिनीं। तद्दुःखात्सा प्रणश्येत स्वयं वा नाशयेत्पतिम् ॥१॥

३. तथा च भार्गवः-नाकृत्यं विद्यते स्त्रीणामपमाने कृते सति। अविवाहो वरस्तस्मान्न तूढ़ानां विवर्जनम् ॥१॥

जैमिनि[1] विद्वान् ने भी स्त्रियों की प्रतिकूलता के विषय में यही कहा है ॥१॥

स्त्रियों में स्वाभाविक गुण या दोष नहीं होते। किंतु उनमें समुद्र में प्रविष्ट हुए नदी के समान पति के गुणों से गुण या दोषों से दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जिस प्रकार नदियां समुद्र में मिलने से खारी हो जाती हैं, उसी प्रकार स्त्रियाँ पति के गुणों से गुणवती और दोषों से दोष-युक्त हो जाती हैं ॥२५॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी स्त्रियों के गुण व दोष के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

स्त्रियों को सन्देश ले जाने का कार्य दूसरी स्त्रियों द्वारा ही करना चाहिए, पुरुषों से नहीं, क्योंकि जब पशुजाति का पुरुष भी उन्हें दूषित कर देता है तब फिर मनुष्यों से दूषित होने में कोई विशेषता नहीं ॥२६॥

गुरु[3] विद्वान् ने भी स्त्रियों के दूतीपन के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

नैतिक मनुष्य अपनी वंश-विशुद्धि और अनर्थों से बचने के लिए स्त्रियों की रक्षा करते हैं, केवल विषय-वासना की तृप्ति के लिए नहीं ॥२७॥

गुरु[4] विद्वान् का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

वेश्या-सेवन का त्याग, स्त्रियों के गृह में प्रविष्ट होने का निषेध व उनके विषय में राज-कर्तव्य-

भोजनवत्सर्वसमानाः पण्याङ्गनाः कस्तासु हर्षामर्षयोरवसरः ॥२८॥

यथाकामं कामिनीनां संग्रहः परमनीर्ष्यावानकल्याणावहः प्रक्रमोऽदौवारिके द्वारि को नाम न प्रविशति ॥२९॥

मातृव्यंजनविशुद्धा राजवसत्युपस्थायिन्यः स्त्रियः.संभक्तव्याः ॥३०॥

दर्दुरस्य सर्पगृहप्रवेश इव स्त्रीगृहप्रवेशो राज्ञः ॥३१॥

न हि स्त्री गृहादायातं किंचित्स्वयमनुभवनीयम् ॥३२॥

नापि स्वयमनुभवनीयेषु स्त्रियो नियोक्तव्याः ॥३३॥

अर्थ—वेश्याएँ बाजार के भोजन की तरह सर्वसाधारण होती हैं, इसलिए कौन नैतिक पुरुष उन्हें देखकर सन्तुष्ट होगा ? कोई नहीं ॥२८॥ विजिगीषु राजा अभिलषित स्वार्थसिद्धि (शत्रुओं से विजय आदि) के लिए वेश्याओं का संग्रह करता है, परन्तु उसका ये कार्य निरर्थक और कल्याणनाशक है। क्योंकि जिस प्रकार द्वारपाल-शून्य दरवाजे में सभी प्रविष्ट होते हैं, उसी प्रकार सर्वसाधारण द्वारा

---

१. तथा च जैमिनिः—सपत्नी वा समानत्वमपमानमनपत्यता। देशान्तरगतिः पत्युः स्त्रीणां रागं हरन्त्यमी ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—गुणो वा यदि वा दोषो न स्त्रीणां सहजो भवेत्। भर्तुः सदृशतां यांति समुद्रस्यापगा यथा ॥१॥

३. तथा च गुरुः—स्त्रीणां दौत्यं नरेन्द्रण प्रेष्या नार्यो नरो न वा। तिर्यंचोऽपि च पुंयोगो दृष्टो दूषयति स्त्रियम् ॥१॥

४. तथा च गुरुः—वंशस्य ब विशुद्ध्यर्थं तथानर्थक्षयाय च। रक्षितव्याः स्त्रियो विज्ञैर्न भोगाय च केवलम् ॥१॥

भोगी जाने वाली वेश्याओं के यहाँ भी सभी प्रविष्ट होते हैं, इसलिए वे शत्रुपक्ष में मिलकर विजिगीषु को मार डालती हैं। अतएव शत्रु विजय अन्य उपाय (सामादि) द्वारा करनी चाहिए; न कि वेश्याओं के द्वारा ॥२६॥ विजिगीषु शत्रु विजय-आदि आवश्यक प्रयोजनवश मातृपक्ष से विशुद्ध (व्यभिचार शून्य) व राजद्वार पर निवास करने वाली वेश्याओं का संग्रह करे ॥३०॥ जिस प्रकार साँप की वामी में प्रविष्ट हुआ मेंढ़क नष्ट हो जाता है; उसी प्रकार जो राजा लोग स्त्रियों के गृह में प्रविष्ट होते हैं, वे अपने प्राणों को खो बैठते हैं, क्योंकि स्त्रियाँ ,चंचल प्रकृति वश शत्रु-पक्ष से मिलकर इसे मार डालती हैं या मरवा देती हैं ॥३१॥

गौतम[1] विद्वान् ने भी राजा को स्त्री-गृह में प्रविष्ट होने का निषेध किया है ॥१॥

राजा अपने प्राणों की रक्षा के लिए स्त्रियों के गृह से आई हुई कोई भी वस्तु भक्षण न करे ॥३२॥

वादरायण[2] ने भी इसी बात की पुष्टि की है ॥१॥

राजा स्वयं भक्षण करने योग्य भोजनादि के कार्य में स्त्रियों को नियुक्त न करे, क्योंकि वे चंचलता वश अनर्थ कर डालती हैं ॥३३॥

भृगु[3] विद्वान् का भी इस विषय में यही अभिप्राय है ॥३३॥

स्वेच्छाचारिणी स्त्रियों के अनर्थ, दुष्ट स्त्रियों का घृणित इतिहास, व स्त्रियों का माहात्म्य-

संवननं स्वातंत्र्यं चाभिलषन्त्यः स्त्रियः किं नाम न कुर्वन्ति ॥३४॥

श्रूयते हि किल-आत्मनः स्वच्छन्दवृत्तिमिच्छन्ती विषविदूषितगण्डूषेण मणिकुण्डला महादेवी यवनेषु निजतनुजराज्यार्थं जघान राजानमङ्गराजम् ॥३५॥ विषालक्तकदिग्धेनाधरेण वसन्तमतिः शूरसेनेषु सुरतविलासं, विषोपलिप्तेन मेखलामणिना वृकोदरी दशार्णेषु मदनार्णवं, निशितनेमिना मुकुरेण मदराक्षी मगधेषु मन्मथविनोदं, कवरीनिगूढेनासिपत्रेण चन्द्ररसा पाण्ड्येषु पुण्डरीकमिति ॥३६॥

अमृतरसवाप्य इव श्रीजसुखोपकरणं स्त्रियः ॥३७॥

कस्तासां कार्याकार्यविलोकनेऽधिकारः ॥३८॥

अर्थ—वशीकरण, उच्चाटन और स्वेच्छाचार चाहने वाली स्त्रियाँ कौन-कौन से अनर्थ नहीं

---

१. तथा च गौतमः-प्रविष्टो हि यथा भेको बिलं सर्पस्य मृत्युभाक्। तथा संजायते राजा प्रविष्टो वेश्मनि स्त्रियः ॥१॥

२. तथा च वादरायणः-स्त्रीणां गृहात् समायातं भक्षणीयं न भूभुजा। किंचित्स्वल्पमपि प्राणान् रक्षितुं योऽभिवाञ्छति ॥१॥

३. तथा च भृगुः-भोजनादिषु सर्वेषु नात्मीयेषु नियोजयेत्। स्त्रियो भूमिपतिः क्वापि मारयन्ति यतश्च ताः ॥१॥

करतीं ? सभी अनर्थ कर डालती हैं ॥३४॥ भारद्वाज[१] विद्वान् ने भी स्त्रियों पर विश्वास न करने के लिए लिखा है ॥१॥ इतिहास बताता है; कि यवनदेश में स्वच्छन्द वृत्ति चाहने वाली मणिकुण्डला नाम की पट्टरानी ने अपने पुत्र के राज्यार्थ अपने पति अङ्गराज नाम के राजा को विष-दूषित शराब के कुरले से मार डाला ॥३५॥ इसी प्रकार शूरसेन (मथुरा) में बसन्तमति नाम की स्त्री ने विष के आलते से रंगे हुए अधरों से सुरतविलास नाम के राजा को, वृकोदरी ने दशार्ण (भेलसा) में विषलिप्त करधनी के

मणि द्वारा मदनार्णव राजा को, मदिराक्षी ने मगधदेश में तीखे दर्पण से मन्मथविनोद को और पांड्यदेश में चण्डरसा रानी ने कवरी (केश-पाश) में छिपी हुई छुरी से पुण्डरीक नाम के राजा को मार डाला ॥३६॥

स्त्रियाँ लक्ष्मी से उत्पन्न होने वाले सुख की स्थान (आधार) हैं। अर्थात् जिस प्रकार लक्ष्मी के समागम से मनुष्यों को विशेष सुख प्राप्त होता है; उसी प्रकार स्त्रियों के समागम से भी विशेष सुख मिलता है एवं अमृत रस से भरी हुई बावड़ियों के समान, मनुष्यों के चित्त में आनन्द उत्पन्न करती हैं। अर्थात् जिस प्रकार अमृत-रस से भरी हुई बावड़ियाँ दर्शनमात्र से मनुष्यों के चित्त में विशेष आनन्द उत्पन्न कर देती हैं; उसी प्रकार स्त्रियाँ भी दर्शनादि से मनुष्यों के चित्त में विशेष आनन्द उत्पन्न कर देती हैं ॥३७॥

शुक्र[२] विद्वान् ने भी इसी प्रकार स्त्रियों का माहात्म्य बताया है ॥१॥

मनुष्यों को उनके कर्तव्य व अकर्तव्य देखने से क्या प्रयोजन ? अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं। सारांश यह हैं कि स्त्रियाँ स्वाभाविक कोमल व सरल हृदय होती हैं, अतः बुद्धिमान मनुष्यों को उनके साधारण दोषों पर दृष्टिपात न करते हुए उन्हें नैतिक शिक्षा द्वारा सन्मार्ग में प्रवृत्त करना चाहिए ॥३८॥ स्त्रियों की सीमित स्वाधीनता, उनमें अत्यंत आसक्त पुरुष, उनके अधीन रहने वाले की हानि पतिव्रता का माहात्म्य व उनके प्रति पुरुष का कर्तव्य-

अपत्यपोषणे गृहकर्मणि शरीरसंस्कारे शयनावसरे स्त्रीणां स्वातंत्र्यं नान्यत्र ॥३९॥ अतिप्रसक्तेः स्त्रीषु स्वातंत्र्यं करपत्रमिव पत्युर्नाविदार्य हृदयं विश्राम्यति ॥४०॥ स्त्रीवशपुरुषो नदीप्रवाहपतितपादप इव न चिरं नन्दति ॥४१॥ पुरुषमुष्टिस्था स्त्री खड्गयष्टिरिव कमुत्सवं न जनयति ॥४२॥ नातीव स्त्रियो व्युत्पादनीयाः स्वभावसुभगोऽपि शास्त्रोपदेशः स्त्रीषु, शस्त्रीषु पयोलव इव विषमतां प्रतिपद्यते ॥४३॥

अर्थ—स्त्रियों को सन्तान-पालन, गृहकार्य, शरीर-संस्कार और पति के साथ शयन इन चार बातों में स्वतन्त्रता देनी चाहिए, दूसरे कार्यों में नहीं ॥३९॥

---

१. तथा च भारद्वाजः—कार्मणं स्वेच्छयाचारं सदा वाञ्छन्ति योषितः। तस्मात्तासु न विश्वासः प्रकर्तव्यः कथंचन ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—लक्ष्मीसंभवसौख्यस्य कथिता वामलोचनाः। यथा पीयूषवाप्यश्च मनआल्हाददा सदा ॥१॥

भागुरि[१] विद्वान् ने भी उक्त चार बातों में स्त्रियों को स्वतन्त्र रखने को कहा है ॥१॥

जबकि कामी लोग स्त्रियों में अत्यधिक आसक्त होने के कारण उन्हें सभी कार्यों में स्वतन्त्रता दे देते हैं, तो वे स्वच्छन्द होकर पति के हृदय को उसी प्रकार कष्टों से विदीर्ण किये बिना नहीं रहतीं जैसे कि हृदय में प्रविष्ट हुई तलवार उसे वेधकर ही बाहर निकला करती है ॥४०॥ जिस प्रकार नदी के प्रवाह में पड़ा हुआ वृक्ष चिरकाल तक अपनी वृद्धि नहीं कर पाता, बल्कि नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार स्त्री के वश में रहने वाला पुरुष भी आर्थिक क्षति द्वारा नष्ट हो जाता है, अतः स्त्रियों के अधीन नहीं रहना चाहिए ॥४१॥

शुक्र[२] विद्वान् ने भी स्त्रियों के अधीन रहने का निषेध किया है ॥१॥

जिस प्रकार मुट्ठी में धारण की हुई खड्गयष्टि-तलवार-विजिगीषु का मनोरथ (विजय-लाभादि) पूर्ण करती है, इसी प्रकार पुरुष की आज्ञानुकूल चलने वाली (पतिव्रता) स्त्री भी अपने पति का मनोरथ पूर्ण करती है ॥४२॥

किसी[३] विद्वान् ने भी पतिव्रता स्त्री को पति का मनोरथ पूर्ण करने वाली कहा है ॥१॥

नैतिक पुरुष स्त्रियों को कामशास्त्र की शिक्षा में प्रवीण न बनाये, क्योंकि स्वभाव से उत्तम कामशास्त्र का ज्ञान स्त्रियों को छुरी में पड़े हुए पानी की बूँद समान नष्ट कर देता है। अर्थात् जिस प्रकार पानी की बूँद छुरी पर पड़ने से एकदम नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार कामशास्त्र की शिक्षा भी स्त्रियों को कुलधर्म चारित्रधर्म से गिराकर नष्ट भ्रष्ट कर देती है, अतः स्त्रियों को कामशास्त्र की शिक्षा छोड़कर अन्य लौकिक व धार्मिक शिक्षाएँ देनी चाहिए ॥४३॥

भारद्वाज[४] विद्वान् ने भी स्त्रियों को कामशास्त्र की शिक्षा देने का निषेध किया है ॥१॥

वेश्यागमन के दुष्परिणाम–

अध्रुवेणाधिकेनाप्यर्थेन वेश्यामनुभवन्पुरुषो न चिरमनुभवति सुखम् ॥४४॥ विसर्जनाकारणाभ्यां तदनुभवे महाननर्थः ॥४५॥ वेश्यासक्तिः प्राणार्थहानिं कस्य न करोति ॥४६॥ धनमनुभवन्ति वेश्या न पुरुषं ॥४७॥ धनहीने कामदेवेऽपि न प्रीतिं बध्नन्ति वेश्याः ॥४८॥ स पुमान् न भवति सुखी, यस्यातिशयं वेश्यासु दानं ॥४९॥ स पशोरपि पशुः यः स्वधनेन परेषामर्थवन्तीं करोति वेश्यां ॥५०॥ आचित्तविश्रान्ते वेश्यापरिग्रहः श्रेयान् ॥५१॥ सुरक्षितापि वेश्या न स्वां प्रकृतिं परपुरुषसेवनलक्षणां त्यजति ॥५२॥

---

१. तथा भागुरिः–स्वातंत्र्यं नास्ति नारीणां मुक्त्वा कर्मचतुष्टयम्। बालानां पोषणं कृत्यं शयनं चाङ्गभूषणं ॥१॥

२. तथा च शुक्रः–न चिरं बुद्धिं माप्नोति यः स्त्रीणां वशगो भवेत्। नदीप्रवाहपतितो यथा भूमिसमुद्भवः ॥१॥

३. तथा चोक्तं–वा नारी वशगा पत्युः पतिव्रतपरायणा। सा स्वपत्युः करोत्येव मनोराज्यं हृदि स्थितम् ॥१॥

४. तथा च भारद्वाजः–न कामशास्त्रतत्वज्ञाः स्त्रियः कार्याः कुलोद्भवाः। यतो वैरूप्यमायान्ति यथा शास्त्र्यं दुसंगमः ॥१॥

अर्थ—जब विवेक-हीन पुरुष वेश्याओं को प्रचुर धन देकर भी उनका उपभोग करता हुआ अधिक समय तक सुखी नहीं हो पाता, तब थोड़ा-सा धन देने वाला कैसे सुखी हो सकता है ? नहीं हो सकता। बिना कारण छोड़ी हुई वेश्याओं के यहाँ पुनः जाने से वे व्यसनी का महान् अनर्थ (प्राणघात) कर डालती हैं वेश्यागामी पुरुष अपने प्राण-धन और मानमर्यादा को खो बैठते हैं ॥४४-४६॥

नारद[१] ने भी वेश्यासक्त को अपने प्राण व धन का नाशक कहा है ॥१॥

वेश्याएँ केवल व्यसनी पुरुष द्वारा दिये हुए धन का ही उपभोग करती हैं, पुरुष का नहीं; क्योंकि निर्धन व्यक्ति ६४ कलाओं का पारगामी (महाविद्वान्) व कामदेव सदृश अत्यन्त रूपवान भी क्यों न हो, उसे वे तत्काल ठुकरा देती हैं; जबकि कुष्ठ-आदि भयानक व्याधियों से पीड़ित व कुरूप धनाढ्य व्यक्ति से अनुराग करती हैं ॥४७॥

भारद्वाज[२] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

वेश्याएं कामदेव समान अत्यन्त रूपवान पर दरिद्र व्यक्ति से कभी भी अनुराग नहीं करती तो फिर भला कुरूप व दरिद्र व्यक्ति से कैसे प्रेम कर सकती हैं ? नहीं कर सकतीं ॥४८॥

भागुरि[३] विद्वान् ने भी वेश्याओं के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

वेश्याओं में आसक्त पुरुष उन्हें प्रचुर धन देने पर भी कभी सुखी नहीं हो सकता जो मूर्ख वेश्या को अपना प्रचुर धन देता है वह दूसरों को भी धन देने के लिए प्रोत्साहित कर उसे और भी धनाढ्य बनाता है, वह पशु से भी बढ़कर पशु है, क्योंकि वह अपने साथ साथ दूसरों की भी आर्थिक क्षति करता है ॥४९-५०॥

बल्लभदेव[४] विद्वान् ने भी वेश्यासक्त की इसी प्रकार कड़ी आलोचना की है ॥१॥

बिजिगीषु अपने चित्त को शान्ति पर्यन्त (शत्रु विजय पर्यन्त) गुप्तचर-आदि के कार्यार्थ वेश्या-संग्रह करे, इससे वह शत्रुकृत उपद्रवों से देश को सुरक्षित करता है ॥५१॥

अच्छी तरह रखवाली की हुई वेश्या दूसरे पुरुष का उपभोग करने रूप अपना स्वभाव नहीं छोड़ती ॥५२॥

गुरु[५] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

प्रकृति-निर्देश-

या यस्य प्रकृतिः सा तस्य दैवेनापि नापनेतुं शक्येत ॥५३॥ सुभोजितोऽपि श्वा

---

१. तथा च नारदः—प्राणार्थहानिरेव स्याद्वेश्यायाँ सक्तितो नृणाम्। यस्मात्तस्मात्परित्याज्या वेश्या पुंभिर्धनार्थिभिः ॥१॥

२. तथा च भारद्वाजः—न सेवन्ते नरं वेश्याः सेवन्ते केवलं धनम्। धनहीनं यतो मर्त्ये संत्यजन्ति च तत्क्षणात् ॥१॥

३. तथा च भागुरिः—न सेव्यते धनैर्हीनः कामदेवोऽपि चेत्वस्वयं। वेश्याभिर्धनलुब्धाभिः कुष्ठी चापि निवेष्यते ॥१॥

४. तथा च बल्लभदेवः—आत्मवित्तेन यो वेश्यां महार्थां कुरुते कुधीः। अन्येषां वित्तिनाशाय पशूनां पशुः सर्वतः ॥१॥

५. तथा च गुरुः—यद्वेश्या लोभसंयुक्ता स्वीकृतापि नरोत्तमैः। सेवयेत्पुरुषानन्यान् स्वभावो दुस्त्यजो यतः ॥१॥

किमशुचीन्यस्थीनि परिहरति ॥५४॥ न खलु कपिः शिक्षाशतेनापि चापल्यं परिहरति ॥५५॥ इक्षुरसेनापि सिक्तो निम्बः कटुरेव ॥५६॥

अर्थ—जिसकी जैसी प्रकृति होती है उसे विधाता भी दूर करने में असमर्थ है ॥५३॥

नारद[१] ने भी व्याघ्र-आदि की प्रकृति का निर्देश किया है ॥१॥

अच्छी तरह भोजनादि द्वारा तृप्त हुआ भी कुत्ता क्या हड्डियाँ चबाना छोड़ सकता है ? नहीं छोड़ सकता ॥५४॥

भृगु[२] विद्वान् ने भी प्रकृति न बदलने के विषय में यही कहा है ॥१॥

धैर्य-धारण की सैकड़ों शिक्षाओं द्वारा समझाया गया भी बंदर क्या कभी अपनी चंचल प्रकृति छोड़ सकता है ? नहीं छोड़ सकता ॥५५॥

अत्रि[३] विद्वान् ने भी बंदर की चंचल प्रकृति न बदलने के विषय में कहा है ॥१॥

गन्ने के मीठे रस से सींचा गया नीम का पेड़ कडुआ ही रहता है ॥५६॥

गर्ग[४] विद्वान् ने भी दुष्ट व शिष्ट की प्रकृति के विषय में लिखा है ॥१॥

प्रकृति, कृतघ्न कुटुम्बियों का पोषण व उनके विकृति होने का कारण, शारीरिक सौंदर्य व कुटुम्बियों का संरक्षण—

क्षीराश्रितशर्करापानभोजितश्चाहिर्न कदाचित् परित्यजति विषम्[५] ॥५७॥ सम्मानदिवसादायुः कुल्यानामपग्रहहेतुः ॥५८॥ तंत्रकोषवर्धिनी वृत्तिर्दायादान् विकारयति ॥५६॥ तारुण्यमधिकृत्यसंस्कारसाराहितोपयोगाच्च शरीरस्य रमणीयत्वं न पुनः स्वभावः[६] ॥६०॥ भक्तिविश्रम्भादव्यभिचारिणं कुल्यं पुत्रं वा संवर्धयेत् ॥६१॥ विनियुञ्जीत उचितेषु कर्मसु ॥६२॥

अर्थः—जिस प्रकार सांप को मीठा दूध पिलाने पर भी वह अपनी विषैली प्रकृति नहीं छोड़ सकता उसी प्रकार जिसकी जैसी प्रकृति होती है, उसे वह कदापि नहीं छोड़ सकता। सारांश यह है कि इसी तरह वेश्याएँ भी व्यभिचार-प्रकृति को धन लोभ से नहीं छोड़ सकतीं, इसलिए नैतिक विचारवान

---

१. तथा च नारदः—व्याघ्रः सेवति काननं सुगहनं सिंहो गुहां सेवते। हंसः सेवति पद्मिनीं कुसुमितां गृध्रः स्मशान् स्थलीं॥ साधुः सेवति साधुमेव सततं नीचोऽपि नीचं जनं। या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता दुःखेन सा त्यज्यते ॥१॥

२. तथा च भृगुः—स्वभावो नान्यथाकर्तुं शक्यः केनापि कुत्रचित्। श्वेव सर्वरसान् भुक्त्वा बिना मेध्यान्न तृप्यति ॥१॥

३. तथा च अत्रिः—प्रोक्तः शिक्षाशतेनापि न चापल्यं त्यजेत्कपिः। स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्तुमयन्था ॥१॥

४. तथा च गर्गः—पिशुनं दानमाधुर्ये संप्रयथि कथंचन। सिक्तश्चेक्षुरसेनापि दुस्त्यजा प्रकृतिर्निजा ॥१॥

५. उक्त सूत्र मु.मू. पुस्तक से संकलन किया गया है, सं. टी. पु. में नहीं है।

६. उक्त सूत्र मु.मू. पुस्तक से संकलन किया गया है, सं. टी. पु. में नहीं है।

मनुष्य को शारीरिक भयंकर बीमारियों (गर्मी-सुजाक-आदि) को उत्पन्न करने वाली एवं धन, धर्म, प्राण व मानमर्यादा नष्ट करने वाली वेश्याओं से सदा दूर रहना चाहिए ॥५७॥

जब राजा अपने निकटवर्ती कुटुम्बीजनों को उच्च अधिकारी पदों पर नियुक्त करके जीवनपर्यन्त प्रचुर धनादि देकर उनका संरक्षण करता है, तब वे अभिमान-वश राज्य लोभ से राजा के घातक हो जाते हैं ॥५८॥

शुक्र[१] विद्वान् ने भी निकटवर्ती कुटुम्बीजनों का संरक्षण राजा के विनाश का कारण बताया है ॥१॥

राजा द्वारा जब सजातीय कुटुम्बियों के लिए सैन्य व कोष बढ़ाने वाली जीविका दी जाती है, तब वे विकार-युक्त-अभिमानी हो जाते हैं, जिसका परिणाम महाभयंकर होता है- वे शक्ति सम्पन्न होकर अभिमान व राज्य-लोभ-वश राजा का वध-बंधनादि चिंतन करने लगते हैं, अतः उन्हें ऐसी जीविका न देनी चाहिए ॥५९॥

गुरु[२] विद्वान् ने भी सजातीय कुटुम्बियों के लिए सैन्य व कोष बढ़ाने वाली जीविका देने का निषेध किया है ॥१॥

शरीर में कृत्रिम (बनावटी) सौन्दर्य होता है, न कि स्वाभाविक, क्योंकि युवावस्था को प्राप्त होकर उत्तम वस्त्राभूषणों से अलंकृत होने के कारण वह सुन्दर प्रतीत होता है ॥६०॥

राजा को अपने पर श्रद्धा (भक्ति) रखनेवाले, भक्ति के बहाने से कभी विरुद्ध न होने वाले नम्र विश्वसनीय व आज्ञाकारी सजातीय कुटुम्बी व पुत्रों का संरक्षण करते हुए उन्हें योग्य पदों पर नियुक्त करना चाहिए ॥६१-६२॥

नारद[३] बल्लभदेव[४] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

स्वामी का आज्ञापालन, शक्तिशाली व वैर-विरोध करने वाले पुत्रों व कुटुम्बियों का वशीकरण, कृतज्ञ के साथ कृतघ्नता करने का दुष्परिणाम व अकुलीन माता-पिता का सन्तान पर कुप्रभाव-

भर्तुरादेशं न विकल्पयेत् ॥६३॥

अन्यत्र प्राणबाधाबहुजनविरोधपातकेभ्यः ॥६४॥

बलवत्पक्षपरिग्रहेषु दायिष्वाप्तपुरुषपुरःसरो विश्वासो वशीकरणं गूढपुरुषनिक्षेपः

---

१. तथा च शुक्रः-कल्याणां पोषणं यच्च क्रियते मूढपार्थिवैः। आत्मनाशाय तज्ज्ञेयं तस्मास्याज्यं सुदूरतः ॥१॥

२. तथा च गुरुः-वृत्तिः कार्या न कुल्यानां यथा सैन्यं विवर्धते। सैन्यवृद्ध्या तु ते घ्नन्ति स्वामिनं राज्यल्लोभतः ॥१॥

३. तथा च नारदः-वर्धनीथोऽपि दायादः पुत्रो वा भक्तिभाग्यदि। न विकारं करोति स्म ज्ञात्वा साधुस्ततः परं ॥१॥

४. तथा च बल्लभदेवः-स्थानेष्वेव नियोज्यन्ते भृत्या आभरणानि च। न हि चूणामणिः पादे प्रभवामीति बध्यते ॥१॥

प्रणिधिर्वा ॥६५॥

दुर्बोधे सुते दायादे वा सम्यग्युक्तिभिर्दुरभिनिवेशमवतारयेत् ॥६६॥

साधुषुपचर्यमाणेषु विकृतिभजनं स्वहस्ताङ्गाराकर्षणमिव ॥६७॥

क्षेत्रबीजयोर्वैकृत्यमपत्यानि विकारयति ॥६८॥

अर्थ—सेवक की प्राणनाशिनी तथा लोगों से वैर-विरोध उत्पन्न कराने वाली एवं पाप में प्रवृत्ति कराने वाली स्वामी की आज्ञा को छोड़कर (उसे उल्लंघन करते हुए) दूसरे सभी स्थानों में सेवक को अपने स्वामी को आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए ॥६३-६४॥

जब राजा के सजातीय कुटुम्बी लोग तन्त्र (सैन्य) व कोषशक्ति से बलिष्ठ हो जावें, उस समय उनके वश करने का पहला उपाय यह है कि वह अपने शुभचिन्तक व प्रामाणिक पुरुषों को अग्रेसर नियुक्त कर उनके द्वारा कुटुम्बियों को अपने में विश्वास उत्पन्न करावे और दूसरा उपाय यह है कि उनके पास गुप्तचरों को नियुक्त करे, ताकि उनके समस्त अभिप्राय राजा को विदित हो सके। सारांश यह है कि उक्त उपायों द्वारा उनकी सारी चेष्टाएँ विदित होने पर उनके वशीकरणार्थ प्रयोग की हुई साम-दाम-आदि उपायों की योजनाएँ सफल होंगी ॥६५॥

शुक्र[1] विद्वान् ने भी शक्तिशाली कुटुम्बियों को अधीन करने के लिए उक्त दोनों उपाय बताये हैं ॥१॥

नैतिक मनुष्य को पुत्र व भार्या वगैरह कुटुम्बी जनों का मूर्खता-पूर्ण दुराग्रह अच्छी युक्तियों (युक्ति-युक्त वचनों) द्वारा नष्ट कर देना चाहिए ॥६६॥

रैभ्य[2] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

उपकार करने वाले शिष्ट पुरुषों के साथ अन्याय का बर्ताव करने वाला अपने हाथों से अंगारे खींचने समान अपनी हानि करता है। अर्थात् जिस प्रकार अपने हाथों से अग्नि के अंगारों को खींचने से जल जाते हैं, उसी प्रकार उपकार करने वाले शिष्ट पुरुषों के साथ अन्याय करने से अधिक हानि (आर्थिक-क्षति आदि) होती है ॥६७॥

भागुरि[3] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

माता-पिता की अकुलीनता उनके पुत्रों को विकार-युक्त-नीचकुल का-बना देती है एवं सन्तान के जघन्य आचरण से माता-पिता की अकुलीनता जानी जाती है ॥६८॥

उत्तम पुत्र की उत्पत्ति का उपाय-

---

१. तथा च शुक्लः-बलवत्पक्षदायादा आप्तद्वारेण वश्यगाः। भवन्ति चातिगुप्तैश्च चरैः सम्यग्विशोधिताः ॥१॥

२. तथा च रैभ्यः-पुत्रो वा बान्धवो वापि विरुद्धो जायते यदा। तदा सन्तोषयुक्तस्तु सत्कार्यो भूतिमिच्छता ॥१॥

३. तथा च भागुरिः-साधूनां विनयाढ्यानां विरुद्धानि करोति यः। स करोति न सन्देहः स्वहस्तेनाग्निकर्षणम् ॥१॥

कुलविशुद्धिरुभयतः प्रीतिर्मनःप्रसादोऽनुपहतकालसमयश्च श्रीसरस्वत्यावाहन-मंत्रपूतपरमान्नोपयोगश्च गर्भाधाने पुरुषोत्तममवतारयति ॥६९॥

अर्थ—दम्पति निम्न प्रकार कारण-सामग्री से उत्तम, कुलीन व भाग्यशाली पुत्र उत्पन्न करते हैं।

१. कुलविशुद्धि–दम्पति के माता-पिता का वंश, परम्परा से चली आने वाली पिंड-शुद्धि से शुद्ध (सज्जाति) वंश होना चाहिए।

भगवज्जिनसेनाचार्य[1] ने भी कहा है कि वंश-परम्परा से चली आई पिता की वंश-शुद्धि 'कुल' और माता को वंश

शुद्धि 'जाति' है एवं दोनों (कुल व जाति) की शुद्धि को 'सज्जाति' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जिन दम्पतियों के बीज-वृक्ष समान परम्परा से चले आये हुए वंश में समान गोत्र में विवाह आदि द्वारा पिंड में अशुद्धि न हुई हो, किंतु एक जाति में भिन्न गोत्रज कन्या के साथ विवाह संस्कार द्वारा प्रवाह रूप से चला आया हुआ वंश विशुद्ध हो, उसे 'सज्जाति' कहते हैं। उसकी प्राप्ति होने से कुलीन पुरुष को बिना प्रयत्न किये प्राप्त होने वाले सद्गुणों (शिक्षा व सदाचार-आदि) के साथ साथ मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति सुलभता से हो जाती है।

उक्त सज्जाति की सुरक्षार्थ आचार्यश्री ने गर्भाधानादि संस्कारों से उत्पन्न होने वाली दूसरी सज्जाति का निरूपण किया है, जिसके द्वारा कुलीन भव्य पुरुष द्विजन्मा-दो जन्म वाला (१. शरीर जन्म २. संस्कारों से होने वाला आत्म-जन्म) कहा जाता है, जिसके फलस्वरूप उसमें नैतिक व धार्मिक सत्कर्त्तव्य-पालन की योग्यता उत्पन्न होती है। जिस प्रकार विशुद्ध खानि से उत्पन्न हुई मणि संस्कार से अत्यन्त उज्ज्वल हो जाती है, उसी प्रकार यह आत्मा भी क्रिया (गर्भाधानादि) व मंत्रों के संस्कार से अत्यन्त निर्मल-विशुद्ध हो जाती है एवं जिस प्रकार सुवर्ण पाषाण उत्तम संस्कार क्रिया (छेदन, भेदन व अग्निपुटपाक आदि) से शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार भव्य पुरुष भी उत्तम क्रियाओं (संस्कारों) को प्राप्त हुआ विशुद्ध हो जाता है।

वह संस्कार धार्मिक ज्ञान से उत्पन्न होता है और सम्यग्ज्ञान सर्वोत्तम है, इसलिए जब यह

---

१. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः–
पितुरन्वयशुद्धिर्या तत् कुलं परिभाष्यते। मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यमिलप्यते ॥१॥
विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता। यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनतैर्गुणैः ॥२॥
सस्कारजन्मना चान्या सज्जातिरनुकीर्त्यते। यामासाद्य द्विजन्मत्वं भव्यात्मा समुपाश्नुते ॥३॥
विशुद्धाकरसँभूतो मणिः संस्कारयोगतः। यात्युत्कर्षं यथात्मैवं क्रियामन्त्रैः सुसंस्कृतः ॥४॥
सुवर्णधातुरथवा शुद्धचेदासाद्य संस्क्रियां। यथा तथैव भव्यात्मा शुद्ध्यस्यासादितक्रियः ॥५॥
ज्ञानजः स तु संस्कारः सम्यग्ज्ञानमनुत्तरं। यदाथ लभते साक्षात् सर्वविन्मुखतः कृती ॥६॥
तदैष परमज्ञानगर्भात् संस्कारजन्मना। जातो भवेद्द्विजन्मेति व्रतैः शीलैश्च भूषितः ॥७॥ आदि पुराण से।

पुण्यवान् पुरुष साक्षात् सर्वज्ञदेव के मुखचन्द्र से सम्यग्ज्ञानामृत पान करता है तब वह सम्यग्ज्ञानरूप गर्भ से संस्काररूप जन्म से उत्पन्न होकर पाँच अणुव्रतों (अहिंसाणुव्रत सत्याणुव्रत-आदि) तथा ७ शीलों (दिग्व्रत आदि) से विभूषित होकर 'द्विजन्मा' कहलाता है ॥१-७॥ सारांश यह है कि कुलीन दम्पति की संतान कुलीन होती है और गर्भाधान-आदि संस्कारों से संस्कृत होने पर उसमें मोक्ष-साधन सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करने की योग्यता होती है।

२. दम्पतियों का पारस्परिक प्रेम। ३. मनः प्रसाद (दम्पतियों के हृदय कमल का विकास-प्रसन्न चित्त रहना)। ४. चन्द्रग्रहण आदि दोषरहित गर्भाधान वेला (समय)। ५. लक्ष्मी (अनन्त दर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख व अनंतवीर्य रूप अंतरंग लक्ष्मी व समवसरण विभूति रूप बहिरङ्ग लक्ष्मी) और सरस्वती (द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान) का आवाहन करने वाले मन्त्रों (पीठिका मंत्रादि) से पवित्र किये हुए (यथाविधि हवन पूर्वक) उत्कृष्ट-आचार शास्त्र व प्रकृति ऋतु के अनुकूल-अन्न का भक्षण ॥६९॥

निरोगी व दीर्घजीवी संतान होने का कारण, राज्य व दीक्षा के अयोग्य पुरुष, अङ्गहीनों को राज्याधिकार की सीमा, विनय का प्रभाव, व अभिमानी राजकुमारों की हानि-

गर्भशर्मजन्मकर्मापत्येषु देहलाभात्मलाभयोः कारणं परमम् ॥७०॥ स्वजातियोग्यसंस्कारहीनानां राज्ये प्रव्रज्यायां च नास्त्यधिकारः ॥७१॥ असति योग्येऽन्यस्मिन्नङ्गविहीनोऽपि पितृपदमर्हत्यापुत्रोत्पत्तेः ॥७२॥ साधुसम्पादितो हि राजपुत्राणां विनयोऽन्वयमभ्युदयं न च दूषयति ॥७३॥ घुणजग्धं काष्ठमिवाविनीतं राजपुत्रं राजकुलमभियुक्तमात्रं भज्येत् ॥७४॥

अर्थ—जो स्त्री गर्भवती अवस्था में निरोगी व सुखी रहती है, उसकी संतान भी सुखी होती है एवं जिस बच्चे का जन्म शुभग्रहों में होता है, वह दीर्घजीवी (चिरायु) होता है। ॥७०॥

गुरु[१] विद्वान् ने भी संतान के निरोगी और दीर्घजीवी होने के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

अपनी जाति के योग्य गर्भाधान-आदि संस्कारों से हीन पुरुषों को राज्य-प्राप्ति व दीक्षा-धारण करने का अधिकार नहीं है ॥७१॥ राजा के कालकवलित हो जाने पर उसका अङ्गहीन पुत्र भी उस समय तक अपने पिता का पद (राज्याधिकार) प्राप्त कर सकता है, जब तक कि उस (अङ्गहीन) की कोई दूसरी योग्य सन्तान न हो जावे ॥७२॥

शुक्र[२] विद्वान् का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जिन राजकुमारों को शिष्ट पुरुषों द्वारा विनय-सदाचार-आदि की नैतिक शिक्षा दी गई है-उनका वंश व वृद्धिंगत राज्य दूषित नहीं होता ॥७३॥

---

१. तथा च गुरुः-गर्भस्थानमपत्यानां यदि सौख्यं प्रजायते। तद्भेद्धि शुभो देहो जीवितव्यं च जन्मनि ॥१॥

२. तथा च शुक्रः-राजाभाषे तु संजाते योग्यः पुत्रौ न चेद्भवेत्। तदा व्यंगोऽपि संस्थाप्यो यावत्पुत्रसमुद्भवः ॥१॥

वादरायण[1] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जिस प्रकार घुण-कीड़ों से खाई हुई लकड़ी नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार दुराचारी व उद्दण्ड राजकुमार का वंश नष्ट हो जाता है; इसलिए दुराचारी व उद्दण्ड व्यक्ति को राज्य पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए ॥७४॥

भागुरि[2] विद्वान् ने भी दुराचारी व्यक्ति को राज्य पद पर नियुक्त करने का निषेध किया है ॥१॥

पिता से द्रोह न करने वाले राजकुमार, उनके माता-पिता, उनसे लाभ, माता-पिता के अनादर से हानि, उससे प्राप्त राज्य को निरर्थकता व पुत्रकर्त्तव्य-

आप्तविद्यावृद्धोपरुद्धाः सुखोपरुद्धाश्च राजपुत्राः पितरं नाभिद्रुह्यन्ति ॥७५॥

मातृपितरौ राजपुत्राणां परमं दैवं ॥७६॥

यत्प्रसादादात्मलाभो राज्यलाभश्च ॥७७॥

मातृपितृभ्यां मनसाप्यपमानेष्वभिमुखा अपि श्रियो विमुखा भवन्ति ॥७८॥

किं तेन राज्येन यत्र दुरपवादोपहतं जन्म ॥७९॥

क्वचिदपि कर्मणि पितुराज्ञां नो लंघयेत् ॥८०॥

अर्थ—जो राजकुमार वंशपरम्परा से चले आये निजी विद्वानों द्वारा विनय व सदाचार-आदि की नैतिक शिक्षा से सुशिक्षित और सुसंस्कृत किये जाकर बढ़ाये गये हैं व जिन का लालन-पालन सुखपूर्वक किया गया है, वे कभी भी अपने पिता से द्रोह नहीं करते (उसका अनिष्ट चितवन नहीं करते) ॥७५॥

गौतम[3] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

उत्तम माता-पिता का मिलना राजकुमारों के उत्तम भाग्य का द्योतक है अर्थात् यदि उन्होंने पूर्व जन्म में पुण्य-संचय किया है तो वे माता-पिता द्वारा राज्यश्री प्राप्त करते हैं, अन्यथा नहीं ॥७६॥

गर्ग[4] विद्वान् ने श्री राजकुमारों के अनुकूल व प्रतिकूल भाग्य से उन्हें इष्ट अनिष्ट फल देने वाले माता-पिता की प्राप्ति का निर्देश किया है ॥१॥

माता-पिता की प्रसन्नता से ही राजकुमारों को शरीर व राज्य-लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। सारांश यह है कि माता-पिता का पुत्रों के प्रति अनन्त उपकार है, इसलिए सुखाभिलाषी पुत्रों को उनकी

---

१. तथा च बादरायणः—विनयः साधुभिर्दत्तो राजान्याणं भवेद्धि यः। न दूषयति वंशं तु न राज्यं न च सम्पदम् ॥१॥

२. तथा च भागुरिः—राजपुत्रो दुराचारो यदि राज्ये नियोजितः। तद्राज्यं नाशमायाति घुणजग्धं च दारुवत् ॥१॥

३. तथा च गौतमः—आप्तैर्विद्याधिकैर्येऽत्र राजपुत्राः सुरक्षिताः। वृद्धिं गताश्च सौख्येन जनकं न द्रुह्यन्ति ते ॥१॥

४. तथा च गर्गः—जननीजनकावेतौ प्राक्तनं कर्मविश्रुतौ। सर्वेषां राजपुत्रायां शुभाशुभप्रदौ हि तौ ॥१॥

तन, मन और धन से सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए ॥७७॥

रैभ्य[१] विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो पुत्र माता-पिता का मन से भी तिरस्कार-अनादर करते हैं, उनके पास से प्रसन्न होकर समीप में आने वाली लक्ष्मी भी रुष्ट होकर दूर भाग जाती है। अभिप्राय यह है कि सुख-सम्पत्ति के इच्छुक पुत्रों को अपने माता-पिता का मन से भी तिरस्कार नहीं करना चाहिए। फिर प्रवृत्ति रूप से तिरस्कार करना तो महाअनर्थ का कारण है ॥७८॥

वादरायण[२] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

उस निरर्थक राज्य से क्या लाभ है ? जिसकी प्राप्ति से मानव जीवन अत्यन्त लोकनिन्दा से दूषित होता हो ॥७६॥

शुक्र[३] विद्वान् ने भी लोकनिन्दायुक्त राज्य-प्राप्ति को निरर्थक बताया है ॥१॥

पुत्र को किसी भी कार्य में पिता की आज्ञा उल्लंघन नहीं करनी चाहिए॥ ८०॥

लोक प्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा उक्त बात का समर्थन, पुत्र के प्रति पिता का कर्त्तव्य और अशुभकर्म करने से हानि-

किन्नु खलु रामः क्रमेण विक्रमेण वा हीनो यः पितुराज्ञया वनमाविवेश ॥८१॥

यः खलु पुत्री मनसितपरम्परया लभ्यते स कथमपकर्तव्यः ॥८२॥

कर्तव्यमेवाशुभं कर्म यदि हन्यमानस्य विपद्विधानमात्मनो न भवेत् ॥८३॥

अर्थ—क्या निश्चय से महात्मा रामचन्द्र राजनैतिक-ज्ञान अथवा अधिकारीक्रम तथा शूरवीरता से हीन थे ? जिन्होंने अपने पिता (राजा दशरथ) की आज्ञानुसार वनवास को प्रस्थान किया। सारांश यह है कि लोक में वह राजपुत्र अपनी पैतृक राज-गद्दी का अधिकारी नहीं समझा जाता जो कि क्रम (राजनैतिकज्ञान, सदाचार व लोक व्यवहार पटुता आदि) एवं शूरवीरता से हीन हो अथवा उक्त गुण होने पर भी ज्येष्ठ न हो, परन्तु राजा दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र महात्मा रामचन्द्र में पैतृक राज्यश्री की प्राप्ति के लिए यथेष्ट राजनैतिक-ज्ञान, लोकव्यवहार-पटुता, राज्य-शासन प्रवीणता एवं लोकप्रियता आदि सद्‌गुण थे। वे पराक्रमशाली थे और ज्येष्ठ होने के नाते कानूनन राजगद्दी के अधिकारी थे। यदि वे चाहते तो अपने पराक्रमी भाई लक्ष्मण की सहायता से अपनी सौतेली माँ (कैकेयी) को कैद करके व उसके फँदे में फँसे हुए अपने पिता को नीचा दिखाकर स्वयं राजगद्दी पर बैठ जाते। परन्तु उन्होंने ऐसा अनर्थ कहीं किया और अपने पिता की कठोरतम आज्ञा का पालन कर १४ वर्ष तक वनवास के कष्ट सहे। अतएव सम्यक्त्व और सदाचार को सुरक्षित रखते हुए पुत्रों को अपने पिता की

१. तथा च रैभ्यः-अतएव हि विज्ञेयौ जननीजनकाबुभौ। दैवं याभ्यां प्रसादेश्च शरीरं राज्यमाप्यते ॥१॥

२. तथा च बादरायणः- मनलाप्यपमानं यो राजपुत्रः समाचरेत्। सदा मातृपितृभ्यां च तस्य श्रीः स्यात् पराङ्मुखा ॥१॥

३. तथा च शुक्रः-जनापवादसहितं यद्राज्यमिह कीर्त्यते। प्रभूतमपि तन्मिथ्या तत्पापाय राजसंस्थिते ॥१॥

कठोरतम भी आज्ञा का पालन करना चाहिए ॥८१॥

जो पुत्र माता-पिता द्वारा अनेक प्रकार के मनोरथों या ईश्वर-आदि से की हुई याचनाओं द्वारा बड़ी कठिनाई से मिलता है, ऐसे दुर्लभ पुत्र के विषय में उसके माता-पिता किस प्रकार अनिष्ट चिंतन कर सकते हैं ? नहीं कर सकते ॥८२॥

गुरु[1] विद्वान् के उद्धरण का भी पुत्र-रक्षा के विषय में यही अभिप्राय है ॥१॥

क्योंकि निरपराध मारे जानेवाले पुरुष के वध-बंधनादि कष्ट स्वयं हिंसक को भोगने पड़ते हैं, इसलिए क्या बुद्धिमान पुरुषों को ऐसा अनिष्ट खोटा कार्य करना चाहिए ? नहीं करना चाहिए ॥८३॥

गर्ग[2] विद्वान् ने भी उक्त दुष्कृत्य (निरपराधी का वध) करने का निषेध किया है ॥१॥

राजपुत्रों के सुखी होने का कारण, दूषित राजलक्ष्मी, निष्प्रयोजन कार्य से हानि व उसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन, राज्य के योग्य उत्तराधिकारी व अपराधी की पहचान-

ते खलु राजपुत्राः सुखिनो येषां पितरि राज्यभारः ॥८४॥ अलं तया श्रिया या किमपि सुखं जनयन्ती व्यासंगपरंपराभिः शतशो दुःखमनुभावयति ॥८५॥ निष्फलो ह्यारम्भः कस्य नामोदर्केण सुखावहः ॥८६॥ परक्षेत्रं स्वयं कृषतः कर्षापयतो वा फलं पुनस्तस्यैव यस्य तत्क्षेत्रम् ॥८७॥ सुतसोदरसपत्नपितृव्यकुल्यदौहित्रागन्तुकेषु पूर्वपूर्वाभावे भवत्युत्तरस्य राज्यपदावाप्तिः[3] ॥८८॥ शुष्कश्याममुखता वाक्स्तम्भः स्वेदो विजृम्भणमतिमात्रं वेपथुः प्रस्खलनमास्यप्रेक्षणमावेगः कर्मणि भूमौ वानवस्थानमिति दुष्कृतं कृतः करिष्यतो वा लिङ्गानि ॥८९॥

अर्थ—वे राजपुत्र निश्चय से सुखी माने गये हैं, जिनके पिता राज्य की बागडोर अपने हाथ में लिए हों; क्योंकि वे (राजपुत्र) राज्य-शासन के कठिन कार्यभार को संभालने आदि से निश्चिन्त रहते हैं ॥८४॥

अत्रि[4] विद्वान् के श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

राजा को उस राजलक्ष्मी से कोई लाभ नहीं, जो उसे थोड़ा-सा सुखी करने के उपरान्त अनेक

---

१. तथा च गुरुः—उपयाचितसंघातैर्वः कृच्छ्रेण प्रलभ्बते। तस्मादात्मजस्य नो पापं चिन्तनीयं कथंचन ॥१॥

२. तथा व गर्गः—अनिष्टमपि कर्त्तव्यं कर्म पुंभिर्विचक्षणैः। तस्य चेद्धन्यमानस्य यज्जातं वत्स्वयं भवेत् ॥१॥

३. ''सुत-सोदर-सापत्न-पितृव्य-कुल्य-दौहित्रागन्तुकेषु पूर्वपूर्वाभावे ह्युत्तरोत्तरस्य दायव्याप्तिः'' इस प्रकार का पाठान्तर मू. प्रतियों में है, जिसका अर्थ यह है कि उक्त सात व्यक्ति क्रमशः दायभाग के अधिकारी हैं।

४. तथा च अत्रिः—येषां पिता वहेदत्र राज्यभारं सुदुर्वहम्। राजपुत्रा सुखाढ्याश्च ते भवन्ति सदैव हि ॥१॥

चिन्ताओं द्वारा सैकड़ों कष्टों को उत्पन्न कर देती हो ॥८५॥

कौशिक[१] विद्वान् ने भी सुख की अपेक्षा अधिक कष्ट देने वाली राजलक्ष्मी को व्यर्थ बताया है ॥१॥

फलशून्य-निष्प्रयोजन (उद्देश्य व लक्ष्य-हीन) कार्य का आरम्भ भविष्य में किसे सुखी बना सकता है ? किसी को नहीं। अतएव विवेकी मनुष्य को सोच-समझकर कार्य करना चाहिए ताकि भविष्य में वह उससे सुखी हो सके ॥८६॥

जो मनुष्य दूसरे के खेत को स्वयं जोतता है या अन्य किसी से जुतवाता है, उसका परिश्रम व्यर्थ है, क्योंकि ऐसा करने से उसे कुछ भी लाभ नहीं होता, क्योंकि उसमें जो कुछ भी धान्य-आदि की उपज होगी, वह इसे न मिलकर उस खेत के स्वामी को ही मिलेगी ॥८७॥

कौशिक[२] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

१. राजपुत्र, २. राजा का भाई, ३. पटरानी को छोड़कर दूसरी रानी का पुत्र, ४. राजा का चाचा, ५.राजा के वंश का पुत्र, ६. राजकुमारी का पुत्र और ७. बाहर से आकर राजा के पास रहने वाला-दत्तकपुत्र-आदि इन सात प्रकार के राज्याधिकारियों में से सबसे पहले राजपुत्र को और उसके न रहने पर भाई आदि को यथाक्रम से राजा बनाना चाहिए ॥८८॥

शुक्र[३] विद्वान् का भी राजा के बाद राज्य के उत्तराधिकारी बनाने के विषय में यही मत है ॥१॥

जो पुरुष पूर्व में पाप कर चुका हो, वर्तमान में कर रहा हो और भविष्य में करेगा, उसके निम्न प्रकार के लक्षणों को देखकर न्यायाधीशों को उसके पापी (अपराधी) होने के विषय में पहिचान करनी चाहिए।

१. जिसका चेहरा उदास (म्लान) और काला दिखाई पड़ता हो, २. जिसके मुख से स्पष्ट वचन न निकलते हों-न्यायालय में प्रश्न पूछे जाने पर जो उत्तर देने में असमर्थ हो, ३. जिसे लोगों के समक्ष पसीना आता हो, ४. जो बार-बार जंभाई लेता हो, ५. जो अत्यन्त काँप रहा हो, ६. जो लड़खड़ाते पैरों से चलता हो, ७. जो दूसरों के मुखों की ओर बारंबार देखता हो, ८. जो अत्यन्त जल्दबाज हो और ९. जो स्थिरता से कार्य न करता हो और जो स्थिर भाव से जमीन पर या एक स्थान पर न बैठता हो ॥८९॥

शुक्र[४] विद्वान् का भी अपराधी-पुरुषों की पहचान के विषय में यही मत है ॥१॥

॥ इति राजरक्षा-समुद्देशः॥

---

१. तथा च कौशिकः-अल्पसौख्यकरा या च बहुक्लेशप्रदा भवेत्। वृथा सात्र परिज्ञेया लक्ष्म्याः सौख्यफलं यतः ॥१॥

२. तथा च कौशिकः-परक्षेत्रे तु यो बीजं परिक्षिपति मन्दधीः। परिक्षेपयतो वापि तत्फलं क्षेत्रपस्य हि ॥१॥

३. तथा च शुक्रः-सुतः सोदरसापत्नपितृव्या गोत्रिणस्तथा। दोहितागन्तुका योग्या पदे राज्ञो यथाक्रमम् ॥१॥

४. तथा च शुक्रः-आयाति स्खलितैः पादैः सभायां पापकर्मकृत्। प्रस्वेदनेन संयुक्तो अधोदृष्टिः सुर्म्मनाः ? ॥१॥

(२५) दिवसानुष्ठान-समुद्देशः

नित्यकर्त्तव्य, सुखपूर्वक निद्रा से लाभ, सूर्योदय व सूर्यास्त की बेला में शयन से हानि-आदि-

ब्राह्मे मुहूर्त उत्त्थायेति कर्तव्यतायां समाधिमुपेयात् ॥१॥ सुखनिद्राप्रसन्ने हि मनसि प्रतिफलन्ति यथार्थग्राहिका बुद्धयः ॥२॥ उदयास्तमनशायिषु धर्मकालातिक्रमः ॥३॥ आत्मवक्त्रमाज्ये दर्पणे वा निरीक्षेत ॥४॥ न प्रातर्वर्षधरं विकलाङ्गं[1] वा पश्येत् ॥५॥ सन्ध्यासुधोतमुखं जप्त्वा देवतोऽनुगृह्णाति[2] ॥६॥ नित्यमदन्तधावनस्य नास्ति मुखशुद्धिः ॥७॥ न कार्यव्यासङ्गेन शारीरं कर्मोपहन्यात् ॥८॥ न खलु युगैरपि तरङ्गविगमात् सागरे स्नानं ॥८॥ वेग-व्यायाम-स्वाप-स्नान-भोजन स्वच्छदवृत्तिं कालान्नोपरुन्ध्यात् ॥१०॥

अर्थ—मनुष्य को ब्रह्ममुहूर्त में उठकर स्थिर चित्त से इस समुद्देश में कहे जाने वाले सत्य कर्तव्यों का पालन करना चाहिए ॥१॥ जिस मनुष्य का चित्त सुखपूर्वक गाढ़ निद्रा लेने से स्वस्थ रहता है, उसमें समस्त बुद्धियाँ यथार्थ होकर प्रतिबिंबित हो जाती हैं ॥२॥ सूर्योदय व सूर्यास्त के समय सोने वाले पुरुष सामायिक-आदि धार्मिक अनुष्ठान नहीं कर पाते; अतएव उन्हें यह समय सोने में खराब नहीं करना चाहिए ॥३॥ प्रातःकाल उठकर मनुष्य को अपना मुख घृत अथवा शीशा-दर्पण में देखना चाहिए ॥४॥ मनुष्य सुबह नपुंसक व अंगोपांग-हीन (लूले-लंगड़े-आदि) को न देखे ॥५॥

तीनों सन्ध्यायों में मुख शुद्ध करके जप करने वाले व्यक्ति का ऋषभादि तीर्थंकर देव अनुग्रह करते हैं ॥६॥

जो पुरुष हमेशा दांतोन नहीं करता-उसकी मुख-शुद्धि नहीं हो पाती। अतः सुन्दर स्वास्थ्य की कामना करने वाले मनुष्य की सुबह-शाम विधिपूर्वक दांतोन करते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मसूड़ों की तकलीफ न हो और दांतोन भी नीम जैसी तिक्तरस वाली हो। ऐसा

---

१. मु. मू. प्रति में इसके पश्चात् "रजस्वलां" ऐसा अधिक पाठ है, जिसका अर्थ यह कि मनुष्य प्रातःकाल रजस्वला स्त्री को भी न देखे।

२. उक्त पाठ मु. मू. प्रति से संकलन किया गया है।

करने से कफादिक से उत्पन्न हुई मुख की दुर्गन्धि नष्ट हो जाती है और दांत भी सुन्दर व चमकीले दिखाई पड़ने लगते हैं ॥७॥

मनुष्य को किसी कार्य में आसक्त होकर शारीरिक क्रियाओं (मल-मूत्रादि का यथासमय क्षेपण आदि) को न रोकना चाहिए ॥८॥ नैतिक मनुष्य को कदापि समुद्र में स्नान नहीं करना चाहिए, चाहे समुद्र में चिरकाल से तरंगों का उठना बन्द हो गया हो ॥९॥ शारीरिक स्वास्थ्य के इच्छुक व्यक्ति को मलमूत्रादि का वेग, कसरत, नींद, स्नान, भोजन और ताजी हवा में घूमना-आदि की यथासमय प्रवृत्ति नहीं रोकनी चाहिए अर्थात् उक्त कार्य यथासमय करने चाहिए ॥१०॥

वीर्य व मल-मूत्रादि के वेगों को रोकने से हानि, शौच तथा गृह-प्रवेश की विधि व व्यायाम-

शुक्रमलमूत्रमरुद्वेगसंरोधोऽश्मरीभगन्दर-गुल्मार्शसां हेतुः ॥११॥ गन्धलेपावसानं शौचमाचरेत् ॥१२॥ बहिरागतो नानाचाम्य गृहं प्रविशेत्॥१३॥ गोसर्गे व्यायामो रसायनमन्यत्र क्षीणाजीर्णवृद्धवातकिरूक्षभोजिभ्यः ॥१४॥ शरीरायासजननी क्रिया व्यायामः॥१५॥ शस्त्रवाहनाभ्यासेन व्यायामं सफलयेत् ॥१६॥ आदेहस्वेदं व्यायामकालमुशन्त्याचार्याः ॥१७॥ बलातिक्रमेण व्यायामः कां नाम नापदं जनयति ॥१८॥ अव्यायामशीलेषु कुतोऽग्निदीपनमुत्साहो देहदार्ढ्यं च ॥१९॥

अर्थ-जो व्यक्ति अपने वीर्य, मल, मूत्र और वायु के वेगों को रोकता है उसे पथरी, भगंदर, गुल्म व बवासीर-आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

चरक[1] विद्वान् ने लिखा है कि बुद्धिमान पुरुष को मल-मूत्र, वीर्य वायु, वमन, छींक, उद्गार जंभाई, भूख प्यास, वाष्प, नींद और परिश्रम से होने वाले श्वासोच्छ्वास के वेगों को नहीं रोकना चाहिए। क्योंकि मूत्र का वेग रोकने से गुदा और जननेन्द्रिय में पीड़ा, पेशाब करने में कष्ट व शरीर में पीड़ा होती है एवं शरीर झुक जाता है तथा अण्डकोषों की वृद्धि हो जाती है। मल का वेग रोकने से पक्व ाशय और शिर में पीड़ा-आदि होते हैं। वीर्य के वेग को रोकने से जननेन्द्रिय व अण्डकोषों में पीड़ा और पेशाब का रुक जाना-आदि उपद्रव हो जाते हैं-इत्यादि। अतः स्वास्थ्य चाहने वाले को उक्त वेग नहीं रोकना चाहिए ॥११॥

शौच के पश्चात् गुदा और हस्त-पाद आदि की शुद्धि मुल्तानी मिट्टी और जल से करनी चाहिए

---

१. तथा च चरकः-न वेगान् धारयेद्धीमाञ्जातान् मूत्रपुरीषयोः। न रेतसो न वातस्य न छर्द्याः क्षवधोर्न च ॥१॥ नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयोः। न वाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च ॥२॥ वस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छं शिरोरुजा। विनामो वक्षणानाहः स्वाल्लिङ्गमूत्रनिग्रहे ॥३॥ पक्वाशयशिरःशूलं वातवर्चोऽप्रवर्तनम्। पिण्डिकोद्वेष्टनाध्मानं पुरीषे स्याद्विधारिते ॥४॥ मेढे वृषणयोः शूलमङ्गमर्दो हृदि व्यथा। भवेत् प्रतिहते शुक्रे विवद्धं मूत्रमेव च ॥५॥

व अन्त में उन अंगों में सुगन्धित द्रव्य का लेप करना चाहिए, ताकि दुर्गन्धि नष्ट होकर चित्त प्रसन्न रहे ॥१२॥ बाहर से आया हुआ व्यक्ति आचमन (कुरला) किये बिना अपने गृह में प्रवेश न करे ॥१३॥

जिन की शारीरिक शक्ति क्षीण हो गई हो-जिनके शरीर में खून की कमी हो, ऐसे दुर्बल मनुष्य अजीर्ण रोग-युक्त, शरीर से वृद्ध, लकवा-आदि वात-रोगी और रूक्ष-भोगी मनुष्यों को छोड़कर दूसरे स्वस्थ बालक और नवयुवकों के लिए प्रातःकाल व्यायाम करना रसायन के समान लाभदायक है ॥१४॥

चरक[१] विद्वान् ने भी उक्त बात का समर्थन किया है ॥१॥

शरीर में परिश्रम उत्पन्न करने वाली क्रिया (दण्ड, बैठक व ड्रिल आदि) को 'व्यायाम' कहते हैं ॥१५॥

चरक[२] विद्वान् ने भी कहा है कि शरीर को स्थिर रखने वाली शक्तिवर्धिनी व मन को प्रिय लगने वाली शस्त्र संचालन-

आदि शारीरिक क्रिया को व्यायाम कहते हैं, इसे उचित मात्रा में करना चाहिए ॥१॥

खड्ग आदि शस्त्र-संचालन तथा हाथी और घोड़े आदि की सवारी से व्यायाम को सफल बनाना चाहिए ॥१६॥

आयुर्वेद के विद्वान् आचार्य शरीर में पसीना आने तक व्यायाम का समय मानते हैं ॥१७॥

चरक[३] विद्वान् ने भी अति मात्रा में व्यायाम करने से अत्यन्त थकावट, मन में ग्लानि व ज्वर आदि अनेक रोगों के होने का निर्देश किया है ॥१॥

जो मनुष्य शारीरिक शक्ति को उल्लंघन कर अधिक मात्रा में व्यायाम करता है, उसे कौन-कौन सी शारीरिक व्याधियाँ नहीं होती ? सभी होती हैं ॥१८॥ -जो लोग व्यायाम नहीं करते उनको जठराग्नि का दीपन, शरीर में उत्साह और दृढ़ता किस प्रकार प्राप्त हो सकती है ? नहीं हो सकती ॥१९॥

चरक[४] विद्वान् ने भी कहा है कि व्यायाम करने से शारीरिक लघुता, कर्त्तव्य करने में उत्साह, शारीरिक दृढ़ता, दुःखों को सहन करने की शक्ति, बात व पित्त आदि दोषों का क्षय व जठराग्नि प्रदीप्त होती है ॥१॥

निद्रा का लक्षण उससे लाभ, दृष्टान्त द्वारा समर्थन, आयु-रक्षक कार्य, स्नान का उद्देश्य व लाभ, स्नान की निरर्थकता।

---

१. तथा च चरकः-बालवृद्धप्रवाताश्च ये चोच्चैर्बहुभाषकाः। ते वर्जयेयुर्ध्यायामं क्षुधितास्तृषिताश्च ये ॥१॥

२. तथा च चरकः-शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्द्धिनी। देहव्यायामसंख्याता मात्रया तां समाचरेत् ॥१॥

३. तथा च चरकः-श्रमः क्लमः क्षयस्तृष्णा रक्तपित्तं प्रसामकः। अमिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते ॥१॥

४. तथा च चरकः-लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं दुःखसहिष्णुता। दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ॥१॥

स्नान-विधि व निषिद्ध स्नान-

इन्द्रियात्ममनोमरुतां सूक्ष्मावस्था स्वापः ॥२०॥ यथासात्म्यं स्वपाद्भुक्तान्नपाको भवति प्रसीदन्ति चेन्द्रियाणि ॥२१॥ सुघटितमपि हितं च भाजनं साधयत्यन्नानि[1] ॥२२॥ नित्यस्नानं द्वितीयमुत्सादनं तृतीयकमायुष्यं चतुर्थकं प्रत्यायुष्यमित्यहीनं सेवेत ॥२६॥ धर्मार्थकामशुद्धिदुर्जनस्पर्शाः स्नानस्य कारणानि ॥२४॥ श्रमस्वेदालस्यविगमः स्नानस्य फलम् ॥२५॥ जलचरस्येव तत्स्नानं यत्र न सन्ति देवगुरुधर्मोपासनानि ॥२६॥ प्रादुर्भवत्क्षुत्पिपासोऽभ्यङ्गस्नानं कुर्यात्॥२७॥ आतपसंतप्तस्य जलावगाहो दृग्मान्द्यं शिरोव्यथां च करोति ॥२८॥

अर्थ—स्पर्शन, रसना आदि इन्द्रियाँ, आत्मा, मन और श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्मावस्था 'निद्रा' है ॥२०॥ प्रकृति के अनुकूल यथेष्ट निद्रा लेने से खाये हुए भोजन का परिपाक हो जाता है और समस्त इन्द्रियाँ प्रसन्न रहती हैं ॥२१॥ जिस प्रकार साबित व खुला हुआ बर्तन अन्न पकाने में समर्थ होता है; इसी प्रकार यथेष्ट निद्रा से स्वस्थ शरीर भी कर्तव्य-पालन में समर्थ होता है ॥२२॥

नित्यस्नान, स्निग्ध पदार्थों से उबटन करना, आयुरक्षक प्रकृति-ऋतु के अनुकूल आहार-विहार प्रत्यायुष्य (शरीर और इन्द्रियों को सुरक्षित और शक्तिशाली बनाने वाले कार्य-पूर्वोक्त मल-मूत्रादि के वेगों को न रोकना, व्यायाम व मालिश-आदि) कार्य करने में न्यूनता (कमी) न करनी चाहिए। अर्थात् उक्त कार्यों को यथाविधि यथाप्रकृति सम्पन्न करना चाहिए ॥२३॥

मनुष्य को धर्म, अर्थ और काम-शुद्धि रखने के लिए एवं दुष्टों का स्पर्श हो जाने पर स्नान करना चाहिए ॥२४॥ स्नान करने से शरीर की थकावट आलस्य और पसीना नष्ट हो जाते है ॥२५॥

चरक[2] विद्वान् ने भी कहा है कि स्नान शरीर को पवित्र करने वाला, कामोद्दीपक, आयुवर्द्धक, परिश्रम, पसीना व शरीर के मल को दूर करने वाला, शारीरिक शक्तिवर्द्धक और शरीर को तेजस्वी बनाने वाला हैं ॥१॥

जो व्यक्ति देव, गुरु और धर्म की उपासना के उद्देश्य से स्नान नहीं करता उसका स्नान पक्षियों की तरह निरर्थक है ॥२६॥ भूखे और प्यासे मनुष्य को मालिश करने के बाद स्नान करना

---

१. उक्त सूत्र मु. मू. प्रति से संकलन किया गया है, सं. टी. पुस्तक में अघटितमपि हितं च भाजनं न साधयत्यन्नानि'' ऐसा पाठ है, परन्तु विशेष अर्थ-भेद नहीं। इसके पश्चात् ''हस्तपादमर्दनमुत्साहवर्द्धनमायुष्यं त्रिगुह्येरकृतकर्म कृत्या (?) पुष्पं स्त्री गुह्ये रोमावहरखे दशमेऽह्नि नित्यं स्नानम्'' ऐसा पाठ अधिक है परन्तु अशुद्ध होने से ठीक अर्थ प्रतीत नहीं होता। किन्तु प्रकरणानुसार अर्थ यह है कि हाथों और पैरों का मर्दन कराना, उत्साहवर्द्धक व आयुरक्षक है तथा रजस्वला स्त्री का सेवन नहीं करना चाहिए एवं प्रसूता स्त्री को दसवें दिन स्नान करना चाहिए परन्तु डेढ़ माह के पश्चात् ही उसका उपभोग करना चाहिए।

२. तथा च चरकः-पवित्रं बृष्यमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम्। शरीरबलसन्धानं स्नानमोजस्करं परम् ॥१॥

चाहिए ॥२७॥ जो व्यक्ति सूर्य-आदि की गर्मी से संतप्त होकर जल में प्रविष्ट होता है (स्नान करता है), उसके नेत्रों की रोशनी मंद पड़ जाती है और शिर में पीड़ा हो जाती है, अतः गर्मी से पीड़ित व्यक्ति तत्काल स्नान न करे ॥२८॥

आहार सम्बन्धी स्वास्थ्योपयोगी सिद्धान्त-

बुभुक्षाकालो भोजनकालः ॥२९॥ अक्षुधितेनामृतप्युपभुक्तं च भवति विषं ॥३०॥ जठराग्निं वज्राग्निं कुर्वन्नाहारादौ सदैव वज्रकं वलयेत् ॥३१॥ निरन्नस्य सर्वं द्रवद्रव्यमग्नि नाशयति ॥३२॥ अतिश्रमपिपासोपशान्तौ पेयायाः परं कारणमस्ति ॥३३॥ घृताधरोत्तरभुञ्जानोऽग्निं दृष्टिं च लभते ॥३४॥ सकृद्भूरि नीरोपयोगो वह्निमवसादयति ॥३५॥ क्षुत्कालातिक्रमादन्नद्वेषो देहसादश्च भवति ॥३६॥ विध्याते वन्हौ किं नामेन्धनं कुर्यात् ॥३७॥ यो मितं भुंक्ते स बहु भुंक्ते ॥३८॥ अप्रमितमसुखं विरुद्धमपरीक्षितमसाधुपाकमतीतरसमकालं चान्नं नानुभवेत् ॥३९॥ फल्गुभुजमननुकूलं क्षुधितमतिक्रूरं च न भुक्तिसमये सन्निधापयेत् ॥४०॥ गृहीतग्रासेषु सहभोजिष्वात्मनः परिवेषयेत् ॥४१॥ तथा भुञ्जीत यथासायमन्येद्युश्च न विपद्यते वह्निः ॥४२॥ न भुक्तिपरिमाणं सिद्धान्तोऽस्ति ॥४३॥ वन्ह्यभिलाषायत्तं हि भोजनं ॥४४॥ अतिमात्रभोजी देहमग्निं च विधुरयति ॥४५॥ दीप्तो वन्हिर्लघुभोजनाद्बलं क्षपयति ॥४६॥ अत्यशितुर्दुःखेनान्नपरिणामः ॥४७॥ श्रमार्तस्य पानं भोजनं च ज्वराय छर्दये वा ॥४८॥ न जिहत्सुर्न प्रेस्त्रोतुमिच्छुर्नासमञ्जसमनाश्च नानपनीयपिपासोद्रेकमश्नीयात् ॥४९॥ भुक्त्वा व्यायामव्यवायौ सद्यो व्यापत्तिकारणं ॥५०॥ आजन्मसात्यं विषमपि पथ्यं ॥५१॥ असात्म्यमपि पथ्यं सेवेत न पुनः सात्म्यमप्यपथ्यं ॥५२॥ सर्वं बलवतः पथ्यमिति न कालकूटं सेवेत ॥५३॥ सुशिक्षितोऽपि विषतंत्रज्ञो म्रियत एव कदाचिद्विषात् ॥५४॥ संविभज्यातिथिष्वाश्रितेषु च स्वयमाहरेत् ॥५५॥

अर्थ—भूख लगने का समय ही भोजन का समय है। सारांश यह है कि विवेकी पुरुष अहिंसाधर्म की रक्षार्थ रात्रि-भोजन का त्यागकर दिन में भूख लगने पर प्रकृति-ऋतु के अनुकूल भोजन करे, बिना भूख कदापि भोजन न करे ॥२९॥

चरक[१] विद्वान् ने भी देश, काल, अग्नि, मात्रा, प्रकृति, संस्कार, वीर्य कोष्ठ, अवस्था व क्रम

---

१ तथा च चरकः-आहारजातं तत् सर्वमहितायोपदिश्ते। १/२
यच्चापि देशकालन्मिमात्रासात्म्यानिलादिभिरित्यादि।
यच्चानुत्सृज्य विण्मूत्रं भुड्क्ते यश्चाबुभुक्षितः। १/२
''तच्च क्रमविरुद्धंस्यात्। चरकसंहिता सूत्रस्थान अ. २६।

आदि से विरुद्ध आहार को अहितकारक-अपने रोग पैदा करने वाला कहा है। उसमें जो व्यक्ति भूखा न होने पर भी किसी कार्य विशेष से मल-मूत्र का वेग रोककर आहार करता है, उसके आहार को क्रम विरुद्ध कहा है। अज्ञानवश ऐसा (क्रम-विरुद्ध) आहार-करने वाला अनेक रोगों से पीड़ित हो जाता है, अतः भूख लगने पर ही भोजन करना चाहिए।

क्योंकि बिना भूख के खाया हुआ अमृत भी विष हो जाता है, अतः क्षुधा (भूख) लगने पर ही भोजन करना चाहिए ॥३०॥ जो मनुष्य सदा आहार के आरम्भ में अपनी जठराग्नि को वज्र की अग्नि समान प्रदीप्त करता है, वह वज्र के समान शक्तिशाली हो जाता है ॥३१॥ बुभुक्षित-भूखा मनुष्य यदि अन्न न खा कर केवल घी-दूध-आदि तरल पदार्थ पीता रहे, तो वह अपनी जठराग्नि को नष्ट कर डालता है, अतः तरल पदार्थों के साथ-साथ अन्न-भक्षण भी करना चाहिए ॥३२॥ अत्यंत थकावट के कारण उत्पन्न हुई प्यास को शान्त करने में दूध सहायक होता है ॥३३॥ घृत-पान पूर्वक भोजन करने वाले मनुष्य को जठराग्नि प्रदीप्त होती है और नेत्रों की रोशनी भी बढ़ जाती है ॥३४॥ जो एकबार में अधिक परिमाण में पानी पीता है, उसकी जठराग्नि मन्द हो जाती है ॥३५॥ भूख का समय उल्लंघन करने से अन्न में अरुचि व शरीर में कृशता-कमजोरी हो जाती है। अतः भूख के समय का उल्लंघन नहीं करना चाहिए ॥३६॥

जिस प्रकार अग्नि के बुझ जाने पर उसमें ईंधन डालने से कोई लाभ नहीं, उसी प्रकार बुभुक्षा-काल के उल्लंघन करने से जठराग्नि के बुझ जाने पर भोजन करने से भी कोई लाभ लाभ नहीं। अतः उसके प्रदीप्त होने पर भोजन करना चाहिए ॥३७॥ जठराग्नि के अनुकूल खानेवाला ही स्वस्थता के कारण अधिक खाता है ॥३८॥ स्वास्थ्य-रक्षा चाहने वाले को अज्ञान व लोभ-वश जठराग्नि से अधिक, अहितकर (दुःख देने वाला), अपरीक्षित भलीभाँति परिपाक न होने वाला, रसहीन व भूख का समय उल्लंघन करके किया हुआ भोजन नहीं खाना चाहिए। अर्थात्-स्वास्थ्य चाहने वाला व्यक्ति हँसी-मजाक न करता हुआ मौनपूर्वक उष्ण, स्निग्ध, जठराग्नि के अनुकूल, पूर्व भोजन के पच जाने पर किया हुआ, इष्टदेश में वर्तमान व काम-क्रोधादि दुर्भावों को उत्पन्न न करने वाला आहार न अत्यंत शीघ्रता से और न अत्यंत विलम्ब से करे। चरक विद्वान् ने इस विषय की विशद व्याख्या की है, परन्तु विस्तार के भय से हम लिखना नहीं चाहते ॥३९॥

नैतिक पुरुष आहार की बेला में अल्प-भोजन करने वाला, अपने से वैर-विरोध रखने वाला, बुभुक्षित व दुष्ट व्यक्ति को अपने पास न बैठावे; क्योंकि इन की उपस्थिति भोजन को अरुचिकर बना देती है ॥४०॥ भोजन करने वाला व्यक्ति आहार की बेला (समय) में अपनी थाली भोजन करने वाले सहभोजियों से वेष्टित रखे ॥४१॥ मनुष्य इस प्रकार-अपनी जठराग्नि की शक्ति के अनुकूल-भोजन करे जिससे उसकी अग्नि शाम को व दूसरे दिन भी मन्द न होने पावे ॥४२॥

भोजन की मात्रा-परिमाण के विषय में कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है ॥४३॥

निश्चय से मनुष्य जठराग्नि की उत्कृष्ट, मध्यम व अल्प शक्ति के अनुकूल उत्कृष्ट, मध्यम व अल्प-भोजन करे। अर्थात् भूख के अनुसार भोजन करे। चरक संहिता में भी आहार की मात्रा के विषय में लिखा हैं कि ''आहारमात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी'' अर्थात् आहार की मात्रा मनुष्य की जठराग्नि की उत्कृष्ट, मध्यम व अल्प शक्ति की अपेक्षा करती है (उसके अनुकूल होती है), अतः जठराग्नि की शक्ति के अनुकूल आहार करना चाहिए ॥४४॥

भूख से अधिक खानेवाला व्यक्ति अपना शरीर व जठराग्नि को क्षीण करता है ॥४५॥ प्रदीप्त हुई जठराग्नि भूख से थोड़ा भोजन करने से शारीरिक शक्ति नष्ट कर देती है ॥४६॥ भूख से अधिक खाने वाले के अन्न का परिपाक बड़ी कठिनाई से होता है ॥४७॥

परिश्रम से पीड़ित व्यक्ति द्वारा तत्काल पिया हुआ जल व भक्षण किया हुआ अन्न ज्वर व वमन पैदा करता है ॥४८॥

मल-मूत्र का वेग व प्यास को रोकने वाले व अस्वस्थ चित्त वाले व्यक्ति को उस समय भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं; अतः शौचादि से निवृत्त होकर स्वस्थ चित्त से भोजन करे ॥४९॥ भोजन करके तत्काल व्यायाम अथवा मैथुन करना आपत्तिजनक है ॥५०॥ जीवन के शुरू से सेवन किया जाने से प्रकृति के अनुकूल हुआ विष भी सेवन करने पर पथ्य माना गया है ॥५१॥ मनुष्य को पूर्वकालीन अभ्यास न होने पर भी पथ्य-हितकारक-वस्तु का सेवन करना चाहिए, परन्तु पूर्व का अभ्यासी होने पर भी अपथ्य वस्तु का सेवन नहीं करना चाहिए ॥५२॥ बलवान मनुष्य ऐसी समझकर कि मुझे सभी वस्तुएँ पथ्य हैं, विष का कदापि सेवन न करे ॥५३॥

क्योंकि विष की शोधनादि विधि को जानने वाला सुशिक्षित मनुष्य भी विषभक्षण से मर ही जाता है; इसलिए कदापि विषभक्षण न करे ॥५४॥

मनुष्य को अपने यहाँ आये हुए अतिथियों और नौकरों के लिए आहार देकर स्वयं भोजन करना चाहिए ॥५५॥

सुख-प्राप्ति का उपाय, इन्द्रियों को शक्तिहीन करने वाला कार्य, ताजी हवा में घूमना व समर्थन, सदा सेवन-योग्य वस्तु, बैठने के विषय में, शोक से हानि, शरीर-गृह की शोभा, अविश्वसनीय व्यक्ति, ईश्वर-स्वरूप व उसकी नाममाला-

देवान् गुरून् धर्मं चोपचरन्न व्याकुलमतिः स्यात् ॥५६॥ व्याक्षेपभूमनोनिरोधो मन्दयति सर्वाण्यपीन्द्रियाणि ॥५७॥ स्वच्छन्दवृत्तिः पुरुषाणां परमं रसायनम् ॥५८॥ यथाकामसमीहानाः किल काननेषु करिणो न भवन्त्यास्पदं व्याधीनाम् ॥५९॥ सततं सेव्यमाने द्वे एव वस्तुनी सुखाय, सरसः स्वैरालापः ताम्बूलभक्षणं चेति ॥६०॥ चिरायोर्ध्वजानुजडयति रसवाहिनी र्नसाः ॥६१॥ सततमुपविष्टो जठरमाध्मापयति

प्रतिपद्यते च तुन्दिलतां वाचि मनसि शरीरे च ॥६२॥ अतिमात्रं खेदः पुरुषमकालेऽपि जरया योजयति ॥६३॥ नादेवं देहप्रासादं कुर्यात् ॥६४॥ देवगुरुधर्मरहिते पुंसि नास्ति सम्प्रत्ययः ॥६५॥ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषो देवः ॥६६॥ तस्यैवैतानि खलु विशेषनामान्यर्हन्नजोऽनन्तः शंभुर्बुद्धस्तमोऽन्तक इति ॥६७॥

अर्थ—देव, गुरु व धर्म की भक्ति करने वाला कभी भ्रान्तबुद्धि (कर्तव्य-पक्ष से विचलित करने वाली बुद्धि-युक्त) नहीं होता ॥५६॥ तिरस्कार कराने वाली भूमि में स्थित होकर मानसिक-निरोध (ध्यान) करने से समस्त इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, अतः विवेकी पुरुष ऐसी जगह बैठकर धर्मध्यान न करे, जहाँ उसका अनादर होता हो ॥५७॥ जिस प्रकार उत्तम रसायन के सेवन से शरीर निरोगी व बलिष्ठ होता है, उसी प्रकार शीतल, मंद, सुगंध वायु में संचार करने (घूमने) से भी मनुष्यों का शरीर निरोगी व बलशाली हो जाता है ॥५८॥ निश्चय से वनों में अपनी इच्छानुकूल भ्रमण करने वाले हाथी कभी बीमार नहीं होते ॥५९॥ हितैषी आत्मीय शिष्ट पुरुषों के साथ सरस (मधुर) वार्तालाप व पान का भक्षण इन दोनों वस्तुओं का मनुष्य को निरन्तर सेवन करना चाहिए, क्योंकि इन से सुख प्राप्त होता है ॥६०॥

जो मनुष्य चिरकाल तक ऊँचे घुटनों के बल बैठा रहता है, उसकी रस धारण करने वाली नसें कमजोर पड़ जाती है ॥६१॥ निरन्तर बैठे रहने से मनुष्य की जठराग्नि मन्द. शरीर स्थूल, आवाज मोटी व मानसिक विचार-शक्ति स्थूल हो जाती है ॥६२॥ अत्यन्त शोक करने से भी जवानी में भी मनुष्य का शरीर व इन्द्रियाँ निर्बल व शिथिल हो जाती हैं अतः शोक करना उचित नहीं ॥६३॥ मनुष्य अपने शरीर रूप गृह को ईश्वर-शून्य न करे-उसमें ईश्वर को स्थापित करे ॥६४॥ ईश्वर, गुरु व अहिंसाधर्म की अवहेलना करने वाले व्यक्ति के नैतिक और सदाचारी होने में किसी को विश्वास नहीं होता, अतः विवेकी पुरुष को शाश्वत कल्याण व लोक में विश्वासपात्र होने के लिए वीतराग, सर्वज्ञ व हितोपदेशी ऋषभादि तीर्थंकर व निर्ग्रन्थ गुरु तथा अहिंसाधर्म का श्रद्धालु होना चाहिए ॥६५॥ ऐसे पुरुषश्रेष्ठ को ईश्वर कहते हैं, जो कि जन्म, जरा व मरण-आदि दुःख, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्म तथा इनके उदय से होने वाले राग, द्वेष व मोह-आदि भावकर्म एवं पापकर्मरूप कालिमा से रहित हो जो वीतराग सर्वज्ञ व हितोपदेशी हो ॥६६॥

यशस्तिलक में भी आचार्यश्री ने[१] सर्वज्ञ सब लोक का ईश्वर-संसार का दुःख-समुद्र से उद्धार करने वाले, क्षुधादि १८ दोषों से रहित व समस्त प्राणियों को मोक्षमार्ग का प्रत्यक्ष उपदेश करने वाले ऋषभादि तीर्थङ्करों को सत्यार्थ ईश्वर कहा है ॥१॥

उसी ईश्वर के अर्हन, अज, अनन्त शंभु, बुद्ध व तमोऽन्तक ये विशेष नाम हैं। सारांश यह है

१. यथा च यशस्तिलके सोमदेवसुरिः-सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वेदोषविवर्जितं। सर्वसत्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमसोचिताः ॥१॥

कि उसे त्रिलोक पूज्यता से 'अर्हन्' जन्मरहित होने से 'अज' मृत्यु-शून्यता से 'अनन्त' आत्मिक सुख-शान्ति को प्राप्त होने से 'शंभु' केवल ज्ञानी के कारण 'बुद्ध' अज्ञानांधकार का विध्वंसक होने से 'तमोऽन्तक' कहा गया है।

कर्तव्य-पालन, अनियमित समय का कार्य, कर्तव्य में विलम्ब करने से हानि, आत्मरक्षा राजकर्तव्य, राज-सभा में प्रवेश के अयोग्य, विनय, स्वयं देख रेख करने योग्य कार्य, कुसंगति का त्याग, हिंसाप्रधान कामक्रीड़ा का निषेध-

आत्मसुखानवरोधेन कार्याय नक्तमहश्च विभजेत् ॥६८॥ कालानियमेन कार्यानुष्ठानं हि मरणसमं ॥६९॥ आत्यन्तिके कार्ये नास्त्यवसरः[१] ॥७०॥ अवश्यं कर्तव्ये कालं न यापयेत् ॥७१॥ आत्मरक्षायां कदाचिदपि न प्रमाद्येत ॥७२॥ सवत्सां धेनु प्रदक्षिणीकृत्य धर्मासनं यायात्[२] ॥७३॥ अनधिकृतोऽनभिमतश्च न राजसभां प्रविशेत् ॥७४॥ आराध्यमुत्थायाभि-वादयेत् ॥७५॥ देवगुरुधर्मकार्याणि स्वयं पश्येत् ॥७६॥ कुहकाभिचारकर्म-कारिभिः सह न सङ्गच्छेत् ॥७७॥ प्राण्युपघातेन कामक्रीड़ां न प्रवर्तयेत् ॥७८॥

अर्थ—प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक-सुख में बाधा न डालता हुआ दिन-रात कर्तव्यपालन करता रहे ॥६८॥ निश्चित समय के उपरान्त किया हुआ कार्य मृत्यु के समान हानिकारक है, अतएव नैतिक व्यक्ति को अपने कार्य निश्चित समय पर ही करने चाहिए, अन्यथा समय ही उसके फल को पी लेता है ॥६९॥

वादीभसिंह[३] आचार्य ने भी कहा है कि जिस प्रकार फल लगने पर अनार-आदि के वृक्षों में से उनके पुष्प तोड़ने की अभिलाषा करना व्यर्थ है, उसी प्रकार समय चूकने पर कार्य करने से सफलता-प्राप्ति की आशा व्यर्थ हैं ॥१॥

नैतिक व्यक्ति शाश्वत कल्याण करने वाले सत्कर्तव्यों के पालन में मौका न चूके ॥७०॥ मनुष्य को नैतिक, धार्मिक और आर्थिक-लाभ-आदि के कारण अवश्य करने योग्य कार्यों में विलम्ब नहीं करना चाहिए, अन्यथा उसका कोई इष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं हो पाता ॥७१॥ मनुष्य को शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक कष्टों को दूर कर अपनी रक्षा करने में आलस्य नहीं करना

१. "आत्यन्ति के कार्ये नास्त्यपरो धर्मस्थ" ऐसा मु. मू. पुस्तक में पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि आत्मकल्याण करने वाले सत्कर्तव्यों में धर्म मुख्य है, अन्य नहीं, क्योंकि वह नित्य है।

२. उक्त सूत्र मु. मू. पुस्तक में संकलन किया गया है। सं. टी. पुस्तक में "सवत्सां धेनुं प्रदाक्षिणीकृत्य धर्मोपासनं वावात्" ऐसा पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि राजा बछड़े सहित गाय की प्रदक्षिणा देकर धर्म की उपासना करे।

३. तथा च वादीभसिंहसूरिः-न अकालकृता वाञ्छा संपुष्णाति समीहितं। किं पुष्पावचयः शक्यः फलकाले समाणते ॥१॥ छत्रचूड़ामणि १ ला लम्ब।

चाहिए ॥७२॥ राजा को बछड़े सहित गाय की प्रदक्षिणा देकर न्याययुक्त राज्य-सिंहासन पर बैठना चाहिए ॥७३॥ राजकीय अधिकारों से हीन व राजा द्वारा न बुलाये गये व्यक्तियों को राज-सभा में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए ॥७४॥ मनुष्य को अपने पूज्य माता, पिता और गुरुजनों को खड़े होकर नमस्कार करना चाहिए ॥७५॥

मनुष्यों को देवकार्य-देवस्थान (मन्दिर आदि), गुरु कार्य व धर्म कार्यों की स्वयं देखरेख करनी चाहिए ॥७६॥ विवेकी मनुष्य को कपटी, जारण-मारण व उच्चाटन-आदि करने वाले दुष्ट पुरुषों की संगति नहीं करनी चाहिए ॥७७॥

मनुष्य को ऐसे अन्याय के भोगों में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए, जहाँ पर प्राणियों का घात हो ॥७८॥

परस्त्री के साथ मातृ-भगिनी भाव, पूज्यों के प्रति कर्तव्य, शत्रु के स्थान में प्रविष्ट होने का निषेध, रथ-आदि सवारी, अपरीक्षित स्थान-आदि में जाने का निषेध, अगन्तव्य स्थान, उपासना के अयोग्य पदार्थ, कंठस्थ न करने लायक विद्या, राजकीय प्रस्थान, भोजन व वस्त्रादि की परीक्षाविधि, कर्त्तव्य-काल भोजन-आदि का समय, प्रिय लगने वाले व्यक्ति का विशेष गुण, भविष्य कार्य-सिद्धि के प्रतीक, गमन व प्रस्थान के विषय में, ईश्वरोपासना का समय व राजा का जाप्य मन्त्र-

जनन्यापि परस्त्रिया सह रहसि न तिष्ठेत् ॥७९॥ नातिक्रुद्धोऽपि मान्यमतिक्रामेदवमन्येत वा ॥८०॥ नाप्ताशोधितपरस्थानमुपेयात् ॥८१॥ नाप्तजनैरनारूढं वाहन-मध्यासीत् ॥८२॥ न स्वैरपरीक्षितं तीर्थं सार्थं तपस्विनं वाभिगच्छेत् ॥८३॥ न याष्टिकैरविविक्तं मार्गं भजेत् ॥८४॥ न विषापहारौषधिमणीन् क्षणमप्युपासीत ॥८५॥ सदैव जाङ्गलिकीं विद्यां कण्ठे न धारयेत् ॥८६॥ मंत्रिभिषग्नैमित्तिकरहितः कदाचिदपि न प्रतिष्ठेत् ॥८७॥ वह्नावन्यचक्षुषि च भोज्यमुपभोग्यं च परीक्षेत ॥८८॥ अमृते मरुति प्रविशति सर्वदा चेष्टेत ॥८९॥ भक्तिसुरतसमरार्थी दक्षिणे मरुति स्यात्॥९०॥ परमात्मना समीकुर्वन् न कस्यापि भवति द्वेष्यः ॥९१॥ मनःपरिजनशकुनपवनानुलोम्यं भविष्यतः कार्यस्य सिद्धेर्लिङ्गम् ॥९२॥ नैकोनक्तं दिवं वा हिंडेत ॥९३॥ नियमितमनोवाक्कायः प्रतिष्ठेत ॥९४॥ अहनि संध्यामुपासीताऽनक्षत्रदर्शनात्॥९५॥ चतुःपयोधिपयोधरां धर्मवत्सवतीमुत्साहबालधिं वर्णाश्रमखुरां कामार्थश्रवणां नयप्रतापविषाणां सत्यशौचचक्षुषं न्यायमुखीमिमां गां गोपयामि, अतस्तमहं मनसापि न सहे योऽपराध्येत्तस्यै, इतीमं मंत्रं समाधिस्थो जपेत् ॥९६॥

अर्थ—नैतिक पुरुष दूसरे की स्त्री के साथ एकान्त में न बैठे, चाहे वह उसकी माता भी क्यों

न हो। क्योंकि इन्द्रियों को काबू में रखना निश्चित नहीं, इसलिए वे विद्वान् को भी अनीति के मार्ग की ओर आकृष्ट कर देती हैं ॥७९॥ मनुष्य को अत्यंत कुपित होने पर भी अपने माननीय-माता-पिता-आदि हितैषी पुरुषों के साथ अशिष्ट व्यवहार व अनादर नहीं करना चाहिए ॥८०॥

मनुष्य को अपने हितैषी पुरुषों द्वारा अपरीक्षित शत्रु के स्थान में न प्रविष्ट होना चाहिए और न जाना चाहिए, क्योंकि उपद्रव-युक्त स्थान में जाने से संकटों का सामना करना पड़ता है ॥८१॥ इसी प्रकार अपने विश्वासपात्र व हितैषी पुरुषों द्वारा बिना सवारी किये हुए घोड़े व रथ-आदि वाहनों पर सवारी नहीं करनी चाहिए ॥८२॥

मनुष्य ऐसे तालाब-आदि जलाशय, व्यापारी व तपस्वी के पास न जावे, जो कि उसके आप्त पुरुषों द्वारा परीक्षित नहीं ॥८३॥ राजा को पुलिस द्वारा संशोधन न किये हुए मार्ग पर नहीं चलना चाहिए, क्योंकि संशोधित मार्ग में कोई खतरा नहीं रहता ॥८४॥ विवेकी पुरुष विष को दूर करने वाली औषधि व मणि की क्षण भर भी उपासना न करे ॥८५॥ इसी प्रकार जहर उतारने की विद्या का अभ्यास करे, परन्तु उसे कंठस्थ न करे ॥८६॥ राजा को मंत्री, वैद्य व ज्योतिषी के बिना कभी भी दूसरी जगह प्रस्थान नहीं करना चाहिए ॥८७॥ राजा या विवेकी पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह अपनी भोजन सामग्री को भक्षण करने से पूर्व अग्नि में डालकर परीक्षा कर ले और यह देख ले कि कहीं अग्नि में से नीले रंग की लपटें न निकलने लगी हों, अगर ऐसा हो, तो समझ लेना चाहिए, कि यह सामग्री जहर-मिश्रित-भक्षण के अयोग्य है। इसी प्रकार वस्त्रादिक की जाँच भी अपने आप्त पुरुषों से कराते रहना चाहिए, ताकि उसकी सदैव इन विघ्नबाधाओं से रक्षा हो ॥८८॥ मनुष्य को अमृतसिद्धि के योग में सदा समस्त कार्य करना चाहिए, इससे कार्य-सिद्धि होती है ॥८९॥

जब दक्षिण दिशा की ओर अनुकूल वायु का संचार हो रहा हो, उस समय मनुष्य को भोजन मैथुन व युद्ध में प्रवृत्ति करनी चाहिए। ऐसा करने से उसे उक्त कार्यों में सफलता मिलती है ॥९०॥ ईश्वर से अनुराग करने वाला अथवा दूसरे की अपने समान समझने वाला व्यक्ति किसी का द्वेष-पात्र नहीं होता ॥९१॥ मन, सेवक, शकुन व वायु को अनुकूलता भविष्य में किये जाने वाले कार्य की सफलता के ज्ञापक चिह्न हैं। अर्थात्- हृदय प्रफुल्लित होना, सेवकों का प्रसन्न रहना व दाहिनी आँख फड़कना-आदि शुभ शकुन इस बात के प्रतीक हैं, कि भविष्य में उस मनुष्य को सफलता मिलेगी ॥९२॥ अकेला व्यक्ति दिन व रात्रि में गमन न करे ॥९३॥ मनुष्य को अपना मन, वचन व शरीर काबू में रखते हुए-जितेन्द्रिय होकर प्रस्थान करना चाहिए ॥९४॥

प्रत्येक व्यक्ति दिन में सुबह दोपहर और शाम-तीनों संध्याओं-में नक्षत्र देखने तक ईश्वर की उपासना करे ॥९५॥ राजा को ध्यान में स्थित होकर निम्न प्रकार के मंत्र का जाप करना चाहिए कि ''मैं इस पृथ्वी रूपी गाय की रक्षा करता हूँ, जिसके चार समुद्र ही थन हैं, धर्म (शिष्ट-पालन व दुष्टनिग्रह) ही जिसका बछड़ा है, जो उत्साह रूप पूछ वाली है, वर्ण (ब्राह्मण-आदि) व आश्रम

(ब्रह्मचारी-आदि) ही जिसके खुर हैं जो काम और अर्थ रूप कानों वाली है, नय व प्रताप ही जिसके सींग हैं, जो सत्य व शौच रूप नेत्रों से युक्त हैं एवं जो न्याय रूप मुख से युक्त है।

इस प्रकार की मेरी पृथ्वी रूपी गाय का जो अपराध करेगा (जो इस पर आक्रमण-आदि करेगा) उसे मैं मन से भी सहन नहीं करूँगा ॥९६॥

भोजन का समय, शक्तिहीन के योग्य आहार, त्याज्य स्त्री, यथाप्रकृति वाले दम्पति, प्रसन्नचित्त, वशीकरण, मल-मूत्रादि वेगों को रोकने से हानि, विषय भोग के अयोग्य काल व क्षेत्र, परस्त्री त्याग, नैतिक वेषभूषा व आचरण, आयात और निर्यात व दृष्टान्त द्वारा समर्थन, अविश्वास से हानि-

कोकवद्दिवाकामो निशि स्निग्धं भुञ्जीत ॥९७॥ चकोरवन्नक्तंकामो दिवा च ॥९८॥ पारावतकामो वृष्यान्नयोगान् चरेत्॥९९॥ बष्कयणीनां सुरभीणां पयःसिद्धं माषदलपरमान्नं परो योगः स्मरसंवर्द्धने ॥१००॥ नावृषस्यन्तीं स्त्रीमभिया-यात् ॥१०१॥ उत्तरः प्रवर्षवान् देशः परमरहस्यमनुरागे प्रथम-प्रकृतीनाम् ॥१०२॥ द्वितीयप्रकृतिः सशाद्वलमृदूपवनप्रदेशः ॥१०३॥ तृतीयप्रकृतिः सुरतोत्सवाय स्यात् ॥१०४॥ धर्मार्थस्थाने लिङ्गोत्सवं लभते ॥१०५॥ स्त्रीपुंसयोर्न समसमायोगात्परं वशीकरण-मस्ति ॥१०६॥ प्रकृतिरूपदेशः स्वाभाविकं च प्रयोगवैदग्ध्यमिति समसमायोग-कारणानि ॥१०७॥ क्षुत्तर्षपुरीषाभिष्यन्दार्तस्याभिगमो नापत्यमनवद्यं करोति ॥१०८॥ न सन्ध्यासु न दिवा नाप्सु न देवायतने मैथुनं कुर्वीत ॥१०९॥ पर्वणि पर्वणि संधौ उपहते वाह्नि कुलस्त्रियं न गच्छेत् ॥११०॥ न तद्गृहाभिगमने कामपि स्त्रियमधि-शयीत ॥१११॥ वंशवयोवृत्तविद्याविभवानुरूपो वेषः समाचारो वा कं न विडम्बयति ॥११२॥ अपरीक्षितमशोधितं च राजकुले न किंचित्प्रवेशयेन्निष्कास-येद्वा ॥११३॥ श्रूयते हि स्त्रीवेषधारी कुन्तलनरेन्द्रप्रयुक्तो गूढपुरुषः कर्णनिहितेनासि-पत्रेण पल्हवनरेन्द्रं हयपतिश्च मेषविषाणनिहितेन विषेण कुशस्थलेश्वरं जघानेति ॥११४॥ सर्वत्राविश्वासे नास्ति काचित्क्रिया ॥११५॥

अर्थ—चकवा-चकवी के समान दिन में मैथुन करने वाला रात्रि में सचिक्कण वस्तु का भक्षण करे और चकोर पत्नी की तरह रात्रि में मैथुन करने वाला दिन में भोजन करे। सारांश यह है कि मनुष्य भी पक्षी की तरह रात्रि में मैथुन-कामसेवन करते हैं, अतः उन्हें दिन में ही भोजन करना चाहिए, इससे अहिंसा धर्म व स्वास्थ्य सुरक्षित रहता ॥९७-९८॥

जो कबूतर की तरह हीन शक्ति होने पर भी काम-सेवन में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें वीर्यवर्द्धक अन्न-घृत-शर्करा-मिश्रित मालपुआ आदि भक्षण करना चाहिए ॥९९॥ एक बार ब्याई हुई गाय के दूध से

सिद्ध की हुई उड़द की खीर खाने से विशेष कामोद्दीपन होता है ॥१००॥

विषय-भोग से पराङ्मुख-विरक्त-स्त्री से काम-सेवन नहीं करना चाहिए ॥१०१॥ जल-वृष्टि वाले उत्तर देश में रहने वाला व वृष प्रकृतिवाला पुरुष पद्मिनी स्त्रियों द्वारा विशेष प्यार किया जाता है। सारांश यह है कि कामशास्त्र में वृष, शश व अश्व इस प्रकार तीन प्रकृति वाले पुरुष एवं पद्मिनी, शंखिनी और हस्तिनी इस प्रकार तीन प्रकृति वाली ललनाओं का उल्लेख है, इनमें प्रथम प्रकृति वाले (वृष) पुरुष से प्रथम प्रकृति वाली (पद्मिनी) विशेष अनुराग करती है एवं द्वितीय प्रकृति वाली शंखिनी स्त्रियाँ उसी प्रकृति वाले शशप्रकृति-पुरुष को हरी दूव युक्त व कोमल बगीचे के रमणीक प्रदेश की तरह सुखपूर्वक सेवन करती हैं। तीसरी अश्वप्रकृति पुरुष अत्यंत वीर्ययुक्त होने से मैथुन के समय स्त्रियों को विशेष संतोष देने वाला होता ॥१०२-१०४॥

धर्मस्थान-जिनमन्दिर आदि और अर्थस्थानों (व्यापार-आदि की जगहों) में मनुष्य की इन्द्रियाँ प्रसन्न रहती हैं ॥१०५॥ स्त्री व पुरुषों के समसमायोग (एकान्त स्थान में मिलना जुलना वार्तालाप-आदि) को छोड़कर दूसरा कोई वशीकरण नहीं है ॥१०६॥

निम्न चार उपायों से स्त्री पुरुषों का एकान्त स्थान में मिलना रूप वशीकरण सफल होता है। १. प्रकृति (स्वभाव) अर्थात् एकान्त में उचित वार्तालाप-आदि द्वारा परस्पर के स्वभाव का ज्ञान करना, २. उपदेश-अनुकूल करने वाली समुचित शिक्षा, ३. प्रयोग वैदग्ध्य-एकान्त में की जाने वाली प्रयोग की चतुराई-हंसी-मजाक-आदि ॥१०७॥

भूख, प्यास व मल-मूत्रादि के वेग को रोकने से पीड़ित हुआ मनुष्य जब स्त्री-सेवन करता है, तो उससे निर्दोष (निरोग) संतान उत्पन्न नहीं होती ॥१०८॥

विवेकी मनुष्य को प्रातः काल, मध्याह्न काल व सायंकाल सम्बन्धी तीनों संध्याओं में, दिन में, पानी में और मन्दिर में मैथुन नहीं करना चाहिए ॥१०९॥ मनुष्य को पर्व (दशलक्षण-आदि) के दिनों में, तीनों संध्याओं में, सूर्य-ग्रहण-आदि भयंकर उपद्रवों से व्याप्त दिनों में अपनी कुलवधू (धर्मपत्नी) का सेवन नहीं करना चाहिए ॥११०॥ किसी स्त्री के गृह जाकर उसके साथ शयन न करे ॥१११॥ कुटुम्ब, उम्र, सदाचार-कुल-धर्म-आदि-विद्या और धनादि ऐश्वर्य के अनुकूल की जाने वाली वेषभूषा और आचरण किसी को भी दुःखी नहीं बनाता-सभी को सुखी बनाता है। क्योंकि उक्त कुटुम्ब-आदि के अनुकूल वेष व नैतिक प्रवृत्ति करने वाले की समाज व राष्ट्र में बड़ाई होती है और वह सबका प्रेमपात्र बन जाता है ॥११२॥ राजा को अपने महलों में ऐसी वस्तु प्रविष्ट नहीं होने देनी चाहिए और न वहाँ से बाहर निकलने देनी चाहिए, जो कि उसके प्रामाणिक हितैषी पुरुषों द्वारा परीक्षित और निर्दोष साबित की हुई न हो ॥११३॥

इतिहास प्रमाण-साक्षी है कि कुन्तल देश के राजा द्वारा भेजे हुए स्त्री-भेषधारी गुप्तचर ने अपने कानों के पास छिपाये हुए खड्ग द्वारा पल्लव या पल्हव नरेश को मार डाला। इसी प्रकार हय देश के

राजा द्वारा भेजे हुए गूढ़ पुरुष ने मेढ़े के सींग में रखे हुए विष द्वारा कुशस्थल-देशविशेष-के नरेश को मार डाला। अतः अपरीक्षित व असंशोधित वस्तु राज-गृह में प्रविष्ट न होनी चाहिए और न वहाँ से बाहर निकालनी चाहिए ॥११४॥

लोक में सभी पर विश्वास न करने वाले व्यक्ति का कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो पाता ॥११५॥

॥ इति दिवसानुष्ठान-समुद्देशः॥

(२६) सदाचार-समुद्देशः

अत्यधिक लोभ आलस्य व विश्वास से हानि, बलिष्ठ शत्रु-कृत आक्रमण से बचाव परदेश के दोष, पापप्रवृत्ति के कारण प्रतिष्ठा-शून्य की हानि, व्याधि-पीड़ित व्यक्ति का कार्य, धार्मिक व्यक्ति का महत्त्व, बीमार की औषधि व भाग्यशाली पुरुष-

लोभप्रमादविश्वासैर्बृहस्पतिरपि पुरुषो वध्यते वञ्चयते वा ॥१॥ बलवताधिष्ठितस्य गमनं तदनुप्रवेशो वा श्रेयानन्यथा नास्ति क्षेमोपायः ॥२॥ विदेशवासोपहतस्य पुरुषकारः को नाम येनाविज्ञातस्वरूपः पुमान् स तस्य महानपि लघुरेव ॥३॥ अलब्धप्रतिष्ठस्य निजान्वयेनाहङ्कारः कस्य न लाघवं करोति ॥४॥ आर्तः सर्वोऽपि भवति धर्मबुद्धिः ॥५॥ स नीरोगो यः स्वयं धर्माय समीहते ॥६॥ व्याधिग्रस्तस्य ऋते धैर्यान्न परमौषधमस्ति ॥७॥ स महाभागो यस्य न दुरपवादोपहतं जन्म ॥८॥

अर्थ—बृहस्पति के समान बुद्धिमान पुरुष भी अधिक लोभ, आलस्य व विश्वास करने से मारा जाता है अथवा ठगा जाता है ॥१॥ बलिष्ठ शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने पर मनुष्य को या तो अन्यत्र चले जाना चाहिए अथवा उससे सन्धि कर लेनी चाहिए, अन्यथा उसकी रक्षा का कोई उपाय नहीं ॥२॥

शुक्र[१] विद्वान् ने भी बलिष्ठ शत्रु कृत आक्रमण से बचने के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

परदेश-गमन से दूषित व्यक्ति का अपनी विद्वत्ता-आदि के परिचय कराने का पुरुषार्थ (वक्तृत्वकला आदि) व्यर्थ है, क्योंकि जिसके द्वारा उसका स्वरूप (विद्वत्ता-आदि) नहीं जाना गया है, वह पुरुष उसके महान् होने पर भी उसे छोटा समझ लेता है ॥३॥

अत्रि[२] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो पाप-वश समाज व राष्ट्र द्वारा प्रतिष्ठा नहीं पा सका और केवल अपने वंश का अभिमान करता है, ऐसे अभिमानी को लोक में कौन लघु नहीं मानता ? सभी लघु मानते हैं ॥४॥ सभी पुरुष व्याधि से पीड़ित होने पर मृत्यु के भय से अपनी बुद्धि धर्म में लगाते हैं, निरोगी अवस्था में नहीं ॥५॥

शौनक[३] ने भी व्याधि-पीड़ित मजबूर व्यक्ति को मृत्यु के भय से धर्मानुरक्त बताया है ॥१॥

---

१. तथा च शुक्रः-बलवान् स्याद्यदा शंसस्तदा देशं परित्यजेत्। तेनैव सह सन्धिं वा कुर्यान्न स्थीयते ऽन्यथा ॥१॥

२. तथा च अत्रिः-महानपि विदेशस्थः स परैः परिभूयते। अज्ञायमानैस्वद्देशमाहात्म्यं तस्य पूर्वकं ॥१॥

३. तथा च शौनकः-व्यधिग्रस्तस्य बुद्धिः स्याद्धर्मस्योपरि सर्वतः। भयेन धर्मराजस्य न स्वभावाद कथंचन ॥१॥

जो मनुष्य स्वयं-बिना किसी की प्रेरणा से -धर्म करने की चेष्टा करता है, वह निरोगी समझा जाता है व पापी निरोगी होने पर भी बीमार माना गया है ॥६॥

हारीत[1] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

धैर्य को छोड़कर रोग-पीड़ित मनुष्य की दूसरी कोई उत्तम औषधि नहीं है, क्योंकि सैकड़ों मूल्यवान् औषधियों का सेवन भी उस समय तक बीमार को निरोग नहीं बना सकता, जब तक कि वह धैर्य धारण न करे ॥७॥

धन्वन्तरि[2] विद्वान् ने भी व्याधि-पीड़ित पुरुष के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जिस मनुष्य का जीवन कुत्सित (निन्द्य) दोषों (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह-आदि) से नष्ट नहीं हुआ उसे महा भाग्यशाली कहा जाता है।

गर्ग[3] विद्वान् ने भी यावज्जीवन निन्दित न होने वाले व्यक्ति को महाभाग्यशाली कहा है ॥१॥

मूर्खता, भयकालीन कर्त्तव्य, धनुर्धारी व तपस्वी का कर्त्तव्य, कृतघ्नता से हानि, हितकारक वचन, दुर्जन व सज्जनों के वचन, लक्ष्मी से विमुख व वंश-वृद्धि में असमर्थ पुरुष-

पराधीनेष्वर्थेषु स्वोत्कर्षसंभावनं मन्दमतीनाम् ॥८॥ न भयेषु विषादः प्रतीकारः किंतु धैर्यावलम्बनं ॥१०॥ स किं धन्वी तपस्वी वा यो रणे मरणे शरसन्धाने मनः—समाधाने च मुह्यति ॥११॥ कृते प्रतिकृतमकुर्वतो नैहिकफलमस्ति नामुत्रिकं च ॥१२॥ शत्रुणापि सूक्तमुक्तं न दूषयितव्यम् ॥१३॥ कलहजननमप्रीत्युत्पादनं च दुर्जनानां धर्मः न सज्जनानाम् ॥१४॥ श्रीर्न तस्याभिमुखी यो लब्धार्थमात्रेण सन्तुष्टः ॥१५॥ तस्य कुतो वंशवृद्धिर्यो न प्रशमयति वैरानुबन्धम् ॥१६॥

अर्थ—मूर्ख लोग पराधीन (दूसरों के द्वारा की गई) इष्ट प्रयोजन-सिद्धि को स्वतः की हुई समझकर आनन्द प्रकट किया करते हैं॥९॥

कौशिक[4] विद्वान् ने भी मूर्खों के विषय में यही लिखा है ॥१॥

मनुष्य को भय के स्थानों में घबड़ाना उपकारक नहीं, किन्तु धैर्य-धारण करना ही उपकारक है ॥१०॥

भृगु[5] विद्वान् ने भी भयस्थानों में धैर्य रखना लाभ-दायक बताया है ॥१॥

---

१. तथा च हारीतः—नीरोगः सपरिज्ञेयो यः स्वयं धर्मवाञ्छकः। व्याधिग्रस्तोऽपि पापात्मा नीरोगोऽपि स रोगवान् ॥१॥

२. तथा च धन्वन्तरि—व्याधिग्रस्तस्य यद्धैर्यं तदेव परमौषधं। नरस्य धैर्यहीनस्य किमौषधश ॥१॥

३. तथा च गर्गः—आजन्ममरणान्तं च वाच्यं यस्य न जायते। सुसूक्ष्मं स महाभागो विशेषः क्षितिमरड ॥१॥

४. तथा च कौशिकः—कार्येषु सिद्ध्यमानेषु परस्य वशगेषु च। आत्मीवेष्विव तेष्वेव तुष्टिं याति स मन्दधीः ॥१॥

५. तथा च भृगुः—भयस्थाने विषादं यः कुरुते स विनश्यति। [तस्य तज्जयदं ज्ञेयं] यच्च धैर्यावलवनं ॥१॥

—संशोधित व परिवर्तित, सम्पादक।

वह धनुर्धारी निन्द्य है, जो युद्धभूमि में कमान पर तीर चढ़ाकर एकाग्रचित्त से लक्ष्यभेद करने में अज्ञान करता है। इसी प्रकार वह तपस्वी भी निन्द्य हैं, जिसकी चित्तवृत्ति मृत्यु के समय आत्मदर्शन, श्रवण, मनन व निदिध्यासन (ध्यान में प्रवृत्त न होकर जीवन, आरोग्य व इन्द्रियों के भोगोपभोगों में अग्रेसर होती है ॥११॥

नारद[१] विद्वान् के उद्धरण का भी यही आशय हैं ॥१॥

उपकार करने वाले के साथ प्रत्युपकार न करने से एवं किसी के द्वारा अपकार होने पर अपकार द्वारा उसका प्रतीकार (शोधन) न करने से ऐहिक व पारलौकिक इष्ट फल नहीं मिलता ॥१२॥

हारीत[२] विद्वान् ने भी कृतघ्न के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

नैतिक पुरुष शत्रु द्वारा भी कहे हुए न्याय युक्त व हितकारक वचनों को दोष-युक्त न बतावे और उन पर सदा अमल करता रहे ॥४३॥

नारद[३] के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

दुष्टों के वचन कलह (वैर-विरोध) व द्वेष उत्पन्न करने वाले होते हैं जबकि सज्जन महापुरुषों के वचन ऐसे नहीं होते किंतु कल्याणकारक होते हैं ॥१४॥

भारवि[४] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो मनुष्य प्राप्त किये हुए साधारण धन से ही संतुष्ट रहता है, उसके पास से लक्ष्मी नहीं जाती अतः न्यायोचित साधनों द्वारा धन-संचय करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए ॥१५॥

भागुरि[५] विद्वान् ने भी लक्ष्मी के विमुख रहने का यही कारण बताया है ॥१॥

जो पुरुष शत्रुओं द्वारा की जाने वाली वैर-विरोध की परम्परा को साम, दाम, दण्ड व भेद-आदि नैतिक उपायों से नष्ट नहीं करता उसकी वंश-वृद्धि किस प्रकार हो सकती है ? नहीं हो सकती ॥१६॥

शुक्र[६] विद्वान् ने भी शक्तिशाली वंश के ह्रास के विषय में यही कहा है ॥१॥

उत्तमदान, उत्साह से लाभ, सेवक के पाप कर्म का फल, दुःख का कारण, कुसंग का त्याग, क्षणिक चित्त वाले का प्रेम, उतावले का पराक्रम व शत्रु-निग्रह का उपाय-

---

१. तथा च नारदः-व्यर्था यान्ति शरा यस्य युद्धे स स्यान्न चापधृक्। योगिनोऽत्यन्तकालेन स्मृति (?) न च योगवान् ॥१॥
२. तथा च हारीतः-कृते प्रतिकृतं नैव शुभं वा यदि वाशुभं। यः करोति च मूढ़ात्मा तस्य लोकद्वयं न हि ॥१॥
३. तथा च नारदः-शत्रु यापि हि यत् प्रोक्तं सालङ्कारं सुभाषितं। न तद्दोषेण संयोज्डां ग्राह्यं बुद्धिमता सदा ॥१॥
४. तथा च भारविः-खलो वदति तद्येन कलहः संप्रजायते। सज्जनो धर्ममाचष्टे तच्छोतव्यं क्रिया तथा ॥१॥
५. तथा च भागुरिः-अल्पेनापि प्रलब्धेन यो द्रव्येण प्रतुष्यति। पराङ्मुखो भवेत्तस्य लक्ष्मानैवात्र संशयः ॥१॥
६. तथा च शुक्रः-सासादिभिरुपायैर्यो वैरं नैव प्रशामयेत्। बलवानपि तद्वंशो नाशं याति शनैः शनैः ॥१॥

भीतेष्वभयदानात्परं न दानमस्ति ॥१७॥ स्वस्यासंपत्तौ न चिन्ता किंचित्कांक्षित-मर्थं [प्रसूते] दुग्धे किन्तूत्साहः ॥१८॥ स खलु स्वस्यैवापुण्योदयोऽपराधो वा सर्वेषु कल्पः फलप्रदोऽपि स्वामी भवत्यात्मनि बन्ध्यः ॥१९॥ स सदैव दुःखितो यो मूलधनमसंबर्धयन्ननुभवति ॥२०॥ मूर्खदुर्जनचाण्डालपतितैः सह संगतिं न कुर्यात् ॥२१॥ किं तेन तुष्टेन यस्य हरिद्राराग इव चित्तानुरागः ॥२२॥ स्वात्मानमविज्ञाय पराक्रमः कस्य न परिभवं करोति ॥२३॥ नाक्रान्तिः पराभियोगस्योत्तरं किन्तु युक्तेरुपन्यासः ॥२४॥ राज्ञोऽस्थाने कुपितस्य कुतः परिजनः ॥२५॥

अर्थ—भूख, प्यास और शत्रुकृत उपद्रव-आदि से व्याकुल हुए प्राणियों को अभयदान (उनकी रक्षा) देने के सिवाय संसार में कोई उत्तम दान नहीं है ॥१॥

जैमिनि[1] विद्वान् ने भी सभी दानों से अभयदान को ही उत्तम बताया है ॥१॥

धन न होने पर उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्यों द्वारा की हुई चिन्ता अभिलषित और अपूर्व धन उत्पन्न नहीं करती, किन्तु उत्साह (उद्योग) ही मनुष्यों के लिए इच्छित और पुष्कल धन पैदा करता है ॥१८॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी उद्योग करने के लिए प्रेरित किया है ॥१॥

जो स्वामी किसी एक सेवक को छोड़कर अन्य सभी सेवकों के कल्पवृक्ष समान मनोरथ पूर्ण करता है किन्तु उसी अकेले को धन नहीं देता, इससे समझना चाहिए कि उसके पापकर्म का उदय है या उसके अपराधी होने के कारण स्वामी उससे रुष्ट है ॥१९॥

भागुरि[3] विद्वान् ने भी सेवक का मनोरथ पूर्ण न होने के विषय में यही कहा है ॥१॥

जो मनुष्य अपने मूलधन (पैतृक या पूर्व-संचित धन) की व्यापार-आदि द्वारा वृद्धि नहीं करता और उसे खर्च करता रहता है, वह सदा दरिद्रता-वश दुःखी रहता है, इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को अपना मूलधन बढ़ाते हुए आयानुकूल खर्च करना चाहिए, ताकि भविष्य में दरिद्रता-वश उसे कष्ट न होने पावे ॥२०॥

गौतम[4] विद्वान् ने भी अपना मूलधन भक्षण करने वाले को दुःखी बताया है ॥१॥

बुद्धिमान मनुष्य को मूर्ख, दुष्ट, चाण्डाल व पतित (जाति और धर्म से च्युत) मनुष्यों के साथ

---

१. तथा च जैमिनि-भयभीतेषु यद्दानं तद्दानं परमं मतं। रक्षात्मकं किमन्यैश्च दानैर्गजरथादिभिः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—उत्साहिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥१॥

३. तथा च भागुरिः—यत्प्रयच्छति न स्वामी सेवितोऽप्यल्पकं फलं। कल्पवृक्षोपमोऽन्येषां तत्फलं पूर्वकर्मणः ॥१॥

४. तथा च गौतमः—न वृद्धिं यो नयेद्वित्तं पितृपैतामहं कुधीः। केवलं भक्षयत्यैव स सदा दुःखितो भवेत् ॥१॥

मित्रता नहीं करनी चाहिए ॥२१॥

किसी[१] विद्वान् के उद्धरण का भी यही आशय है ॥१॥

जिसके चित्त का प्रेम हल्दी के रंग की तरह क्षणिक होता है; उसके प्रसन्न होने से क्या लाभ है ? कोई लाभ नहीं ॥२२॥

जैमिनि[२] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

अपनी शक्ति को बिना सोचे समझे पराक्रम करने से किसकी हार नहीं होती ? सभी की होती है ॥२३॥

बल्लभदेव[३] विद्वान् ने भी सैन्य व कोष हीन राजा के पराक्रम को पराजय का कारण बताया है ॥१॥

शत्रु पर आक्रमण करने से ही उसका निग्रह नहीं होता, किन्तु युक्तियों–साम–दाम–आदि–के प्रयोग द्वारा ही वह वश में किया जा सकता है ॥२४॥

गर्ग[४] विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

निष्कारण आगबबूला (कुपित) होने वाले राजा के पास सेवक लोग नहीं ठहरते, अतः अपने सेवकों के साथ स्वामी को प्रेम का बर्ताव करना चाहिए ॥२५॥

रुदन व शोक से हानि, निन्द्य पुरुष, स्वर्ग–च्युत का प्रतीक, जीवित पुरुष, पृथ्वीतल का भाररूप, सुख–प्राप्ति का उपाय,

(परोपकार) शरणागत के प्रतिकर्तव्य व स्वार्थ–युक्त परोपकार का दुष्परिणाम–

न मृतेषु रोदितव्यमश्रुपातसमा हि किल पतन्ति तेषां हृदयेष्वङ्गाराः ॥२६॥ अतीते च वस्तुनि शोकः श्रेयानेव यद्यस्ति तत्समागमः ॥२७॥ शोकमात्मनि चिरमनुवासयंस्त्रिवर्गमिनुशोषयति ॥२८॥ स किं पुरुषो योऽकिंचनः सन् करोति विषयाभिलाषं ॥२९॥ अपूर्वेषु प्रियपूर्वं सम्भाषणं स्वर्गच्युतानां लिङ्गम् ॥३०॥ न ते मृता येषामिहास्ति शाश्वती कीर्तिः ॥३१॥ स केवलं भूभाराय जातो येन न यशोभिर्धवलितानि भुवनानि ॥३२॥ परोपकारो योगिनां महान् भवति श्रेयोबन्ध इति ॥३३॥ का नाम शरणागतानां परीक्षा ॥३४॥ अभिभवनमंत्रेण परोपकारो महापातकिनां न महासत्वानाम् ॥३५॥

---

१. तथा च चोक्तं–मूर्खदुर्जनचाण्डालैः संगतिं कुरुतेऽत्र यः। स्वप्नेऽपि न सुखं तस्य कथंचिदपि याचते ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः–आजन्ममरणान्ते यः स्नेहः स स्नेह उच्यते। साधूनां यः खलानां च हरिद्रारागसन्निभः ॥१॥

३. तथा च बल्लभदेवः–यः परं केवलो याति प्रोन्नतं मदमाश्रितः। विमदः स निवर्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा ॥१॥

४. तथा च गर्गः–नाक्रान्त्या गृह्यते शत्रुर्यद्यपि स्यात् सुदुर्लभः। युक्तिद्वारेण संग्राह्यो यद्यपि स्याद्बलोत्कटः ॥१॥

अर्थ—बन्धुओं के स्वर्गवास होने पर विवेकी मनुष्य को रुदन छोड़कर सबसे पहले उनकी दैहिक संस्कार करना चाहिए, इसके विपरीत जो रोते हैं, वे उनके अग्नि-संस्कार में विलम्ब करने से उल्टा उन्हें कष्ट पहुँचाते हैं। अतः रोने वालों के नेत्र से निकलने वाला अश्रु-प्रवाह मानों मृत-पुरुषों के हृदय पर गिरने वाले अङ्गारे ही हैं ॥२६॥

गर्ग[1] विद्वान् ने भी मृतबन्धुओं के अग्निसंस्कार करने का विधान व रोने का निषेध किया है ॥१॥

यदि शोक करने से मरा हुआ व्यक्ति या नष्ट हुई इष्टवस्तु पुनः प्राप्त हो सकती हो, तब उसके विषय में शोक करना उचित है अन्यथा व्यर्थ है ॥२७॥

शुक्र[2] ने भी स्वार्थवश परोपकार करने वालों की कड़ी आलोचना की है ॥१॥

[मु. मू. पुस्तक में ''अभिचारेण परोपघातो'' इत्यादि पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो लोग धोखा देकर दूसरों का घात करते हैं, वे महापापी हैं, शूर-वीर नहीं]

गुणगान-शून्य नरेश, कुटुम्ब-संरक्षण, परस्त्री व पर-द्रव्य के संरक्षण का दुष्परिणाम, अनुरक्त सेवक के प्रति स्वामी-कर्त्तव्य, त्याज्यसेवक, न्यायोचित दण्ड विधान व राज-कर्त्तव्य—

तस्य भूपतेः कुतोऽभ्युदयो जयो वा यस्य द्विषत्सभासु नास्ति गुणग्रहणप्रागल्भ्यं ॥३६॥ तस्य गृहे कुटुम्बं धरणीयं यत्र न भवति परेषामिषम्॥३७॥ परस्त्रीद्रव्यरक्षणेन नात्मनः। किमपि फलं विप्लवेन महाननर्थसम्बन्धः ॥३८॥ आत्मानुरक्तं कथमपि न त्यजेद् यद्यस्ति तदन्ते तस्य सन्तोषः ॥३८॥ आत्मसंभावितः परेषां भृत्यानामसहमानश्च भृत्यो हि बहुपरिजनमपि करोत्येकाकिनं स्वामिनं ॥४०॥ अपराधानुरूपो दण्डः पुत्रेऽपि प्रणेतव्यः ॥४१॥ देशानुरूपः करो ग्राह्यः ॥४२॥

अर्थ—जिस राजा का गुण-गान शत्रुओं की सभा में विशेषता से नहीं किया जाता, उसकी उन्नति वा विजय किस प्रकार हो सकती है ? नहीं हो सकती। अतः विजिगीषु को शूरवीरता व नीतिमत्ता-आदि सद्गुणों से अलंकृत होना चाहिए ॥३६॥

शुक्र[3] ने भी कीर्तिगान-शून्य राजा के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

मनुष्य को अपना कुटुम्ब ऐसे व्यक्ति के मकान पर रखना चाहिए, जहाँ पर वह शत्रु-कृत उपद्रवों द्वारा नष्ट न हो सके ॥३७॥

---

१. तथा च गर्गः—श्लेष्मास्तु बान्धयैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतो यशः। तस्मान्न रोदितव्यं स्यात् क्रिया कार्या प्रयत्नतः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—महापातकयुक्ताः स्युस्ते निर्यान्ति वरं वलान्। अभिभवनमंत्रेण न सद्वाढं कथंचन ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—कथं स्याद्विजयस्तस्य तथैवाभ्युदयः पुनः। भूपतेर्यस्य नो कीर्तिः कीर्त्यतेऽरिसभासु च ॥१॥

जैमिनि[१] ने भी कुटुम्ब-संरक्षण का यही उपाय बताया है ॥१॥ मनुष्य को दूसरे की स्त्री व धन के संरक्षण से कोई लाभ नहीं, क्योंकि कभी-कभी उसका परिणाम भयंकर होता है अर्थात यदि दुर्भाग्य-वश उसके शत्रु आदि द्वारा अपहरण या नष्ट किये जाने पर उल्टा उसका स्वामी संरक्षण करने वाले से वैर-विरोध करने लगता हे ॥३८॥

अत्रि[२] विद्वान् ने भी परस्त्री व परधन की रक्षा करने का यही दुष्परिणाम बताया है ॥१॥

स्वामी को अपनी दरिद्रावस्था में भी ऐसे सेवक को नहीं छोड़ना चाहिए जो उस पर अनुरक्त व संतुष्ट रहता है ॥

भारद्वाज[३] ने भी शोक को शरीर-शोषण करने वाला बताया है ॥१॥

चिरकाल पर्यन्त शोक करने वाला व्यक्ति अपने धर्म, अर्थ व काम पुरुषार्थों को नष्ट कर देता है, अतः इष्ट वस्तु के वियोग में कदापि शोक नहीं करना चाहिए ॥३९॥

कौशिक[४] ने भी शोक को धर्म-आदि त्रिवर्ग का नाशक बताया है ॥५॥

जो पुरुष दरिद्र हो करके भी इन्द्रिय-जन्य सुखों की कामना करता है, वह निन्द्य वा पशु-तुल्य हैं॥ ६॥

नारद[५] ने भी विषय-लम्पटी दरिद्र पुरुष का जन्म निरर्थक बताया है ॥१॥

अपरिचित व्यक्तियों से प्रेमपूर्वक मधुर भाषण करना स्वर्ग से आये हुए सज्जन पुरुषों का प्रतीक है ॥४०॥

गुरु[६] विद्वान् ने भी मधुरभाषी पुरुष को देवता बताया है ॥१॥

जिन पुरुषों की लोक में परोपकार-आदि द्वारा स्थायी कीर्ति व्याप्त है उनके स्वर्गारोहण हो जाने पर भी उन्हें जीवित समझना चाहिए ॥४१॥

नारद[७] विद्वान् ने भी कीर्तिशाली दिवंगत पुरुषों को जीवित बताया है ॥१॥

जिस पुरुष ने, शूरता, विद्वत्ता व परोपकार-आदि द्वारा उत्पन्न होने वाली कीर्ति से समस्त पृथ्वी तल को शुभ्र नहीं किया, उसका जन्म पृथ्वी में भाररूप ही है ॥४२॥

गौतम[८] ने भी यश-शून्य व्यक्ति को पृथ्वीतल का भार बताया है ॥१॥

---

१. तथा च जैमिनिः—नामिषं मन्दिरे यस्य विप्लवं वा प्रपद्यते। कुटुम्बं धारयेत्तत्र य इच्छेच्छ्रेयमात्मनः ॥१॥
२. तथा च अत्रिः—परार्थं परनारीं वा रक्षार्थं योऽत्रगृह्णाति। विप्लवं याति चेद्वित्तं तत्फलं वैरसम्भवं ॥१॥
३. तथा च भारद्वाजः—मृतं वा यदि वा नष्टं यदि शोकेन खम्यते। तत्कार्येणान्यथा कार्यः केवलं कायशोधकृत् ॥१॥
४. तथा च कौशिकः—यः शोकं धारयेद्देहे त्रिवर्गं नाशयेद्धि सः। क्रियसाणं चिरं कालं तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ॥१॥
५. तथा च नारदः—दरिद्रो यो भवेन्मर्त्यो हीनो विषयसेवने। तस्य जन्म भवेद्व्यर्थं प्राहेदं नारदः स्वयं ॥१॥
६. तथा च गुरुः—अपूर्वमपि यो दृष्ट्वा संभाषयति बल्गु च। स ज्ञेयः पुरुषस्तज्ज्ञैर्यतोऽसावागतो दिवः ॥१॥
७. तथा च नारदः—मृता अपि परिज्ञेया जीवन्वस्तेऽत्र भूतले। येषां सन्दिश्यते कीर्तिस्तड़ागाकरपूर्विका ॥१॥
८. तथा च गौतमः—भुवनानि यशोभिर्नो यस्य शुक्खीकृतानि च। भूमिभाराच संजातः स पुमानिह केवलम् ॥१॥

लोक में शिष्ट पुरुषों द्वारा किया हुआ उपकार उनके महाकल्याण का कारण है ॥३३॥

जैमिनि[१] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

अपनी रक्षा कराने के लिए शरण में आये हुए (शरणार्थी) पुरुषों की परीक्षा (सज्जनता व दुर्जनता की जाँच) करना व्यर्थ है। अर्थात् उनकी परीक्षा के प्रपंच में न पड़कर सहृदयता से उनकी सेवा करनी चाहिए ॥३४॥

जो लोग स्वार्थसिद्धि-वश दूसरों की भलाई करते हैं, वे महापापी हैं, महापुरुष नहीं ॥३५॥

गुरु[२] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

अभिमानी सेवक ईर्ष्या-वश दूसरे सेवकों को उन्नति सहन नहीं करता, इसलिए वे लोग स्वामी से रुष्ट होकर उसे छोड़ देते हैं। इस प्रकार घमंडी सेवक अन्य सेवकों के रहने पर भी अपने स्वामी को अकेला कर देता है, अतः अभिमानी सेवक नहीं रखना चाहिए ॥४०॥

राजपुत्र[३] ने भी दुष्टबुद्धि व अभिमानी सेवक से इसी प्रकार हानि बताई है ॥१॥

राजा को अपने पुत्र के लिए भी अपराधानुकूल दण्ड देना चाहिए फिर प्रजा-पीड़क अन्यायियों को दण्ड देना तो न्याय-संगत ही है ॥४१॥

शुक्र[४] ने भी अपराधानुकूल दण्डविधान को न्याय-संगत बताया है ॥१॥

राजा प्रजा से अपने देशानुकूल कर (टैक्स) वसूल करे। अन्यथा अच्छी फसल-आदि न होने के कारण एवं अधिक कर-टैक्स-से दबी हुई प्रजा राजा से विद्रोह करने तत्पर हो जाती है ॥४२॥

वक्ता के वचन, व्यय, वेष-भूषा, त्याग, कार्य का आरम्भ, सुख, अधम पुरुष, मर्यादा-पालन, दुराचार से हानि, सदाचार से लाभ, संदिग्ध, उत्तम भोज्य रसायन, पापियों की वृत्ति, पराधीन भोजन व निवास-योग्य देश-

प्रतिपाद्यानुरूपं वचनमुदाहर्तव्यं ॥४३॥ आयानुरूपो व्ययः कार्यः ॥४४॥ ऐश्वर्यानुरूपोविलासो विधातव्यः ॥४५॥ धनश्रद्धानुरूपस्त्यागोऽनुसर्तव्यः[५] ॥४६॥ सहायानुरूपं कर्म आरब्धव्यम्[६] ॥४७॥ स पुमान् सुखी यस्यास्ति सन्तोषः ॥४८॥ रजस्वलाभिगामी चाण्डालादप्यधमः ॥४९॥ सलज्जं निर्लज्जं न कुर्यात् ॥५०॥ स पुमान्

---

१. तथा च जैमिनिः-उपकारो भवेन्नोऽत्र पुरुषाणां महात्मनां। कल्याणाय प्रभूताय स तेषां जायते ध्रुवम् ॥१॥

२. तथा च गुरुः-अभियुक्तजनं यच्च न त्याज्यं तद्विवेकिन। पोषणीयं प्रयत्नेन यदि तस्य शुभार्थता ॥१॥

३. तथा च राजपुत्रः-
प्रसादाड्यो भवेद् भृत्यः स्वामिनो यस्य दुष्टधीः। स त्यज्यतेऽन्यभृत्यैश्च [शुष्कोवृक्षोंऽडजैर्यथा] ॥१॥ सं. प.

४. तथा च गुरुः-अपराधानुरूपोऽत्र दण्डः कार्यो महीभुजा। पुत्रस्यापि किमन्येषां चे स्थुः पापपरायणाः ॥१॥

५-६. मु. मू. प्रति से संकलित।

पटावृतोऽपि नग्न एव यस्य नास्ति सच्चरित्रमावरणम् ॥५१॥ स नग्नोऽप्यनग्न एव यो भूषितः सच्चरित्रेण ॥५२॥ सर्वत्र संशयानेषु नास्ति कार्यसिद्धिः ॥५३॥ न क्षीरघृताभ्यामन्यत् परं रसायनमस्ति ॥५४॥ परोपघातेन वृत्तिर्निर्भाग्यानाम् ॥५५॥ वरमुपवासो, न पुनः पराधीनं भोजनम् ॥५६॥ स देशोऽनुसर्तव्यो यत्र नास्ति वर्णसङ्करः ॥५७॥

अर्थ—वक्ता श्रोता के अनुकूल वचन बोले ॥४३॥ मनुष्य को अपनी आमदनी के अनुकूल खर्च करना चाहिए क्योंकि बिना सोचे-समझे अधिक खर्च करने वाला कुबेर के समान धनाढ्य होने पर भी दरिद्र हो जाता है ॥४४॥ अपने धनादि वैभव के अनुकूल विलास-वेश-भूषा करना चाहिए ॥४५॥ धन और श्रद्धानुकूल पात्रदान करना चाहिए, ऐसा करने से उसे आर्थिक कष्ट नहीं हो पाते ॥४६॥

बुद्धिमान पुरुष सहायकों के अनुकूल कार्य आरम्भ करे क्योंकि उनको अनुकूलता के बिना कार्यसिद्धि संदिग्ध रहती है ॥४७॥ वही मनुष्य सुखी है, जो संतोषी है, क्योंकि तीन लोक की सम्पत्ति मिल जाने पर भी तृष्णा नष्ट नहीं होती, अतः उसके त्याग करने से ही सुख प्राप्त हो सकता है; अन्यथा नहीं ॥४८॥

रजस्वला स्त्री को सेवन करने वाला चाण्डाल से भी अधिक नीच है ॥४९॥ नैतिक पुरुष लज्जाशील व्यक्ति को निर्लज्ज न बनाये। सारांश यह है कि कुसंस्कार-वश नीति-विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाला लज्जा-वश हितैषियों के भय से अनर्थ नहीं करता, परन्तु उसके कार्य को स्वयं देखकर उसे निर्लज्ज बनाने से वह उनके समक्ष अनर्गल प्रवृत्ति करने से नहीं चूकता ॥५०॥ जो सदाचाररूप वस्त्र से अलंकृत नहीं है, वह सुन्दर वस्त्रों से वेष्टित होने पर भी नग्न ही है ॥५१॥ सदाचार से विभूषत शिष्ट पुरुष नग्न होने पर भी नग्न नहीं गिने जाते, अतएव लोकप्रिय होने के लिए आचारण विशुद्ध रखना चाहिए ॥५२॥ सभी स्थानों में सन्देह करने वालों के कार्य सिद्ध नहीं होते ॥५३॥ दूध और घी से बढ़कर दूसरों कोई उत्तम रसायन (आयु व शक्तिवर्धक) नहीं है ॥५४॥

दूसरे प्राणियों को पीड़ित करके जीविका करना पापियों का कार्य है, अतएव नैतिक पुरुष न्यायोचित साधनों द्वारा जीवन निर्वाह करे ॥५५॥ पराधीन भोजन की अपेक्षा उपवास करना अच्छा है, क्योंकि पराश्रित भोजन अनिश्चित व अनियमित होने से विशेष कष्टदायक होता है ॥५६॥ उस देश में निवास करना चाहिए जिसमें वर्णसंकर लोग नहीं हैं ॥५७॥

जन्मान्ध, ब्राह्मण, निःस्पृह, दुःख का कारण, उच्चपद की प्राप्ति, सच्चा आभूषण, राजा को मित्रता, दुष्ट व याचक के प्रति कर्तव्य, निरर्थक स्वामी, सार्थक यज्ञ व सैन्य-शक्ति का उपयोग—

स जात्यन्धो यः परलोकं न पश्यति ॥५८॥

व्रतं विद्या सत्यमानृशस्यमलौल्यता च ब्राह्मण्यं न पुनर्जातिमात्रं ॥५९॥ निःस्पृहानां

का नाम परापेक्षा ॥६०॥ कं पुरुषमाशा न क्लेशयति ॥६१॥ संयमी गृहाश्रमी वा यस्याविद्यातृष्णाभ्यामनुपहतं चेतः ॥६२॥ शीलमलङ्कारः पुरुषाणां न देहखेदावहो बहिराकल्पः ॥६३॥ कस्य नाम नृपतिर्मित्रं ॥६४॥ अप्रियकर्तुंर्न प्रियकरणात्परममाचरणं ॥६५॥ अप्रयच्छन्नर्थिनो न परुषं ब्रूयात ॥६६॥ स स्वामी मरुभूमिर्यत्रार्थिनो न भवन्तीष्टकामाश्च ॥६७॥ प्रजापालनं हि राज्ञो यज्ञो न पुनर्भूतानामालम्भः ॥६८॥ प्रभूतमपि नानपराधसत्वव्यापत्तये नृपाणां बलं धनुर्वा किन्तु शरणागतरक्षणाय ॥६९॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने सत्कर्त्तव्यों द्वारा परलोक सुधारने में प्रयत्नशील नहीं रहता, वही जन्मान्ध है ॥५८॥ मनुष्य केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से ही ब्राह्मण नहीं गिना जाता, परन्तु व्रतों (अहिंसा, सत्य, अचौर्य-आदि) का पालन, ज्ञानाभ्यास, सत्यभाषण, क्रूरता का त्याग व संतोष-आदि सद्गुणों को धारण करने से वास्तविक ब्राह्मण माना गया है ॥५९॥

भगवज्जिनसेनाचार्य[१] ने भी तप, आगमज्ञान और ब्राह्मण कुल में जन्मधारण करने वाले को सच्चा ब्राह्मण एवं तप और आगमज्ञान से शून्य को जाति ब्राह्मण कहा है ॥१॥

निःस्पृह (धनादि की लालसा-रहित) व्यक्ति परमुखापेक्षी नहीं होते ॥६०॥ तृष्णा से कौन मनुष्य दुःखी नहीं होता? सभी होते हैं ॥६१॥

सुन्दर[२] कवि ने भी तृष्णा को दुःख का और संतोष को सुख का कारण बताया है ॥१॥

लोक में वही बुद्धिमान मनुष्य, चाहे वह यति-आश्रम वा गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट हो, तभी उच्च पद प्राप्त कर सकता है; जब उसका चित्त अज्ञान और तृष्णा से दूषित न हो ॥६२॥ शील (नैतिक-प्रवृत्ति) ही पुरुषों का आभूषण है, ऊपरी कटक-कुण्डलादि शरीर को कष्ट पहुँचाने वाले हैं; अतः ये वास्तविक आभूषण नहीं ॥६३॥

नीतिकार भर्तृहरि ने[३] भी कहा है कि कानों की शोभा शास्त्र सुनने से है, न कि कुण्डल पहनने से, हाथों की शोभा पात्रदान से है, न कि कंकण धारण करने से एवं दयालु पुरुषों के शरीर की शोभा परोपकार से है, न कि चन्दनादि के लेप से ॥१॥ राजा किस का मित्र होता है ? किसी का नहीं, क्योंकि

१. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—तपः श्रुतं च जातिश्च त्रयं ब्राह्मणकारणं।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥१॥ आदिपुराण।

२. तथा च सुन्दरः कविः—जो दस बीस पचास भये शत लक्ष करोर की चाह जगेगी, अरब खरब लों द्रव्य भयो तो धरापति होने की चाह जगेगी। उदय अस्त तक राज्य भयो पर तृष्णा और ही और बढ़ेगी, सुन्दर एक। संतोष बिना नर तेरी तो भूख कभी न मिटेगी ॥१॥

३. तथा च भर्तृहरिः—श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन।
विभाति कायः करुणाकुलानां, परोपकारेण न तु चन्दनेन ॥१॥

अपराध करने पर वह मित्र को भी दण्ड देने से नहीं चूकता ॥६४॥ दुर्जन के साथ भी सज्जनता का बर्ताव करना चाहिए, इस को छोड़कर उसके प्रति और कोई कर्त्तव्य नहीं; क्योंकि भलाई का बर्ताव करने से प्रायः वे अपनी दुष्टता छोड़ देते हैं ॥६५॥ किसी कारणवश याचक को कुछ देने में असमर्थ होने पर भी मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उसके साथ कठोर वचन कभी न बोले, क्योंकि इनका प्रयोग उसकी प्रतिष्ठा व मर्यादा को नष्ट करने के साथ-साथ उस याचक को भी असंतुष्ट कर डालता है, जिसके फलस्वरूप वह उसका अनिष्ट चिंतन करने लगता है ॥६६॥ उस स्वामी को याचक लोग मरुभूमि के समान निष्फल समझते हैं, जिसके पास आकर वे लोग इच्छित वस्तु प्राप्त कर अपना मनोरथ पूर्ण नहीं कर पाते ॥६७॥ प्राणियों की रक्षा करना ही राजा का यज्ञ (पूजन) है, न कि प्राणियों की बलि देना ॥६८॥ राजा को अपनी प्रचुर तीरन्दाज व सैनिक शक्ति का उपयोग शरणागतों की रक्षार्थ करना चाहिए न कि निरपराध प्राणियों की हत्या में।

॥ इति सदाचार-समुद्देशः॥

(२७) व्यवहार-समुद्देशः

मनुष्यों का दृढ़ बन्धन, अनिवार्य पालन-पोषण, तीर्थ सेवा का फल, तीर्थस्थानों में रहने वालों की प्रकृति, निंद्य स्वामी, सेवक, मित्र, स्त्री व देश-

कलत्रं नाम नराणामनिगड़मपि दृढं बन्धनमाहुः ॥१॥ त्रीण्यवश्यं भर्तव्यानि माता कलत्रमप्राप्तव्यवहाराणि चापत्यानि[१] ॥२॥ दानं तपः प्रायोपवेशनं तीर्थोपासनफलम् ॥३॥ तीर्थोपवासिषु देवस्वापरिहरणं क्रव्यादेषु कारुण्यमिव, स्वाचारच्युतेषु पापभीरुत्वमिव प्राहुरधार्मिकत्वमतिनिष्ठुरत्वं वञ्चकत्वं प्रायेण तीर्थवासिनां प्रकृतिः[२] ॥४॥ स किं प्रभुर्यः कार्यकाले एव न सम्भावयति भृत्यान् ॥५॥ स किं भृत्यः सखा वा यः कार्यमुद्दिश्यार्थं याचते ॥६॥ यार्थेनप्रणयिनी करोति चाङ्गाकृष्टिं सा किं भार्या ॥७॥ स किं देशो यत्र नास्त्यात्मनो वृत्तिः ॥८॥

अर्थ—विद्वानों ने कहा है, कि पुरुषों को स्त्री रूप बन्धन सांकलों का न होकर के भी उस से कहीं अधिक दृढ़ (मजबूत) है क्योंकि स्त्री के प्रेम-पाश में फँसे हुए मनुष्य का उस से छुटकारा पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है और इसी कारण वह आत्म-कल्याण के उपयोगी नैतिक व धार्मिक सत्कर्तव्यों से विमुख रहता है ॥१॥

शुक्र[३] विद्वान् ने भी स्त्री को दृढ़ बन्धन स्वीकार किया है ॥१॥ मनुष्य को माता, स्त्री और प्रौढ़ न होने से जीवन-निर्वाह करने में असमर्थ पुत्रों का पालन-पोषण अवश्य करना चाहिए ॥२॥

गुरु[४] विद्वान् ने भी उक्त माता आदि का आवश्यकीय संरक्षण बताया है ॥१॥

पात्र-दान, तप व अनशन (उपवास) अथवा जीवन पर्यन्त तीर्थ भूमि में रहने का दृढ़ संकल्प करना, या प्रायोपगमन संन्यास धारण यह तीर्थ स्थान की सेवा का फल है। अर्थात् विवेकी पुरुष इन

---

१. मु. मू. प्रति में ''इतरेषां पद विशेष है, जिस का अर्थ यह है कि नैतिक पुरुष दूसरों के बच्चों का भी जो जीविकायोग्य नहीं हैं, पालन पोषण करे।

२. उक्त सूत्र मु. मू. प्रति से संकलन किया गया है क्योंकि सं. टी. पु. का पाठ अशुद्ध था। -सम्पादक

३. तथा च शुक्रः-न कलत्रात् परं किंचिद्बन्धनं विद्यते नृणां। यस्मात्तत्स्नेहनिर्बद्धो न करोति शुभानि यत् ॥१॥

४. तथा च गुरुः-मातरं च कलत्रं च गर्भरूपाणि यानि च। अप्राप्तव्यवहाराणि सदा पुष्टिं नयेद् बुधः ॥१॥

सत्कर्तव्यों के अनुष्ठान से तीर्थ सेवा का फल (स्थायी आत्मिक सुख) प्राप्त कर सकता है। और

इसके विपरीत नीति-विरुद्ध असत् प्रवृत्ति करने वाला पापी है, उसकी तीर्थ-सेवा हाथी के स्नान की तरह निष्फल है॥ ३॥

गर्ग[१] विद्वान के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जिस प्रकार व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओं में दयालुता और आचार-भ्रष्ट (पापी) पुरुषों में पाप से डरना आश्चर्यकारक होता है, उसी प्रकार तीर्थस्थानों में रहने वाले ब्राह्मणों में भी देवता पर चढ़ाई हुई द्रव्य का त्याग करना आश्चर्यकारक होता है। विद्वानों ने कहा है कि तीर्थस्थानों में रहने वाले मनुष्यों की प्रकृति अधार्मिक, निर्दयी (क्रूर) और छल कपटपूर्ण होती है ॥४॥

जो स्वामी अपनी प्रयोजनसिद्धि हो जाने पर सेवकों को नियुक्त नहीं करता अथवा नियुक्त कर प्रयोजन सिद्ध होने पर भी उन्हें वेतन नहीं देता वह निन्द्य है॥ ५॥

भृगु ने[२] भी प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर सेवकों की नियुक्ति न करने वाले स्वामी को निन्द्य कहा है ॥१॥

जो सेवक अपने द्वारा स्वामी की प्रयोजन-सिद्धि समझ कर उससे धन की याचना करता है, एवं जो मित्र अपने द्वारा मित्र की प्रयोजन-सिद्धि समझकर उससे धन चाहता या मांगता है वे दोनों (सेवक व मित्र) दुष्ट हैं॥ ६॥

भारद्वाज[३] ने भी ऐसे स्वार्थान्ध सेवक व मित्र की कड़ी आलोचना की है ॥१॥

वह स्त्री निन्द्य है जो धन के कारण पति से प्रेम करती हुई उसका गाढालिङ्गन करती है। सारांश यह है पतिव्रता स्त्री को पति के सुख-दुख में उसके साथ एक-सा (प्रेमपूर्ण) बर्ताव करना चाहिए ॥७॥

नारद[४] ने भी संपत्ति काल में ही पति से अनुराग करने वाली स्त्री की कड़ी आलोचना की है॥ ६॥

वह देश निन्द्य है, जहाँ पर मनुष्य के लिए जीवन-निर्वाह के साधन (कृषि व व्यापार -आदि) नहीं है, अतः विवेकी पुरुष को जीविका-योग्य देश में निवास करना चाहिए॥ ८॥

गौतम[५] विद्वान् ने भी जीविका-शून्य देश को छोड़ देने का संकेत किया है ॥१॥

निंद्य बन्धु, मित्र, गृहस्थ, दान, आहार, प्रेम, आचरण, पुत्र, ज्ञान, सौजन्य व लक्ष्मी-

स किं बन्धुर्यो व्यसनेषु नोपतिष्ठते ॥९॥ तत्किं मित्रं यत्र नास्ति विश्वासः ॥१०॥

---

१. तथा च गर्गः-मुक्त्वा दानं तपो वाथ तथा प्रायोपवेशनं। करोति यश्चतुर्थं यत्तीर्थे कर्म सं पापभाक् ॥१॥

२. तथा च भृगुः-कार्यकाले तु सम्प्राप्ते संभावयति न प्रभुः। यो भृत्यं सर्वेकालेषु स त्याज्यो दूरतो बुधैः ॥१॥

३. तथा च भारद्वाजः-कार्ये जाते च यो भृत्यः सखा वार्थं प्रयाचते। न भृत्यः स सखा नैव तौ द्वावपि हि दुर्जनौ ॥१॥

४. तथा च नारदः-मोहने रक्तेऽङ्गानि यार्थेन विनयं व्रजेत्। न सा भार्या परिज्ञेया पण्यस्त्री सा न संशयः ॥१॥

५. तथा च गौतमः-स्वदेशेऽपि न निर्वाहो भवेत् स्वल्पोऽपि यत्र च। विज्ञेयः परदेशः स त्याज्यो दूरेण पण्डितैः ॥१॥

स किं गृहस्थो यस्य नास्ति सत्कलत्रसम्पत्तिः ॥११॥ तत्किं दानं यत्र नास्ति सत्कारः ॥१२॥ तत्किं भुक्तं यत्र नास्त्यतिथिसंविभागः ॥१३॥ तत्किं प्रेम यत्रकार्यवशात् प्रत्यावृत्तिः ॥१४॥ तत्किमाचरणं यत्र वाच्यता मायाव्यवहारो वा ॥१५॥ तत्किमपत्यं यत्र नाध्ययनं विनयो वा ॥१६॥ तत्किं ज्ञानं यत्र मदेनान्धता चित्तस्य ॥१७॥ तत्किं सौजन्यं यत्र परोक्षे पिशुनभावः ॥१८॥ सा किं श्रीर्यया न सन्तोषः सत्पुरुषाणां ॥१९॥

अर्थ—वह भाई निंद्य-शत्रु के समान है, जो आपत्तिकाल में भाई की सहायता नहीं करता ॥६॥

चाणिक्य ने[1] भी कहा है कि ''जिस प्रकार बीमारी शरीर में पैदा होने पर भी अनिष्ट समझी जाती है, जब कि दूरदेशवर्ती जंगल में पैदा होने वाली औषधि इष्ट समझी जाती है, उसी प्रकार अनिष्ट चिंतवन करने वाला सगा भाई भी शत्रु और विपत्ति काल में सहायता देने वाला दूसरा व्यक्ति बन्धु से भी बढ़कर समझा जाता है ॥१॥

वह मित्र निन्द्य है जो अपने मित्र के धन, धान्य व कलत्र (स्त्री) की रक्षा करने में विश्वासघात करता है; अतः मित्र द्वारा सोपे हुए धन-धान्यादि को सुरक्षित रखे ॥१०॥

गर्ग[2] ने भी मित्र द्वारा अर्पित धन-धान्यादि की रक्षा करने वाले को सच्चा मित्र कहा है ॥१॥

वह गृहस्थ किस काम का, जिसके यहाँ पतिव्रता व रूपवती कुलवधुरूप सम्पत्ति नहीं है ॥११॥

शुक्र[3] ने भी कुरूप, शील-भ्रष्ट (चरित्र हीन) बांझ व कलहकारिणी स्त्री वाले गृहस्थ को नारकी बताया है ॥१॥

वह दाता निंदनीय है, जो दान लेने योग्य (पात्र) का यथाविधि सत्कार (विनय) नहीं करता। क्योंकि यथाविधि सत्कार के बिना दाता दान का पारत्रिक फल प्राप्त नहीं करता ॥१२॥

वशिष्ठ[4] ने भी योग्यकाल में योग्य पात्र को यथाविधि दिये जानेवाले दान का अक्षय फल बताया है ॥१॥

भोजन की वेला में अतिथियों को आहार-दान न देने वाले व्यक्ति का आहार निन्द्य है-पशु की चेष्टा मात्र है। अर्थात्-जिस प्रकार पशु जीवन-रक्षार्थ तृणादि भक्षण करके मल-मूत्रादि क्षेपण करता है, उसी प्रकार वह मनुष्य भी जीवन-रक्षार्थ भोजन करके मल-मूत्रादि क्षेपण करता है व दान धर्म को नहीं जानता। अतः मनुष्य को अतिथियों को आहार-दान के पश्चात् भोजन करना

१. तथा च चाणक्यः—परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः। अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम् ॥१॥

२. तथा च गर्गः—धनं धान्यं कलत्रं वा निर्विकल्पेन चेतसा। अर्पितं रक्षयेद्यत्तु तन्मित्रं कथितं बुधैः ॥१॥

३. तथा च शक्रः—कुरूपा गतशीला च वंध्या युद्धपरा सदा। स गृहस्थो न भवति स नरकस्थः कथ्यते ॥१॥

४. तथा च वशिष्ठः—काले पात्रे तथा तीर्थे शास्त्रोक्तविधिना सह। यद्दत्तं चाक्षयं तद्विशेषं स्यादेकजन्मजम् ॥१॥

चाहिए ॥१३॥

नारद[१] ने भी अतिथि को आहार-दान दिये बिना भोजन करने वाले गृहस्थ को दो पैर वाला बिना सींगों का पशु कहा है ॥१॥

वह प्रेम निन्द्य है जो किसी से स्वार्थ-सिद्धि के आधार पर जब कभी किया जाता है, सदा नहीं, अतः निःस्वार्थ भाव से स्थायी प्रेम करना विशेष महत्त्वपूर्ण है ॥१४॥

राजपुत्र[२] ने भी अधिक आदर-आदि से प्राप्त हुए क्षणिक स्वार्थ-युक्त प्रेम को परिचय मात्र बताया है ॥१॥

वादीभसिंह[३] सूरि ने इकतरफा प्रेम को मूर्खों की चेष्टा बताई है। मनुष्य का वह व्यवहार निंदनीय है, जिस में पाप प्रवृत्ति (परस्त्री सेवन व चोरी-आदि) द्वारा उसकी लोक-निन्दा होती हो, अथवा जो छल-कपट-पूर्ण हो, क्योंकि ऐसे लोक-निन्दित दुष्ट आचरण से ऐहिक व पारलौकिक कष्ट होता है ॥१५॥

जैमिनि[४] भी लोक-निन्दित विद्वान् को विद्वान् नहीं मानता ॥१॥

विद्याविहीन (शिक्षाशून्य) और माता-पिता आदि शुभचिन्तकों की विनय न करने वाला पुत्र निंद्य है अर्थात् उसे पुत्र न समझकर गृह में उत्पन्न हुआ शत्रु समझना चाहिए ॥१६॥

बल्लभदेव[५] ने गर्भ रहित व दूध न देने वाली गाय के समान अशिक्षित व अधार्मिक पुत्र को निरर्थक बताया है ॥१॥

उस मनुष्य का ज्ञान निंद है-वह अज्ञानी है, जिसकी चित्त-वृत्ति विद्या के गर्व से दूषित हो चुकी है ॥१७॥

शुक्र[६] विद्वान ने भी ज्ञान का मद करने वाले की कड़ी आलोचना की है ॥१॥

पीठ-पीछे दूसरे की निन्दा व चुगली करने वाला और समक्ष में प्रिय वचन बोलने वाले की सज्जनता निन्द्य हैं। अर्थात् ऐसे व्यक्ति की दुष्ट जानना चाहिए ॥१८॥

गुरु[७] ने भी पर-निन्दक व चुगलखोर की सज्जनता विषभक्षण समान हानिकारक बताई है ॥१॥

---

१. तथा च नारदः—अदत्वा यो नरोऽप्यत्र स्वयं भुंक्ते गृहाश्रमी। स पशुर्नास्ति सन्देहो द्विपदः शृङ्गवर्जितः ॥१॥

२. तथा च राजपुत्रः—यद्गम्यं गुरुगौरवस्य सुहृदो यस्मिल्लभन्तेऽन्तरं। यद्दाक्षिण्यवशाद्भयाच्च सहसा नर्मोपहासाच्च यान्। यल्लज्जं न रुणद्धि यत्र शपथैरुदपद्यते प्रत्ययः। तत्किं प्रेम न उच्यते परिचयस्तत्रापि कोपेन किं ॥१॥

३. तथा च वादीभसिंहः—एककोटिगतस्नेहो जढ़ानां खलु चेष्टितम्।

४. तथा च जैमिनिः—जायते वाच्यता यस्य श्रोत्रिसस्य वृथा हि तत्। अनाचारात्मदादिष्टं श्रोत्रियत्वं वदन्ति ना ? ॥१॥

५. तथा च बल्लभदेवः—कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः। किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा

६. तथा च शुक्रः—विद्यामदो भवेन्नीचः पश्यन्नपि न पश्यति। पुरस्थे पूज्यलोकं च नातिबाह्यं च बाह्यतः ॥१॥

७. तथा च गुरुः—प्रत्यक्षेऽपि प्रियं ब्रूते परोक्षे तु विभागते। सौजन्यं तस्य विज्ञेयं यथा किंपाकभक्षणं ॥१॥

अपनी विद्यमान सम्पत्ति से संतुष्ट न रहने वाले शिष्टपुरुषों की सम्पत्ति निंद्य है, क्योंकि वे लोग तृष्णावश दु:खी रहते हैं; अतः संतोष धारण करना चाहिए ॥१९॥

निंद्य उपकार, नियुक्ति के अयोग्य, दान दी हुई वस्तु, सत्पुरुषों का कर्तव्य, सत्कार, धर्मरक्षा व दोषशुद्धि का साधन–

तत्किं कृत्यं यत्रोक्तिरुपकृतस्य ॥२०॥ तयोः को नाम निर्वाहो यौ द्वावपि प्रभूतमानिनौ पंडितो लुब्धौ मूर्खौ चासहनौ वा ॥२१॥ स्ववान्त इव स्वदत्ते नाभिलाषं कुर्यात् ॥२२॥ उपकृत्य मूकभावोऽभिजातीनाम् ॥२३॥ परदोषश्रवणे वधिरभावः सत्पुरुषाणां ॥२४॥ परकलत्रदर्शनेऽन्धभावो महाभाग्यानाम् ॥२५॥ शत्रावपि गृहायाते संभ्रमः कर्तव्यः किं पुनर्न महति ॥२६॥

अन्तःसारधनमिव स्वधर्मो न प्रकाशनीयः ॥२७॥

मदप्रमादजैर्दोषैर्गुरुषु निवेदनमनुशयः प्रायश्चित्तं प्रतीकारः ॥२८॥

अर्थ–किसी मनुष्य का उपकार करके उसके समक्ष प्रकट करना निन्द्य है, क्योंकि इससे वह प्रत्युपकार के बदले उपकारी से वैर-विरोध करने लगता है ॥२०॥

भागुरि[1] ने प्रत्युपकार की अभिलाषा से किये जाने वाले उपकार को निष्फल बताया है ॥१॥ बुद्धिमानों को विद्वान् होकर अभिमानी व कृपण अथवा मूर्ख होकर लोभी, घमण्डी, असहिष्णु व पारस्परिक कलह उत्पन्न कराने-वालों को किसी भी कार्य में नियुक्त न करना चाहिए, क्योंकि इससे कार्य सिद्धि नहीं होती और उक्त दोनों का निर्वाह होना भी असम्भव है॥ २१॥

हारीत[2] का भी नियुक्ति के विषय में यही मत है ॥१॥

बुद्धिमान को वमन की हुई वस्तु की तरह स्वयं दिया हुआ दान ग्रहण करने की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए ॥२३॥

जैमिनि[3] विद्वान् ने भी दान की हुई वस्तु के विषय में इसी प्रकार कहा हैं ॥१॥

कुलीन पुरुष किसी का उपकार करके उसका दिग्दर्शन न करते हुए मौन ही रहते हैं॥ २३॥

बल्लभदेव[4] विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

सत्पुरुष दूसरे की बुराई व दोष सुनकर ऐसे अनसुने बन जाते हैं मानो कि वे बहरे ही हों ॥२४॥

---

१. तथा च भागुरिः–योन्यस्य कुरुते कृत्यं प्रतिकृत्यतिवाञ्छया। न तत्र कृत्यं भवेत्तस्य पश्चात्फलप्रदायकम् ॥१॥

२. तथा च हारीतः–समर्थौ मानसंयुक्तौ पण्डितौ लोभसंश्रयौ। मिथोपदेशपरौ मूर्खौ कृत्वे मिथो न योजयेत् ॥१॥

३. तथा च जैमिनिः–स्वयं दत्तं च यद्दानं न ग्राह्यं पुनरेव तत्। यथा स्वबान्तं तद्वच्च दूरतः परिवर्जयेत् ॥१॥

४. तथा च वल्लभदेवः–
इयमपरा काचिद्दृश्यते महतां महती वा भावचित्तता। उपकृत्य भवन्ति दूरतः परतः प्रत्युपकारशंकया ॥१॥

गर्ग[१] विद्वान् ने भी ''दूसरों के दोष न सुनना'' महापुरुषों का कर्तव्य बताया है ॥१॥

वादीभसिंहसूरि[२] ने भी अपने दोषों पर दृष्टि रखने वाले को मोक्षमार्गी बताया है ॥१॥

पर स्त्रियों की तरफ दृष्टिपात करने में भाग्यशाली पुरुष अन्धे होते हैं–उन पर कुदृष्टि नहीं रखते। अभिप्राय यह है कि उनका अपनी पत्नी के सिवाय अन्य स्त्री जाति पर मातृ–भगिनी भाव होता है ॥२५॥

हारीत ने[३] भी परकलत्र की ओर कुदृष्टि न रखनेवाले को भाग्यशाली कहा है ॥१॥

बुद्धिमान को अपने गृह में पदार्पण किये हुए शत्रु का भी सम्मान करना चाहिए। फिर क्या महापुरुष का नहीं करना चाहिए ? अवश्य करना चाहिए ॥२६॥

भागुरि[४] ने भी गृहागत व्यक्ति के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

विवेकी मनुष्य को गृह के मध्य में रखे हुए उत्तम धन के समान अपना धर्म (दानपुण्यादि) प्रकाशित नहीं करना चाहिए।

अर्थात् जिस प्रकार गृह में रखा हुआ धन नष्ट होने के भय से चौर–आदि के सामने प्रकट नहीं किया जाता, उसी प्रकार

अपना धर्म भी नष्ट होने के भय से किसी के समक्ष प्रकट नहीं किया जाता॥ २७॥

व्यास[५] ने भी अपना धर्म प्रकट करने वाले को मूर्ख कहा है ॥१॥

गर्व व कामक्रोधादि कषायवश होने वाले दोषों की शुद्धि के लिए निम्न प्रकार तीन उपाय हैं॥ १. अपने दोषों को गुरुजनों के समक्ष प्रकट करना, किये हुए दोषों पर पश्चात्ताप करना, ३. प्रायश्चित्त करना ॥२८॥

भारद्वाज[६] का भी दोष–शुद्धि के विषय में यही अभिप्राय है ॥१॥

धनार्जन सम्बन्धी कष्ट की सार्थकता, नीच पुरुषों का स्वरूप, वन्द्य चरित्रवान, पीड़ाजनक कार्य व पंचमहापात की–

श्रीमतोऽर्थार्जने कायक्लेशो धन्यो यो देवद्विजान् प्रीणाति ॥२९॥

चणका इव नीचा उदरस्थापिता अपि नाविकुर्वाणास्तिष्ठन्ति ॥३०॥

स पुमान् वन्द्यचरितो यः प्रत्युपकारमनपेक्ष्य परोपकारं करोति ॥३१॥

---

१. तथा च गर्गः–परदोषान्न श‍ृण्वन्ति येऽपि स्युर्नरपुङ्गवाः। श‍ृण्वतामपि दोषः स्याद्यतो दोषान्वसम्भवात् ॥१॥
२. तथा च वादीभसिंहः–अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता। कः समः खलु मुत्तोऽयं युक्तः कायेन चेदपि १
३. तथा च हारीतः–अन्यदेहान्तरे धर्मो यैः कृतश्च सुपुष्कलः। इह जन्मनि तेऽन्यस्य न वीक्ष्न्ते नितंविनीम् ॥१॥
४. तथा च भागुरिः–अनादरो न कर्तव्यः शत्रोरपि विवेकिना। स्वगृहे आगतस्यात्र किं पुनर्महतोऽपि च ॥१॥
५. तथा च व्यासः–स्वकीयं कीर्तयेद्धर्मं यो जनाग्रे स मन्दधीः। क्षयं गतः समायाति पापस्य कथितस्य च ॥१॥
६. तथा च भारद्वाजः–मदप्रमादजं तापं यथा स्यात्तन्निवेदयेत्। गुरुभ्यो युक्तिलाप्नोत्ति मनस्तापो न भारत ॥१॥

अज्ञानस्य वैराग्यं भिक्षोर्विटत्वमधनस्य विलासो वेश्यारतस्य शौचमविदितवेदितव्यस्य तत्त्वाग्रह इति पंच न कस्य मस्तकशूलानि ॥३२॥

स हि पंचमहापातकी योऽशस्त्रमशास्त्रं वा पुरुषमभियुञ्जीत ॥३३॥

अर्थ–जो धनाढ्य पुरुष अपने धन द्वारा देव, द्विज और याचकों को सन्तुष्ट करता है, उसका अर्थोपार्जन के लिए शारीरिक कष्ट उठाना प्रशंसनीय है॥ २६॥

ऋषिपुत्रक[1] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

नीच पुरुषों का चाहे कितना ही उपकार किया जावे, तथापि वे चनों के भक्षण के समान बिना अपकार किये विश्राम नहीं लेते। अर्थात् जिस प्रकार चने खाये जाने पर विकार (अधोवायु निस्सारण द्वारा जनसाधारण से हंसी मजाक कराना) उत्पन्न कर देते हैं, उसी प्रकार उपकृत हुए भी नीच पुरुष अपकार कर डालते हैं॥ ३०॥

भागुरि[2] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

प्रत्युपकार की आशा न करके दूसरों का उपकार करने वाले का चरित्र नमस्कार करने योग्य है॥ ३१॥

भागुरि[3] व महात्मा भर्तृहरि[4] ने भी उक्त सिद्धान्त का समर्थन किया है।४

मूर्ख मनुष्य का वैराग्य धारण, तपस्वी का काम सेवन, दरिद्र का श्रृंगार-विधान, वेश्यासक्त की पवित्रता और आत्मज्ञान-शून्य का वस्तु स्वरूप के विचारने का आग्रह, ये पाँच कार्य किसके मस्तकशूल (पीड़ाजनक) नहीं हैं ?

अर्थात्-सभी को पीड़ा जनक हैं। सारांश यह है कि वैराग्य- इच्छुक को ज्ञानी, साधु को कामसेवन से विरक्त, श्रृंगार चाहने वाले को धनाढ्य, पवित्रता चाहने वाले को वेश्या सेवन को त्यागी व वस्तु स्वरूप के विचारक को आत्मज्ञानी होना चाहिए॥ ३२॥

भगवत्पाद[5] विद्वान् ने भी मूर्ख को वैराग्य धारण करना आदि उक्त पाँच बातों को पीड़ाजन बताया है॥

जो मनुष्य निहत्थे व्यक्ति पर शस्त्र प्रहार और मूर्ख से शास्त्रार्थ करता है वह पंच महापातकों (स्त्री-वध, बाल-वध, गो-वध, ब्राह्मण-वध व स्वामी-वध) के कटुक फल भोगता है, अतः

---

१. तथा च ऋषिपुत्रकः–कायक्लेशो भवेद्यस्तु धनार्जनसमुद्भवः। स शंस्यो धनिनो योऽत्रे संविभागो द्विजार्थिषु ॥१॥

२. तथा च भागुरिः–चणकैः सदृशा ज्ञेया नीचास्तान्न समाश्रयेत्। सदा जनस्य मध्ये तु प्रकुर्वन्ति बिडम्वनं ॥१॥

३. तथा च भागुरिः–उपकाररतो यस्तु वाञ्छते न स्वयं पुनः। उपकारः स वन्द्यः स्याद्वाच्छने यो न च स्वयं ॥१॥

४. तथा च भर्तृहरिः–एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये। १/४

५. ह्य ह्य ह्य

तत्दत्यागो ब्रह्मविदो [पंचैते कंटकाः स्मृताः]। १/२

बुद्धिमान पुरुष को निहत्थे पर शस्त्रप्रहार और मूर्ख से वाद-विवाद नहीं करना चाहिए॥ ३३॥

गर्ग[१] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय हैं ॥१॥

प्रयोजनवश नीचपुरुष का संसर्ग, स्वार्थ-सिद्धि का इच्छुक, गृह-दासी से अनुराग, वेश्या-संग्रह से हानि व दुराचारियों की चित्तवृत्ति-

उपाश्रुतिं श्रोतुमिव कार्यवशान्नीचमपि स्वयमुपसर्पेत् ॥३४॥

अर्थी दोषं न पश्यति[२] ॥३५॥

गृहदास्यभिगमो गृहं गृहिणीं गृहपतिं च प्रत्यवसादयति ॥३६॥

वेश्यासंग्रहो देव-द्विज गृहिणी-बन्धूनामुच्चाटनमंत्रः॥ ३७॥

अहो लोकस्य पापं, यन्निजा स्त्री रतिरपि भवति निम्बुसमा, परगृहीता शुन्यपि भवति रम्भासमा ॥३८॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रयोजनवश शुभ या अशुभ शकुन-शब्द सुना जाता है, यदि शुभ सूचक होता है तो वह कार्य किया जाता है, अन्यथा छोड़ दिया जाता है, उसी प्रकार बुद्धिमान। मनुष्य को स्वार्थसिद्धि के लिए नीच पुरुष के भी पास जाकर उसके वचन सुनने चाहिए और अनुकूल होने पर मानना चाहिए अन्यथा नहीं ॥३४॥

गुरु[३] विद्वान् ने भी नीच पुरुष के विषय में यही कहा है ॥१॥

स्वार्थी मनुष्य अपने दोषों पर दृष्टि नहीं डालता॥ ३५॥

गृहदासी से अनुराग करने वाला अपने गृह, पत्नी व गृह के स्वामी को नष्ट कर देता है॥ ३६॥

वेश्या-संग्रह देव, ब्राह्मण, स्त्री बन्धुजनों से पृथक् कराने वाला उच्चाटन-मंत्र है अतः उक्त हानि व धार्मिक क्षति से बचने के लिए विवेकी मनुष्य को वेश्या-संग्रह का त्याग करना चाहिए॥ ३७॥

गुरु[४]-विद्वान् ने भी वेश्या संग्रह से उक्त हानि बताई है लोगों को पाप जानकर आश्चर्य होता है कि जिसके कारण वे लोग अपनी रति के समान सुन्दर स्त्री को भी नीम सदृश अप्रिय और दूसरे की कुरूप स्त्री को देवाङ्गना सम प्रिय मान बैठते हैं ॥३८॥

एक स्त्री से लाभ, पर स्त्री व वेश्यासेवन का त्याग, सुख के कारण, गृह-प्रवेश, लोभ व याचना से हानि, दारिद्र-दोष व धनाढ्य की प्रशंसा-

---

१. तथा च गर्गः-स्त्रीबालगोद्विजस्वामिपंचानां बधकारकः। अशस्त्र शास्त्रहीनं च हि बुंजति ?... ॥१॥

२. मु. मू. प्रति से संकलित।

३. तथा च गुरुः-अपि नीचोऽपि गन्तव्यः कार्ये महति संस्थिते। यदि स्यात्तद्भवो भद्रं तत्कार्यमथवा त्यजेत् ॥१॥

४. तथा च गुरुः-न वेश्या चिन्तयेत्पुंसां किमप्यस्ति च मन्दिरे। स्वकार्यमेव कुर्वाणा नरः सोऽपि च तद्रसात् ॥१॥ कृत्वा शीलपरित्यार्गं तस्या वाञ्छां प्रपूरयेत्। ततश्च मुच्यते सर्वेर्भार्याबान्धवपूर्वजैः॥ २॥

स सुखी यस्य एक एव दारपरिग्रहः॥ ३९॥ व्यसनिनो यथासुखमभिसारिकासु न तथार्थवतीषु ॥४०॥ महान् धनव्ययस्तदिच्छानुवर्तनं दैन्यं चार्थवतीषु॥ ४१॥ अस्तरणं कम्बलो जीवधनं गर्दभः परिग्रहो बोढा सर्वकर्माणश्च भृत्या इति कस्य नाम न सुखावहानि[१]॥ ४२॥ लोभवति भवन्ति विफलाः सर्वे गुणाः[२]॥ ४३॥ प्रार्थना कं नाम न लघयति[३]॥ ४४॥ न दारिद्र्यात्परं पुरुषस्य लाञ्छनमस्ति यत्संगेन सर्वे गुणा निष्फलतां यान्ति। ४५॥ अलब्धार्थोपि लोको धनिनो भाण्डो भवति॥ ४६॥ धनिनो यतयोऽपि चाटुकाराः॥ ४७॥

अर्थ—वही सुखी है जिसके एक स्त्री है॥ ३६॥

चाणक्य[४] ने भी दो पत्नियों को कलह का बीज बताया है ॥१॥

जिस प्रकार व्यभिचारी पुरुष को व्यभिचारिणी स्त्रियों से सुख प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार वेश्याओं से भी उसे कदापि सुख प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वेश्याओं में अनुराग करने से व्यसनी का प्रचुर धन-व्यय होता है एवं उनकी इच्छानुकूल प्रवृत्ति करने से निर्धनता-वश उसे धनाढ्यों के समक्ष धन के लिए दीनता प्रकट करनी पड़ती है अतः नैतिक पुरुष को व्यभिचारिणी स्त्रियों व वेश्याओं से दूर रहना चाहिए ॥४०-४१॥

बिछाने की गद्दी व ओढ़ने को कम्बल, कृषि-आदि में उपयोगी गो-बैल आदि जीव, धन, विवाहित स्त्री रूप परिग्रह एवं समस्त कार्य करने में निपुण सेवक, ये वस्तुएँ किसे सुखदायक नहीं होतीं ? सभी को होती हैं ॥४२॥ लोभी के समस्त विद्या आदि गुण निष्फल होते हैं, क्योंकि उनका वह सदुपयोग नहीं करता ॥४३॥ याचना करने वाला कौन मनुष्य लघु नहीं गिना जाता ? सभी लघु गिने जाते हैं ॥४४॥ लोक में दरिद्रता से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु मनुष्य को दूषित (दोषयुक्त) नहीं बनाती, दरिद्रता ही सबसे बड़ा दोष है जिसके कारण मनुष्य के समस्त गुण निष्फल हो जाते हैं ॥४५॥

किसी विद्वान्[५] ने भी गुणवान दरिद्र व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले उपकार को शङ्कायुक्त कहा है ॥१॥

धनाढ्य से धन न मिलने पर भी याचक लोग उसकी प्रशंसा करते हैं, पुनः धन मिलने पर तो उसकी प्रशंसा के पुल बांधना कोई बड़ी बात नहीं ॥४६॥

वल्लभदेव[६] ने भी नीच कुल के कुरूप धनाढ्य पुरुष की याचकों द्वारा स्तुति बताई है ॥१॥

---

१. तथा च चाणिक्यः-अपि साधुजनोत्पन्ने द्वे भार्ये यत्र संस्थिते। कलहस्तत्र नो याति गृहाच्चैव कदाचन ॥१५॥

२-३-४. उक्त चिह्नाङ्कित सूत्र मु. मू. प्रति से संकलन किये गये हैं।

५. तथा चोक्तं-उपकारपरो यातिः, निर्धन कस्यचिद्गृहे। पारयिष्यति मात्रेण धनाढ्यो मन्यते गृही ॥१॥

६. तथा च वल्लभदेवः-न त्वया सदृशो दाता कुलीनो न च रूपवान्। कुलीनोऽपि विरुपोऽपि गीयते च धनार्थिभिः ॥१॥

जबकि साधु पुरुष भी धनाढ्य पुरुष की प्रशंसा करते हैं फिर साधारण लोगों का तो कहना ही क्या है ? वे तो उसकी प्रशंसा करते ही हैं ॥४७॥

वल्लभदेव[१] ने भी धनाढ्य पुरुष को कुलीन, पंडित, श्रुतधर, गुणज्ञ, वक्ता व दर्शनीय कहा है ॥१॥

पवित्रवस्तु, उत्सव, पर्व, तिथि व यात्रा का माहात्म्य, पांडित्य, चातुर्य व लोकव्यवहार–

न रत्नहिरण्यपूताज्जलात्परं पावनमस्ति ॥४८॥ स्वयं मेध्या आपो वन्हितप्ता विशेषतः ॥४९॥ स एवोत्सवो यत्र वन्दिमोक्षो दीनोद्धरणं च ॥५०॥ तानि पर्वाणि येष्वतिथिपरिजनयोः प्रकामं सन्तर्पणं ॥५१॥ तास्तिथयो यासु नाधर्माचरणं ॥५२॥ सा तीर्थयात्रा यस्यामकृत्यनिवृत्तिः ॥५३॥ तत्पाण्डित्यं यत्र वयोविद्योचितमनुष्ठानम् ॥५४॥ तच्चातुर्यं यत्परप्रीत्या स्वकार्यसाधनम् ॥५५॥ तल्लोकोचितत्वं यत्सर्वजनादेयत्वम् ॥५६॥

अर्थ—मरकत आदि रत्न व सुवर्ण से पवित्र किये हुए जल को छोड़कर दूसरा कोई पदार्थ पवित्र नहीं है। सारांश यह है कि ऐसा जल स्नान करने व पीने के लायक है॥ ४८॥ जल स्वयं पवित्र है। व गर्मजल विशेष पवित्र है ॥४९॥

मनु[२] के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

उत्सव मनाने की सार्थकता तभी है जब कि इस अवसर पर वन्दियों कैदियों का छुटकारा और अनाथों की रक्षा की जावे, पर्व (रक्षाबंधन-आदि) मनाने की भी सार्थकता तभी है, जबकि इस अवसर पर अतिथियों और कुटुम्बीजनों को दान-सम्मान द्वारा अत्यन्त संतुष्ट किया जावे ॥५०-५१॥

भारद्वाज[३] ने भी पर्व के दिनों में अतिथिसत्कार व कुटुम्ब-पोषण का संकेत किया है ॥१॥

तीस तिथियों में से वे ही तिथियां सार्थक हैं जिनमें मनुष्य पापाचरण से हटकर धर्माचरण की ओर अग्रेसर होता है ॥५२॥

जैमिनि[४] ने भी पाप-युक्त तिथियों को निरर्थक व धर्म-युक्त को सार्थक कहा है ॥१॥

जहाँ जाकर लोग पाप में प्रवृत्ति नहीं करते, वही उनकी वास्तविक तीर्थयात्रा है सारांश यह कि तीर्थस्थान का पाप वज्रलेप की तरह अमिट होता है, अतः वहाँ पर पाप क्रियाओं को त्याग करना

---

१. तथा च वल्लभदेवः– यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पण्डितह्यह्यः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥१॥

२. तथा च मनुः–आपः स्वभावतोमेध्याः किं पुनर्वन्हिसंयुताः। तस्मात् सन्तस्तदिच्छन्ति स्नानमुष्णेन वारिणा ॥१॥

३. तथा च भारद्वाजः–अतिथिः पूज्यते यत्र पोषयेत् स्वपरिग्रहं। तस्मिन्नहनि सर्वाणि पर्वाणि मनुरब्रवीत्॥ २॥

४. तथा च जैमिनिः– याषु न क्रियते पापं ता एव तिथयः स्मृताः। शेषा वंध्यास्तुविज्ञेया इत्येवं मनुरब्रतीत् ॥१॥

चाहिए ॥५३॥

किसी नीतिकार[१] के उद्धरण से भी यही बात प्रतीत होती है ॥१॥

अपनी आयु और विद्यानुकूल सत्कर्त्तव्य का पालन करने वाले विद्वान् की विद्वत्ता सच्ची है ॥५॥

गुरु[२] ने भी विद्या व आयु के योग्य सत्कर्त्तव्य-पालन व योग्य वेषधारण करने वाले को विद्वान् माना है ॥१॥

दूसरे से प्रीति उत्पन्न करके उससे अपना प्रयोजन सिद्ध करना 'चातुर्य' नामक सद्गुण है ॥५५॥

शुक्र[३] ने भी सामनीति द्वारा अपना प्रयोजन सिद्ध करने वाले को चतुर और दण्ड-भेद-आदि द्वारा अपना प्रयोजन सिद्ध करने वाले को 'मूर्ख' कहा है ॥१॥

विवेकी मनुष्य का वही लोकोपयोगी नैतिक सत्कर्त्तव्य है जिसके अनुष्ठान से वह लोक-प्रिय (सबका प्यारा) हो जाता है ॥५६॥

सज्जनता व धीरता का माहात्म्य, सौभाग्य, सभा-दोष, हृदय-हीन के अनुराग की निष्फलता, निन्द्य स्वामी, लेख का स्वरूप व उसका अप्रामाण्य, तत्काल अनिष्टकारी पाप, बलिष्ठ के साथ विग्रह से हानि, बलवान का आश्रय पाकर उससे उद्दण्डता करने से-हानि, प्रवास का स्वरूप व उसका सुख-

तत्सौजन्यं यत्र नास्ति परोद्वेगः ॥५७॥ तद्धीरत्वं यत्र यौवनेनानपवादः ॥५८॥ तत्सौभाग्यं यत्रादानेन वशीकरणं ॥५९॥ सा सभाण्यानी यस्यां न संति विद्वांसः॥ ६०॥ किं तेनात्मनः प्रियेण यस्य न भवति स्वयं प्रियः ॥६१॥ स कि प्रभुर्यो न सहते परिजन सम्बाधम् ॥६२॥ न लेखाद्वचनं प्रमाणे ॥६३॥ अनभिज्ञाते लेखेऽपि नास्ति सम्प्रत्ययः ॥६४॥ त्रीणि पातकानि सद्यः फलन्ति स्वामिद्रोहः स्त्रीवधा बालवधश्चेति ॥६५॥ अप्लवस्य समुद्रावगाहनमिवाबलस्य बल्वत्ता सह विग्रहाय टिरिटिल्लितं ॥६६॥ बलवन्तमाश्रित्य विकृतिभंजनं सद्यो मरणकारणं ॥६७॥ प्रवासः चक्रवतिनामपि सन्तापयति किं पुनर्नान्यं ॥६८॥ बहुपाथेयं मनोनुकूलः परिजनः सुविहितश्चोपस्करः प्रवासे दुःखोत्तरण तरण्ड को वर्गः ॥६९॥

अर्थ—वही सज्जनता है, जिससे दूसरों के हृदय-सरोवर में भय व उद्वेग न होकर प्रसन्नता

---

१. तथा चोक्तं-अन्यत्र यत् कृतं पापं तीर्थस्थाने प्रयाति तत्। क्रियते तीर्थगैर्यच्च वज्रलेपं तु जायते ॥१॥

२. तथा च गुरुः-विद्याया वयसश्चापि या योग्या क्रिया इह। तथा वेषश्च योग्यः स्यात् स ज्ञेयः पण्डितो जनैः ॥१॥

३. तथा च शुक्रः-यः शास्त्रात्साधयेद् कार्यंचतुरः स प्रकीर्तितः। साधयन्ति भेदाद्यैर्ये ते मतिबिवर्जिताः ॥१॥

लहराये वादरायण[१] ने भी जनसमुदाय को प्रसन्न रखने वाले कार्यों को सज्जनता और इससे विपरीत भयोत्पादक कार्यों को दुर्जनता कहा है ॥१॥

जो शिष्ट पुरुष युवावस्था को प्राप्त करके अपने जीवन को परस्त्री व वेश्यासेवन आदि दोषों से दूषित नहीं होने देते अर्थात्-अपनी स्त्री में हो सन्तुष्ट रहते हैं उनका वह धीरता गुण है ॥५८॥

शौनक[२] ने भी युद्ध में प्रवीण पुरुष को धीर न कहकर युवावस्था में परस्त्री व वेश्या सेवन के त्यागी को 'धीर' कहा है ॥१॥

दान न देने पर भी जन-समुदाय को वशीभूत रखने वाला मनुष्य भाग्यशाली है ॥५६॥

गौतम[३] भी पैसे के बल पर दूसरों को वश करने वाले को भाग्यशाली नहीं मानता ॥१॥

जिस सभा में विद्वान् पुरुष नहीं हैं; उसे जंगल समझना चाहिए, क्योंकि विद्व-मण्डली के बिना सभ्यों को धर्म-अधर्म कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध नहीं होता ॥६०॥

वह मनुष्य शत्रु समान है, जो अपनी हृदय-हीनता वश दूसरे मनुष्य द्वारा प्रेम करने पर भी उसका प्रत्युत्तर प्रेम से न देकर रुष्टता से देता है ॥६१॥

राजपुत्र[४] के संगृहीत श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो स्वामी अपने सेवकों द्वारा वेतन आदि मांगने पर उनको वेतन आदि देने में हिचकिचाता है या उनके खर्च का धक्का सहन नहीं कर पाता वह निन्दनीय है ॥६२॥

गौतम[५] ने भी भृत्यवर्ग के रक्षण में असमर्थ पुरुष को स्वामी न मानकर संन्यासी माना है॥१॥

लेख व वचन में से लेख की ही विशेष प्रतिष्ठा व अत्यधिक प्रामाणिकता होती है और वचनों को चाहे वे बृहस्पति द्वारा ही क्यों न कहे गये हो, प्रतिष्ठा नहीं होती ॥६३॥

राजपुत्र[६] ने भी लेख को ही विशेष महत्त्वपूर्ण व प्रामाणिक माना है ॥१॥

अनिश्चित लेख प्रामाणिक नहीं गिने जाते। सारांश यह है कि मनुष्य को किसी की लिखी हुई बात पर सहसा-बिना सोचे समझे विश्वास नहीं करना चाहिए और प्रत्यक्ष व साक्षियों द्वारा उसका निर्णय करना चाहिए ॥६४॥

शुक्र[७] ने भी कहा है कि ''धूर्त लोग झूठे लेख लिखाने के बहाने से सज्जन पुरुषों को धोखा देते हैं; अतः विद्वानों को बिना निश्चय किये किसी की लिखी हुई बात पर विश्वास नहीं करना

---

१. तथा च वादरायणः-यस्य कृत्येन कृत्स्नेन सानन्दः स्याज्जनोऽखिलः। सौजन्यं तस्य तज्ज्ञेयं विपरीतमतोऽन्यथा।

२. तथा च शौनकः-परदारादिदोषेण रहितं यस्य यौवनं। प्रयाति वा पुमान् धीरो न धीरो युद्धकर्मणि ॥१॥

३. तथा च गौतमः-दानहीनोऽपि वशगो जनो यस्य प्रजायते। सुभगः स परिज्ञेयो न यो दानादिभिर्नरः ॥१॥

४. तथा च राजपुत्रः-वल्लभस्य च यो भूयो बल्लभः स्याद्विशेषतः। सबल्लभं परिज्ञेयोऽयोऽन्यो वैरी स उच्यते ॥१॥

५. तथा च गौतमः-भृत्यवर्गार्थजे जाते योऽन्यथा कुरुते प्रभुः। स स्वामी न परिज्ञेय उदासीनः स उच्यते ॥१॥

६. तथा च राजपुत्रः-लिखिताद्वाचिकं नैव प्रतिष्ठां याति कस्यचित्। वृहस्पतेरपि प्रायः किं तेन स्यापि ? कस्यचित् ॥१॥

७. तथा च शुक्रः-कूटलेखप्रपंचेन धूर्तैरार्यतमा नराः। लेखार्थो नैव कर्त्तव्यः साभिज्ञानं बिना बुधैः ॥१॥

चाहिए ॥१॥

स्वामी, स्त्री और बच्चे का वध ये तीन महा पाप हैं, जिन का कुफल मनुष्य को इसी लोक में तत्काल भोगना पड़ता है ॥६५॥

नारद ने[1] ने भी ऐसे नृशंस हत्यारे को उभय लोक में दुःख भोगने वाला कहा है ॥१॥

जिस प्रकार बिना नौका केवल भुजाओं से समुद्र पार करने वाला मनुष्य शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होता है, उसी प्रकार कमजोर पुरुष बलिष्ठ पुरुष के साथ युद्ध करने से शीघ्र नष्ट हो जाता है, अतः निर्बल को बलिष्ठ के साथ युद्ध नहीं करना चाहिए ॥६६॥

गुरु[2] ने भी कमजोर को शक्तिशाली के साथ युद्ध करने का निषेध किया है ॥१॥

जो मनुष्य बलवान् का आश्रय-सहारा या उपकार-पाकर उससे उद्दण्डता का बर्ताव करता है, उसकी तत्काल मृत्यु होती है ॥६७॥

परदेश की यात्रा चक्रवर्ती को भी कष्ट देती है, पुनः साधारण व्यक्ति को उससे कष्ट होना स्वाभाविक है ॥६८॥

चारायण[3] ने भी परदेश यात्रा को विशेष कष्ट देने वाली कहा है ॥१॥

मनुष्य को परदेश की यात्रा में पर्याप्त भोजन सामग्री आज्ञाकारी सेवक व उत्तम धन व वस्त्रादि सामग्री दुःख रूप समुद्र से पार करने के लिए जहाज के समान है ॥६९॥

॥ इति व्यवहार-समुद्देशः॥
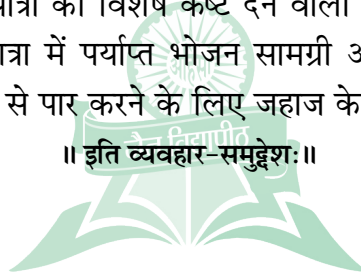
१. तथा च नारदः—स्वामिस्त्रीबालहन्तॄणां सद्यः फलति पातकं। इह लोकेऽपि तद्वच्च तत्परत्रोपभुज्यते ॥१॥

२. तथा च गुरुः—बालिना सह युद्धं यः प्रकरोति सुदुर्वलः। क्षणं कृत्वात्मनः शक्त्या युद्धं तस्य विनाशनम् ॥१॥

३. तथा च चारायणः—प्रवासे सीदसि प्रायश्चक्रवर्त्यपि यो भवेत्। किं पुनर्यस्य पाथेयं स्वल्पं भवति गच्छतः ॥१॥

(२८) विवाद-समुद्देशः

राजा का स्वरूप, उसकी समदृष्टि, विधान परिषद के अधिकारी या सभासद, अयोग्य सभासद व उनसे हानि व न्यायाधीश की पक्षपात-दृष्टि से हानि-

गुणदोषयोस्तुलादण्डसमो राजा स्वगुणदोषाभ्यां जन्तुषु गौरवलाघवे ॥१॥ राजा त्वपराधालिंगितानां समवर्ती तत्फलमनुभावयति ॥२॥ आदित्यवद्यथावस्थितार्थ प्रकाशन प्रतिभाः सभ्याः ॥३॥ अदृष्टाश्रुतव्यवहाराः परिपन्थिनः सामिषा न सभ्याः ॥४॥ लोभ पक्षपाताभ्यामयथार्थवादिनः सभ्याः सभापतेः सद्योमानार्थ-हानिं लभेरन् ॥५॥ तत्रालं विवादेन यत्र स्वयमेव सभापतिः प्रत्यर्थीसभ्य-सभापत्योरसामंजस्येन कुतो जयः किं बहुभिश्छगलैः श्वा न क्रियते ॥६॥

अर्थ—राजा का कर्त्तव्य है कि प्रजाजनों के गुणों व दोषों की जांच तराजू की दण्डी की तरह निष्पक्ष भाव से करने के उपरान्त ही उन्हें गुण व दोष के कारण क्रमशः गुरु (महान्) और लघु समझे और उनके साथ योग्य-अयोग्य व्यवहार करे अर्थात् शिष्टों का पालन व दुष्टों का निग्रह करे ॥१॥ समस्त प्रजाजनों को एक नजर से देखने वाला राजा अपराधियों को अपराधानुकूल दण्ड देने की सोचता है ॥२॥

गुरु[1] ने भी अपराधी के अपराध की सत्य व झूठ जाँच करने के उपरान्त दण्ड देने को कहा है ॥१॥

राज सभा (विधान परिषत्) के सभाषद-एक्जीक्युटिव कौन्सिल या पार्लिमेंट के अधिकारी गण (गवर्नर जनरल, प्रधानमन्त्री, गृहमन्त्री तथा सेना अर्थ स्वास्थ्य न्याय यातायात शिक्षा के सचिव आदि) सूर्य के समान पदार्थ को जैसे का तैसा प्रकाश करने वाली प्रतिभा से युक्त होने चाहिए। अर्थात् उन्हें समस्त राज्य शासन सम्बन्धी व्यवहार को यथार्थ सिद्ध करने में प्रवीण होना चाहिए॥ ३॥

गुरु[2] ने भी राजसभा के सभासद को राज्यशासन सम्बन्धी समस्त व्यवहारों को जानने वाले कहा है ॥१॥

जिन्होंने राज्यशासन सम्बन्धी व्यवहारों (शिष्ट पालन व दुष्ट निग्रह आदि अपने-अपने

---

१. तथा च गुरुः-विजानीयात् स्वयं वाथ भूभुजा अपराधिनाम्। मृषा किं वाथवा सत्यं स्वराष्ट्रपरिवृद्धये ॥१॥

२. तथा च गुरुः-यथादित्योऽपि सर्वार्थान् प्रकटान् प्रकरोति च। तथा च व्यवहारार्थान् ज्ञेयास्तेऽमी सभासदः ॥१॥

उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्यों) का शास्त्र द्वारा अनुभव प्राप्त नहीं किया हो और न राजनीतिज्ञ शिष्ट पुरुषों के सत्संग से उन व्यवहारों को श्रवण किया हो एवं जो राजा से ईर्ष्या वा वाद-विवाद करते हों ऐसे पुरुष राजा के शत्रु हैं, वे कदापि विधान परिषद के मेंबर (सभासद) होने लायक नहीं हैं, अतएव विधान परिषद में सभासद के पद पर उन्हीं को नियुक्त करना चाहिए, जो राज्य-संचालन या अपने उत्तर दायित्व-पूर्ण कर्त्तव्य पालन की पूर्ण योग्यता रखते हों, अनुभवी व वाद-विवाद न करने वाले हों; अपनी कार्य प्रणाली को उचित व्यवस्था पूर्वक कार्य रूप में परिणत कर सकने की क्षमता रखते हों, तथा पक्के राजनीतिज्ञ एवं अपने उत्तरदायित्वपूर्ण राज्य-शासन-आदि कार्य भार को पूर्ण रूप से संभाल सकते हों॥ ४॥

शुक्र[१] विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी सभासदों के विषय में यही अभिप्राय है ॥१॥

जिस राजा की सभा में लोभ व पक्षपात के कारण झूठ बोलने वाले सभासद होंगे, वे निःसन्देह उसके मान व धन की क्षति करेंगे॥ ५॥

गर्ग[२] ने भी मिथ्याभाषी सभासदों द्वारा राजकीय मान व सम्पत्ति की क्षति बताई है ॥१॥

जिस सभा में सभापति (न्यायाधीश) पक्षपाती वादी (मुद्दई) हो वहाँ वाद-विवाद करने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि वाद-विवाद करने वाले सभासद व सभापति इनमें एकमत न होने से वादी की विजय कदापि नहीं हो सकती। क्योंकि अन्य लोग राजा का ही पक्ष लेंगे, अतः ऐसी जगह वादी की विजय असम्भव है। क्योंकि क्या बहुत से बकरे मिल कर कुत्ते को पराजित नहीं कर सकते ? अवश्य कर सकते हैं। अर्थात् जिस प्रकार बलिष्ठ कुत्ता भी अनेक बकरों द्वारा परास्त कर दिया जाता है उसी प्रकार प्रभावशाली वादी विरोधी राजा आदि द्वारा परास्त कर दिया जाता है ॥६॥

शुक्र[३] ने भी कहा है कि जहाँ पर राजा स्वयं विरोधी हो वहाँ वाद-विवाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि अन्य सभी सभासद राजा का ही पक्ष अनुसरण करते हैं ॥१॥

वाद विवाद में पराजित के लक्षण, अधम सभासद, वादविवाद में प्रमाण, प्रमाणों को निरर्थकता व वेश्या और जुआरी की बात जिस मौके पर प्रामाण्य समझी जा सके-

विवादमास्थाय यः सभायां नोपतिष्ठेत, समाहूतोऽपसरति, पूर्वोक्तेमुत्तरोक्तेन बाधते, निरुत्तरः पूर्वोक्तेषु युक्तेषु युक्तमुक्तं न प्रतिपद्यते, स्वदोषमनुवृत्य परदोषमुपालभते, यथार्थवादेऽपि द्वेष्टि सभामिति पराजितलिङ्गानि ॥७॥

छलेनाप्रतिभासेन वचनाकौशलेन चार्थहानिः ॥८॥

---

१. तथा च शुक्रः-न दृष्टो न श्रुतो वापि व्यवहारः सभासदैः। न ते सभ्यारयस्ते च विज्ञेया पृथ्वीपतेः ॥१॥

२. तथा च गर्गः-अयथार्थप्रवक्तारः सभ्या यस्य महीपतेः। मानार्थहानिं कुर्वन्ति तस्य सद्यो न संशयः ॥१॥

३. तथा च शुकः-प्रत्यर्थी यत्र भूपः स्यात् तत्र वादं न कारयेत्। यतो भूमिपतेः पक्षं सर्वे प्रोडुस्तथानगाः ॥१॥

भुक्तिः साक्षी शासनं प्रमाणं॥९॥

भुक्तिः सापवादा, साक्रोशाः साक्षिणः शासनं च कूटलिखितमिति न विवादं समापयन्ति ॥१०॥ बलोत्कृतमन्यायकृतं राज्ञोपधिकृतं च न प्रमाणं ॥११॥ वेश्याकितवयोरुक्तं ग्रहणानुसारितया प्रमाणयितव्यं ॥१२॥

अर्थ—जो वाद विवाद करके सभा में नहीं आवे; आग्रहपूर्वक बुलाये जाने पर भी जो सभा में उपस्थित नहीं होता, जो अपने द्वारा कहे हुए वचनों को झूठा बनाकर-बात बदलकर-नई बात कहता हो, पूर्व में कहे हुए अपने वचनों पर सभ्य मनुष्यों द्वारा प्रश्न किये जाने पर जो यथोचित उत्तर न दे सकता हो, जो कही हुई बात को सत्य प्रमाणित न कर सके, अपनी गल्तियों पर ध्यान न देकर जो उल्टा प्रतिवादी को ही दोषी बताता हो, एवं सज्जनों द्वारा कहे हुए उचित शब्दों पर ध्यान न देकर सभा से ही द्वेष करता हो उपरोक्त चिह्नों—लक्षणों से जान लेना चाहिए कि यह वादी. प्रतिवादी, या साक्षी (गवाही) वाद विवाद में हार गया है ॥७॥

जो सभासद छलकपट, बलात्कार व वाक्चातुर्य द्वारा वादी की स्वार्थ-हानि करते हैं, वे अधम हैं ॥८॥

भारद्वाज[१] ने भी उक्त उपायों से वादी की प्रयोजन-सिद्धि में बाधा पहुँचाने वाले सभासदों की कटु आलोचना की है ॥१॥

यथार्थ अनुभव, सच्चे गवाही और सच्चा लेख इन प्रमाणों से वाद विवाद में सत्यता का निर्णय होता है॥ ९॥

जैमिनि[२] ने भी वाद विवाद में प्रत्यक्ष अनुभव के अभाव में साक्षी और साक्षी न होने पर लेख को प्रमाण माना है ॥१॥

जहाँ पर सदोष अनुभव व झूठे गवाही और झूठे लेख वर्तमान होते हैं, वहाँ पर यथार्थ निर्णय न होने से वाद विवाद समाप्त न होकर उल्टा बढ़ता ही है॥ १०॥

रैभ्य[३] ने भी उक्त बातें वाद विवाद को समाप्त न कर उल्टी बढ़ाने वाली बताई है ॥१॥

पूर्वोक्त अनुभव व साक्षी आदि जब सभासदों द्वारा बलात्कार व अन्याय पूर्वक एवं राजकीय शक्ति की सामर्थ्य से उपयोग में लाये जाते हैं, तब वे प्रमाण नहीं माने जाते ॥११॥

भागुरि[४] ने भी बलात्कार, अन्याय व राजकीय शक्ति से किये जाने वाले अनुभव आदि को असत्य कहा है ॥१॥

---

१. तथा च भारद्वाजः—छलेनापि बलेनापि वचनेन सभासदः। वादिनः स्वार्थहानिं ये प्रकुर्वन्ति च तेऽधमाः ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः—संवादेषु च सर्वेषु शासनं भुक्तिरुच्यते। भुक्तेरनन्तरं साक्षी तदभावे च शासनम् ॥१॥

३. तथा च रैभ्यः—बलात्कारेण या भुक्तिः साक्रोशाः साक्षिणोऽत्र ये। शासनं कूटलिखितमप्रमाणाणि त्रीण्यपि ॥१॥

४. तथा च भागुरिः—बलात्कारेण यत् कुर्युः सभ्याश्चान्यायतस्तथा। राजोपधिक्रतं तत्प्रमाणं भवेन्न हि ॥१॥

यद्यपि वेश्या और जुआरी झूठे हुआ करते हैं, परन्तु न्यायालय में उनके द्वारा कही हुई बात भी उक्त अनुभव व साक्षी आदि द्वारा निर्णय की जाने पर प्रमाण मानी जाती है ॥१२॥

रैभ्य[1] ने भी उक्त बात का समर्थन किया है ॥१॥

विवाद की निष्फलता, धरोहर सम्बन्धी विवाद-निर्णय, गवाही को सार्थकता, शपथ के योग्य अपराधी व उसका निर्णय होने पर दण्ड विधान–

असत्यङ्कारे व्यवहारे नास्ति विवादः ॥१३॥ नीवीविनाशेषु विवादः पुरुषप्रामाण्यात् सत्यापयितव्यो दिव्यक्रियया वा ॥१४॥ यादृशे तादृशे वा साक्षिणि नास्ति दैवी क्रिया किं पुनरुभयसम्मते मनुष्ये नीचेऽपि ॥१५॥

यः परद्रव्यमभियुञ्जीताभिलुम्पते वा तस्य शपथः क्राशा दिव्यं वा ॥१६॥

अभिवारयोगैर्विशुद्धस्याभियुक्तार्थसम्भावनायां प्राणाव शेषोऽर्थापहारः ॥१७॥

अर्थ–जहाँ पर मिथ्या व्यवहार-झूठा विवाद-खड़ा हो जाता है वहाँ यथार्थ निर्णय करने के लिए शिष्ट पुरुष को विवाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिस मुकदमे में वादी व प्रतिवादी (मुद्दई और मुद्दायल) दोनों झूठे होते हैं अथवा मुद्दई के स्टाम्प-वगैरह झूठे होते हैं वहाँ विवाद (मुकदमा) खड़ा ही नहीं हो सकता, तब निराधार निर्णय की आशा करना व्यर्थ है ॥१३॥

ऋषिपुत्रक[2] ने भी झूठे व्यवहार वाले विवाद को निरर्थक कहा है ॥१॥

किसी पुरुष ने किसी मनुष्य को अपना सुवर्ण-आदि धन संरक्षण करने के लिए धरोहर रूप से सौंपा हो और उस धन के नष्ट हो जाने पर (वापिस मांगने पर यदि वह मनाई कर बैठे) उस समय न्यायाधीश का कर्त्तव्य है कि उसका इन्साफ धरोहर रखने वाले पुरुष की प्रामाणिकता-(सचाई) द्वारा करे, और यदि ऐसा न हो धरोहर रखने वाला (विश्वासपात्र व सच्चा न हो) तो उससे शपथ करावे वा उसे दण्ड का भय दिखा कर इस प्रकार सत्य का निर्णय करे कि मुद्दई का धन मुद्दालय के यहाँ से जो नष्ट हुआ है, वह चोरों द्वारा अपहरण किया गया है ? अथवा मुद्दायल स्वयं मुद्दई के धन को हड़प कर गया है ?

नारद[3] ने भी धरोहर के धन सम्बन्धी विवाद का इन्साफ करने के लिए उक्त दोनों उपाय बताये हैं ॥१॥

जब मुकदमे में जिस किसी प्रकार का व्यक्ति साक्षी (गवाही) होता है तब न्यायाधीश द्वारा मुद्दई मुदायले को शपथ कराकर सत्य का निर्णय करना व्यर्थ है। फिर दोनों मुद्दईमुद्दायले द्वारा माने

---

१. तथा च रैभ्यः–या वेश्या बन्धकं प्राप्य लघुमात्रं बहु ब्रजेत्। सहिको द्यूतकारश्च हतौ द्वावपि ते तनौ ॥१॥

२. तथा च ऋषिपुत्रकः–असत्यंकारसंयुक्तो व्यवहारो नराधिप। विवादो वादिना तत्र नैव युक्तः कथंचन ॥१॥

३. तथा च नारदः–निक्षेपो यदि नष्टः स्यात् प्रमाणः पुरुषार्पितः। तत्प्रमाणं सकार्यो यद् दिव्ये तं वा नियोजयेत् ॥१॥

हुए श्रेष्ठ पुरुष के साक्षी होने पर सत्य की जाँच के लिए शपथ का प्रयोग करना तो बिल्कुल निरर्थक है ही ॥१५॥

भार्गव[1] ने भी गवाही द्वारा विवाद सम्बन्धी सत्यता का निर्णय हो जाने पर शपथ-क्रिया को निरर्थक बताया है ॥१॥

दूसरे का धन अपहरण या नष्ट करने वाले अपराधी का निर्णय करने के लिए साक्षी के अभाव में न्यायाधीश को दिव्य क्रिया (शपथ कराना आदि) उपाय काम में लाना चाहिए ॥१६॥

गर्ग[2] ने भी ऐसे अपराधी की जाँच के लिए शपथ कराने का संकेत किया है ॥१॥

जो अपराधी शपथ-आदि कूटनीति से अपने लिए निर्दोष साबित कर चुका हो, पश्चात् चोरी के कारण उसके अपराधी साबित हो जाने पर न्यायाधीश द्वारा उसे प्राण दान देकर उसका सर्वस्व (तमाम धन) हरण कर लेना चाहिए ॥१७॥

शुक्र[3] विद्वान् ने भी ऐसे अपराधी के विषय में इसी प्रकार दंडित करने का संकेत किया है ॥१॥

शपथ के अयोग्य अपराधी व उनकी शुद्धि का उपाय, लेख व पत्र के संदिग्ध होने पर फैसला, न्यायाधीश के बिना निर्णय की निरर्थकता, ग्राम व नगर सम्बन्धी मुकदमा, राजकीय निर्णय एवं उसको न मानने वाले को कड़ी सजा-

लिंगिनास्तिकस्वाचरच्युतपतितानां दैवी क्रिया नास्ति ॥१८॥

तेषां युक्तितोऽर्थसिद्धिरसिद्धिर्वा ॥१९॥

संदिग्धे पत्रे साक्षे वा विचार्य परिच्छिन्द्यात्॥ २०॥

परस्परविवादे न युगैरपि विवादपरिसमाप्तिरानन्त्याद्विपरीतप्रत्युक्तीनां॥ २१॥

ग्रामे पुरे वा वृत्तो व्यवहारस्तस्य विवादे तथा राजानमुपेयात्॥ २२॥

राज्ञा दृष्टे व्यवहरे नास्त्यनुबन्धः॥ २३॥

राजाज्ञां मर्यादां वाऽतिक्रामन् सद्यः फलेन दण्डेनोपहन्तव्यः[4]॥ २४॥

अर्थ-संन्यासी के भेष में रहने वाले, नास्तिक, चरित्र-भ्रष्ट व जाति से च्युत मनुष्यों के अपराध यदि गवाही आदि उपाय द्वारा साबित न हो सकें, तथापि धर्माध्यक्ष (न्यायाधीश) को शपथ खिलाकर उनके अपराध साबित नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये लोग अक्सर झूठी शपथ खाकर

१. तथा च भार्गवः-अधर्मापि भवेत् साक्षी विवादे पर्यवस्थिते। तथा दैवी क्रिया न स्यात् किं पुनः पुरुषोत्तमे ॥१॥
२. तथा च गर्गः-अभियुञ्जीत चेन्मर्त्यः परार्थं वा विलुम्पते। शपथस्तस्य क्रोशो वा योग्यो वा दिव्यमुच्यते ॥१॥
३. तथा च शुक्रः-यदि वादी प्रबुद्धोऽपि दिव्याद्यैः कूटजैः कृतैः। पश्चात्तस्य च विज्ञानं सर्वस्वहरणं स्मृतं ॥१॥
४. उक्त पाठ मु. मू. प्रति से संकलन किया गया है।

अपने को निर्दोषी प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं, इसलिए न्यायाधीश को युक्तियों द्वारा उनकी प्रयोजन-सिद्धि करनी चाहिए अर्थात् अनेक युक्ति-पूर्ण उपायों द्वारा उन्हें अपराधी साबित कर दंडित करना चाहिए अथवा निर्दोषी साबित होने पर उन्हें छोड़ देना चाहिए ॥१८-१९॥

वादरायण[1] ने भी संन्यासियों की शुद्धि के विषय में यही कहा है ॥१॥

यदि वादी (मुद्दई) के स्टाम्प वगैरह लेख वा साक्षी संदिग्ध-संदेह युक्त हों, तो न्यायाधीश अच्छी तरह सोच-समझकर निर्णय (फैसला) देवे॥ २०॥

शुक्र[2] ने भी संदिग्ध पत्र के विषय में इसी प्रकार का इंसाफ करना बताया है ॥१॥

मुद्दई मुद्दायलों के मुकदमे का फैसला बिना धर्माध्यक्ष के स्वयं उनके द्वारा बारह वर्ष में भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि परस्पर अपने-अपने पक्ष को समर्थन आदि करने वाली युक्तियाँ अनन्त होती हैं इसलिए दोनों को न्यायालय में जाकर न्यायाधीश द्वारा अपना फैसला कराना चाहिए, वहाँ पर सत्यासत्य का निर्णय किया जा सकता है॥ २१॥

किसी[3] विद्वान् ने कहा है कि राजा को न्यायाधीश के फैसले को न मानने वाले का समस्त धन जब्त कर लेना चाहिए ॥१॥

ग्राम व शहर संबंधी मुकदमों का फैसला कराने के लिए वहाँ के मद्दई-मुद्दायलों को राजा के पास जाना चाहिए॥ २२॥

गौतम[4] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

राजा द्वारा किया हुआ फैसला निर्दोष होता है, इसलिए जो मुद्दई-मुद्दायल राजकीय आज्ञा या मर्यादा का उल्लंघन करे (उस निर्णय को न माने) उसे मृत्यु दण्ड दिया जावे॥ २३-२४॥

शुक्र[5] ने भी राजकीय निर्णय को न मानने वाले के लिए मृत्यु-दण्ड देने का संकेत किया है ॥१॥

दुष्ट निग्रह, सरलता से हानि, धर्माध्यक्ष का राजसभा में कर्त्तव्य, कलह के बीज व प्राणों के साथ आर्थिक-क्षति का कारण-

न हि दुर्वृत्तानां दण्डादन्योऽस्ति विनयोपायोऽग्निसंयोग एव वक्रं काष्ठं सरलयति ॥२५॥

ऋजुं सर्वेऽपि परिभवन्ति न हि तथा वक्रतरुश्छिद्यते यथा सरलः॥ २६॥

स्वोपलम्भपरिहारेण परमुपालभेत स्वामिनमुत्कर्षयन् गोष्ठीमवतारयेत् ॥२७॥ न

---

१. तथा च वादरायणः-युक्त्या विचिन्त्य सर्वेषां लिंगिनां तपसः क्रियां। देया वचनतया शुद्धिरसंगत्या विवर्जनम् ॥१॥
२. तथा च शुक्रः-संदिग्धे लिखिते जाते साक्ष्ये वाथ सभासदैः। विचार्य निर्णयः कार्यो धर्मो शास्त्रसुनिश्चयः ॥१॥
३. तथा चोक्तं-धर्माधिकारिभिः प्रोक्तं यो वादं चान्यथा कियात्। सर्वस्वहरणं तस्य तथा कार्य महीभुजा ॥१॥
४. तथा च गौतमः-परे वा यदिवाग्रामे यो विवादस्य निर्णयः। कृतः स्याद्यदि भूयः स्यात्तद्भूपाग्रे निवेदयेत् ॥१॥
५. तथा च शुक्रः-वादं नृपतिनिर्णीतं योऽन्यथा कुरुते हठात्। तत्क्षणादेव वध्यः स्यान्न विकल्पं समाचरेत् ॥१॥

हि भर्तुरभियोगात्। परं सत्यमसत्यं वा वदन्तमवगृह्णीयात् ॥२८॥ अर्थसम्बन्धः सहवासश्च नोकलहः सम्भवति ॥२९॥ निधिरकस्मिकी वार्थलाभः प्राणैः सह संचितमप्यर्थमपहारयति ॥३०॥

अर्थ—अन्यायी दुष्टों को वश करने के लिए दण्डनीति को छोड़कर और दूसरा कोई उपाय नहीं, क्योंकि जिस प्रकार टेड़ी व तिरछी लकड़ी आग लगाने से ही सीधी होती है, उसी प्रकार पापी लोग भी दण्ड से ही सीधे (न्याय मार्ग में चलने वाले) होते हैं ॥२५॥

शुक्र[१] विद्वान् ने भी दुष्टों को सीधा करने का यही उपाय बताया है ॥१॥

जिस प्रकार जंगल में वर्तमान टेढ़ा वृक्ष न काटा जाकर सीधा ही काटा जाता है, उसी प्रकार सरल स्वभाव वाला मनुष्य ही सर्व मनुष्यों द्वारा परास्त किया जाता है ॥२६॥

गुरु[२] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

धर्माध्यप्त (न्यायाधीश) को राज-सभा में राजा को प्रसन्न करते हुए मुद्दई-मुद्दलयों का विवाद (मुकदमा) इस तरीके से विस्तार पूर्वक करना चाहिए, जिससे उसके ऊपर उलाहना न आवे और उक्त दोनों में से कोई एक कानूनन दोषी ठहराया जावे ॥२७॥

गौतम[३] ने भी धर्माध्यक्ष का यही कर्तव्य निर्देश किया है ॥१॥

धर्माध्यक्ष अपने स्वपक्षी का पक्ष लेकर सत्य असत्य बोलने वाले वादी के साथ लड़ाई-झगड़ा न करे ॥२८॥

भागुरि[४] ने भी वादी के साथ लड़ाई-झगड़ा करने का निषेध किया है ॥१॥

आपस में रुपये पैसे का लेन देन व एक मकान में निवास करना ये दोनों कार्य कलह उत्पन्न करते हैं ॥२९॥

गुरु[५] ने भी उक्त दोनों कार्य कलह जनक बताये हैं ॥१॥

अकस्मात् मिला हुआ खजाना व अन्याय से प्राप्त हुआ धन ये दोनों वस्तुएँ प्राणों के साथ साथ पूर्व संचित धन को भी नष्ट कर डालती हैं ॥३०॥

वादविवाद में ब्राह्मण आदि के योग्य शपथ—

ब्राह्मणानां हिरण्ययज्ञोपवीतस्पर्शनं च शपथः ॥३१॥ शस्त्ररत्नभूमिवाहनपल्याणानां तु क्षत्रियाणाम् ॥३२॥ श्रवणपोतस्पर्शनात्

---

१. तथा च शुक्रः—यथात्र कुटिलं काष्ठं वह्नियोगाद्भवेदृजुः। दुर्जनोऽपि तथा दण्डादृजुर्भवति तत्क्षणात् ॥१॥
२. तथा च गुरुः—ऋजुः सर्वं च लभते न वक्रोऽथ पराभवं। यथा च सरलो वृक्षः सुखं छिद्यते छेदकैः ॥१॥
३. तथा च गौतमः—धर्माधिक्तमर्त्येन निवेद्यः स्वामिनोऽखिलः। विवादो न यथा दोषः स्वस्य स्यान्न तु वादिनः
४. तथा च भागुरि—यो न कुर्या द्रणं भूयो न कार्यस्तेन विग्रहः। विग्रहेण यतो दोषो महतामपि जायते ॥१॥
५. तथा च गुरुः—न कुर्यादर्थसम्बन्धं तथैकगृहसंस्थितिं। तस्य युद्धं बिना कालः कथंचिदपि न व्रजेत् ॥१॥

काकिणीहिरण्ययोर्वा वैश्यानाम् ॥३३॥ शूद्राणां क्षीरबीजयोर्वल्मीकस्य वा ॥३४॥ कारूणां यो येन कर्मणा जीवति तस्य तत्कर्मोपकरणानां ॥३५॥ व्रतिनामन्येषां चेष्टदेवतापादस्पर्शनात् प्रदक्षिणादिव्यकोशात्तन्दुलतुलारोहणैर्विशुद्धिः ॥३६॥ व्याधानां तु धनुर्लंघनं ॥३७॥ अन्त्यवर्णावसायिनामार्द्रचर्मावरोहणम् ॥३८॥

अर्थ—वाद विवाद के निर्णयार्थ ब्राह्मणों को सुवर्ण व जनेऊ के छूने की, क्षत्रियों को शस्त्र, रत्न, पृथ्वी, हाथी, घोड़े आदि वाहन और पलाण की, वैश्यों को कर्ण, बच्चा, कौड़ी, रुपया पैसा व सुवर्ण के स्पर्श करने की, शूद्रों को दूध, बीज व सांप की बामी छूने की तथा धोबी-चमार आदि कारू शूद्रों को उनके जीविकोपयोगी उपकरणों की शपथ (कसम) करानी चाहिए ॥३१-३५॥

गुरु[१] विद्वान् ने भी ब्राह्मण आदि में होने वाले वाद-विवाद के निर्णयार्थ उन्हें उपरोक्त शपथ कराना अनिवार्य बताया है ॥१-५॥

इसी प्रकार व्रती व अन्य पुरुषों की शुद्धि उनके इष्ट देवता के चरणस्पर्श से व प्रदक्षिणा कराने से तथा धन, चावल व तराजू को लांघने से होती है एवं व्याधों से धनुष लांघने की और चांडाल कंजर और चमार आदि से गीले चमड़े पर चढ़ने की शपथ खिलानी चाहिए ॥३६-३८॥

गुरु[२] ने भी व्रती, व्याध व चांडालादि से इस प्रकार शपथ कराने की विधि बताई है ॥१-३॥

क्षणिक वस्तुएं, वेश्यात्याग, परिग्रह से हानि, उसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन, मूर्ख का आग्रह, मूर्ख के प्रति विवेकी का कर्तव्य, मूर्ख को समझाने से हानि व निर्गुण वस्तु—

वेश्यामहिला, भृत्यो भण्डः, क्रीणिनियोगो, नियोगिमित्रं, चत्वार्यशाश्वतानि ॥३९॥ क्रीतेष्वाहारेष्विव पण्यस्त्रीषु क आस्वादः ॥४०॥ यस्य यावानेव परिग्रहस्तस्य तावानेव सन्तापः ॥४१॥ गजे गर्दभे च राजरजकयोः सम एव चिन्ताभारः॥ ४२॥ मूर्खस्याग्रहो नापायमनवाप्य निवर्तते ॥४३॥ कर्पासाग्नेरिव मूर्खस्य शांतावुपेक्षणमौषधं ॥४४॥ मूर्खस्याभ्युपपत्तिकरणमुद्दीपनपिण्डः॥ ४५॥ कोपाग्निप्रज्ज्वलितेषु मूर्खेषु

१. तथा च गुरुः— हिरण्यस्पर्शनं यच्च ब्रह्मसूत्रस्य चापरं। शपथो ह्येषं निर्दिष्टो द्विजातीनां न चापरः ॥१॥
शस्त्ररत्नक्ष्मायानपल्याणस्पर्शनाद्भवेत्। शपथः क्षत्रियाणां च पंचानां च पृथक्-पृथक्॥ २॥
शपथो वैश्यजातीनां स्पर्शनात् कर्णबालयोः। काकिणीस्वर्णयोर्वापि शुद्धिर्भवति नान्यथा॥ ३॥
दुग्धस्यान्नस्य संस्पर्शाद्वल्मीकस्य तथैव च। कर्तव्यः शपथः शूद्रैः विवादे निजशुद्धये॥ ४॥
यो येन कर्मणा जीवेद् कारुस्तस्य तदुद्भवं। कर्मोपकरणं किंचिद् तत्स्पर्शाच्छुद्ध्यते हि सः॥ ५॥

२. तथा च गुरुः— व्रतिनोऽन्ये च ये लोकास्तेषां शुद्धिः प्रकीर्तिता। इष्टदेवस्य संस्पर्शात् दिव्यैर्वा शास्त्रकीर्तितैः ॥१॥
पुलिन्दानां विवादे च चापलंघनतो भवेत्। विशुद्धिर्जीवन तेषां यतः स्वर्थ प्रकीर्तिता॥ २॥
अन्त्यजानां तु सर्वेषामार्द्रचर्मावरोहणं। शपथः शुद्धिदः प्रोक्तो यथान्येषां च वैदिकः॥ ३॥

तत्क्षणप्रशमनं घृताहुतिनिक्षेप इव॥ ४६॥ अनस्तितोऽनड्वानिव ध्रियमाणो मूर्खः परमाकर्षति॥ ४७॥ स्वयमगुणं वस्तु न खलु पचपाताद्गुणवद्भवति न गोपालस्नेहादुक्षा क्षरति क्षीरम्॥ ४८॥

अर्थ—वेश्यारूप स्त्री, उद्दण्ड या क्रोधी नौकर, अधिक टैक्स लेना व अधिकारी मित्र इनकी मैत्री या संसर्ग चिरस्थायी नहीं है॥ ३९॥

शुक्र[1] विद्वान् ने भी उक्त चारों बातों को क्षणिक कहा है ॥१॥

जिस प्रकार बाजार से खरीदा हुआ भोजन सुखकारक नहीं होता, उसी प्रकार बाजारू वेश्याओं से भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता, अतः विवेकी पुरुषों को सदा के लिए वेश्याओं का त्याग करना चाहिए ॥४०॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी वेश्याओं के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

संसार में जिस पुरुष के पास जितना परिग्रह (गाय-भैंस, रुपया, पैसा आदि) होता है उसे उतना ही संताप (दुःख) होता है; अर्थात् जिसके पास अधिक परिग्रह है उसे अधिक और जिसके पास थोड़ा परिग्रह हैं, उसे थोड़ा संताप होता है ॥४१॥

नारद[3] ने भी परिग्रह को संताप जनक बताकर उसके त्यागने की ओर संकेत किया है ॥१॥

राजा को जैसी चिंता हाथी के पालन-पोषण की रहती है, वैसी धोबी को गधे के पालन पोषण की नारद[4] के उद्धरण से भी यही बात प्रतीत होती है ॥१॥

मूर्ख मनुष्य का हठ उसका नाश किये बिना शान्त नहीं होता। अर्थात्-वह हानि होने के पश्चात् ही अपनी जिद्द छोड़ता है ॥४३॥

जैमिनि[5] ने भी मूर्ख की हठ उसका विनाश करने वाली बताते हुए विद्वानों को हठ न करने का उपदेश दिया है ॥१॥

जिस प्रकार कपास में तीव्र आग लग जाने पर उसे बुझाने का प्रयत्न करना निष्फल है उसी प्रकार मूर्ख के हठ पकड़ लेने पर उसकी हठ छुड़ाने का प्रयत्न भी निष्फल है, क्योंकि वह अपनी हठ नहीं छोड़ता अतः ऐसे अवसर पर उससे उपेक्षा करना ही औषधि है (उससे भाषण न करना ही उत्तम है) ॥४४॥

भागुरि[1] ने भी मूर्ख की हठ के अवसर में विवेकी को उसकी उपेक्षा करना बताया है ॥१॥

---

१. तथा च शुक्रः-वेश्या पत्नी तथा भण्डः सेवकः कृतसंग्रहः। मित्रनियोगिनं यच्च न चिरं स्थैर्यतां व्रजेत् ॥१॥
२. तथा च शुक्रः-क्रयक्रीतेन भोज्येन यादृग्भुक्तेन सा भवेत्। तादृक् संगेन वेश्यायाः सन्तोषो जायते नृप ॥१॥
३. तथा च नारदः-अनित्येऽत्रैव संसारे यावन्मात्रः परिग्रहः। तावन्मात्रस्तु सन्तापस्तस्मात्याज्यः परिग्रहः ॥१॥
४. तथा च नारदः-गजस्य पोषणे यद्वद्राज्ञः चिन्ता प्रजायते। रजकस्य च बालेये तादृक्षा वाधिका भवेत् ॥१॥
५. तथा च जैमिनिः-एकाग्रहोऽत्र मूर्खाणां न नश्यति विना क्षयं। तस्मादेकाग्रहो विज्ञैर्न कर्तव्यः कथंचन ॥१॥

मूर्ख को हित का उपदेश उसके अनर्थ बढ़ाने में सहायक होता है, अतः शिष्ट पुरुष मूर्ख के लिए उपदेश न देवें॥ ४५॥

गौतम[२] ने भी कहा है कि जैसे-जैसे विद्वान् पुरुष मूर्ख को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता है, वैसे-वैसे उसकी जड़ता बढ़ती जाती है ॥१॥

क्रोधरूपी अग्नि से प्रज्ज्वलित होने वाले मूर्खों को तत्काल समझाना जलती हुई आग में घी की आहुति देने के समान है। अर्थात्–जिस प्रकार से प्रज्ज्वलित अग्नि घी की आहुति देने से शान्त न होकर उल्टी बढ़ती है, उसी प्रकार मूर्ख का क्रोध भी समझाने से शान्त न होकर उल्टा बढ़ता चला जाता है, अतः मूर्ख को क्रोध के अवसर पर समझाना निरर्थक है॥ ४६॥

जिस प्रकार नथुने रहित बैल खींचने वाले पुरुष को अपनी ओर तेजी से खींचता जाता है, उसी प्रकार मर्यादाहीन व हठी मूर्ख मनुष्य भी उपदेश देने वाले शिष्ट पुरुष को अपनी ओर खींचता है–उससे अत्यन्त शत्रुता करने लगता है, अतः विवेकी पुरुष मूर्ख को हित का उपदेश न देवें॥ ४७॥

भागुरि[३] के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जिस प्रकार ग्वाले द्वारा अधिक स्नेह किया हुआ बैल दूध नहीं दे सकता, उसी प्रकार स्वयं निर्गुण वस्तु पक्षपात-वश किसी के द्वारा प्रशंसा की जाने पर भी गुणयुक्त नहीं हो सकती॥ ४८॥

नारद[४] ने भी निर्गुण वस्तु के गुण-युक्त न होने के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

॥ इति विवाद-समुद्देशः॥

---
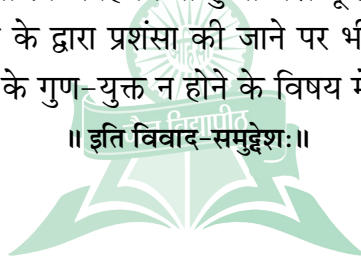
१. तथा च भागुरिः–कर्पासे दह्यमाने तु यथा युक्तमुपेक्षणं। एकग्रहपरे मूर्खे तद्वदन्यं न विद्यते ॥१॥
२. तथा च गौतमः–यथा यथा जड़ो लोको विज्ञैर्लोकैः प्रबोध्यते। तथा तथा च तज्जाड्यं तस्य वृद्धिं प्रयच्छति ॥१॥
३. तथा च भागुरिः–नस्तया रहितो यद्वध्रियमाणोऽपि गच्छति। वृषस्तद्वच्च मूर्खोपि धृतः कोपान्न तिष्ठति ॥१॥
४. तथा च नारदः–स्वयमेव कुरूपं यत् तन्न स्याच्छंसितं शुभं। यथोक्षा रा सितः क्षीरं गोपालेन ददाति नो ॥१॥

(२९) षाड्गुण्य-समुद्देशः

शम व उद्योग का परिणाम, लक्षण, भाग्य व पुरुषार्थ के विषय में-

शमव्यायामौ योगक्षेमयोर्योनिः॥१॥ कर्मफलोपभागानां क्षेमसाधनः शमः कर्मणां योगाराधनो-व्यायामः ॥२॥ दैवं धर्माधर्मौ ॥३॥ मानुषं नयानयौ ॥४॥ दैवं मानुषञ्च कर्म लोकं यापयति ॥५॥ तञ्चिन्त्यमचिन्त्यं वा दैवं ॥६॥ अचिन्तितोपस्थितोऽर्थसम्बन्धो दैवायत्तः ॥७॥ बुद्धिपूर्वहिताहितप्राप्तिपरिहारसम्बन्धो मानुषायतः ॥८॥ सत्यपि दैवेऽनुकूले न निष्कर्मणो भद्रमस्ति ॥९॥ न खलु दैवमीहमानस्य कृतमप्यन्नं मुखे स्वयं प्रविशति ॥१०॥ न हि दैवमवलम्बमानस्य धनुः स्वयमेव शरान् संधत्ते ॥११॥ पौरुषमवलम्बमानस्यार्थानर्थयोः सन्देहः ॥१२॥ निश्चित एवानर्थो दैवपरस्य ॥१३॥ आयुरौषयोरिव दैवपुरुषकारयोः परस्परसंयोगः समीहितमर्थं साधयति ॥१४॥

अर्थ—शम (कर्मों के फलोपभोग में कुशलता उत्पन्न करने वाला गुण) व व्यायाम (नैतिक पुरुषार्थ) कार्य की प्राप्ति और उसमें सफलता प्राप्त कराते हैं। सारांश यह है कि शिष्ट पुरुष लौकिक एवं धार्मिक कार्यों में तभी सफलता प्राप्त कर सकता है, जब वह पुण्य कर्म के फलोपभोग (इष्ट वस्तु की प्राप्ति) में कुशल-गर्व-शून्य और पाप कर्म के फलोपभोग (अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति) में धीरवीर हो ॥१॥

पुण्य पाप कर्मों के फल इष्ट-अनिष्ट वस्तु के उपभोग के समय कुशलता का उत्पादक गुण (संपत्ति में गर्व-शून्यता और विपत्तियों में धैर्य धारण करना) 'शम' एवं कार्यारंभ किये जाने वाला उद्योग 'व्यायाम' कहा जाता है ॥२॥

प्राणियों द्वारा पूर्वजन्म में किये हुए पुण्य व पाप कर्म को 'दैव' (भाग्य) कहते हैं ॥३॥

व्यास[१] ने कहा है कि जिसने पूर्व जन्म में दान, अध्ययन व तप किया है, वह पूर्वकालीन अभ्यास वश इस जन्म में भी उसी प्रकार पुण्य कर्म में प्रवृत्ति करता है ॥३॥

---

१. तथा च व्यासः-येन यच्चकृतं पूर्वं दानमध्ययनं तपः। तेनैवाभ्यासयोगेन तच्चैवाभ्यस्यते पुनः ॥१॥

नीतिपूर्ण (अहिंसा व सत्य-आदि) व अनीति-पूर्ण (विश्वासघात आदि) कार्यों में किये जानेवाले उद्योग को 'पुरुषार्थ' कहते हैं, परन्तु कर्त्तव्य दृष्टि से विवेकी पुरुषों को श्रेय प्राप्ति के लिए नीतिपूर्ण सत् कार्य करने में ही प्रयत्नशील होना चाहिए ॥४॥

गर्ग[१] ने नीतिपूर्ण सत्कार्य करने का उल्लेख करते हुए अनीति-युक्त असत्कार्य करने का निषेध किया है ॥

भाग्य पुरुषार्थ दोनों से ही प्राणियों की प्रयोजन सिद्धि होती है, एक से नहीं। सारांश यह है कि लोक में मनुष्यों को अनुकूल भाग्य व नीति-पूर्ण पुरुषार्थ से इष्ट-सिद्धि और प्रतिकूल भाग्य व अनीतियुक्त पुरुषार्थ से अनिष्टसिद्धि होती है, केवल भाग्य व पुरुषार्थ से नहीं ॥५॥

समन्तभद्राचार्य[२] ने भी कहा है कि जो लोग अनुकूल व प्रतिकूल भाग्य द्वारा ही इष्ट व अनिष्ट पदार्थ की सिद्धि मानते हैं, उनके यहाँ जब उद्योग नगण्य है, तब नीति-पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा अनुकूल भाग्य और अनीति-युक्त पुरुषार्थ द्वारा प्रतिकूल भाग्य का सम्पादन नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार भाग्य द्वारा परंपरा अक्षुण्ण चालू रहने से सांसारिक व्याधियों के कारण कर्मों का नैतिक पुरुषार्थ द्वारा ध्वंस न होने से मुक्ति श्री की प्राप्ति नहीं हो सकती। एवं लौकिक-कृषि-व्यापारादि व धार्मिक दान, शीलादि कार्यों की सिद्धि के लिए किया जाने वाला पुरुषार्थ (उद्योग) निरर्थक हो जायगा।

इसी प्रकार जो लोग पुरुषार्थ से ही अर्थ-सिद्धि मानते हैं, उनके यहाँ दैव प्रामाण्य से पुरुषार्थ निष्फल नहीं होना चाहिए और समस्त प्राणियों का पुरुषार्थ सफल होना चाहिए। अतः अर्थ सिद्धि में भाग्य और पुरुषार्थ दोनों की उपयोगिता है, एक की नहीं। साथ में यह ध्यान देने योग्य है कि जिस समय मनुष्यों को इष्ट (सुखादि) व अनिष्ट (दुःखादि) पदार्थ बिना उद्योग किये अचानक प्राप्त होते हैं, वहाँ उनका अनुकूल व प्रतिकूल भाग्य ही कारण समझना चाहिए, वहाँ पुरुषार्थ गौण है। इसी प्रकार पुरुषार्थ के जरिये होने वाले सुख-दुःखादि में नीति-अनीतिपूर्ण पुरुषार्थ कारण है वहाँ दैव गौण है। अभिप्राय यह है कि इष्ट-अनिष्ट पदार्थ की सिद्धि में अनुकूल प्रतिकूल भाग्य व नीति-अनीतियुक्त पुरुषार्थ इन दोनों की उपयोगिता है, केवल एक की नहीं ॥१३॥

गुरु[३] ने भी भाग्य व पुरुषार्थ द्वारा अर्थ सिद्धि होने का निर्देश किया है ॥१॥

विवेकी मनुष्य को भाग्य के भरोसे ही बैठकर लौकिक (कृषि व्यापारादि) तथा धार्मिक

---

१. तथा च गर्गः—नयो वाप्यनयो वापि पौरुषेण प्रजायते। तस्मान्नयः प्रकर्त्तव्यो नानयश्च विपश्चिता ॥१॥

२. तथा च समन्तभद्राचार्यः—दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषतः कथ। दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥१॥
पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथं। पौरुषाच्चेदमोघं स्यात्सर्वप्राणिषु पौरुषं ॥२॥
अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः। बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥३॥
(आप्तमीमांसायाम्)

३. तथा च गुरुः—यथा नैकेन हस्तेन ताला संजायते नृणाम्। तथा न जायते सिद्धिरेकेनैव च कर्मणा ॥१॥

(दाम शीलादि) कार्यों में नीति-पूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिए॥ ६॥

बल्लभदेव[१] ने भी उद्योग द्वारा आर्थिक लाभ का विवेचन करते हुए भाग्य भरो से न बैठकर पुरुषार्थ करने का संकेत किया हैं ॥१॥

दूसरे कार्य की सिद्धि के विषय में सोचने वाले व्यक्ति को बिना विचारे अचानक ही अगर किसी इष्ट अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति हो जाती है, तो उसे भाग्याधीन समझना चाहिए ॥७॥

शुक्र[२] ने भी अचानक प्राप्त हुई इष्ट अनिष्ट अर्थ-सिद्धि को भाग्याधीन कहा है ॥१॥

मनुष्य बुद्धिपूर्वक सुखदायक पदार्थों की प्राप्ति व कष्टदायक पदार्थों से निवृत्ति करता है, वह उसके नैतिक पुरुषार्थ पर निर्भर है॥ ८॥

शुक्र[३] ने भी बुद्धिपूर्वक सम्पन्न किये हुए कार्यों को पुरुषार्थ के अधीन बताया है ॥१॥ भाग्य अनुकूल होने पर भी यदि मनुष्य उद्योग-हीन (आलसी) है तो उसका कल्याण नहीं हो सकता, सारांश यह है कि विवेकी पुरुष भाग्य भरोसे न बैठ कर सदा लौकिक व धार्मिक कार्यों में पुरुषार्थ करता रहे, इससे उसका कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं॥ ९॥

वल्लभदेव[४] ने भी उद्योग द्वारा कार्यसद्धि होने का समर्थन किया है ॥१॥

जिस प्रकार भाग्य-वश प्राप्त हुआ अन्न भाग्य के भरोसे रहने वाले व्यक्ति के मुख में स्वयं प्रविष्ट नहीं होता, किन्तु हस्त-संचालन आदि पुरुषार्थ द्वारा ही प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार केवल भाग्य के भरोसे रहने वाले मनुष्य को कार्य में सफलता नहीं मिलती, किन्तु पुरुषार्थ करने से ही मिलती है ॥१०॥

भागुरि[५] ने भी भाग्यवश प्राप्त हुए अन्न का दृष्टान्त दे कर उद्यम करने का समर्थन किया है॥

जिस प्रकार धनुष अपनी डोरी पर बाणों को स्वयं पुरुष प्रयत्न के बिना स्थापन नहीं कर सकता, उसी प्रकार भाग्याधीन पुरुष भी उद्योग के बिना किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता ॥११॥

जैमिनि[६] के उद्धरण से भी उक्त दृष्टान्त द्वारा उद्योग करने का समर्थन होता है ॥१॥

पुरुषार्थ का सहारा लेकर कार्यारम्भ करने वाले मनुष्य को इष्ट-सिद्धि (आर्थिक लाभ आदि) व अनर्थ (आर्थिक हानि आदि) होने में संदेह रहता है। सारांश यह हैं कि उद्यमी पुरुष व्यापारादि

---

१. तथा च वल्लभ देवः-उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमितिकापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या; यत्ने कृते यदि सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः-अन्यच्चिन्तयमानस्य यदन्यदपि जायते। शुभं वा यदि वा पापं ज्ञेयं दैवकृतं च तत् ॥१॥

३. तथा च शुक्रः-बुद्धिपूर्वं तु यत्कर्म क्रियतेऽत्र शुभाशुभं। नरायत्तं च तज्ज्ञेयं सिद्धं वासिद्धमेव च ॥१॥

४. तथा च वल्लभदेवः-उद्यमेन हि सिदध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः। न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।

५. तथा भागुरिः-प्राप्तं दैववशादन्नं क्षुधार्तस्यापि चेच्छुभं। तावन्न प्रविशेद् वक्त्रे यावत्प्रेषति नोत्करः ॥१॥

६. तथा च जैमिनिः-नोद्यमेन बिना सिद्धिं कार्यं गच्छति किंचन। यथा चापं न गच्छन्ति उद्यमेन बिना शराः ॥१॥

कार्य आरम्भ करता है, परन्तु इसमें मुझे आर्थिक लाभ (मुनाफा) होगा या नहीं ? अथवा इसमें मुझे हानि (घाटा) तो नहीं हो जायेगा ? इस प्रकार शङ्कित रहता हैं। कर्त्तव्य दृष्टि से अभिप्राय यह है कि पुरुषार्थी (उद्योगशील) पुरुष की अर्थ सिद्धि भाग्य की अनुकूलता पर ही निर्भर है, परन्तु भाग्य की अनुकूलता व प्रतिकूलता का निश्चय पुरुषार्थ किये बिना नहीं होता अतएव विवेकी पुरुष को नैतिक पुरुषार्थ द्वारा सदा कर्त्तव्यशील होना चाहिए ॥१२॥

वशिष्ठ[१] ने भी पुरुषार्थी को शङ्कित बताते हुए पुरुषार्थ की ओर प्रवृत्त कराया है ॥१॥

जो मनुष्य भाग्य के भरोसे रहता है, उसका अकर्मण्यता के कारण अनर्थ होना निश्चित ही है ॥१३॥

नारद[२] ने भी देव को प्रमाण मानने वाले उद्योग-शून्य मनुष्य का अनर्थ होना बताया है ॥१॥

जिस प्रकार आयु और योग्य औषधि का मिलाप जीवन-रक्षा करता है, उसी प्रकार भाग्य व पुरुषार्थ दोनों का संयोग भी मनोवांछित वस्तु उत्पन्न करता है। अर्थात् जिस प्रकार आयु रहने पर ही योग्य औषधि बीमार को स्वास्थ्य प्रदान करती है, आयु के बिना नहीं, उसी प्रकार भाग्य की अनुकूलता होने पर किया हुआ पुरुषार्थ मनुष्य को इष्ट-सिद्धि प्रदान करता है, भाग्य की प्रतिकूलता में नहीं ॥१४॥

भारद्वाज[३] ने भी आयु के बिना सैकड़ों औषधियों का सेवन निरर्थक बताया है ॥१॥

धर्म का परिणाम व धार्मिक राजा की प्रशंसा-

अनुष्ठीयमानः स्वफलमनुभावयन्न कश्चिद्धर्मोऽधर्ममनुवध्नाति ॥१५॥ त्रिपुरुषमूर्तित्वान्न भूभुजः प्रत्यक्षं दैवमस्ति ॥१६॥ प्रतिपन्न-प्रथमाश्रमः परे ब्रह्मणि निष्णातमतिरुपासितगुरुकुलः सम्यग्विद्यायामधीती कौमारवयोऽलंकुर्वन् क्षत्रपुत्रो भवति ब्रह्मा ॥१७॥ संजातराज्यकुलक्ष्मीदीक्षाभिषेकं स्वगुणैः प्रजास्वनुरागं जनयन्तं राजानं नारायणमाहुः ॥१८॥

प्रवृद्धः प्रतापतृतीयलोचनानलः परमैश्वर्यमातिष्ठमानो राष्ट्रकण्टकान् द्विषद्दानवान् छेत्त यतत विजिगीषुभूपतिर्भवति पिनाकपाणिः ॥१९॥

अर्थ—जब मनुष्यों द्वारा धर्म (अहिंसा व सत्य आदि) पालन किया जाता है तब वह (धर्म) उन्हें अपना फल देता है उनके पाप ध्वंस करता है और अधर्म (पाप) उत्पन्न नहीं करता। अर्थात्-धर्मानुष्ठान करने वाले को अधर्म नहीं होता, क्योंकि धर्मरूपी सूर्य के उदय होने पर पापरूपी अंधेरा

---

१. तथा च वशिष्ठः-पौरुषमाश्रितलोकस्य नूनमेकतमं भवेत्। धनं वा मरणं वाथ वशिष्ठस्य वचो यथा ॥१॥

२. तथा च नारदः-प्रमाणीक्रत्य यो दैवं नोद्यमं कुरुते नरः। स नूनं नाशमायाति नारदस्य वचो यथा ॥१॥

३. तथा च भारद्वाजः-विनायुषं न जीवेत भेषजानां शतैरपि। न भेषजैर्विना रोगः कथञ्चिदपि न शाम्यति ॥१॥

न तो रह सकता है और न उत्पन्न ही हो सकता है। अतः प्रत्येक प्राणी को सांसारिक व्याधियों के कारण पापों की निवृत्ति के लिए धर्मानुष्ठान करना चाहिए ॥१५॥

भगवज्जिनसेनचार्य[१] ने भी अहिंसा, सत्य, क्षमा, शौच, तृष्णा का त्याग, सम्यग्ज्ञान व वैराग्य सम्पत्ति को धर्म और इन से विपरीत हिंसा व झूठ आदि को अधर्म बताते हुए बुद्धिमानों को अनर्थ परिहार (दुःखों से छूटना) की इच्छा से धर्मानुष्ठान करने का उपदेश दिया है ॥१॥

राजा ब्रह्मा, विष्णु और महेश की मूर्ति है, अतः इससे दूसरा कोई प्रत्यक्ष देवता नहीं है ॥१६॥

मनु[२] ने भी शुभाशुभ कर्मों का फल देने के कारण राजा को सर्वदेवतामय माना है ॥१॥

जिसने प्रथमाश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम को स्वीकार किया है, जिसकी बुद्धि परब्रह्म ईश्वर या ब्रह्मचर्यव्रत) में आसक्त है, गुरुकुल की उपासना करने वाला एवं समस्त राज-विद्याओं (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता व दण्डनीति) का वेत्ता विद्वान् तथा युवराज पद से अलंकृत ऐसा क्षत्रिय का पुत्र राजा ब्रह्मा के समान माना गया है ॥१७॥

राज्य लक्ष्मी की दीक्षा से अभिषिक्त, अपने शिष्टपालन व दुष्टनिग्रह आदि सद्‌गुणों के कारण प्रजा में अपने प्रति अनुराग उत्पन्न करने वाला राजा विष्णु के समान नीति कारों द्वारा कहा गया है ॥१८॥

व्यास[३] ने भी राजा को विष्णु माना है ॥१॥

बढ़ी हुई है प्रताप रूपी तृतीय नेत्र की अग्नि जिसकी, परमैश्वर्य को प्राप्त होने वाला, राष्ट्र के कण्टक शत्रु रूप दानवों के संहार करने में प्रयत्न शाल ऐसा विजिगीषु राजा महेश के समान माना गया है ॥१६॥

राजा कर्त्तव्य (उदासीन आदि राजमण्डल की देख-रेख) उदासीन, मध्यस्थ, विजिगीषु, अरि, पार्ष्णिग्राह, आसार व अन्तर्द्धि का लक्षण-

उदासीन-मध्यम-विजगीषु-अमित्रमित्रपार्ष्णिग्राहाक्रन्दासारान्तर्द्धयो यथासम्भवगुणगणविभवतारतम्यान्मण्डलानामधिष्ठातारः ॥२०॥ अग्रतः पृष्ठतः कोणे वा सन्निकृष्टे वा मण्डले स्थितोमध्यमादीनां विग्रहीतानां निग्रहे संहितानामनुग्रहे समर्थोऽपि केनचित् कारणेनान्यस्मिन् भूपतौ विजिगीषुमाणो य उदास्ते स उदासीनः ॥२१॥

---

१. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः-
धर्मः प्राणिदया सत्यं क्षान्तिः शौचं वितृप्तता। ज्ञानवैराग्यसंपत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः धर्मेकपरतां धत्ते बुद्धोऽनर्थजिहासया।
आदि पुराण पर्व १०

२. तथा च मनुः-सर्वदेवमयो राजा सर्वेभ्योऽप्यधिकोऽथवा। शुभाशुभफलं सोऽत्र देयाद्देवो भवान्तरे ॥१॥

३. तथा च व्यासः-नाविष्णुः पृथ्वीपतिः

उदासीनवदनियतमण्डलोऽपरभूपापेक्षया समधिकबलोऽपि कुतश्चित् कारणादन्यस्मिन् नृपतौ विजिगीपुमाणेयो-मध्यस्थभावमवलम्बतेस मध्यस्थः॥२२॥ राजात्मदैवद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नो नयविक्रमयोरधिष्ठानं विजिगीषुः ॥२३॥ य एव स्वस्याहितानुष्ठानेन प्रतिकूल्यमियर्ति स एवारिः॥२४॥ मित्रलक्षणमुक्तमेव पुरस्तात् ॥२५॥ यो विजिगीषौ प्रस्थितेऽपि प्रतिष्ठमाने वा पश्चात् कोपं जनयति स पार्ष्णिग्राहः॥२६॥ पार्ष्णिग्राहाद्यः पश्चिमः स आक्रन्दः ॥२७॥ पार्ष्णिग्राहामित्रमासार आक्रान्द मित्रं च[१]॥२८॥ अरि विजिगीषोर्मण्डलान्त-र्विहितवृत्तिरुभयचेतनः पर्वताटवी कृताश्रयश्चान्तर्द्धिः॥२९॥

अर्थ—राजमण्डल के अधिष्ठाता उदासीन, मध्यम, विजिगीषु, अरि, मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, आसार व अन्तर्द्धि हैं, जो कि यथायोग्य गुणसमूह और ऐश्वर्य के तारतम्य से युक्त होते हैं। सारांश यह है कि विजिगीषु इनको अपने अनुकूल रखने का प्रयत्न करे॥ २०॥ अपने देश में वर्तमान जो राजा किसी अन्य विजिगीषु राजा के आगे पीछे या पार्श्वभाग में स्थित हो और मध्यम आदि युद्ध करने वालों के निग्रह करने में और उन्हें युद्ध से उन्हें रोकने में सामर्थ्यवान होने पर भी किसी कारण से या किसी अपेक्षा वश दूसरे विजिगीष राजा के विषय में जो उपेक्षा करता है–उससे युद्ध नहीं करता–उसे 'उदासीन' कहते हैं॥ २१॥ जो उदासीन की तरह मर्यादातीत मंडल का रक्षक होने से अन्य राजा की अपेक्षा प्रबल सैन्य से शक्तिशाली होने पर भी किसी कारण वश (यदि मैं एक की सहायता करूंगा तो दूसरा मुझसे वैर बाँध लेगा–इत्यादि) विजय की कामना करने वाले अन्य राजा के विषय में मध्यस्थ बना रहता है उससे युद्ध नहीं करता–वह 'मध्यस्थ' कहा गया है॥२२॥ जो राज्याभिषेक से अभिषिक्त हो चुका हो, और भाग्यशाली, खजाना, अमात्य आदि प्रकृति–युक्त हो एवं राजनीति में निपुण व शूरवीर हो, उसे 'विजिगीषु' कहते हैं॥२३॥ जो अपने निकट सम्बन्धियों का अपराध करता हुआ कभी भी दुष्टता करने से बाज नहीं आता उसे 'अरि' (शत्रु) कहते हैं॥२४॥ पिछले मित्र समुद्देश में 'जो मित्र' का लक्षण निरूपण किया गया है उस लक्षण वाले को मित्र समझना चाहिए॥२५॥ विजिगीषु के शत्रु भूत राजा के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान करने पर बाद में जो क्रुद्ध होकर उसके देश को नष्ट भ्रष्ट कर डालता है, उसे 'पार्ष्णिग्राह, कहते हैं॥ २६॥ जो पार्षिणग्राह से बिल्कुल विपरीत चलता है–विजिगीषु को विजय यात्रा में जो हर तरह से सहायता पहुँचाता है, उसे 'आक्रन्द' कहते हैं? क्यों कि प्रायः समस्त सीमाधिपति मित्रता रखते हैं, अतः वे सब आक्रन्द हैं ॥२७॥ जो पार्ष्णिग्राह का विरोधी और आक्रन्द से मैत्री रखता है–वह 'आसार' है॥ २८॥ शत्रु राजा का व विजिगीषु राजा इन दोनों के देश में है जीविका

१. उक्त पाठ मु. मू. ''पुस्तक से संकलन किया गया है, सं.टी. पुस्तक में पाणिग्राह मित्रमित्यादि पाठ है।–संपादक

जिसकी–दोनों तरफ से वेतन पाने वाला पर्वत व अटवी में रहने वाला 'अन्तर्द्धि' है ॥२९॥

युद्ध करने योग्य शत्रु, व उसके प्रति राजकर्त्तव्य, शत्रुओं के भेद, शत्रता भित्रता का करण व मन्त्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति का कथन, व उक्त शक्तित्रय की अधिकता आदि से विजिगीषु की श्रेष्ठता आदि–

अराजबीजी लुब्धः क्षुद्रो विरक्तप्रकृतिरन्यायपरो व्यसनी विप्रतिपन्नमित्रामात्यसामन्तसेनापतिः शत्रुरभियोक्तव्यः॥ ३०॥ अनाश्रयो दुर्बलाश्रयो वा शत्रुरुच्छेदनीयः॥ ३१॥ विपर्ययो निष्पीडनीयः कर्षयेद्वा ॥३२॥ सभामिजनः सहजशत्रुः ॥३३॥ विरोधो विरोधयिता वा कृत्रिमः शत्रुः॥ ३४॥ अनन्तरेः शत्रुरेकान्तरं मित्रमिति नैषः एकान्तः कार्यं हि मित्रत्वामित्रत्वयोः कारणं न पुनर्विप्रकर्षासन्निकर्षौ॥ ३५॥ ज्ञानबलं मंत्रशक्तिः[१] ॥३६॥ बुद्धिशक्तिरात्मशक्तेरपि गरीयसी॥ ३७॥ शशकेनेव सिंहव्यापादनमत्र दृष्टान्तः॥ ३८॥ कोषदण्डबलं प्रभुशक्तिः॥ ३९॥ शुद्रकशक्तिकुमारौ दृष्टान्तौ ॥४०॥ विक्रमो बलं चोत्साहशक्तिस्तत्र रामो दृष्टान्तः॥ ४१॥ शक्तित्रयोपचितो ज्यायान् शक्तित्रयापचितो हीनः समानशक्तित्रयः समः॥ ४२॥

अर्थ—जो जार से उत्पन्न हो अथवा जिसके देश का पता मालूम न हो, लोभी, दुष्ट हृदय-युक्त जिससे प्रजा ऊब गई हो, अन्यायी, कुमार्गगामी, जुआ व मद्यपान आदि व्यसनों में फँसा हुआ, मित्र, अमात्य, सामन्त व सेनापति आदि राजकीय कर्मचारीगण जिससे विरुद्ध हों, इस प्रकार के शत्रुभूत राजा पर विजिगीषु को आक्रमण कर विजयश्री प्राप्त कर लेनी चाहिए ॥३०॥

शुक्र[२] विद्वान् ने भी उक्त दोष वाले शत्रु राजा को विजिगीषु द्वारा हमला करने योग्य बताया है ॥१॥

विजिगीषु को आश्रयहीन (सहायकों से रहित) व दुर्बल आश्रय वाले शत्रु से युद्ध करके उसे नष्ट कर देना चाहिए ॥३१॥

शुक्र[३] ने भी उक्त प्रकार से शत्रु को नष्ट करने के विषय में लिखा है। यदि कारणवश शत्रु से संधि (मित्रता) हो जावे, तो भी विजिगीषु भविष्य के लिए अपना मार्ग निष्कण्टक बनाने के लिए उसका समस्त धन छीन ले या उसे इस तरह दलित व शक्तिहीन कर डाले, जिससे वह पुनः अपना सिर न उठा सके ॥३२॥

---

१. उक्त पाठ प्राकरिणिक होने के कारणा मु. मू. प्रति से संकलन किया गया है।–सम्पादक

२. तथा च शुक्रः–विरक्तप्रकृतिर्वैरी व्यसनी लोभसंयुतः। क्षुद्रोऽमात्यादिभिर्मुक्तः स गम्यो विजिगीषुणां ॥१॥

३. तथा च शुक्रः–अनाश्रयो भवेच्छत्रुर्यो वा स्याद्दुर्बलाश्रयः। तेनैव सहितः सोऽत्र निहन्तव्यो जिगीषुणा ॥१॥

गुरु[१] ने भी सन्धि प्राप्त शत्रु राजा के प्रति विजिगीषु का यही कर्त्तव्य निर्देश किया है ॥१॥

अपने ही कुल का (कुटुम्बी) पुरुष राजा का स्वाभाविक शत्रु है क्यों कि वह ईर्ष्यावश उसका उत्थान कभी न देख कर हमेशा पतन के विषय में उसी प्रकार सोचा करता है, जिस प्रकार बिलाव चूहे की कभी भी भलाई न सोचकर उसे अपना आहार बना डालता है ॥३३॥

नारद[२] ने विजिगीषु के गोत्रज पुरुषों को उसका स्वाभाविक शत्रु बताया है ॥१॥

जिसके साथ पूर्व में विजिगीषु द्वारा वैर विरोध उत्पन्न किया गया है तथा जो स्वयं आकर विजिगीषु से वैर विरोध करता है–ये दोनों उसके कृत्रिम शत्रु हैं। यदि ये बलहीन हैं, तो इनके साथ विजिगीषु को युद्ध करना चाहिए और यदि प्रबल सैन्य-शक्ति-सम्पन्न हैं तो उन्हें सामनीति द्वारा सन्तुष्ट करना चाहिए ॥३४॥

गर्ग[३] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

दूरवर्ती (सीमाधिपति-आदि) शत्रु व निकटवर्ती मित्र होता है यह शत्रु, मित्र का सर्वथा लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि शत्रुता व मित्रता के अन्य ही कारण हुआ करते हैं, दूरवर्तीपन व निकटवर्तीपन नहीं। क्योंकि दूरवर्ती सीमाधीपति भी कार्यवश निकटवर्ती के समान शत्रु व मित्र हो सकते हैं ॥३५॥

शुक्र विद्वान्[४] ने भी शत्रुता व मित्रता के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

ज्ञानबल को मंत्र-शक्ति कहते हैं। शारीरिक बल से बुद्धिबल महान् व श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि इसके समर्थन में यह दृष्टान्त है कि बुद्धि बल में प्रवीण अल्प शारीरिक शक्तियुक्त किसी खरगोश ने प्रचंड शारीरिक शक्तिशाली शेर को भी बुद्धिबल से मार डाला। सारांश यह है कि विजिगीषु मंत्रशक्ति, प्रभुत्वशक्ति व उत्साहशक्ति से सम्पन्न होकर शत्रु से विजयश्री प्राप्त कर सकता है अन्यथा नहीं। उसमें शारीरिक बल की अपेक्षा बुद्धिबल की प्रधानता है ॥३६-३८॥

पंचतन्त्र[५] में भी बुद्धिबल को प्रधान बल बताया है।

जिस विजिगीषु के पास विशाल खजाना व हाथी, घोड़े, रथ व पैदल रूप चतुरंग सेना है, वह उसकी प्रभुत्वशक्ति है, जो कि उसे युद्ध भूमि में शत्रु को परास्त कर विजयश्री प्राप्त कराने में सहायक होती है ॥३९॥

शूद्रक व शक्तिकुमार के दृष्टान्त इस कथन को समर्थन करने वाले उज्ज्वल प्रमाण हैं। अर्थात्

---

१. तथा च गुरुः–शत्रुर्मित्रत्वमापन्नो यद्धि नो चिन्तयेच्छिवम्। तत्कुर्याद्विभवहीनं युद्धे वा तं नियोजयेत् ॥१॥

२. तथा च नारदः–गोत्रजः शत्रुः सदा... तत्पदवाञ्छकः। रोगस्येव न तद्विद्धं कदाचित्कारयेत्सुधीः ॥१॥

३. तथा च गर्गः–यदि हीनबलः शत्रुः कृत्रिमः संप्रजायते। तदा दण्डोऽधि को वा स्याद्देयो दण्डः स्वशक्तितः ॥१॥

४. तथा च शुक्रः–कार्यात्सीमाधिपो मित्रं भवेत्तत्परजो रिपुः। विजिगीषुणा प्रकर्तव्यः शत्रुमित्रोपकार्यतः ॥१॥

५. तथा च चोक्तं–यस्य बुद्धिर्बलं तस्य निर्बुद्धेश्च कुतो बलम्। वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः ॥१॥

शूद्रक नाम के विजिगीषु राजा ने अपनी खजाने की शक्ति से सुसज्जित व संगठित सैन्य द्वारा शक्तिकुमार नाम के शत्रु राजा को युद्ध में परास्त किया था यह उसकी प्रभुत्वशक्ति का ही माहात्म्य था ॥४०॥

विजिगीषु की पराक्रम व सैन्यशक्ति को 'उत्साह शक्ति' कहते हैं, उसके ज्वलन्त उदाहरण मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र हैं, जिन्होंने अपने पराक्रम व वानरवंशीय हनुमान-आदि सैनिकों की सहायता से रावण को युद्ध में परास्त किया था ॥४१॥

गर्ग[१] ने भी। उक्त उदाहरण देकर विक्रम व सैन्यशक्ति को 'उत्साहशक्ति' कहा है ॥१॥

जो विजगीषु शत्रु की अपेक्षा उक्त तीनों प्रकार की (प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति व उत्साहशक्ति) शक्तियों से अधिक (शक्तिशाली) होता है वह श्रेष्ठ है, क्योंकि उसकी युद्ध में विजय होती है, और जो उक्त शक्तित्रय से शून्य है, वह जघन्य है, क्योंकि वह शत्रु से हार जाता है एवं जो उक्त तीनों शक्तियों में शत्रु के समान है, वह सम है, उसे भी शत्रु से युद्ध नहीं करना चाहिए ॥४२॥

गुरु[२] ने भी समान शक्ति-युक्त विजिगीषु को युद्ध करने का निषेध किया है ॥१॥

षाड्गुण्य (सन्धि विग्रह-आदि) का निरूपण-

सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यं ॥४३॥ पणबन्धः सन्धिः ॥४४॥ अपराधो विग्रहः ॥४५॥ अभ्युदयो यानं ॥४६॥ उपेक्षणमासनं ॥४७॥ परस्यात्मार्पणं संश्रयः ॥४८॥ एकेन सह सन्धायान्येन सह विग्रहकरणमेकत्र वा शत्रौ सन्धानपूर्वं विग्रहो द्वैधीभावः ॥४९॥ प्रथमपक्षे सन्धीयमानो विगृह्यमाणो विजिगीषुरिति द्वैधीभावो बुद्ध्याश्रयः ॥५०॥

अर्थ—सन्धि (मैत्री करना) विग्रह-युद्ध करना, यान-शत्रु पर चढ़ाई करना, आसन-शत्रु की उपेक्षा करना व संश्रय-आत्म समर्पण करना ये राजाओं के षट् गुण है॥ ४३॥ जब विजिगीषु अपनी दुर्बलता वश बलिष्ठ शत्रु राजा के लिए धनादि देकर उससे मित्रता करता है, इसे 'सन्धि' कहते हैं ॥४४॥

शुक्र[३] ने सन्धि के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

विजिगीषु किसी के द्वारा किये हुए अपराध-वश युद्ध करता है वह विग्रह है ॥४५॥ विजिगीषु द्वारा शत्रु, पर आक्रमण किया जाना उसे 'यान' कहते हैं अथवा शत्रु को अपने से ज्यादा बलिष्ठ समझ कर किसी दूसरे स्थान पर चले जाना भी 'यान' है ॥४६॥ सबल शत्रु को आक्रमण करते तत्पर देखकर उसकी उपेक्षा करना (उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र चले जाना) आसन

१. तथा च गर्गः—सहजो विक्रमो यस्य सैन्यं बहुतर भवेत्। तस्योत्साहो तद्युद्धे या ?... दाशरथैः पुरा ॥१॥
२. तथा च गुरुः—समेनापि न योद्धव्यं यद्युपायत्रयं भवेत्। अन्योन्याहति ? यो संगो द्वाभ्यां सजायते यतः ॥१॥
३. तथा च शुक्रः—दुर्बलो बलिनं यत्र पणदानेन तोषयेत्। तावत्सन्धिर्भवेत्तस्य यावन्मात्रः प्रजल्पितः ॥१॥

कहलाता है ॥४७॥ बलिष्ठ शत्रु द्वारा देश पर आक्रमण होने पर जो उसके प्रति आत्मसमर्पण किया जाता है,उसे 'संश्रय' कहते हैं ॥४८॥ बलवान और निर्बल दोनों शत्रुओं द्वारा आक्रमण किये जाने पर विजिगीषु को बलिष्ठ के साथ सन्धि और निर्बल के साथ युद्ध करना चाहिए अथवा बलिष्ठ के साथ सन्धिपूर्वक जो युद्ध किया जाता है उसे द्वैधीभाव कहते हैं ॥४९॥ जब विजिगीषु अपने से बलिष्ठ शत्रु के साथ पहले मित्रता स्थापित कर लेता हैं और फिर कुछ समय बाद शत्रु के हीन शक्ति हो जाने पर उसी से युद्ध छेड़ देता है उसे बुद्धि-आश्रित 'द्वैधीभाव' कहते हैं, क्योंकि इससे विजिगीषु की विजय निश्चित रहती है ॥५०॥

सन्धि, विग्रह-आदि के विषय में विजिगीषु का कर्त्तव्य-

हीयमानः पणबन्धेन सन्धिमुपेयात् यदि नास्ति परेषां विपणितेऽर्थे मर्यादोल्लंघनम् ॥५१॥ अभ्युच्चीयमानः परं विगृह्णीयाद्यदि नास्त्यात्मबलेषु क्षोभः ॥५२॥ न मां परो हन्तुं नाहं परं हन्तुं शक्त इत्यासीत यद्यायत्यामस्ति कुशलम् ॥५३॥ गुणातिशययुक्तो यायाद्यदि न सन्ति राष्ट्रकण्टका मध्ये न भवति पश्चात्क्रोधः ॥५४॥ स्वमण्डलमपरिपालयतः परदेशाभियोगो विवसनस्य शिरोवेष्टनमिव ॥५५॥ रज्जुबलनमिव शक्तिहीनः संश्रयं कुर्याद्यदि न भवति परेषामामिषम् ॥५६॥

जब विजिगीषु शत्रु की अपेक्षा हीन शक्ति वाला हो, तो उसे शत्रु राजा के लिए आर्थिक दण्ड (धनादि) देकर उस हालत में सन्धि कर लेनी चाहिए जबकि उसके द्वारा प्रतिज्ञा की हुई व्यवस्था में मर्यादा का उल्लंघन न हो। अर्थात् शपथ-आदि खिलाकर भविष्य में विश्वासघात न करने का निश्चय करने के उपरान्त ही सन्धि करनी चाहिए, अन्यथा नहीं ॥५१॥

शुक्र[1] ने भी हीन शक्ति वाले विजिगीषु को शत्रु के लिए आर्थिक दण्ड देकर सन्धि करना बताया है ॥१॥

यदि विजिगीषु शत्रु राजा से सैन्य व कोप आदि में अधिक शक्तिशाली है और यदि उसकी सेना में क्षोभ नहीं है, तब उसे शत्रु से युद्ध छेड़ देना चाहिए ॥५२॥

गुरु[2] ने भी बलिष्ठ, विश्वासपात्र व सैन्यसहित विजिगीषु को युद्ध करने का निर्देश किया है ॥१॥

यदि विजिगीषु शत्रु द्वारा भविष्यकालीन अपनी कुशलता का निश्चय कर ले कि शत्रु मुझे नष्ट नहीं करेगा और न मैं शत्रु को, तब उसके साथ विग्रह न कर मित्रता ही करनी चाहिए ॥५३॥

---

१. तथा च शुक्रः-हीयमानेन दातव्यो दण्डः शत्रोर्जिगीषुणा। बलयुतेन यत्कार्यं तैः समं निधिनिनिश्वयो ? ॥१॥

२. तथा च गुरुः-यदि स्यादधिकः शत्रोविजिगीषु निजैर्बलैः। क्षोभेन रहितैः कार्यः शत्रुणा सिह विग्रहः ॥१॥

जैमिनि[१] ने भी उदासीन शत्रु राजा के प्रति युद्ध करने का निषेध किया है ॥१॥

विजिगीषु, यदि सर्वगुणसम्पन्न (प्रचुर सैन्य व कोप शक्तियुक्त) है एवं उसका राज्य निष्कंटक है तथा प्रजा–आदि का उस पर कोप नहीं है तो उसे शत्रु के साथ युद्ध करना चाहिए। अर्थात् उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि युद्ध करने से उसके राज्य को किसी तरह की हानि तो नहीं होगी ॥५४॥

भागुरि[२] ने भी गुण–युक्त व निष्कण्टक विजिगीषु, को शत्रु से युद्ध करने को लिखा है ॥१॥ जो राजा स्वदेश की रक्षा न कर शत्रु के देश पर आक्रमण करता हैं, उसका यह कार्य नंगे को पगड़ी बाँधने के समान निरर्थक हैं अर्थात् जिस प्रकार नंगे की पगड़ी बांध लेने पर भी उसके नंगे पन की निवृत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार अपने राज्य की रक्षा न कर शत्रु के देश पर हमला करने वाले राजा का भी संकटों में छुटकारा नहीं हो सकता ॥५५॥

विदुर[३] ने भी विजिगीषु को शत्रु–राष्ट्र को नष्ट करने के समान स्वराष्ट्र के परिपालन में प्रयत्न करने को कहा है ॥१॥

सैन्य व कोष आदि की शक्ति से क्षीण हुए विजिगीषु को यदि शत्रुभूत राजा व्यसनी नहीं है, तो उसके प्रति आत्मसमर्पण कर देना चाहिए ऐसा करने से निर्बल विजिगीषु उसी प्रकार शक्तिशाली हो जाता हैं जिस प्रकार अनेक तन्तुओं के आश्रय से रस्सी में मजबूती आ जाती हैं ॥५६॥

गुरु[४] ने भी शक्तिहीन राजा को शक्तिशाली शत्रु के प्रति आत्मसमर्पण करना बताया हैं ॥१॥

शक्तिहीन व अस्थिर के आश्रय से हानि, स्वाभिमानी का कर्त्तव्य, प्रयोजन–वश विजिगीषु का कर्त्तव्य राजकीय कार्य व द्वैधीभाव–

बलवद्भयादबलवदाश्रयणं हस्तिभयादेरण्डाश्रयणमिव॥ ५७॥ स्वयमस्थिरेणास्थिराश्रयणं नद्यां वहमानन वहमानस्याश्रयणमिव॥ ५८॥ वरं मानिनो मरणं न परेच्छानुवर्तनादात्म विक्रयः ॥५९॥ आयतिकल्याणे सति कस्मिंश्चित्सम्बन्धे परसंश्रयः श्रेयान्॥ ६०॥ निधानादिव न राजकार्येषु कालनियमोऽस्ति ॥६१॥ मेघवदुत्थानं राजकार्याणामन्यत्र च शत्रोः सन्धिविग्रहाभ्याम्॥ ६२॥ द्वैधीभावं गच्छेद् यदन्योवश्यमात्मना सहोत्सहते ॥६३॥

अर्थ–शक्तिहीन विजिगीषु शक्तिशाली ही आश्रय लेवे, शक्तिहीन (निर्बल) का नहीं, क्योंकि

---

१. तथा च जैमिनिः–न विग्रहं स्वयं कुर्यादुदासीने परे स्थिते। बलाढ्येनापि यो न स्यादायत्यां चेष्टितं शुभं ॥१॥

२. तथा च भागुरिं–गुणयुक्तोऽपि भूपालोऽपि यायाद्विद्विषोपरि ? यद्येतेन हि राष्ट्रस्य वहवः शत्रवोऽपरे ॥१॥

३. तथा च विदुरः–य एव यत्नः कर्तव्यः परराष्ट्रविमर्दने। स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने॥ १॥

४. तथा च गुरुः–स्याद्यदा शक्तिहीनस्तु विजिगीषु हि वैरिणः। संश्रयीत तदा चान्यं बलाय व्यसनच्युतात् ॥१॥

जो विजिगीषु बलिष्ठ शत्रु के आक्रमण के भय से बलहीन का आश्रय लेता हैं, उसकी उसी प्रकार हानि होती हैं, जिस प्रकार हाथी द्वारा होने वाले उपद्रव के डर से एरण्ड पर चढ़ने वाले मनुष्य की तत्काल हानि होती हैं अर्थात् जिस प्रकार हाथी के आक्रमण के भय से बचाव करने वाला निस्सार एरण्ड के वृक्ष पर चढ़ने से एरण्ड के साथ-साथ पृथ्वी पर गिर जाता है और पश्चात् हाथी द्वारा नष्ट कर दिया जाता है, उसी प्रकार बलवान् शत्रु के आक्रमण के डर से बचने वाला विजिगीषु शक्तिहीन का आश्रय लेने से उसके साथ-साथ नष्ट कर दिया जाता है-बलिष्ठ शत्रु द्वारा मार दिया जाता हैं। सारांश यह है कि एरण्ड समान निस्सार (शक्तिहीन) के आश्रय से भविष्य में होने वाला अनर्थ तत्काल हो जाता है ॥५७॥

भागुरि[१] ने भी शक्तिहीन के आश्रय से विजिगीषु की इसी प्रकार हानि बताई है ॥१॥ शत्रु द्वारा सताया गया विजिगीषु जब अपने समान शत्रु द्वारा सताये हुए अन्य राजा का आश्रय लेता है, तो वह उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार नदी में बहने या डूबने वाला दूसरे बहने या डूबने वाले व्यक्ति का आश्रय लेने से नष्ट हो जाता है। अतः प्रस्थिर (शत्रु-परित्रस्त-क्षीणशक्ति) को स्थिर का ही आश्रय लेना चाहिए, अस्थिर का नहीं॥ ५८॥

नारद[२] ने भी क्षीणशक्ति वाले का आश्रय लेने से इसी प्रकार हानि बताई है ॥१॥

स्वाभिमानी को मर जाना अच्छा, परन्तु पराई इच्छापूर्वक अपने को बेचना अच्छा नहीं, अतः स्वाभिमानी को शत्रु के लिए आत्मसमर्पण करना उचित नहीं ॥५९॥

नारद[३] ने भी शत्रु को आत्मसमर्पण करने की अपेक्षा स्वाभिमानी के लिए मृत्यु प्राप्त करना ही अधिक श्रेष्ठ बताया है ॥१॥

यदि विजिगीषु का भविष्य में कल्याण निश्चित हो तो उसे किसी विषय में शत्रु की अधीनता स्वीकार करना श्रेष्ठ है॥ ६०॥

हारीत[४] ने भी उक्त प्रयोजन-वश शत्रु संश्रय को श्रेयस्कर बताया है ॥१॥

जिस प्रकार खजाना मिलने पर उसी समय उसे ग्रहण किया जाता है, उसमें समय का उल्लंघन नहीं किया जाता उसी प्रकार राजसेवकों को भी राजकीय कार्यों के सम्पादन करने में समय नहीं चुकाना चाहिए, किन्तु तत्काल सम्पन्न कर लेना चाहिए॥ ६१॥

गौतम[५] ने भी राजसेवकों का यही कर्तव्य बताया है ॥१॥

जिस प्रकार नभ मण्डल में मेघ (बादल) अचानक ही उठ जाते हैं, उसी प्रकार राजकीय कार्यों

---

१. तथा च भागुरिः- स बलाढ्यस्य बलाद्धीनं यो बलेन समाश्रयेत्। स तेन सह नश्येत यथैरण्डाश्रयो गजः ॥१॥
२. तथा च नारदः-बलं बलाश्रिनेनैव सह नश्यति निश्चितं। नीयमानो यथा नद्यां नीयमानं समाश्रितः ॥१॥
३. तथा च नारदः-वरं वनं वरं मृत्युः साहंकारस्य भूपतेः। न शत्रोः संश्रयाद्राज्यं... कार्यं कथंचन ॥१॥
४. तथा च हारीतः-परिणामं शुभ ज्ञात्वा शत्रुजः संश्रयोऽपि च। कस्मिंश्चिद्विषये कार्यः सततं न कथंचन॥ १॥
५. तथा च गौतमः-निधानदर्शने यद्वत्कालक्षेपो न कार्यते। राजकृत्येषु सर्वेषु तथा कार्यः सुसेवकैः ॥१॥

की उत्पत्ति अचानक ही हुआ करती है, अतएव सन्धि व विग्रह को छोड़कर अन्य राजकीय कार्यों को सम्पन्न करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए ॥६२॥

गुरु[१] ने भी संधि विग्रह को छोड़कर अन्य राजकीय कार्य मेघ सदृश अचानक प्राप्त होने वाले व तत्काल करने योग्य बताये हैं ॥१॥

जब विजिगीषु को यह मालूम हो जावे कि आक्रमणकारी का शत्रु उसके साथ युद्ध करने को तैयार है, (दोनों शत्रु परस्पर में युद्ध कर रहे हैं) तब इसे द्वैधीभाव (बलिष्ठ से सन्धि व निर्बल से युद्ध) अवश्य करना चाहिए ॥६३॥

गर्ग[२] ने भी द्वैधीभाव करने का यही मौका बताया है ॥१॥

दोनों बलिष्ठ विजिगीषुओं के मध्यवर्ती शत्रु, सीमाधिपति प्रति विजिगीषु का कर्त्तव्य, भूमिफल (धान्यादि) देने से लाभ व भूमि देने से हानि, चक्रवर्ती होने का कारण तथा वीरता से लाभ–

बलद्वयमध्यस्थितः शत्रुरुभयसिंहमध्यस्थितः करीव भवति सुखसाध्यः॥६४॥ भूम्यर्थिनं भूफलप्रदानेन संदध्यात् ॥६५॥ भूफलदानमनित्यं परेषु भूमिर्गता गतैव ॥६६॥ अवज्ञयापि भूमावारोपितस्तरुर्भवति वद्धतलः ॥६७॥ उपायोपपन्नविक्रमोऽनुरक्तप्रकृतिरल्पदेशोऽपि भूपतिर्भवति सार्वभौमः॥६८॥ न हि कुलागता कस्यापि भूमिः किन्तु वीरभोग्या वसुन्धरा ॥६९॥

अर्थ—दोनों विजिगीषुओं के बीच में घिरा हुआ शत्रु, दो शेरों के बीच में फँसे हुए हाथी के समान सरलता से जीता जा सकता है ॥६४॥

शुक्र[३] ने भी दोनों विजिगीषुओं से आक्रान्त शत्रु को सुखसाध्य बताया है ॥१॥

जब कोई सीमाधिपति शक्तिशाली हो और वह विजिगीषु की भूमि ग्रहण करने का इच्छुक हो तो उसे भूमि से पैदा होने वाली धान्य ही देकर उससे सन्धि कर लेनी चाहिए, न कि भूमि देकर॥ ६५॥

गुरु[४] ने भी शक्तिशाली सीमाधिपति के लिए भूमि न दे कर उससे उत्पन्न होने वाली धान्य देने को कहा है ॥१॥

क्योंकि भूमि में उत्पन्न होने वाली धान्य विनश्वर होने के कारण शत्रु के पुत्र-पौत्रादि द्वारा नहीं भोगी जा सकती, जब कि भूमि एक बार हाथ से निकल जाने पर पुनः प्राप्त नहीं हो सकती॥ ६६॥

---

१. तथा च गुरुः—राजकृत्यमचिन्त्यं यदकस्मादेव जायते। मेघवत् तत्क्षणत्कार्यं मुक्त्वैकं सन्धिविग्रहं ॥१॥

२. तथा च गर्गः—यद्यसौ सन्धिमादातुं युद्धाय कुरुते क्षणं। निश्चयेन तदा तेन सह सन्धिस्तथा रणम् ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—सिंहयोर्मध्ये यो हस्ती सुखसाध्यो यथा भवेत्। तथा सीमाधिपोऽन्येन विगृहीतो वशो भवेत् ॥१॥

४. तथा च गुरुः—सीमाधिपो बलोपेतो यदा भूमिं प्रयाचते। तदा तस्मै फलं देयं भूमेर्नैव धरां निजाम् ॥१॥

गुरु[१] ने भी बलिष्ठ शत्रुभूत राजा को भूमि को छोड़ कर उससे उत्पन्न हुई धान्यादि का देना कहा है जिस प्रकार तिरस्कार पूर्वक भी आरोपण किया हुआ वृक्ष पृथ्वी पर अपनी जड़ों के कारण से ही फैलता है, उसी प्रकार विजिगीषु द्वारा दी हुई पृथ्वी को प्राप्त करने वाला सीमाधिपति भी दृढ़मूल (शक्तिशाली) होकर पुनः उसे नहीं छोड़ता ॥६७॥

रैभ्य[२] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

साम-दामादि नैतिक उपायों के प्रयोग में निपुण, पराक्रमी व जिससे अमात्य-आदि राज-कर्मचारीगण एवं प्रजा अनुरक्त है, ऐसा राजा अल्प देश का स्वामी होने पर भी चक्रवर्ती के समान निर्भय माना गया है ॥६८॥ कुलपरम्परा से चली आने वाली पृथ्वी किसी राजा की नहीं होती, बल्कि वह वीर पुरुष द्वारा ही भोगने योग्य होती है, अतः राजा को पराक्रमशील होना चाहिए ॥६९॥

शुक्र[३] ने भी कहा है कि वंशपरंपरा से प्राप्त हुई पृथ्वी वीरों की है, कायरों की नहीं ॥१॥

सामआदि चार उपाय, सामनीति का भेदपूर्वक लक्षण, आत्मोपसन्धान रूप सामनीतिका स्वरूप, दान, भेद और दण्डनीति का स्वरूप, शत्रु के दूत के प्रति कर्तव्य व उसका दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण एवं शत्रु, के निकट सम्बन्धी के गृहप्रवेश से हानि-

सामोपप्रदानभेददण्डा उपायाः ॥७०॥ तत्र पंचविधं साम, गुणसंकीर्तनं सम्बन्धोपाख्यानं परोपकारदर्शनमायतिप्रदर्शनमात्मोपसन्धानमिति ॥७१॥ यन्मम द्रव्यं तद्भवता स्वकृत्येषु प्रयुज्यतामित्यात्मोपसन्धानं ॥७२॥ बह्वर्थसंरक्षणायाल्पार्थप्रदानेन परप्रसादनमुपप्रदानं ॥७३॥ योगतीक्ष्णगूढपुरुषोभयवेतनैः परबलस्य परस्परशंकाजननं निर्भर्त्सनं वा भेदः ॥७४॥ वधः परिक्लेशोऽर्थहरणं च दंडः ॥७५॥ शत्रोरागतं साधु परीक्ष्य कल्याणबुद्धिमनुगृह्णीयात् ॥७६॥ किमरण्यजमौषधं न भवति क्षेमाय ॥७७॥ गृहप्रविष्टकपोत इव स्वल्पोऽपि शत्रु सम्बन्धो लोकस्तंत्रमुद्वासयति ॥७८॥

अर्थ—शत्रुभूत राजा व प्रतिकूल व्यक्ति को वश करने के चार उपाय हैं, १. साम, २. उपप्रदान, ३. भेद व ४. दण्डनीति ॥७०॥ सामनीति के पाँच भेद हैं-१. गुणसंकीर्तन-प्रतिकूल व्यक्ति को अपने वशीभूत करने के लिए उसके गुणों का उसके समक्ष कथन द्वारा उसकी प्रशंसा करना, २. सम्बन्धोपाख्यान-जिस उपाय से प्रतिकूल व्यक्ति की मित्रता दृढ़ होती हो, उसे उसके प्रति कहना; ३. विरुद्ध व्यक्ति की भलाई करना, ४. आयतिप्रदर्शन-''हम लोगों की मैत्री का परिणाम भविष्य जीवन को सुखी

---

१. तथा च गुरुः-भूमिपस्य न दातव्या निजा भूमिर्वलीयसः। स्तोकापि वा भयं चेत् स्या-तस्माद्देयं च तत्फलम् ॥१॥

२. तथा च रैभ्यः-लीलयापि क्षितौ वृक्षः स्थापितो वृद्धिमाप्नुयात्। तस्या गुणेन नो भूपः कस्मादिह न वर्धते ॥१॥

३. तथा च शुक्रः-कातराणां न वश्या स्याद्यद्यपि स्यात् क्रमागता। परकीयापि चात्मीया विक्रमो यस्य भूपतेः ॥१॥

बनाना है'' इस प्रकार प्रयोजनार्थी को प्रतिकूल व्यक्ति के लिए प्रकट करना और ५. आत्मोपसन्धान– ''मेरा धन आप अपने कार्य में उपयोग कर सकते हैं '' इस प्रकार दूसरे को वश करने के लिए कहना ॥७१॥

व्यास[१] ने भी कहा है कि ''जिस प्रकार कर्कश वचनों द्वारा सज्जनों के चित्त विकृत नहीं होते, उसी प्रकार सामनीति से प्रयोजनार्थी का कार्य विकृत न होकर सिद्ध होता है, और जिस प्रकार शक्कर द्वारा शान्त होने वाले पित्त में पटोल (औषधि विशेष) का प्रयोग व्यर्थ है, उसी प्रकार सामनीति से सिद्ध होने वाले कार्य में दण्डनीति का प्रयोग भी व्यर्थ है ॥२॥

शत्रु को वश करने के अभिप्राय से उसे अपनी सम्पत्ति का उपभोग करने के लिए विजिगीषु द्वारा इस प्रकार का अधिकार-सा दे दिया जाता है कि यह सम्पत्ति मेरी है, इसे आप अपनी इच्छानुसार कार्यों में लगा सकते हैं'' इसे ''आत्मोपसन्धान नाम की सामनीति कहते हैं ॥७२॥ जहाँ पर विजिगीषु शत्रु से अपनी प्रचुर सम्पत्ति के संरक्षणार्थ उसे थोड़ा-सा धन देकर प्रसन्न कर लेता है उसे 'उपप्रदान' (दान) नीति कहते हैं ॥७३॥

शुक्र[२] ने भी शत्रु से प्रचुर धन की रक्षार्थ उसे थोड़ा-सा धन देकर प्रसन्न करने की 'उपप्रदान' कहा है ॥१॥

विजिगीषु अपने सैन्यनायक, तीक्ष्ण व अन्य गुप्तचर तथा दोनों तरफ से वेतन पाने वाले गुप्तचरों द्वारा शत्रु की सेना में परस्पर एक दूसरे के प्रति सन्देह वा तिरस्कार उत्पन्न कराकर भेद (फूट) डालने को भेद नीति कहा है ॥७४॥

गुरु[३] ने भी उक्त उपाय द्वारा शत्रु सेना में परस्पर भेद डालने की 'भेदनीति' कहा है।

शत्रु का वध करना, उसे दु:खित करना या उसके धन का अपहरण करना दण्डनीति है ॥७५॥

जैमिनि[४] विद्वान् ने भी दण्डनीति की इसी प्रकार व्याख्या की है ॥१॥

शत्रु के पास से आये हुए मनुष्य की सूक्ष्म बुद्धि से परीक्षा करने के उपरान्त ही विश्वस्त सिद्ध होने पर उसका अनुग्रह करना चाहिए, अपरीक्षित का नहीं ॥७६॥

भागुरि[५] ने भी शत्रु के यहाँ से आये हुए व्यक्ति की परीक्षा करने के बारे में संकेत किया है ॥१॥

क्या जंगल में उत्पन्न हुई औषधि शारीरिक आरोग्यता के लिए नहीं होती ? अवश्य होती है उसी

१. तथा च व्यासः–साम्ना यत्सिद्धिदं कृत्यं ततो नो विकृतिं ब्रजेत्। सज्जनानां यथा चित्तं दुरुक्तैरपि कीर्तितैः॥ १॥ साम्नैव यत्र सिद्धिर्न दण्डो बुधेन विनयोज्यः। पित्तं यदि शर्करया शाम्यति तत्किं पटोलेन॥ २॥
२. तथा च शुक्रः–बह्वर्थः स्वल्पवित्तेन यदा शत्रोः प्ररक्षते। परप्रसादनं तत्र प्रोक्तं तच्च विचक्षणैः ॥१॥
३. तथा च गुरुः–सैन्यं विषं तथा गुप्ताः पुरुषाः सेविकात्मकाः। तैश्च भेदः प्रकर्तव्यो मिथः सैन्यस्य भूपतेः ॥१॥
४. तथा च जैमिनिः–वधस्तु क्रियते यत्र परिक्लेशोऽवा रिपोः। अर्थस्य ग्रहणं भूरिर्दण्डः स परिकीर्तितः ॥१॥
५. तथा च भागुरिः–शत्रोः सकाशतः प्राप्तं सेवार्थं शिष्टसम्मतं। परीक्षा तस्य कृत्वाथ प्रसादः क्रियते ततः ॥१॥

प्रकार शत्रु के यहाँ से आया हुआ व्यक्ति भी कल्याणकारक हो सकता है ॥७७॥

गुरु[1] ने भी कहा है कि ''जिस प्रकार शरीरवर्ती व्याधि पीड़ाजनक और जंगल में पैदा होने वाली औषधि हितकारक होती है उसी प्रकार अहित-चिन्तक बन्धु भी शत्रु व हितचिन्तक शत्रु भी बन्धु माना जाता है ॥५१॥

जिस प्रकार गृह में प्रविष्ट हुआ कबूतर उसे ऊजड़ बना देता है, उसी प्रकार शत्रु, दल का छोटा-सा भी व्यक्ति विजिगीषु के तन्त्र (सैन्य) को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है ॥७८॥

वादनारायण[2] ने भी शत्रु दल के साधारण व्यक्ति का गृहप्रवेश राजतन्त्र का नाशक बताया है ॥१॥

उत्तम लाभ, भूमि-लाभ की श्रेष्ठता, मैत्री भाव को प्राप्त हुए शत्रु के प्रति कर्त्तव्य, वजिगीषु की निन्दा का कारण, शत्रु चेष्टा जानने का उपाय, शत्रु निग्रह के उपरान्त विजिगीषु का कर्त्तव्य, प्रतिद्वन्दी के विश्वास के साधन व शत्रु पर चढ़ाई न करने का अवसर

मित्रहिरण्यभूमिलाभानामुत्तरोत्तरलाभः श्रेयान् ॥७८॥ हिरण्यं भूमिलाभाद्भवति मित्रं च हिरण्यलाभादिति[3] ॥८०॥ शत्रोर्मित्रत्वकारणं विमृश्य तथाचरेद्यथा न वञ्च्यते ॥८१॥ गूढोपायेन सिद्धकार्यस्यासंवित्ति-करणं सर्वां शंकां दुरपवादं च करोति ॥८२॥ गृहीतपुत्रदारानुभयवेतनान् कुर्यात् ॥८३॥ शत्रुमपकृत्य भूदानेन तद्दायादानात्मनः सफलयेत् क्लेशयेद्वा॥ ८४॥ परविश्वासजनने सत्यं शपथः प्रतिभूः प्रधानपुरुषपरिग्रहो वा हेतुः ॥८५॥ सहस्रैकीयः पुरस्ताल्लाभः शतैकीयः पश्चात्कोप इति न यायात् ॥८६॥ सूचीमुखा ह्यनर्था भवन्त्यल्पेनापि सूचीमुखेन महान् दोरकः प्रविशति ॥८७॥

अर्थ—मित्र, स्वर्ण व भूमि-लाभ इन लाभों में उत्तरोत्तर-आगे-आगे की वस्तु का लाभ कल्याण कारक है अर्थात् मित्र की प्राप्ति श्रेष्ठ है व उसकी अपेक्षा स्वर्ण की एवं स्वर्ण-प्राप्ति की अपेक्षा भूमि की प्राप्ति सर्वश्रेष्ठ है, अतः विजिगीषु को भूमि की प्राप्ति करनी चाहिए ॥१॥

गर्ग[1] ने भी मित्र लाभ से स्वर्णलाभ व स्वर्ण लाभ से भूमिलाभ को सर्वश्रेष्ठ बताया है ॥१॥

---

१. तथा च शुक्रः—परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः। अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधं ॥१॥

२. तथा च वादरायणः—शत्रुपक्षभवो लोकः स्तोकोऽपि गृहमावि शेत्। यदा तदा समाधत्ते तद्गृहं च कपोतवत् ॥१॥

३. इसके पश्चात् मु. मू. पुस्तक में स्वयमसहायश्चेत् भूमिहिरण्यलाभायालं भवति तदा मित्रं गरीयः ॥१॥ सहानुयायि मित्र स्वयं वा स्थास्नु भूमिमित्राभ्यां हिरण्यं गरीयः॥ २॥ यह विशेष पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि सहायक से हीन राजा पृथ्वी व स्वर्ण की प्राप्ति करने में असमर्थ होता है। अतः उक्त तीनों लाभों में मित्र का लाभ श्रेष्ठ है सदा साथ देने वाला मित्र वा स्वयं स्थिरशील भूमि की प्राप्ति द्रव्याधीन है, अतः भूमि व मित्र-लाभ से स्वर्ण लाभ श्रेष्ठ है ॥१-२॥

क्योंकि भूमि की प्राप्ति से स्वर्ण प्राप्ति व स्वर्ण प्राप्ति से मित्रप्राप्ति होती है॥ ८०॥

शुक्र[२] ने कोषहीन (दरिद्र) राजा को भूमि व मित्र का अभाव और कोषयुक्त को उक्त दोनों की प्राप्ति बताई है ॥१॥

विवेकी पुरुष शत्रु की मित्रता का कारण सोच समझकर उससे ऐसा व्यवहार करे, जिससे कि वह उसके द्वारा ठगाया न जा सके ॥८१॥

शुक्र[३] ने कहा है कि बिना विचारे शत्रु से मित्रता करने वाला निस्सन्देह उससे ठगाया जाता है ॥१॥

संधि को प्राप्त हुए जिस शत्रु राजा द्वारा गुप्त रीति से विजिगीषु का प्रयोजन सिद्ध किया गया है उसका यदि यह उचित सम्मानादि नहीं करता तब उसके मन में इसके प्रति अनेक प्रकार की आशंकाएँ उत्पन्न होती हैं। अर्थात् वह ऐसी आशंका करता है कि मेरे द्वारा उपकृत यह विजिगीषु पहले तो मुझसे अनुकूल हुआ मेरा उचित सम्मान करता था, परन्तु अब मुझसे प्रतिकूल रहता है, इससे मालूम होता है कि इसकी मेरे शत्रु, से मैत्री हो चुकी है इत्यादि एवं जनता में इस प्रकार की निन्दा का पात्र होता कि अमुक शत्रु राजा द्वारा यह विजिगीषु रक्षित व शक्तिवर्द्धित किया गया तथापि यह उसकी भक्तिसेवा आदि नहीं करता, इससे यह बड़ा कृतघ्न है-इत्यादि। अतः विजिगीषु को उसके प्रयोजन सिद्ध करने वाले की सेवा-आदि करनी चाहिए ॥८२॥

गुरु[४] ने भी कहा है कि ''जिसकी सहायता से राजा की वृद्धि हुई हो, उसको उसे सन्तुष्ट करना चाहिए, अन्यथा उसके मन में शंका उत्पन्न होती है व उसके साथ युद्ध करने में निन्दा का पात्र होता है ॥१॥

विजिगीषु दोनों पक्ष से वेतन पाने वाले गुप्तचरों के स्त्री पुत्रों को अपने यहाँ सुरक्षित रखकर उन्हें शत्रु के देश में भेजे, ताकि वे वापस आकर इसे शत्रु की चेष्टा निवेदन करें ॥८३॥

जैमिनि[५] ने भी दोनों पक्षों से वेतन पाने वाले गुप्तचरों द्वारा शत्रु की चेष्टा जानने का संकेत किया है ॥१॥

विजिगीषु शत्रु का अपकार करके उसके शक्तिहीन कुटुम्बियों के लिए उसकी भूमि प्रदान कर उन्हें अपने अधीन बनाये अथवा यदि वे बलिष्ठ हों तो उन्हें क्लेशित करे ॥८४॥

नारद[१] ने भी शत्रु के कुटुम्बियों के साथ ऐसा ही, बर्ताव करने का निर्देश किया है ॥१॥

विजिगीषु अपने प्रतिद्वन्दी का विश्वास उसी हालत में करे, जब वह शपथ खावे या गवाही

---

१. तथा च गर्गः-उत्तमो मित्रलाभस्तु हेमलाभस्ततो वरः। तस्माच्छ्रेष्ठतरं चैव भूमिलाभं समाश्रयेत् ॥१॥
२. तथा च शुक्रः-न भूमिर्न च मित्राणि कोषनष्टस्य भूपतेः। द्वितीयं तद्भवेत्सद्यो यदि कोषो भवेद्गृहे ॥१॥
३. तथा च शुक्रः-पर्यालोचं बिना कुर्याद्यो मैत्री रिपुणा सह। स वंचनामवाप्नोति तस्य पार्श्वादसंशयः ॥१॥
४. तथा च गुरुः-वृद्धिं गच्छेद्यतः पार्श्वात्तं प्रयत्नेन तोषयेत्। अन्यथा जायते शङ्का रणगोपाद्धि गर्हणा ॥१॥
५. तथा च जैमिनिः-गृहीतपुत्रदारांश्च कृत्वा चोभयवेतनान्। प्रेषयेद्वैरिणः स्थाने येन तच्चेष्टितं लभेत् ॥१॥

उपस्थित करें अथवा उसके सचिव आदि प्रधानपुरुष उसके द्वारा अपने पक्ष में मिला लिए जावें ॥८५॥

गौतम[2] का उद्धरण भी शत्रु के विश्वास करने के विषय में उक्त साधनों का निर्देश करता है ॥१॥

शत्रु देश पर आक्रमण करने से वहाँ से हजार स्वर्णमुद्राओं का लाभ होने पर भी यदि अपने देश का सौ मुद्राओं का भी नुकसान होता हो तो राजा का कर्तव्य है कि वह शत्रु पर आक्रमण न करे ॥८६॥

भृगु[3] ने भी लिखा है कि शत्रु देश पर आक्रमण करने से बहुमूल्य लाभ हो पर साथ में अपना व अपने देश का थोड़ा-सा भी नुकसान हो तो शत्रु पर आक्रमण नहीं करना चाहिए ॥१॥

विजिगीषु के ऊपर आने वाली आपत्तियाँ प्रजा-आदि से होने वाले पीठ पीछे के थोड़े से कोप से होती है क्योंकि जिस प्रकार सुई से वस्त्र में छिद्र हो जाने के उपरान्त उसमें से बहुत सा डोरा निकल जाता है, उसी प्रकार देश में पीठ पीछे थोड़ा सा उपद्रव खड़ा हो जाने पर राजा को महान् आपत्तियों का सामना करना पड़ता है अतः ऐसे अवसर पर विजिगीषु शत्रु पर चढ़ाई करने प्रस्थान न करे ॥८७॥

वादरायण[4] के श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

विजिगीषु का सर्वोत्तम लाभ, अपराधियों के प्रति क्षमा करने से हानि वा उनके निग्रह से लाभ नैतिक पुरुष का कर्तव्य, अग्रेसर होने से हानि, दूषित राजसभा, गृह में आये हुए धन के विषय में व धनार्जन का उपाय-

न पुण्यपुरुषापचयः क्षयो हिरण्यस्य धान्यापचयो व्ययः शरीरस्यात्मनो लाभविच्छेद्येन सामिषक्रव्याद् इव न परैरवरुध्यते ॥८८॥ शक्तस्यापराधिषु या क्षमा सा तस्यात्मनस्तिरस्कारः ॥८९॥ अतिक्रम्यवर्तिषु निग्रहं कर्तुः सर्पादिव दृष्टप्रत्यवायः सर्वोऽपि विभेति जनः ॥९०॥

अनायकां बहुनायकां वा सभां न प्रविशेत् ॥९१॥

गणपुरश्चारिणः सिद्धे कार्ये स्वस्य न किंचिद्भवत्यसिद्धे पुनः ध्रुवमपवादः॥९२॥

सा गोष्ठी न प्रस्तोतव्या यत्र परेषामपायः ॥९३॥ गृहागतमर्थं केनापि कारणेन नावधीरयेद्यदैवार्थागमस्तदैव सर्वातिथि नक्षत्रग्रहबलं ॥९४॥

गजेन गजबन्धनमिवार्थेनार्थोपार्जनम् ॥९५॥

१. तथा च नारदः-साधयित्वा परं युद्धे तद्भूमिस्तस्य गोत्रिणः। दातव्यात्मवशो यः स्यान्नान्यस्य तु कथंचन ॥१॥

२. तथा च गौतमः-शपथैः कोषपानेन महापुरुषवाक्यतः। प्रतिभूरिष्टसंग्रहाद्रिपोविश्वसतां व्रजेत् ॥१॥

३. तथा च भृगुः-पुरस्ताद्भूरिलाभेऽपि पश्चात्कोपोऽल्पको यदि। तद्यात्रा नैव कर्तव्या तत्स्वल्पोऽप्यधिको भवेत् ॥१॥

४. तथा च वादरायणः-स्वल्पेनापि न गन्तव्यं पश्चात्कोपेन भूभुजा। यतः स्वल्पोऽपि तद्वाह्यः स वृद्धिं परमां व्रजेत् ॥१॥

अर्थ—विजिगीषु को इस प्रकार के लाभ की इच्छा करनी चाहिए, जिसमें उसके अमात्य व सेनाध्यक्ष आदि प्रधान पुरुष कोष, अन्न तथा उसके जीवन का नाश न होने पावे एवं जिस प्रकार मांस खण्ड की धारण करने वाला पक्षी दूसरे मांसभक्षी पक्षियों द्वारा रोका जाता है, उसी प्रकार यह भी शत्रुभूत राजाओं द्वारा न रोका जा सके ॥८८॥

शुक्र[१] ने भी विजिगीषु को इसी प्रकार का लाभ चिंतवन करने के विषय में लिखा है ॥१॥

जो राजा शक्तिशाली होकर अपराधियों को अपराधानुकूल दंडित न कर क्षमा धारण करता है, उसका तिरस्कार होता है, अतः राजा को अपराधियों के प्रति क्षमा धारण नहीं करनी चाहिए ॥८९॥

बादरायण[२] ने भी अपराधियों के प्रति क्षमा धारण करने वाले राजा का शत्रु, कृत पराजय निर्देश किया है ॥१॥

अपराधियों का निग्रह करने वाले राजा से सभी लोग अपने नाश की आशंका करते हुए सर्प के समान डरते हैं अर्थात् कोई भी अपराध करने की हिम्मत नहीं करता ॥९०॥

भागुरि[३] ने भी दुष्टनिग्रह करने वाले राजा से डरने के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥ बुद्धिमान पुरुष को ऐसी सभा में प्रवेश नहीं करना चाहिए जिसमें कोई नायक (नेता) न हो या बहुत से नायक हों ॥९१॥ जन समुदाय या राजसभा आदि में विवेकी पुरुष को अग्रसर-मुख्य होना व्यर्थ है क्योंकि प्रयोजन सिद्ध होने पर मुख्य व्यक्ति को तो कोई लाभ नहीं होता परन्तु यदि प्रयोजन सिद्ध न हुआ तो सब लोग मुख्य की ही निश्चय से निन्दा करते हैं, कि इसी मूर्ख ने विरुद्ध बोलकर हम लोगों का प्रयोजन नष्ट कर दिया ॥९२॥

नारद[४] ने भी जन समुदाय का मुखिया होना निरर्थक बताया है ॥१॥

वह सभा प्रशंसनीय नहीं कही जा सकती-निंद्य है जिसमें प्रयोजन सिद्धि के लिए आये हुए प्रयोजनार्थी पुरुष को पक्षपात आदि के कारण हानि होती है ॥९३॥

जैमिनि[५] ने भी पक्षपात वश प्रयोजनार्थी का घात करने वाली सभा को त्याज्य कहा है ॥१॥

गृह में पदार्पण की हुई लक्ष्मी-सम्पत्ति का कभी भी किसी कारण से-तिथि आदि अशुभ जानकर-तिरस्कार नहीं करना चाहिए, किन्तु उसे तत्काल ग्रहण कर लेना चाहिए, क्योंकि जिस समय लक्ष्मी का आगमन होता है उस समय की तिथि व नक्षत्र शुभ और ग्रह बलिष्ठ गिने जाते हैं ॥९४॥

गर्ग[१] ने भी लक्ष्मी की प्राप्ति का दिवस शुभ बताया है ॥१॥

---

१. तथा च शुक्रः—स्वतंत्रस्य क्षयो न स्यात्तथा चैवात्मनोऽपरः। येन लाभेन नान्यैश्च रुध्यते त विचिन्तयेत् ॥१॥

२. तथा च बादरायणः—शक्तिमानपि यः कुर्यादपराधिषु च क्षमां। स पराभवमाप्नोति सर्वेषामपि वैरिणाम् ॥१॥

३. तथा च भागुरिः—अपराधिषु यः कुर्यान्निग्रहं दारुणं नृपः। तस्माद्बिभेति सर्वोऽपि सर्पसंस्पर्शनादिव ॥१॥

४. तथा च नारदः—बहूनामग्रगो भूत्वा यो ब्रूते न नतं परः। तस्य सिद्धौ नो लाभः स्यादसिद्धौ जनवाच्यता ॥१॥

५. तथा च जैमिनिः—सभायां पक्षपातेन कार्यार्थी यत्र हन्यते। न सा सभा भवेच्छस्या शिष्टैस्त्याज्या सुदूरतः ॥१॥

जिस प्रकार हाथी से हाथी बांधा जाता है, उसी प्रकार धन से धन कमाया जाता है ॥९५॥

जैमिनि[२] ने भी धनोपार्जन का यही उपाय निर्दिष्ट किया है ? ॥१॥

दण्डनीति का निर्णय, प्रशस्तभूमि, राक्षसीवृत्ति वाले व पर प्रणेय राजा का स्वरूप, स्वामी की आज्ञा का पालन, राजा द्वारा ग्राह्य व दूषित धन तथा धन-प्राप्ति-

न केवलाभ्यां बुद्धिपौरुषाभ्यां महतो जनस्य सम्भूयोत्थाने संघातविघातेन दण्डं प्रणयेच्छतमवध्यं सहस्त्रमदण्ड्यं न प्रणयेत्[३]॥९६॥ सा राजन्वती भूमिर्यस्यां नासुरवृत्ती राजा॥९७॥ परप्रणेयो राजाऽपरीक्षितार्थमानप्राणहरोऽसुरवृत्तिः॥९८॥ परकोपप्रसादानुवृत्तिः परप्रणेयः ॥९९॥ तत्स्वामिच्छन्दोऽनुवर्तनं श्रेयो यन्न भवत्यायत्यामहिताय ॥१००॥ निरनुबन्धमर्थानुबंधं चार्थमनुगृह्णीयात् ॥१०१॥ नासावर्थो धनाय यत्रायत्यां महानर्थानुबंधः ॥१०२॥ लाभस्त्रिविधो नवो भूतपूर्वः पैत्र्यश्च ॥१०३॥

अर्थ—राजा को अपनी बुद्धि व पौरुष के गर्व में आकर एकमत रखने वाले उत्तम पुरुषों के समूह को अपराधी बता कर दण्डित नहीं करना चाहिए, क्योंकि एक सी बात कहने वाले सौ आदमी वध के अयोग्य व हजार आदमी दण्ड के अयोग्य होते हैं, अतः उन्हें दण्ड न देना चाहिए॥ ९६॥

शुक्र[४] ने भी उत्तम पुरुषों का समूह राजा द्वारा बुद्धि व पौरुष के गर्व-वश दण्ड देने के अयोग्य बताया है ॥१॥

जिस भूमि का अधीश्वर राक्षसी बर्ताव करने वाला (अपराध से प्रतिकूल अत्यधिक दण्ड देने वाला व व्यसनी-आदि दोष युक्त) नहीं है बल्कि नीतिज्ञ व सदाचारी है वह (भूमि) राजन्वती (प्रशस्त राजा से युक्त) कही जाती है ॥९७॥

गुरु[५] ने भी नीतिज्ञ व सदाचारी नरेश से युक्त पृथ्वी को श्रेष्ठ व उन्नतिशील कहा है ॥१॥

बिना विचारे दूसरे के मतानुसार कार्य करने वाला और अपराधियों के अर्थमान व प्राणमान को न जानकर बिना सोचे समझे उनका प्राणघात करने वाला-''अमुक अपराधी अपने अपराधानुकूल कानूनन कितने जुर्माने, कितनी शारीरिक सजा के योग्य है ? इत्यादि बिना सोचे समझे दूसरों के कहने मात्र से उनके

१. तथा च गर्गः-गृहागतस्य वित्तस्य दिनशुद्धिं न चिन्तयेत्। आगच्छति यदा वित्तं तदैव सुशुभं दिनं ॥१॥
२. तथा च जैमिनिः-अर्था अर्थेषु बध्यन्ते गजेरिव महा गजः। गजा गजैर्विना न स्युरर्था अर्थैर्विना तथा ॥१॥
३. मु. मू. प्रति में ''महतो जनस्य सम्भूयोस्थाने सङ्घात विघातेन। दण्डं प्रणयेत् शतमवध्यं सहस्त्रमवध्यमिति'' इस प्रकार का पाठान्तर वर्तमान है जिसका अर्थ यह है कि यदि कुछ लोग संगठित होकर वगावत करने तत्पर हुए हों, उस समय राजा को उन्हें भेद नीति द्वारा फोड़ फाड़ करके पृथक्-पृथक् करके सजा देनी चाहिए।
४. तथा च शुक्रः-बुद्धिपौरुषगर्वेण दण्डयेन्न महाजनं। एकानुगामिकं राजा यदा तु शत्रुपूर्वकम् ॥१॥
५. तथा च गुरुः-यस्यां राजा सुंवृत्तः स्यात् सौम्यवृक्षः सदैव हि। सा भूमिः शोभते नित्यं सदा वृद्धिं च गच्छति ॥१॥

धन, मान व प्राण लेने वाला (सौ रुपये जुर्माने के योग्य अपराधी से हजार रुपये जुर्माने में) लेने वाला, तुच्छ दोष पर फांसी देने वाला राजा 'असुरवृत्ति' (राक्षसी बर्ताव करने वाला) कहा गया है॥९८॥

भागुरि[१] ने भी दूसरों के कहने मात्र से निरपराधियों के लिए भी कड़ी सजा देकर पीड़ित करने वाले राजा को 'असुरवृत्ति' कहा है ॥१॥

जो राजा दूसरों के कहने मात्र से ही बिना सोचे समझे जिस किसी के प्रति कुपित व प्रसन्न हो जाया करता है, उसे 'परप्रणेय' कहा है ॥९९॥

राजगुरु[२] ने भी कहा है कि "परप्रणेय राजा का राज्य चिरकालीन नहीं होता ॥१॥"

सेवक को स्वामी की उसी आज्ञा का पालन करना श्रेयस्कर है, जिससे उसके स्वामी का भविष्य में अहित न हो सके ॥१००॥

गर्ग[३] ने भी कहा है "कि मन्त्रियों को राजा के प्रति परिणाम में कष्ट न देने वाला, प्रिय व श्रेयस्कर वचन बोलना चाहिए ॥१॥"

राजा को प्रजा से इस प्रकार धन ग्रहण करना चाहिए जिससे प्रजा को पीड़ा व उसके धन की क्षति न हो अथवा ऐसा अर्थ हो सकता है कि विवेकी पुरुष इस प्रकार से धन संचय करे, जिससे जनसाधारण को कष्ट न हो एवं भविष्य में धन प्राप्ति का संबन्ध बना रहे ॥१०१॥ भविष्य में महान् अनर्थ (राजदण्डादि) उत्पन्न करने वाला अन्याय-संचित धन स्थिरशील नहीं होता। सारांश यह है कि चोरी आदि निन्द्य कर्म से जो धन संचय किया जाता है, वह राजा द्वारा पूर्व संचित धन के साथ जब्तकर लिया जाता है, अतः नैतिक पुरुष को न्यायोचित साधनों द्वारा धनसंचय करना चाहिए ॥१०२॥

अत्रि[४] ने भी अन्याय संचित धन राजा द्वारा पूर्व संचित धन के साथ-साथ जब्त किये जाने के विषय में लिखा है ॥१॥

अर्थ लाभ (धन प्राप्ति) तीन प्रकार का है। १. नवीन-कृषि व व्यापारादि साधनों द्वारा नवीन धन की प्राप्ति, २. भूतपूर्व-पूर्व में उक्त साधनों द्वारा प्राप्त किया हुआ धन, ३. पित्र्य-पिता वगैरह परम्परा से प्राप्त किया हुआ धन, ये उक्त तीनों लाभ श्रेष्ठ हैं ॥१०३॥

शुक्र[५] ने भी उक्त तीनों प्रकार का अर्थ लाभ श्रेयस्कर बताया है ॥१॥

॥ इति षाड्गुण्य-समुद्देशः॥

---

१. तथा च भागुरिः-परवाक्यैर्नृपो यत्र सद्त्तां सुप्रपीड़येत्। प्रभूतेन तु दण्डेन सोऽसुरवृत्तिरुच्यते ॥१॥
२. तथा च राजगुरुः-परप्रणेयो भूपालो न राज्यं कुरुते चिरं। पितृपैतामहं चेत् स्यात्किं पुनः परभूपजं ॥१॥
३. तथा च गर्गः-मंत्रिभिस्तत्प्रियं वाच्यं प्रभोः श्रेयस्करं च यत्। आयत्यां कष्टदं यच्च कार्यं तन्न कदाचन ॥१॥
४. तथा चात्रिः-अन्यायोपार्जितं वित्तं यो गृहं समुपानयेत्। गृह्यते भूभुजा तस्य गृहगेन समन्वितम् ॥१॥
५. तथा च शुक्रः-उपार्जितो नवोऽर्थः स्याद्भूतपूर्वस्तथापरः। पितृपैतामहोऽन्यस्तु त्रयो लाभाः शुभावहाः ॥१॥

(३०) युद्ध-समुद्देशः

मन्त्री व मित्र का दूषण, भूमि-रक्षार्थ विजिगीषु, का कर्त्तव्य, शस्त्रयुद्ध का अवसर, बुद्धि-युद्ध व बुद्धि का माहात्म्य-

स किं मंत्री मित्रं वा यः प्रथममेव युद्धोद्योगं भूमित्यागं चोपदिशति, स्वामिनः सम्पादयति च महन्तमनर्थसंशयं ॥१॥

संग्रामे को नामात्मवानादावेव स्वामिनं प्राणसन्देहतुलायामारोपयति ॥२॥

भूम्यर्थं नृपाणां नयो विक्रमश्च न भूमित्यागाय ॥३॥ बुद्धियुद्धेन परं जेतुमशक्तः शस्त्रयुद्धमुपक्रमेत् ॥४॥ न तथेषवः प्रभवन्ति यथा प्रज्ञावतां प्रज्ञाः ॥५॥ दृष्टेऽप्यर्थे सम्भवन्त्यपराद्धेषो धनुष्मतोऽदृष्टमर्थं साधु साधयति प्रज्ञावान् ॥६॥ श्रूयते हि किल दूरस्थोऽपि माधवपिता कामन्दकीयप्रयोगेण माधवाय मालतीं साधयामास ॥७॥ प्रज्ञा ह्यमोघं शस्त्रं कुशलबुद्धीनां ॥८॥

प्रज्ञाहताः कुलिशहता इव न प्रादुर्भवन्ति भूमिभृतः ॥९॥

अर्थ—वह मंत्री व मित्र दोनों निंद्य-शत्रु के समान हैं, जो शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने पर अपने स्वामी को भविष्य में कल्याण-कारक अन्य सन्धि आदि उपाय न बताकर पहले ही युद्ध करने में प्रयत्नशील होने का अथवा भूमि का परित्याग कर दूसरी जगह भाग जाने का उपदेश देकर उसे महान् अनर्थ (प्राण सन्देह के खतरे) में डाल देते हैं ॥१॥

गर्ग[१] ने भी शत्रु के उपस्थित होने पर राजा को युद्ध व भाग जाने की सलाह देने वाले सचिव को शत्रु कहा है ॥१॥

कौन बुद्धिमान सचिव अपने स्वामी को सबसे पहले युद्ध में प्रेरित कर उसे प्राण-संदेह रूप तराजू पर चढ़ायगा ? कोई नहीं। सारांश यह है कि शत्रु द्वारा हमला किये जाने पर पूर्व में मंत्री अपने स्वामी को संधि के लिए प्रेरित करे, उसमें असफल होने पर युद्ध के लिए प्रेरित करे॥ २॥

गौतम[२] ने भी अन्य उपाय असफल होने पर युद्ध करने का संकेत किया है ॥१॥

---

१. तथा च गर्गः-उपस्थिते रिपौ मंत्री युद्धं बुद्धिं ददाति यः। मंत्रिरूपेण वैरी स देशत्यागं च यो वदेत् ॥१॥

२. तथा च गौतमः-उपस्थिते रिपौ स्वामी पूर्वं युद्धे नियोजयेत्। उपायं दापयेद् व्यर्थे गते पश्चान्नियोजयेत् ॥१॥

राजाओं की नीति व पराक्रम की सार्थकता अपनी भूमि की रक्षा के लिए होती है, न कि भूमि-त्याग के लिए, अतः उसका त्याग कर्तव्य-दृष्टि से किस प्रकार ग्राह्य हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥३॥

शुक्र ने[१] भी कहा है कि राजाओं को भूमि-रक्षार्थ अपनी नीति व पराक्रम का उपयोग करते हुए प्राण जाने पर भी देशत्याग नहीं करना चाहिए ॥१॥

जब विजिगीषु बुद्धि-युद्ध-सामादि उपाय के प्रयोग द्वारा शत्रु पर विजयश्री प्राप्त करने में असमर्थ हो जाय, तब उसे शस्त्र-युद्ध करना चाहिए॥ ४॥

गर्ग[२] ने भी बुद्धि-युद्ध निरर्थक होने पर शत्रु के साथ शस्त्र-युद्ध करने का संकेत किया है ॥१॥

जिस प्रकार बुद्धिमानों की बुद्धियाँ शत्रु के उमून्लन करने में समर्थ होती हैं उस प्रकार वीर पुरुष द्वारा प्रेषित बाण समर्थ नहीं होते॥ ५॥

गौतम[३] का उद्धरण भी तीक्ष्ण बाणों की अपेक्षा विद्वानों की बुद्धि को शत्रु-वध में विशेष उपयोगी बताता है ॥१॥

धनुर्धारियों के बाण निशाना साधकर चलाये जाने पर भी प्रत्यक्ष में वर्तमान लक्ष्य-भेद करने में असफल हो जाते हैं परन्तु बुद्धिमान पुरुष बुद्धिबल से बिना देखे हुए पदार्थ भी भलीभाँति सिद्ध कर लेता है।

शुक्र[४] का उद्धरण भी इसी प्रकार बुद्धि को अदृष्ट कार्य में सफलता उत्पन्न करने वाली बताता है ॥१॥

महाकवि श्री भवभूति विरचित मालती माधव नामक नाटक में लिखा है कि माधव के पिता देवरात ने बहुत दूर रहकर के भी कामन्द की नाम की संन्यासिनी के प्रयोग द्वारा-उसे मालती के पास भेज कर अपने पुत्र माधव के लिए 'मालती' प्राप्त की थी, यह देवरात की बुद्धि-शक्ति का ही माहात्म्य था ॥७॥ विद्वानों की बुद्धि ही शत्रु पर विजय-श्री प्राप्त करने में सफल शस्त्र मानी गयी है, क्योंकि जिस प्रकार वज्र प्रहार से ताड़ित किये हुए पहाड़ पुनः उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार विद्वानों की बुद्धि द्वारा जीते हुए शत्रु भी पुनः शत्रुता करने का साहस नहीं कर सकते ॥८-९॥

गुरु[५] ने भी प्रज्ञा (बुद्धि) शस्त्र को शत्रु से विजय पाने में सफल बताते हुए उक्त बात का

---

१. तथा च शुक्रः-भूम्यर्थं भूमिपैः कार्यो नयो विक्रम एव च। देशत्यागो न कार्यस्तु प्राणत्यागेऽपि संस्थिते ॥१॥

२. तथा च गर्गः-युद्धं बुद्ध्यात्मकं कुर्यात् प्रथमं शत्रुणा सह। व्यर्थेऽस्मिन् समुत्पन्ने ततः शस्त्ररणं भवेत् ॥१॥

३. तथा च गौतमः-न तथात्र शरास्तीक्ष्णः समर्थाः स्यू रिपोर्वधे। यथा बुद्धिमतां प्रज्ञा तस्मात्तां सन्नियोजयेत् ॥१॥

४. तथा च शुक्रः-धानुष्कस्य शरो व्यर्थो दृष्टे लक्ष्येऽपि याति च। अष्दृष्टान्यपि कार्याणि बुद्धिमान सम्प्रसाधयेत् ॥१॥

५. तथा च गुरुः-प्रज्ञाशस्त्रममोघं च विज्ञानाद्बुद्धिरूपिणी। तया हता न जायन्ते पर्वता इव भूमिपाः ॥१॥

समर्थन किया है ॥१॥

डरपोक, अति क्रोध, युद्धकालीन राज-कर्तव्य, भाग्य-माहात्म्य, बलिष्ठ शत्रु द्वारा आक्रमण किए हुए राजा का कर्तव्य, भाग्य की अनुकूलता, सार-असार सैन्य से लाभ व हानि व युद्धार्थ राज-प्रस्थान–

परैः स्वस्याभियोगमपश्यतो भयं नदीमपश्यत उपानत्परित्यजनमिव ॥१०॥ अतितीक्ष्णो बलवानपि शरभ इव न चिरं नन्दति ॥११॥ प्रहरतोऽपसरतो वा समे विनाशे वरं प्रहारो यत्र नैकान्तिको विनाशः ॥१२॥ कुटिला हि गतिर्दैवस्य मुमूर्षुमपि जीवयति जिजीविषुं मारयति ॥१३॥ दीपशिखायां पतंगवदैकान्तिके विनाशेऽविचारमपसरेत् ॥१४॥ जीवितसम्भवे दैवो देयात्कालबलम् ॥१५॥ वरमल्पमपि सारं बलं न भूयसी मुण्डमण्डली ॥१६॥ असारबलभंगः सारबलभंगं करोति ॥१७॥ नाप्रतिग्रहो युद्धमुपेयात् ॥१८॥

अर्थ–जिस प्रकार नदी को बिना देखे ही पहले से जूते उतारने वाला व्यक्ति हंसी का पात्र होता है, उसी प्रकार शत्रुकृत उपद्रव को जाने बिना पहले से ही भयभीत होने वाला व्यक्ति भी हंसी का पात्र होता है, अतः शत्रु का आक्रमण होने पर उसका प्रतिकार सोचना चाहिए ॥१०॥

शुक्र[1] ने भी शत्रु को बिना देखे पहले से ही भयभीत होने वाले के विषय में यही कहा है ॥१॥

अत्यन्त क्रोधी पुरुष बलिष्ठ होने पर भी अष्टापद के समान चिरकाल तक जीवित नहीं रह सकता–नष्ट हो जाता हे। अर्थात्–जिस प्रकार अष्टापद मेघ की गर्जना सुनकर उसे हाथी का चिघाड़ समझकर सहन न करता हुआ पर्वत के शिखर से पृथ्वी पर गिरकर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अत्यन्त क्रोधी व्यक्ति भी क्रोध-वश बलिष्ठ शत्रु से युद्ध करने पर नष्ट हो जाता है अतः अत्यन्त क्रोधी होना उचित नहीं ॥११॥ शत्रु से युद्ध करना अथवा युद्ध-भूमि से भाग जाना इन दोनों कार्यों में जब विजगीषु को अपना विनाश निश्चित हो जाय तो उसे युद्ध करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें मृत्यु निश्चित नहीं होती परन्तु भागने से अवश्य मृत्यु होती है ॥१२॥ कर्म की गति–भाग्य की रेखा–बड़ी वक्र वा जटिल होती है क्योंकि वह मरने की कामना करने वाले को दीर्घायु व जीवन की आकांक्षा करने वाले को मार डालती है ॥१३॥।

कौशिक[2] ने भी इसी प्रकार देव की वक्रगति का वर्णन किया है ॥१॥

जब युद्ध-भूमि में विजिगीषु को बलिष्ठ शत्रु द्वारा दीपक की ज्वाला में पतंग की तरह अपना विनाश निश्चित हो जाय, तो उसे बिना सोचे विचारे वहाँ से हट जाना चाहिए ॥१४॥

१. तथा च शुक्रः–यथा चादर्शने नद्या उपानत्परिमोचनम्। तथा शत्रावदृष्टेऽपि भयं हास्याय भूभुजां ॥१॥

२. तथा च कौशिकः–मर्तुकामोऽपि चेन्मर्त्यः कर्मणा क्रियते हि सः। दीर्घायुर्जीवितेच्छाढ्यो म्रियते तद्रक्तोऽपि सः ॥१॥

गौतम[१] का उद्धरण भी इसी बात का समर्थन करता है ॥१॥

जब मनुष्य दीर्घायु होता है, तब भाग्य उसे ऐसी शक्ति प्रदान करता है, जिससे वह निर्बल होने पर भी बलिष्ठ शत्रु को मार डालता है ॥१५॥

शुक्र[२] ने भी भाग्योदय से दीर्घायु पुरुष के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

सार हीन (शक्तिहीन व कर्तव्यविमुख) अधिक फौज की अपेक्षा सार-युक्त (शक्तिशाली व कर्तव्य-परायण) थोड़ी-सी सेना हो तो उत्तम है ॥१६॥

नारद[३] ने भी अच्छी तैयार थोड़ी भी फौज को उत्तम व बहुत सी डरपोक को नगण्य बताया है ॥१॥

जब शत्रु-कृत उपद्रव द्वारा विजिगीषु की सार-हीन (शक्तिहीन) सेना नष्ट होती है तब उसकी शक्तिशाली सेना भी नष्ट हो जाती है-अधीर हो जाती है अतः विजिगीषु दुर्बल सैन्य न रखे ॥१७॥

कौशिक[४] ने भी कायर सेना का भंग विजिगीषु की वीर सेना के भंग का कारण बताया है ॥१॥

राजा को कभी अकेले युद्ध में नहीं जाना चाहिए ॥१८॥

गुरु[५] ने भी अर्जुन समान वीर राजा को अकेले (सैन्य के बिना) युद्ध में जाने से खतरा बताया है ॥१॥

प्रतिग्रह का स्वरूप व फल, युद्धकालीन पृष्ठभूमि, जल-माहात्म्य, शक्तिशाली के साथ युद्ध हानि, राज-कर्त्तव्य (सामनीति व दृष्टान्त) एवं मूर्ख का कार्य व उसका दृष्टान्त द्वारा स्पृष्टीकरण-

राजव्यञ्जनं पुरस्कृत्य पश्चात्स्वाम्यधिष्ठितस्य सारबलस्य निवेशनं प्रतिग्रहः ॥१९॥ सप्रतिग्रहं बलं साधुयुद्धायोत्सहते ॥२०॥ पृष्ठतः सदुर्गजला भूमिर्बलस्य महानाश्रयः ॥२१॥ नद्या नीयमानस्य तटस्थपुरुषदर्शनमपि जीवितहेतुः ॥२२॥ निरन्नमपि सप्राणमेव बलं यदि जलं लभेत[६] ॥२३॥

---

१. तथा च गौतमः-बजवन्तं रिपुं प्राप्य यो न नश्यति दुर्बलः। स नूनं नाशमभ्येति पतंगो दोषमाश्रितः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः-पुरुषस्य यदायुः स्याद्दुर्बलोऽपि तदा परं। हिनस्ति चेद्बलोपेतं निजकर्मप्रभावतः ॥१॥

३. तथा च नारदः-वरं स्वल्पापि च श्रेष्ठा नास्वल्पापि च कातरा। भूपतीनां च सर्वेषां युद्ध काले पताकिनी ॥१॥

४. तथा च कौशिकः-कातराणां च यो भंगो संग्रामे स्यान्महीपतेः। स हि भंगं करोत्येव सर्वेषां नात्र संशयः ॥१॥

५. तथा च गुरुः-एकाकी यो व्रजेद्राजा संग्रामे सैन्यवर्जितः। स नूनं मृत्युमाप्नोति यद्यपि स्याद्धनंजयः ॥१॥

६. इसके पश्यात् मु. मू. प्रति में ''बलवता विग्रहीतस्य तत्तद्वायादापरिग्रहः स्वमंण्डले शिखिमंडूक प्रवेश इव'' ऐसा विशेष पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि जब राजा बलिष्ठ प्रतिद्वन्दी के साथ युद्ध करता है, तब उसके देश में शत्रु के कुटुम्बी लोग प्रविष्ट हो जाते हैं, जिससे शत्रु की शक्ति अधिक बढ़ जाती है इसलिए उनका घुसना मयूरों के समूह में मेंढकों के प्रवेश समान हानिकारक होता है ॥१॥

आत्मशक्तिमविज्ञायोत्साहः शिरसा पर्वतभेदनमिव ॥२४॥ सामसाध्यं युद्धसाध्यं न कुर्यात् ॥२५॥ गुडादभिप्रेतसिद्धौ को नाम विषं भुञ्जीत ॥२६॥ अल्पव्ययभयात् भयात् सर्वनाशं करोति मूर्खः ॥२७॥

का नाम कृतधीः शुल्कभयाद्भाण्डं परित्यजति ॥२८॥

अर्थ—राज-चिह्न-युद्ध के बाजे-आदि-आगे करके पश्चात् राजा से अधिष्ठित प्रधान सैन्य सुसज्जित करके युद्ध के लिए तैयार करना वा स्थापित करना 'प्रतिग्रह' है, ऐसी प्रतिग्रह-सहित (विजिगीषु से अधिष्ठित) प्रधान फौज युद्ध करने में अच्छी तरह उत्साह करती है जिसका फल विजय है ॥१९-२०॥

नारद[१] व शुक्र[२] ने भी उक्त प्रकार प्रतिग्रह का लक्षण-निर्देश करते हुए उससे विजयश्री का लाभ बताया है ॥१॥

युद्ध के अवसर पर सैन्य के पीछे दुर्ग व जल-सहित पृथ्वी रहने से उसे काफी जीवन-सहारा रहता है, क्योंकि पराजित होने पर भी वह दुर्ग में प्रविष्ट होकर जल-प्राप्ति द्वारा अपनी प्राण रक्षा उसी प्रकार कर सकती है, जिस प्रकार नदी में बहने वाले मनुष्य को तटवर्ती पुरुष का दर्शन उसकी प्राण-रक्षा का साधन होता है ॥२१-२२॥

गुरु[३] व जैमिनि[४] ने भी उक्त दृष्टान्त देकर फौज के पीछे वर्तमान जल-सहित दुर्ग भूमि सैन्य की प्राण रक्षा करने वाली बताई है ॥१-२॥

युद्ध के समय सेना को अन्न न मिलने पर भी यदि जल मिल जाय, तो वह अपनी प्राण-रक्षा कर सकती है ॥२३॥

भारद्वाज[५] ने भी उक्त बात की पुष्टि करते हुए प्राण-रक्षक जल को सैन्य के पीछे रखकर युद्ध करने को कहा है ॥१॥

जो निर्बल राजा अपनी सैन्य-आदि शक्ति को न जानकर बलिष्ठ शत्रु से युद्ध करता है उसका वह कार्य मस्तक से पहाड़ तोड़ने के समान असम्भव व घातक है ॥२४॥

कौशिक[६] ने भी अपनी ताकत को बिना जाने युद्ध करने वाले के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

---

१. तथा च नारदः – स्वामिनं पुरतः कृत्वा तत्पश्चादुत्तमं बलं। ध्रियते युद्धकाले यः स प्रतिग्रहसहितः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः–राजा पुरः स्थितो यत्र तत्पश्चात् संस्थितं बलं। उत्साहं कुरुते युद्धे ततः स्याद्विजये पदं ॥१॥

३. तथा च गुरुः–जलदुर्गवती भूमिर्यस्य सैन्यस्य पृष्टतः। पृष्ठदेशे भवेत्तस्य तन्महाश्वासकारणं ॥१॥

४. तथा च जैमिनिः–नीयमानोऽत्र यो नद्या तटस्थं वीक्षते नरं। हेतुं तं मन्यते सोऽत्र जीवितस्य हितात्मनः ॥१॥

५. तथा च भारद्वाजः–अन्नाभावादपि प्रायो जीवित न जलं बिना। तस्माद्युद्धं प्रकर्त्तव्य जलं कृत्वा च पृष्ठतः ॥१॥ ६

६. तथा च कौशिकः–आत्मशक्तिमजानानो युद्धं कुर्याद्बलीयसा। सार्द्धं स च करोत्येव शिरसा गिरिभेदनम् ॥१॥

विजिगीषु को सामनीति द्वारा सिद्ध होने वाला इष्ट प्रयोजन युद्ध द्वारा सिद्ध नहीं करना चाहिए, क्योंकि जब गुड़-भक्षण द्वारा ही अभिलषित प्रयोजन (आरोग्य-लाभ) होता है, तब कौन बुद्धिमान पुरुष विष-भक्षण में प्रवृत्त होगा ? कोई नहीं ॥२५-२६॥

बल्लभदेव[१] व हारीत[२] ने भी सामनीति द्वारा सिद्ध होने वाले कार्यों को दण्डनीति द्वारा सिद्ध करने का निषेध किया है ॥१-२॥

मूर्ख मनुष्य थोड़े से खर्च के डर से अपना सर्वनाश कर डालता है। प्राकरणिक अभिप्राय यह है कि मूर्ख राजा से जब प्रतिद्वंद्वी (शत्रु) सामनीति से कुछ भूमि आदि माँगता हे, तब वह थोड़े से खर्च के डर से उसे कुछ नहीं देता, पश्चात् उसके द्वारा आक्रमण किये जाने पर सर्वनाश कर बैठता है, अतः नैतिक व्यक्ति या विजिगीषु अल्प व्यय के डर से अपना सर्वनाश न करे ॥२७॥

बल्लभदेव[३] ने भी शक्ति-हीन मूर्ख राजा के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

कौन बुद्धिमान मनुष्य महसूल देने के डर से अपना व्यापार छोड़ता है ? कोई नहीं ॥२८॥

कौशिक[४] ने भी बुद्धिमान पुरुष को थोड़े से टैक्स आदि के भय से व्यापार न छोड़ने के विषय में कहा है ॥१॥

प्रशस्तव्यय त्याग, बलिष्ठ शत्रु के लिए धन न देने का दुष्परिणाम, धन देने का तरीका व न देने से आर्थिक-क्षति, शत्रु द्वारा आक्रमण किये हुए राजा की स्थिति-समर्थक दृष्टान्त माला, स्थान भ्रष्ट राजा व समष्टि का माहात्म्य-

स किं व्ययो यो महान्तमर्थं रक्षति॥२९॥

पूर्णसरः—सलिलस्य हि न परीवाहादपरोऽस्ति रक्षणोपायः ॥३०॥

अप्रयच्छतो बलवान् प्राणैः सहार्थं गृह्णाति ॥३१॥

बलवति सीमाधिपेऽर्थं प्रयच्छन् विवाहोत्सवगृहगमनादिमिषेण प्रयच्छेन् ॥३२॥

आमिषमर्थमप्रयच्छतोऽनवधिः स्यान्निबन्धः शासनम्[५]॥ ३३॥

१. तथा च वल्लभदेवः साम्नैव यत्र सिद्धिस्तत्र न दण्डो बुधैविनियोज्यः। पित्तं यदि शर्करया शाम्यति ततः कितरपटोलेन
२. तथा च हारीत-गुड़ास्वादनतः शक्तिर्यदि गात्रस्य जायते। आरोग्यलक्षणा नाम तद्भक्षयति को विषं ॥१॥
३. तथा च वल्लभदेवः-हीनो नृपोऽल्पं महते नृपाय यायाचितो नैव ददाति साम्ना।
कदर्यमाणेन ददति खारिं तेषां स चूर्णस्य पुनर्ददाति ॥१॥
४. तथा च कौशिकः-यस्य बुद्धिर्भवेत काचित् स्वल्पाापि हृदये स्थिता। न भाण्डं त्यजेत् सारं स्वल्पदानकृताद्भयात्
५. इसके पश्चात् मु.मू. प्रति में ''स्वयमल्पबलः कोष-देश दुर्गभूमिरप्रतिवेदयंश्च यदि शत्रुर्देशं न परित्यजेत्'' इतना अधिक पाठ वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि अल्पसैन्य होने पर भी कोष, देश व दुर्गभूमि से युक्त और जिसका बलिष्ठ शत्रु उक्त बातों से अपरिचित है, उस राजा को केवल शत्रु-कृत उपद्रव के भय से अपना देश छोड़कर स्थान भ्रष्ट होना उचित नहीं ॥१॥

कृतसंघातविघातोऽरिभिर्विशीर्णयूथो गज इव कस्य न भवति साध्यः॥३४॥
विनिःस्त्रावितजले सरसि विषमोऽपि ग्राहो जलव्यालवत् ॥३५॥
वनविनिर्गतः सिंहोऽपि श्रृगालायते[1]॥३६॥
नास्ति संघातस्य निःसारता किन्न स्खलयति मत्तमपि वारणं कुथिततृणसंघातः ॥३७॥
संहतैर्बिसतन्तुभिर्दिग्गजोऽपि नियम्यते ॥३८॥

अर्थ—जिस खर्च द्वारा अपने प्रचुर धन की रक्षा व महान् इष्ट प्रयोजन सिद्ध होता है क्या वह खर्च कहा जा सकता है ? नहीं कहा जा सकता। प्राकरणिक अभिप्राय यह है, कि बलिष्ठ शत्रु से सन्धि करने में विजिगीषु द्वारा किया जाने वाला धनादि-खर्च, खर्च नहीं कहा जाता, क्योंकि उससे उसके संचित धन की रक्षा व इष्ट प्रयोजन-सिद्धि होती है॥ २९॥

शौनक[2] ने भी निर्बल राजा को बलिष्ठ शत्रु की धनादि द्वारा सेवा करके अपने प्रचुर धन की रक्षा करना बताया है ॥१॥

जिस प्रकार जल से समूचे भरे हुए तालाब की रक्षा का बहाव (जल के निकास) के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं, उसी प्रकार धनाढ्य पुरुष की धन-रक्षा का धन के सिवाय और कोई दूसरा उपाय नहीं है॥ ३०॥

विष्णुशर्मा[3] ने भी संचित धन की रक्षा, का यही उपाय बताया है ॥१॥

जो निर्बल मनुष्य बलिष्ठ शत्रु द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भी उसे अज्ञान व लोभ-वश धन नहीं देता, उसकी समस्त धन-राशि बलिष्ठ द्वारा अपहरण कर ली जाती है ॥३१॥

भागुरि[4] ने भी उक्त प्रकार कहा है ॥१॥

शक्तिहीन राजा यदि किसी शक्तिशाली सीमाधिपति के लिए प्रयोजन-वश धन देने का इच्छुक हो, तो वह उसे विवाह-आदि उत्सव के अवसर पर सम्मानपूर्वक अपने गृह बुलाकर किसी भी बहाने द्रव्य प्रदान करे ॥३६॥

---

१. इसके पश्चात् ''विच्छिन्नोपान्तप्रताने वंशे किमस्त्याकर्षस्य क्लेशः'' ऐसा मु. मू. प्रति में अधिक पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार जिसके समीपवर्ती-अगल बगल के बांसों का समूह काट दिया गया है, उस बांस को खींचने या उन्मूलन करने में क्या खींचने वाले को कुछ क्लेश हो सकता है ? नहीं हो सकता उसी प्रकार जिसका पक्ष (सहायक लोग) नष्टकर दिया गया है उस शत्रु को जीतने में भी कुछ क्लेश नहीं हो सकता ॥१॥

२. तथा च शौनकः—उपचारपरित्राणाद्दत्वा वित्तं सुबुद्धयः। बलिनो रक्षयन्तिस्म यच्छेषं गृहसंस्थितम् ॥१॥

३. तथा च विष्णुशर्माः—उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणं। तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसां ॥१॥

४. तथा च भागुरिः—[वलाढ्येनार्थितः साम्ना] यो न यच्छति दुर्बलः। किंचिद्वस्तु समं प्रागैस्तत्तस्यासौ हरेद् ध्रुवम् १

शुक्र[१] ने भी उक्त बहाने से बलिष्ठ के लिए धन देने का संकेत किया है ॥१॥

जो शक्ति-हीन राजा शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी सीमाधिपति को किसी बहाने से धन नहीं देता, उसे भविष्यकालीन अपरिमित-असंख्य धन-राशि देना व उसकी कठोर आज्ञा-पालन में बंधना पड़ता है अर्थात् भविष्य में उसके द्वारा किये जाने वाले हमले का कटुक फल (असंख्य धनराशि का अपहरण व राष्ट्र का बर्बादी-आदि) भोगना पड़ता है। अतः निर्बल राजा लोभ को तिलाञ्जलि देकर शत्रुभूत सीमाधिपति को धन-प्रदान द्वारा पहले से ही काबू में रखे ॥३३॥

गुरु[२] ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

शत्रु द्वारा जिसका सैन्य नष्ट कर दिया गया है व परदेश से आया हुआ ऐसा शक्ति-हीन राजा अपने झुण्ड से भ्रष्ट हुए अकेले हाथी के समान किसके द्वारा वश नहीं किया जाता ? सभी के द्वारा वश कर लिया जाता हैं। अर्थात् क्षुद्र लोग भी उसे पराजित कर देते हैं ॥३४॥

नारद[३] न भी शत्रु द्वारा उच्चाटित, नष्ट सेना वाले राजा को अकेले हाथी समान वश करने योग्य बताया है ॥१॥

जिसकी समस्त जल-राशि निकाली जा चुकी है ऐसे जल-शून्य तालाब में वर्तमान मगर आदि भयंकर जल-जन्तु भी जिस-प्रकार जल-सर्प के समान निर्विष व क्षीणशक्ति हो जाता है, उसी प्रकार सैन्य के क्षय हो जाने से राजा भी क्षीण-शक्ति हो जाता है ॥६५॥

रैभ्य[४] ने भी स्थान-हीन राजा को इसी प्रकार शक्ति-हीन बताया है ॥१॥

जिस प्रकार जंगल से निकला हुआ शेर गीदड़ समान शक्ति-हीन हो जाता है, उसी प्रकार नष्ट-सैन्य व स्थान-भ्रष्ट राजा भी क्षीणशक्ति हो जाता है ॥३६॥

शुक्र[५] ने भी स्थान-भ्रष्ट (पदच्युत) राजा की इसी प्रकार लघुता निर्दिष्ट की है ॥१॥

समूह निस्सार (शक्ति-हीन) नहीं होता, क्योंकि क्या बँटा हुआ तृण-समूह (घास का रस्सा) मदोन्मत्त हाथी के गमन को नहीं रोकता ? अवश्य रोकता है। अर्थात् उसके द्वारा मदोन्मत्त हाथी भी बांधा जाता है ॥३७॥

विष्णुशर्मा[६] ने भी संघशक्ति का इसी प्रकार माहात्म्य बताया है ॥१॥

जिस प्रकार बटे हुए मृणाल-तन्तुओं से दिग्गज भी वशीभूत किया जाता है (बांधा जाता है) उसी प्रकार राजा भी सैन्य द्वारा शक्तिशाली शत्रु को वश कर लेता है-युद्ध में परास्त कर देता है ॥३८॥

---

१. तथा च शुक्रः-वृद्ध्युत्सवगृहातिथ्यव्याजैर्देयं बलाधिके। सीमाधिपे सदैवात्र रखार्थं स्वधनस्य च ॥१॥
२. तथा च गुरुः-सीमाधिपे बलाढ्ये तु यो न यच्छति किंचन। व्याजं कृत्वा स तस्याथ संख्याहीनं समाचरेत् ॥१॥
३. तथा च नारदः-डच्चाटितोऽरिमी राजा परदेशसमागतः। वनहस्तीव साध्यः स्यात् परिग्रहविवर्जितः ॥१॥
४. तथा च रैभ्यः-सरसः सलिले नष्टे यथा ग्राहस्तुलां व्रजेत्। जलसर्पस्य तद्वच्च स्थानहीनो नृपो भवेत् ॥१॥
५. तथा च शुक्रः-शृगालतां समभ्येति यथा सिंहो वनच्युतः। स्थानभ्रष्टो नृपोऽप्येवं लघुतामेति सर्वतः ॥१॥
६. तथा च विष्णुशर्माः-बहूनामध्यसाराणां समवायो बलाधिकः। तृणैरावेष्टितो रज्जुर्यथा नागोऽपि बध्यते ॥१॥

हारीत[1] ने भी इसी प्रकार राजा की सैन्यशक्ति का माहात्म्य बताया है ॥१॥

दण्डसाध्य शत्रु व दृष्टान्त, शक्ति व प्रताप-हीन शत्रु के विषय में दृष्टान्तमाला, शत्रु की चिकनी चुपड़ी बातें व दृष्टान्त, नीतिशास्त्र अकेले विजिगीषु को युद्ध करने का निषेध व अपरीक्षित शत्रु-भूमि–

दण्डसाध्ये रिपायुपायान्तरमग्नावाहुतिप्रदानमिव॥३९॥

यन्त्रशस्त्राग्निक्षारप्रतीकारे व्याधौ किं नामान्यौषधं कुर्यात्[2]॥४०॥

उत्पाटितदंष्ट्रो भुजंगो रज्जुरिव॥ ४१॥

प्रतिहतप्रतापोऽङ्गारः संपतितोऽपि किं कुर्यात् ॥४२॥

विद्विषां चाटुकारं न बहु मन्येत ॥४३॥

जिह्वया लिहन् खड्गो मारत्येव ॥४४॥ तन्त्रावापौ नीतिशास्त्रम् ॥४५॥

स्वमण्डलपालनाभियोगस्तंत्रम् ॥४६॥ परमण्डलावाप्त्यभियोगोऽवापः ॥४७॥

बहूनेको न गृह्णीयात् सदर्पोऽपि सर्पो व्यापाद्यत एव पिपीलिकाभिः ॥४८॥

अशोधितायां परभूमौ न प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥४९॥

अर्थ–जो शत्रु दण्ड द्वारा वश करने योग्य है, उसके प्रति अन्य सामदान-आदि उपायों का प्रयोग, प्रज्ज्वलित अग्नि में घृत की आहुति देने के समान उसकी क्रोध-वृद्धि का कारण होता है। अर्थात् जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि घृत की आहुति द्वारा अत्यधिक बढ़ती है, उसी प्रकार दण्ड द्वारा काबू में किया जाने वाला शत्रु भी अन्य सामादि उपायों द्वारा अत्यधिक कुपित हो जाता है॥३६॥

माघकवि[3] ने भी अग्नि से तपे हुए घृत में क्षेपण किये हुए जल बिन्दुओं के दृष्टान्त द्वारा उक्त बात का समर्थन किया हैं ॥१॥

जिस प्रकार यन्त्र, शस्त्र, अग्नि व क्षार चिकित्सा द्वारा नष्ट होने योग्य व्याधि अन्य औषधि

---

१. तथा च हारीतः–अपि सूक्ष्मतरैर्भृत्यैर्बहुभिर्वश्यमानयेत्। अपि वीर्योत्कटं शत्रुं पद्मसूत्रैर्यथा गजम् ॥१॥

२. इसके पश्चात् मु. मू. पुस्तक में ''अज्ञातरणवृत्तःसर्वोऽपि भवति शूरः ॥१॥ अदृष्टान्यसामर्थ्यः को नाम न भवति सदर्पः?॥२॥ अतिप्रवृद्धा श्रीः कं नाम न दर्पयति ॥३॥ कृतार्थापहारो विघटिततन्त्रश्च परो रुष्यन्नपि किं कुर्यात्? ॥४॥ इतना विशेष पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि जब तक युद्ध संबंधी वृत्तान्त को नहीं जानते, तब तक सभी लोग शूरवीर होते हैं। दूसरे की शक्ति को न जानकर कौन पुरुष अहंकार नहीं करता ? प्रायः सभी अहंकार करने लगते हैं। अत्यन्त बढ़ी हुई लक्ष्मी किसे गर्व-युक्त नहीं बनाती ? सभी को बनाती है जिसका धन अपहरण कर लिया गया है एवं जिसका सैन्य भी नष्ट कर दिया गया है, ऐसा शत्रु क्रुद्ध होकर के भी क्या कर सकता है ? कुछ नहीं कर सकता ॥१-४॥

३. तथा च माघकविः–सामवादाः सकोपस्य तस्य प्रत्युतदीपकाः। प्रतप्तस्येव सहसा सपिषस्तोयविन्दवः ॥१॥

द्वारा नष्ट नहीं की जा सकती, उसी प्रकार दण्ड द्वारा वश में किया जाने वाला शत्रु भी अन्य सामादि उपाय द्वारा काबू में नहीं किया जा सकता।

जिस प्रकार सर्प की दाँढ़ें निकाल देने पर वह रस्सी के समान शक्तिहीन (निर्विष) हो जाता है, उसी प्रकार जिसका धन व सैन्य नष्ट कर दिया गया है, ऐसा शत्रु भी शक्तिहीन हो जाता है। ४१॥

नारद[१] ने भी उक्त व उखाड़े हुए सींग वाले बैल का दृष्टान्त देकर उक्त बात का समर्थन किया है ॥१॥

जिस प्रकार नष्ट हो गया है प्रताप जिसका ऐसा अङ्गार (भस्म) शरीर पर पड़ा हुआ कुछ नहीं कर सकता, उसी प्रकार जिसका धन व सैन्य रूप प्रताप नष्ट किया गया है, वह शत्रु भी कुछ नहीं कर सकता ॥४२॥ नैतिक पुरुष शत्रु के कपट-पूर्ण व्यवहार (चिकनी चुपड़ी बातें-आदि) पर अधिक ध्यान न देवें-उसके अधीन न होवे, क्योंकि जिस प्रकार तलवार जीभ द्वारा चाटी जाने पर भी उसे काट डालती है, उसी प्रकार शत्रु भी मधुर वचन बोलता हुआ मार डालता है ॥४३-५४॥ तंत्र (अपने देश की रक्षार्थ सैनिक-संगठन की योजना) व अवाप (दूसरे देश की प्राप्ति के लिए की जाने वाली सन्धि विग्रहादि की योजना) को प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को ''नीतिशास्त्र'' कहते हैं। अपने देश की रक्षा के लिए सैन्य-संगठन आदि उपायों की योजना 'तंत्र' है और दूसरे देश की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले (सन्धि-विग्रहादि) की योजना को 'अवाप' कहते हैं ॥४५-४७॥

शुक्र[२] ने भी स्वदेश की रक्षा का उपाय 'तंत्र' और दूसरे देश की प्राप्ति के उपाय को 'अवाप' कहा है ॥१॥ अकेला व्यक्ति कभी भी बहुसंख्यक के साथ युद्ध न करे, क्योंकि मदोन्मत्त जहरीला सांप बहुत-सी चीटियों द्वारा भक्षण कर लिया जाता है ॥४८॥

नारद[३] ने भी उक्त दृष्टान्त द्वारा अकेले व्यक्ति को युद्ध करने का निषेध किया हैं ॥१॥

विजिगीषु बिना परीक्षा की हुई शत्रु की भूमि में न तो प्रविष्ट हो और न वहाँ से वापस आवे ॥४९॥

युद्ध व उसके पूर्व कालीन राज-कर्तव्य, विजय प्राप्त कराने वाला मंत्र, शत्रु के कुटुम्बियों को अपने पक्ष में मिलाना, शत्रु द्वारा शत्रु नाश का परिणाम व दृष्टान्त, अपराधी शत्रु के प्रति राजनीति व दृष्टान्त-

विग्रहकाले परस्मादागतं कमपि न संगृह्णीयात् गृहीत्वा न संवासयेदन्यत्र तद्दायादेभ्यः, श्रूयते हि निजस्वामिना कूटकलहं विधायावाप्तविश्वासः कृकलासो नामानीकपतिरात्मविपक्षं विरूपाक्षं जघानेति॥ ५०॥ बलमपीड़यन्

---

१. तथा च नारदः-दंष्ट्राविरहितः सर्पो भग्नशृंगोऽथवा वृषः। तथा वैरी परिज्ञेयो यस्य नार्थो न सेवकाः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः-स्वमण्डलस्य रक्षायै यत्तंत्रं परिकीर्तितं। परदेशस्य संप्राप्त्या अवापो नयलक्षणम् ॥१॥

३. तथा च नारदः-एकाकिना न योद्धव्यं बहुभिः सह दुर्बलैः। वीर्याढ्यैर्नापि हन्येत यथा सर्पः पिपीलिकैः ॥१॥

परानभिषेणयेत्॥ ५१॥ दीर्घप्रयाणोपहतं बलं न कुर्यात् स तथाविधमनायासेन भवति परेषां साध्यं ॥५२॥ न दायादादपरः परबलस्याकर्षणमंत्रोऽस्ति ॥५३॥ यस्याभिमुखं गच्छेत्तस्यावश्यं दायादानुत्थापयेत् ॥५४॥ कण्टकेन कण्टकमिव परेण परमुद्धरेत् ॥५५॥ विल्वेन हि विल्वं हन्यमानमुभय यथाप्यात्मनो लाभाय ॥५६॥ यावत्परेणापकृतं तावतोऽधिकमपकृत्य सन्धिं कुर्यात् ॥५७॥ नातप्तं लोहं लोहेन सन्धत्ते ॥५८॥

अर्थ—लड़ाई के समय परचक्र से आये हुए किसी भी अपरीक्षित व्यक्ति को अपने पक्ष में न मिलावे, यदि मिलाना हो तो अच्छी तरह जांच-पड़ताल करके मिलावे, परन्तु उसे वहाँ ठहरने न देवे और शत्रु के कुटुम्बी, जो कि उससे नाराज होकर वहाँ से चले आये हैं उन्हें परीक्षा-पूर्वक अपने पक्ष में मिलाकर ठहरा लेवे, अन्य किसी को नहीं। इतिहास बताता है कि कृकलास नाम के सेनापति ने अपने मालिक से झूठ-मूठ कलह करके शत्रु के हृदय में अपना विश्वास उत्पन्न कराकर अपने स्वामी के प्रतिपक्षी (शत्रु) विरुपाक्ष नाम के राजा को मार डाला ॥५०॥

विजिगीषु अपनी सेना की प्रसन्नता का ख्याल रखते हुए (उसे दान-मानादि द्वारा सुखी बनाते हुए) शत्रुओं से युद्ध करने अपनी सेना के साथ प्रस्थान करे ॥५१॥ विजिगीषु शत्रु-राष्ट्र में प्रविष्ट हुआ अपनी फौज से विशेष मुसाफिरी न करावे, क्योंकि लम्बी मुसाफिरी से ताड़ित-खेदखिन्न (थकी हुई) फौज शत्रुओं द्वारा सरलता से जीती जा सकती है ॥५२॥ विजिगीषु शत्रु के कुटुम्बियों को अपने पक्ष में मिलावे, क्योंकि उनके मिलाने के सिवाय दूसरा कोई शत्रु-सेना को नष्ट करने वाला मंत्र नहीं ॥५३॥

शुक्र[१] ने भी शत्रु के कुटुम्बियों को अपने पक्ष में मिलाना बताया है ॥१॥

विजिगीषु जिस शत्रु पर चढ़ाई करे, उसके कुटुम्बियों को साम-दानादि उपाय द्वारा अपने पक्ष में मिलाकर उन्हें शत्रु से युद्ध करने के लिए प्रेरित करे। उसे अपनी सैन्य क्षति द्वारा शत्रु को नष्ट नहीं करना चाहिए, किन्तु कांटे से कांटा निकालने की तरह शत्रु द्वारा शत्रु को नष्ट करने में प्रयत्नशील होना चाहिए। जिस प्रकार बेल से बेल फोड़े जाने पर दोनों में से एक अथवा दोनों फूट जाते हैं, उसी प्रकार जब विजिगीषु द्वारा शत्रु से शत्रु लड़ाया जाता है,तब उनमें से एक का अथवा दोनों का नाश निश्चित होता है जिससे विजिगीषु का दोनों प्रकार से लाभ होता है ॥५४-५६॥ विजिगीषु का कर्त्तव्य है कि शत्रु ने इसका जितना नुकसान किया है उससे ज्यादा शत्रु की हानि करके उससे सन्धि कर ले ॥५७॥

गौतम[२] ने भी इसी प्रकार उक्त बात का समर्थन किया है ॥१॥

---

१. तथा च शुक्रः—न दायादात् परो वैरी विद्यतेऽत्र कथंचन। अभिचारकमंत्रश्च शत्रुसैन्यनिषूदने ॥१॥

२. तथा च गौतमः—यावन्मात्रोऽपराधश्च शत्रुणा हि कृतो भवेत्। तावत्त स्याधिकं कृत्वा सन्धिः कार्यो बलान्वितै ॥१॥

जिस प्रकार ठंडा लोहा गरम लोहे से नहीं जुड़ता, किन्तु गरम लोहे ही जुड़ते हैं, उसी प्रकार दोनों कुपित होने पर परस्पर सन्धि के सूत्र में बंधते हैं ॥५८॥

शुक्र[१] विद्वान के उद्धरण से भी यही प्रतीत होता है ॥१॥

विजय प्राप्ति का उपाय, शक्तिशाली विजिगीषु का कर्तव्य व उसकी उन्नति, सन्धि के योग्य शत्रु पराक्रम कराने वाला तेज, लघु व शक्तिशाली विजिगीषु का बलिष्ठ से युद्ध करने का परिणाम व दृष्टान्त, पराजित शत्रु के प्रति राजनीति, व शूरवीर शत्रु के सम्मान का दुष्परिणाम–

तेजो हि सन्धाकारणं नापराधस्य क्षान्तिरुपेक्षा वा ॥५९॥ उपचीयमानघटेनेवाश्मा हीनेन विग्रहं कुर्यात् ॥६०॥ दैवानुलोम्यं पुण्यपुरुषोपचयोऽप्रतिपक्षता च विजिगीषोरुदयः ॥६१॥ पराक्रमकर्कशः प्रवीरानीकश्चेद्धीनः सन्धाय साधूपचरितव्यः ॥६२॥ दुःखामर्षजं तेजो विक्रमयति ॥६३॥ स्वजीविते हि निराशस्याचार्यो भवति वीर्यवेगः ॥६५॥ लघुरपि सिंहशावो हन्त्येव दन्तिनम् ॥६४॥ न चातिभग्नं पीड़येत् ॥६६॥ शौर्यैकधनस्योपचारो मनसि तच्छागस्येव पूजा ॥६७॥

अर्थ–अपराधी शत्रु पर विजय प्राप्त करने में क्षमा या उपेक्षा का कारण नहीं, किन्तु विजिगीषु का कोष व सैन्यशक्ति रूप तेज ही कारण हैं। अर्थात्–तेज से ही शत्रु जीता जा सकता है, न कि क्षमा या उपेक्षा से ॥५६॥ जिस प्रकार छोटा–सा पत्थर शक्तिशाली (वजनदार) होने के कारण बड़े घड़े को फोड़ने की क्षमता रखता है, उसी प्रकार विजिगीषु भी सैन्य शक्ति युक्त होने के कारण महान् शत्रु को नष्ट करने की क्षमता रखता है, अतः शक्तिशाली को हीन शक्ति वाले शत्रु के साथ युद्ध करना चाहिए ॥६०॥

जैमिनि[२] ने भी शक्ति शाली विजिगीषु द्वारा महान् शत्रु नष्ट किये जाने के विषय में लिखा है ॥१॥

भाग्य की अनुकूलता, उत्तम व कर्त्तव्यशील पुरुषों की प्राप्ति और विरोधियों का अभाव इन गुणों से विजिगीषु की उन्नति होती है॥ ६१॥

गुरु[३] ने भी विजिगीषु के उक्त गुणों का निर्देश किया है ॥१॥

जब विजिगीषु स्वयं शक्तिहीन हो और शत्रु विशेष पराक्रमी व प्रबल सैन्य–युक्त हो, तो उससे सन्धि कर लेनी चाहिए॥ ६७॥

शुक्र[४] ने भी शक्तिहीन विजिगीषु को शक्तिशाली शत्रु के साथ युद्ध करने का निषेध किया

---

१. तथा च शुक्रः–द्वाभ्यामपि तप्ताभ्यां लोहभ्यां च यथा भवेत्। भूमिपानां च विज्ञेयस्तथा सन्धिः परस्परं ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः–यदि स्याच्छक्तिसंयुक्तो लघुः शत्रोश्च भूपतिः। तदा हन्ति परं शत्रुं यदि स्यादतिपुष्कलम् ॥१॥

३. तथा च गुरुः–यदि स्यात् प्राञ्जलं कर्म प्राप्तियोग्यनृणां तथा। तथा चाप्रतिपक्षत्वं विजिगीषोरिमे गुणाः ॥१॥

४. तथा च शुक्रः–यदा स्याद्वीर्ययान् शत्रुः श्रेष्ठसैन्यसमन्वितः। आत्मानं बलहीनं च तदा तस्योपचर्यते ॥१॥

है १. दुःख से क्रोध और क्रोध से तेज उत्पन्न होता है, पश्चात् उस तेज द्वारा शत्रु पराक्रम करने के लिए प्रेरित किया जाता है। अर्थात् विजिगीषु द्वारा शत्रु क्लेशित किया जाता है, तब उसके हृदय में क्रोधरूपी भीषण ज्वाला धधकती है, जिसके फलस्वरूप उसमें तेज उत्पन्न होता है जो कि उसे पराक्रमी बनाने में सहायक होता है अतः वीर सैन्यशक्तिवाला व प्रतापी शत्रु अपने भाग्य की प्रतिकूलतावश यदि एक वार विजिगीषु द्वारा हरा दिया जाता है परन्तु उसका परिणाम विजिगीषु के लिए महाभयंकर होता है, क्योंकि वह पुनः बार बार हमला करने तत्पर रहता है, इसलिए प्रबल सैनिकों वाले शत्रु के साथ युद्ध न कर सन्धि ही करनी चाहिए ॥६३॥

किसी विद्वान्[१] ने तो दुःख व क्रोध से उत्पन्न हुए विजिगीषु के तेज को विजय का कारण बताया है ॥१॥

जो विजिगीषु अपने जीवन की भी अभिलाषा नहीं करता-मृत्यु से भी नहीं डरता-उसकी वीरता का वेग उसे शत्रु, से युद्ध करने के लिए प्रेरित करता है ॥६४॥

नारद[२] ने भी मृत्यु से डरने वालों में कायरता और न डरने वालों में वीरता व विजय प्राप्ति का निरूपण किया है ॥१॥

जिस प्रकार शेर का बच्चा छोटा होने पर भी शक्तिशाली होने के कारण बड़े भारी हाथी को मार डालता है, उसी प्रकार विजिगीषु भी प्रबल सैन्य की शक्ति से महान शत्रु को युद्ध में परास्त कर देता है ॥६५॥

जैमिनि[३] ने भी उक्त दृष्टान्त द्वारा इसी बात की पुष्टि की है ॥१॥

विजिगीषु अत्यन्त पराजित किये हुए शत्रु को पीड़ित न करे-फिर से उस पर चढ़ाई न करे। अन्यथा सताया हुआ शत्रु अपने नाश की आशंका से पुनः पराक्रम शक्ति का प्रयोग करता है ॥६६॥

विदुर[४] ने भी पराजित शत्रु के बारे में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

शूरता ही है अद्वितीय धन जिसका ऐसे शूरवीर शत्रु का जब विजिगीषु दुरभिप्राय-वश सम्मान करता है तब वह शत्रु अपने मन में उसके प्रति बकरे की पूजा के समान अत्यधिक कुपित हो जाता है अर्थात् जिस प्रकार दुरभिप्रायवश बलिदान करने के पूर्व की जाने वाली बकरे की पूजा उसे कुपित करती है, उसी प्रकार दुरभिप्रायवश विजिगीषु द्वारा किये हुए सम्मान से भी शक्तिशाली शत्रु की क्रोधाग्नि पूर्व में अत्यधिक उद्दीप्त हो जाती है, अतः विजिगीषु को शक्तिशाली शत्रु का कपटपूर्ण सम्मान करके अपने को खतरे में नहीं डालना चाहिए ॥६७॥

---

१. तथा च चोक्तम्ः-दुःखामर्षोद्भवं तेजो यत् पुंसां सम्प्रजायते। तच्छत्रुं समरे हत्वा ततश्चैव निवर्तते ॥१॥
२. तथा च नारद :-न तेषां जायते वीर्यं जीवितव्यस्य वाञ्छकाः। न मृत्योर्ये भयं चक्रुस्ते [वीरांस्युजयान्विताः] ॥१॥
३. तथा च जैमिनिः-यद्यपि स्याल्लघुः सिंहस्तथापि द्विपमाहवे। एवं राजापि वीर्याढ्यो महारिं हन्ति-चेल्लघुः ॥१॥
४. तथा च विदुरः-भग्नः शत्रुर्न गन्तव्यः पृष्ठतो विजिगीषुणा। कदाचिच्छूरतां याति मरणे कृतनिश्चयः ॥१॥

भागुरि[1] ने भी उक्त दृष्टान्त द्वारा उक्त बात का समर्थन किया है ॥१॥

समानशक्ति व अधिक शक्ति वाले के साथ युद्ध से हानि, धर्म, लोभ व असुर विजयी राजा का स्वरूप, असुर-विजयी के आश्रय से हानि, श्रेष्ठ पुरुष के सन्निधान से लाभ, निहत्थे शत्रु. पर प्रहार करने वाले की कड़ी आलोचना, युद्ध भूमि से भागने वाले शत्रुओं के प्रति राजनीति व शत्रु भूत राजाओं के अन्य बन्दी राजाओं से भेंट के विषय में–

समस्य समेन सह विग्रहे निश्चितं मरणं जये च सन्देहः, आमं हि पात्र-मामेनाभिहतमुभयतः क्षयं करोति ॥६८॥ ज्यायसा सह विग्रहो हस्तिना पदातियुद्धमिव॥ ६९॥ स धर्मविजयी राजा यो विधेयमात्रेर्णव सन्तुष्टः प्राणार्थमानेषु न व्यभिचरति[2] ॥७०॥ स लोभविजयी राजा यो द्रव्येण कृतप्रीतिः प्राणाभिमानेषु न व्यभिचरति ॥७१॥ सोऽसुरविजयी यः । प्राणार्थमानोपघातेन महीमभिलषति ॥७२॥ असुरविजयिनः संश्रयः सूनागारे मृगप्रवेशः इव ॥७३॥ यादृशस्तादृशो वा यायिनः स्थायी बलवान् यदि साधुचरः संचारः ॥७४॥ चरणेषु पतितं भीतमशस्त्रं च हिंसन् ब्रह्महा भवति ॥७५॥ संग्रामधृतेषु यायिषु सत्कृत्य विसर्गः ॥७६॥ स्थायिषु संसर्गः सेनापत्यायतः ॥७७॥

अर्थ—समान शक्ति वालों का परस्पर युद्ध होने से दोनों का मरण निश्चित और विजय प्राप्ति संदिग्ध रहती है, क्योंकि यदि कच्चे घड़े परस्पर एक दूसरे से ताड़ित किये जावें तो दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥६८॥

भागुरि[3] ने भी उक्त दृष्टान्त देते हुए तुल्य बलवानों को युद्ध करने का निषेध किया है ॥१॥

जिस प्रकार पदाति (पैदल) सैनिक हाथी के साथ युद्ध करने से नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार हीन-शक्ति बाला विजिगीषु भी अपने से अधिक शक्तिशाली शत्रु के साथ युद्ध करने से नष्ट हो जाता है॥ ६९॥

भारद्वाज[4] ने भी उक्त दृष्टान्त द्वारा उक्त बात की पुष्टि की है ॥१॥

---

१. तथा च भागुरिः–उपयाचितदानेन च्छागेनापि प्ररुष्यति । चंडिका बलवान् भूपः स्वल्पयाऽपि तथेज्यया ॥१॥

२. मु. मू. प्रति में इसके स्थान में नापकरोति ऐसा पाठान्तर है, जिसके कारण उक्त सूत्र का इस प्रकार का भी अर्थ होता है कि जो विजिगीषु पराजित शत्रु के शरणागत होने पर सन्तुष्ट होता हुआ उसके प्राण, धन और मानमर्यादा को नष्ट करने के दुरभिप्राय से उस पर पुनः प्रहार नहीं करता वही 'धर्मविजयी' कहा गया है। विमर्श–उक्त दोनों अर्थ सुसंगत हैं, केवल पार्थक्य भेद इतना ही है कि पहले अर्थ में अपनी प्रजा पर और दूसरे अर्थ में पराजित शत्रु पर अन्याय न करने वाले को 'धर्मविजयी' कहा गया है।–सम्पादक

३. तथा च भागुरिः–समेनापि न योद्धव्यमित्युवाच बृहस्पतिः । अन्योन्याहतिना भंगो घटाभ्यां जायते यतः ॥१॥

४. तथा च भारद्वाजः–हस्तिना सह संग्रामः पदातीनां क्षयावहः । तथा बलवता नूनं दुर्बलस्य क्षयावहः ॥१॥

जो राजा प्रजा पर नियत किये हुए टैक्स से ही सन्तुष्ट होकर उसके प्राण धन व मान की रक्षा करता हुआ अन्याय प्रवृत्ति नहीं करता-उसके प्राण व धनादि नष्ट नहीं करता, उसे ''धर्म विजयी'' और जो सिर्फ धन से ही प्रेम रखकर प्रजा के प्राण और मान मर्यादा की रक्षार्थ उसके अन्यायपूर्ण बर्ताव नहीं करता उसे ''लोभ विजयी'' एवं जो प्रजा के प्राण, धन और सम्मान का नाश पूर्वक शत्रु का वध करके उसकी भूमि चाहता है उसे 'असुर विजयी' कहते है ॥७०-७२॥

शुक्र[१] ने भी उक्त धर्मविजयी-आदि राजाओं के विषय में इसी प्रकार कहा हैं ॥१-३॥

जिस प्रकार चाण्डाल-गृह में प्रविष्ट हुए हिरण का वध होता है, उसी प्रकार असुरविजयी राजा के आश्रय से भी प्रजा का नाश होता है ॥७३॥

शुक्र[२] ने भी असुरविजयी के आश्रय से प्रजा की मृत्यु बताई है ॥१॥

विजिगीषु जैसा-वैसा-दुर्बल व कोष-हीन क्यों न हो परन्तु यदि वह उत्तम कर्त्तव्य-परायण व वीर पुरुषों के सन्निधान से युक्त है तो उसे शत्रु की अपेक्षा बलिष्ठ समझना चाहिए ॥७४॥

नारद[३] ने भी वीर पुरुषों से युक्त विजिगीषु को शक्तिशाली बताया है ॥१॥

जो व्यक्ति संग्राम भूमि में अपने पैरों पर पड़े हुए, भयभीत व शस्त्र-हीन (निहत्थे) शत्रु की हत्या करता है, वह ब्रह्मघाती है ॥७५॥

जैमिनि[४] ने भी उक्त प्रकार का अधर्म-पुरुष ब्रह्महत्या का पात्र बताया है ॥१॥

संग्राम-भूमि से भागने वाले शत्रु, जो विजिगीषु द्वारा पकड़ लिए गये हैं, उन्हें वस्त्रादि द्वारा सम्मानित करके छोड़ देना चाहिए ॥७६॥

भारद्वाज[५] ने तो गिरफ्तार किये गये, भागने वाले व स्थायी (युद्ध करने वाले) दोनों प्रकार के शत्रुओं को क्षात्र धर्म से सम्मानित करके छोड़ देने के विषय में कहा है॥ १॥

स्थायी शत्रु भूत राजाओं की अन्य गिरफ्तार किये हुए बन्दी राजाओं के पास जाकर भेंट होने देना यह सेनापति के अधीन है। अर्थात् यदि वह कोई खतरा न समझे तो भेंट करने दे अन्यथा नहीं।

किसी विद्वान्[६] ने भी उक्त बात सेनापति की रुचि के अधीन बताई है ॥१॥

मनुष्य मात्र की बुद्धिरूप नदी का बहाव, उत्तम पुरुषों की वचन-प्रतिष्ठा, सत्-असत्पुरुष के

---

१. तथा च शुक्रः-प्राणवित्ताभिमानेषु यो राजा न द्रुहेत प्रजाः। सधर्मविजयी लोके यथा लोभेन कोषभाक् ॥१॥
प्राणेषु चाभिमानेषु यो जनेषु प्रवर्तते। स लोभविजयी प्रोक्तो यः स्वार्थेनैव तुष्यति॥ २॥
अर्थमानोपघातेन यो महीं वाञ्छते नृपः। देवारिविजयी प्रोक्तो भूलोकेऽत्र विचक्षणैः॥ ३॥

२. तथा च शुक्रः-असुरविजयिनं भूपं संश्रयेनन्मतिवर्जितः। स नूनं मृत्युमाप्नोति सूनं प्राप्य मृगो यथा ॥१॥

३. तथा च नारदः-राज्यं च दुर्बलो वापि स्थाथी स्याद्बलवत्तरः। सकाशाद्यायिनश्चेत् स्यात् सुनद्धः सुचारकः ॥१॥

४. तथा च जेमिनिः-भग्नशस्त्र तथा त्रस्तं तथास्मीति च वादिनं। यो हन्याद्वैरिणं संख्ये ब्रह्महत्यां समश्नुते ॥१॥

५. तथा च भारद्वाजः-संग्रामे वैरिणो ये च यायिनः स्थाथिनो वृताः। गृहीता मोचनीयास्ते क्षात्रधर्मेण पूजिताः ॥१॥

६. तथा च चोक्तम्-यायिना ससर्गस्तु स्थायिनः संप्रणश्यति। यदि सेनापतेश्चिते रोचते नान्यथैव तु ॥१॥

व्यवहार व लोक पूज्यता का साधन, नीति-युक्त वाणी की महत्ता, मिथ्या वचनों का दुष्परिणाम, विश्वासघात व विश्वासघाती की कड़ी आलोचना व झूठी शपथ का दुष्परिणाम-

मतिनदीयं नाम सर्वेषां प्राणिनामुभयतो वहांत पापाय धर्माय च, तत्राद्य स्त्रोतोऽतीव सुलभं दुर्लभं तद् द्वितीयमिति ॥७८॥ सत्येनापि शप्तव्यं महतामभयप्रदानवचनमेव शपथः ॥७९॥ सतामसतां च वचनायत्ताः खलु सर्वेव्यवहाराः स एव सर्वलोकमहनीयो यस्य वचनमन्यमनस्कतयाप्यायातं भवति शासनं ॥८०॥नयोदिता वाग्वदति सत्या ह्येषा सरस्वती ॥८१॥ व्यभिचारिवचनेषु नैहिकी पारलौकिकी वा क्रियास्ति॥ ८२॥ न विश्वासघातात परं पातक्रमस्ति॥ ८३॥ विश्वासघातकः सर्वेषामविश्वासं करोति॥ ८४॥ असत्यसन्धिषु काशपानं जातान् हन्ति[1]॥ ८५॥

---

१. इसके पश्चात्-मु. मू. प्रति में ''असत्यवादिनो मृतस्यापि हि न दुर्यशो विनश्यति ॥१॥ सकृदुत्थिता प्रसिद्धिर्देवैरपि निवारयितुं न शक्यते॥ २॥ तथाहि धर्मपुत्रः किलासत्यमभाषतापीतमद्यमित्यन्यथाप्यस्ति दुःखसिद्धिः॥ ३॥ यशोवधः प्राणवधाद्गरीयान्॥ ४॥ इस प्रकार विशेष पाठ वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि मिथ्यावादी का अपयश मरने पर भी नष्ट नहीं होता, फिर जीवित अवस्था में किस प्रकार नष्ट हो सकता है? एक बार असत्यभाषण आदि दुर्गुणों से फैला हुआ अपयश देवताओं द्वारा भी निवारण नहीं किया जा सकता। जैसे ''महाभारत के समय युधिष्ठिर ने अत्यधिक मद्यपान करके मिथ्या भाषण किया'' यद्यपि यह बात झूठ है, तथापि उनकी अपकीर्ति जनसाधारण में सुनी जाती है

उक्त ऐतिहासिक दृष्टान्त का स्पष्टीकरण-

कौरवों व पाण्डवों के गुरु द्रोणाचार्य के इकलौते पुत्र का नाम 'अश्वत्थामा' एवं कौरवों की सेना में वर्तमान हाथी का नाम भी अश्वत्थामा था। महाभारत के युद्ध में गुरु द्रोणाचार्य को यह प्रतिज्ञा थी कि यदि मेरा इकलौता पुत्र 'अश्वत्थामा' मारा जायगा तो मैं युद्ध नहीं करूँगा। कौरवों की तरफ से युद्ध करने वाले वीर गुरु द्रोणाचार्य को जीतना पांडवों के लिए टेढ़ी खीर थी, इसलिए उन्होंने गुरु द्रोणाचार्य को युद्ध से अलहदा करने की राजनैतिक चाल चली। एक समय जब पाण्डवों द्वारा कौरव-सैन्य का अश्वत्थामा नाम का हाथी धराशायी किया गया और विजयदुन्दुभि बजाई गई एवं ''अश्वत्थामा मृतः अश्वत्थामा मृतः'' इस प्रकार अश्वत्थामा नाम के गुरु द्रोणाचार्य के पुत्र के मरने का शोर किया गया, उसे द्रोणाचार्य ने सुना। परन्तु उन्हें शत्रुपक्ष की कही हुई बात पर सहसा विश्वास नहीं हुआ, इसलिए उन्होंने इसका निश्चय करने के लिए सत्यवादी धर्मराज युधिष्ठिर से पूछा। कृष्ण, अर्जुन व भीम द्वारा धर्मराज युधिष्ठिर ऐसे अवसर पर मिथ्याभाषण के लिए बाध्य किये गये अतः इनके द्वारा प्रेरित युधिष्ठिर ने ''अश्वत्थामा नाम का हाथी ही मारा गया है न कि गुरु द्रोणाचार्य का पुत्र'' यह जानते हुए भी ''अश्वत्थामा मृतः नरो वा कुञ्जरो वा? अर्थात् ''अश्वत्थामा मर चुका है, परन्तु वह मनुष्य है ? अथवा हाथी इसे मैं नहीं जानता'' इस प्रकार मिथ्याभाषण कर डाला। पांडवों

अर्थ—आश्चर्य है कि संसार में मनुष्य मात्र की बुद्धि रूपी नदी पाप व पुण्य दोनों तरफ बहा करती है। उनमें से उसका पहला पाप की ओर बहाव अत्यन्त सुलभ-सरलता से होने वाला और दूसरा धर्म की ओर बहाव महा कठिन है।

सारांश यह है कि मनुष्य की बुद्धि नीति विरुद्ध व त्याज्य, असत्कार्यों-जुआ व मद्यपानादि पाप कार्य) में स्वतः प्रवृत्त होती हैं, परन्तु अहिंसा व सत्य आदि नैतिक शुभ कार्यों में लाखों प्रयत्न करने पर भी प्रवृत्त नहीं होती; इसलिए कल्याण की कामना करने वाले नैतिक पुरुष को अपनी बुद्धि अनीति व अनाचार से हटा कर नीति व सदाचार की ओर प्रेरित करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए ॥७८॥

गुरु[१] ने भी मनुष्यों की बुद्धि रूपी नदी के पाप और पुण्य इन दोनों स्रोतों का उल्लेख किया है ॥१॥

वादीभसिंह सूरि[२] ने भी प्राणियों की बुद्धि त्याज्य में स्वतः प्रवृत्त होने वाली और शुभ में अनेक प्रयत्नों द्वारा भी प्रवृत्त न होने वाली कहा है।

नैतिक मनुष्य को दूसरों के हृदय में अपना विश्वास उत्पन्न करने के लिए सच्ची शपथ-सौगंध (कसम) खानी चाहिए, झूठी नहीं, अभयदान देने वाले प्रामाणिक वचन बोलना ही महापुरुषों की सौगंध है, अन्य नहीं ॥७९॥

शुक्र[३] ने भी उत्तम पुरुषों की शपथ के बारे में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

लोक में सत्पुरुष व असत्पुरुषों के सभी व्यवहार उनके द्वारा कहे हुए वचनों पर निर्भर होते हैं, इसलिए नैतिक व्यक्ति को अपने कहे हुए वचनों का पालन करना चाहिए। जिसके वचन मानसिक उपयोग के बिना भी कहे हुए लिखित स्टाम्प के समान प्रामाणिक-सच्चे होते हैं, वही पुरुष लोक में समस्त मनुष्यों द्वारा पूज्य होता है ॥८०॥

शुक्र[४] ने भी सत्यवादी को समस्त मनुष्यों द्वारा पूज्य माना है ॥१॥

शिष्ट पुरुषों द्वारा कही जाने वाली नैतिक वाणी साक्षात् सरस्वती के समान प्यारी प्रतीत होती है॥ ८१॥

की तरफ से खेले जाने वाले राजनैतिक दाव-पैचों से गुरु द्रोण ''अश्वत्थामा मृतः नरो''-इतना ही सुन सके इसलिए उन्हें'' धर्मराज युधिष्ठिर की बात पर विश्वास हो गया और पुत्रशोक- से व्याकुल होकर स्वर्गवास को प्राप्त हुए। सारांश यह है कि एकबार मिथ्याभाषण करने से युधिष्ठिर की अभी भी कटु आलोचना की जाती है कि उन्होंने मद्यपान करके मिथ्याभाषण किया ॥१-३॥ दूसरे की कीर्ति का लोप करना उसके प्राणों के घात से भी अधिक हानिकर है॥ ४॥

१. तथा च गुरुः—मतिनर्नाम नदी ख्याता पापधर्मोद्भवा नृणां। द्विस्रोतः प्रथमं तस्याः पापोधर्मस्तथापरं ॥१॥

२. तथा च वादीभसिंहसूरिः—हेये स्वयं सती बुद्धिर्यत्नेनाप्यसती शुभे ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—उक्तमानां नृणामत्र यद्वाक्यमभयप्रदं। स एव सत्यः शपथः किमन्यैः शपथैः कृतैः ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—स एव पूज्यो लोकानां यद्वाक्यमपि शासनं। विस्तीर्ण प्रसिद्धं च लिखितं शासनं यथा ॥१॥

गौतम[१] भी सज्जनों की नीति-युक्त वाणी को साक्षात् सरस्वती के समान मानता है॥ ८२॥ जो प्रामाणिक (सत्य) वचन नहीं बोलते, उनकी ऐहिक वा पारलौकिक क्रियाएँ (कर्त्तव्य) निष्फल होती हैं ॥८२॥

गौतम[२] ने भी मिथ्यावादी को ऐहिक वा पारलौकिक कल्याण से वंचित कहा है ॥१॥

लोक में विश्वासघात से बढ़कर दूसरा कोई महान् पाप नहीं अतः शिष्ट पुरुष कदापि किसी के साथ विश्वासघात न करे ॥८३॥

अङ्गिर[३] ने भी विश्वासघात को महान् पाप बताकर उसका त्याग कराया है ॥१॥

विश्वासघाती अपने ऊपर सभी लोगों का अविश्वास उत्पन्न करता है अर्थात् उस पर कोई भी विश्वास नहीं करता ॥८४॥

रैभ्य[४] ने भी विश्वासघाती के ऊपर उसके माता-पिता का भी विश्वास न होना बताया है ॥१॥

झूठी प्रतिज्ञा करने वालों द्वारा खाई जाने वाली झूठी सौगन्ध उनकी सन्तान-हानि कर डालती है॥ ८५॥

किसी विद्वान्[५] के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

सैन्य की व्यूह-रचना के कारण व उसकी स्थिरता का समय, युद्ध-शिक्षा, शत्रु के नगर में प्रविष्ट होने का अवसर, कूट युद्ध व तूष्णी युद्ध का स्वरूप व अकेले सेनाध्यक्ष से हानि-

बलं बुद्धिर्भूमिर्ग्रहानुलोम्यं परोद्योगश्च प्रत्येकं बहुविकल्पं दण्डमण्डलाभोगा संहतव्यूहरचनाया हेतवः॥८६॥

साधुरचितोऽपि व्यूहस्तावत्तिष्ठति यावन्न परबलदर्शनं॥८७॥

न हि शास्त्रशिक्षाक्रमेण योद्धव्यं किन्तु परप्रहाराभिप्रायेण ॥८८॥

व्यसनेषु प्रमादेषु वा परपुरे सन्यप्रेष्यणमवस्कन्दः॥८८॥

अन्याभिमुखंप्रयाणकमुपक्रम्यान्योपघातकरणं कूटयुद्धं ॥९०॥

विषविषमपुरुषोपनिषदवाग्योगोपजापैः परोपघातानुष्ठानं तूष्णीदण्डः ॥९१॥

एकं बलस्याधिकृतं न कुर्यात्, भेदापराधेनैकः समर्थो जनयति महान्तमनर्थं॥९२॥

---

१. तथा च गौतमः-नीत्यात्मिकात्र या वाणी प्रोच्यते साधुभिर्जनैः प्रत्यक्षा भारती ह्येषा विकल्पो नास्ति कश्चन ॥१॥
२. तथा च गौतमः-न तेषामिह लोकोऽस्ति न परोऽस्ति दुरात्मनां। यैरेव वचनं प्रोक्तमन्यथा जायते पुनः ॥१॥
३. तथा चाङ्गिरः-विश्वासघातकादन्यः परः पातकसंयुतः। न विद्यते धरापृष्ठे तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ॥१॥
४. तथा च रैभ्यः-विश्वासघात को यः स्यात्तस्य माता-पितापि च। विश्वासं न करोत्येव जानेष्वन्येषु का कथा ॥१॥
५. तथा चोक्तम्-यदसत्यं जने कोषपानं तदिह निश्चितं। करोति पुत्रपौत्राणां घातं गोत्रसमुद्भवं ॥१॥

अर्थ—अनेक प्रकार का सैन्य (हाथी व घोड़े आदि), बुद्धि, विजिगीषु के ग्रहों की अनुकूलता, शत्रु द्वारा की जाने वाली लड़ाई का उद्योग और सैन्य मंडल का विस्तार ये संगठित सैन्य व्यूह (विन्यास) की रचना के कारण हैं अर्थात् उक्त कारण सामग्री के सन्निधान से विजिगीषु द्वारा सैन्य व्यूह की रचना की जाती हैं॥८६॥ अच्छी तरह से रचा हुआ सैन्य-व्यूह तब तक ठीक व स्थिर-शील रहता है, जब तक कि उसके द्वारा शत्रु-सैन्य दृष्टिगोचर नहीं हुआ। अभिप्राय यह है कि शत्रु-सेना दिखाई पड़ने पर विजिगीषु के वीर सैनिक अपना व्यूह छोड़ कर शत्रु, की सैन्य में प्रविष्ट होकर उससे भयंकर युद्ध करने भिड़ जाते हैं ॥८७॥

शुक्र[१] ने भी सैन्य की व्यूह रचना के विषय में इसी प्रकार का उल्लेख किया है ॥१॥

विजिगीषु के वीर सैनिकों को युद्ध शास्त्र की शिक्षानुसार युद्ध न कर शत्रु द्वारा किए जाने वाले प्रहारों के अभिप्राय से उन्हें ध्यान में रखते हुए-युद्ध करना चाहिए ॥८८॥

शुक्र[२] ने भी लड़ाई करने का यही तरीका बताया है ॥१॥

जब शत्रु, मद्यपान आदि व्यसनों व आलस्य में फँसा हुआ हो, तब विजिगीषु को अपना सैन्य उसके नगर में भेजकर व प्रविष्ट करके उसके द्वारा शत्रु नगर का घेरा डालना चाहिए॥ ८९॥

शुक्र[३] ने भी विजिगीषु को फौज के प्रवेश का यही अवसर बताया है ॥१॥

दूसरे शत्रु पर चढ़ाई प्रकट करके वहाँ से अपना सैन्य लौटा कर युद्ध द्वारा जो अन्य शत्रु का घात किया जाता है उसे कूट युद्ध कहते हैं॥ ९०॥

शुक्र[४] ने भी कूट युद्ध का इसी प्रकार लक्षण किया है ॥१॥

विष-प्रदान, घातक पुरुषों को भेजना, एकान्त में चुपचाप स्वयं शत्रु के पास जाना व भेदनीति इन उपायों द्वारा जो शत्रु का घात किया जाता है, उसे ''तूष्णी युद्ध, कहते हैं॥ ९१॥

गुरु[५] ने भी उक्त उपायों द्वारा किए जाने वाले शत्रु, वध को तूष्णी युद्ध कहा है ॥१॥

राजा किसी अकेले व्यक्ति को सैन्याधिकारी न बनाये, क्योंकि अकेला सैन्याधिकारी स्वेच्छाचारी और सेना के कारण राजा से भी अधिक शक्तिशाली होता है, इसलिए वह शत्रु द्वारा फोड़े जाने के अपराध-वश अपने स्वामी से प्रतिकूल होकर सेना की सहायता से किसी समय राजा का व राष्ट्र का महान् अनर्थ उत्पन्न कर सकता है ॥९२॥

भागुरि[६] ने भी अकेले व्यक्ति को सेनाध्यक्ष बनाने से उक्त प्रकार की हानि बताई है ॥१॥

---

१. तथा च शुक्रः–व्यूहस्य रचना तावतिष्ठति शास्त्रनिर्मिता। यावदन्यद्बलं नैव दृष्टिगोचरमागतं ॥१॥

२. तथा च शुक्रः–शिक्षाक्रमेण नो युद्धं कर्तव्यं रणसंकुलै। प्रहारान् प्रेक्ष्य शत्रूणां तदर्हं युद्धमाचरेत् ॥१॥

३. तथा च शुकः–व्यसने वा प्रमादे वा संसक्तः स्यात् परो यदि। तदावस्कन्ददानं च कर्तव्यंभूतिमिच्छता ॥१॥

४. तथा च शुक्रः–अन्याभिमुखमार्गेण गत्वा किंचित् प्रयाणकं। व्याघुट्य घातः क्रियते सदैव कुटिलाहवः॥ १॥

५. तथा च गुरुः–विषदानेन योऽन्यस्य हस्तेन क्रियते वधः। अभिचारककृत्येन रिपो मौनाहवो हि सः ॥१॥

६. तथा च भागुरिः–एकं कुर्यात सैन्येशं सुसमर्थे विशेषतः। धनाकृष्टः परैर्भेदं कदाचित् स परैः क्रियात् ॥१॥

ऋणी राजा, वीरता से लाभ, युद्ध से विमुख होने वाले की हानि, युद्ध के लिए प्रस्थान करने वाले राजा का व पर्वत निवासी गुप्तचरों का कर्त्तव्य, सेना के पड़ाव-योग्य स्थान, अयोग्य पड़ाव से हानि व शत्रु-भूमि में प्रविष्ट होने के विषय में राज-कर्त्तव्य-

राजा राजकार्येषु मृतानां सन्ततिमपोषयन्नृणभागी स्यात् साधु नोपचर्यते तंत्रेण ॥९३॥ स्वामिनः पुरः सरणं युद्धेऽश्वमेधसमं ॥९४॥ युधि स्वामिनं परित्यजतो नास्तीहामुत्र च कुशलं ॥९५॥ विग्रहायोच्चलितस्यार्द्धं बलं सर्वदा सन्नद्धमासीत्, सेनापतिः प्रयाणमावासं च कुर्वीत चतुर्दिशमनीकान्यदूरेण संचरेयुस्तिष्ठेयुश्च ॥९६॥ धूमाग्निरजोविषाणध्वनिव्याजैनाटविकाः प्रणधयः परबलान्यागच्छन्ति निवेदयेयुः ॥९७॥ पुरुषप्रमाणोत्सेधमबहुजनविनिवेशनाचरणापसरणयुक्तमग्रतो महामण्डपावकाशं च तदंगमध्यास्य सर्वदा स्थानं दद्यात् ॥९८॥ सर्वसाधारणभूमिकं तिष्ठतो नास्ति शरीररक्षा॥ ९९॥ भूचरो दोलाचरस्तुरंगचरो वा न कदाचित् परभूमौ प्रविशेत् ॥१००॥ करिणं जंपाणं वाप्यध्यासीने न प्रभवन्ति क्षुद्रोपद्रवाः ॥१०१॥

अर्थ—यदि राजा राजकीय कार्यों-युद्ध-आदि में मरे हुए सैनिक-आदि सेवकों की सन्तति-पुत्र-पौत्रादि का पालन-पोषण नहीं करता, तो वह उनका ऋणी रहता है और ऐसा अनर्थ करने से प्रतिकूल हुए मंत्री-आदि प्रकृतिवर्ग भी उसकी भली-भांति सेवा नहीं करते। अतएव राजा को राजकीय कार्य में निर्धनता को प्राप्त हुए सेवकों की सन्तति का पालन-पोषण करना चाहिए ॥९३॥

वशिष्ठ[1] ने भी युद्ध में मारे गये सैनिकों की सन्तति का पालन-पोषण न करने वाले राजा को निस्सन्देह उनकी हत्या का पाप होना बताया है ॥१॥

लड़ाई में अपने स्वामी से आगे जाकर शत्रु से युद्ध करने वाले वीर सैनिक को अश्वमेध यज्ञ समान फल मिलता है।

विमर्श यह है कि लौकिक दृष्टि से उक्त उदाहरण समझना चाहिए, क्योंकि धार्मिक दृष्टि से अश्वमेध यज्ञ में संकल्पी स्थूल जीवहिंसा होती है, अतः उसका करने वाला-अनिष्ट फल-दुर्गति के भयानक दुःख भोगता है, जिसका स्पष्टीकरण यशस्तिलक में इन्हीं आचार्य श्री ने भी किया है ॥९४॥

वशिष्ठ[2] ने भी इसी प्रकार वीर सैनिकों की प्रशंसा की है ॥१॥

लड़ाई में अपने स्वामी को छोड़कर युद्ध भूमि से भाग जाने वाले सैनिक का ऐहलौकिक व पारलौकिक कल्याण नहीं होता। अर्थात्-रणेऽपलायनं-युद्ध से न भागना-इस क्षत्रिय धर्म का त्याग

---

१. तथा च वशिष्ठः-मृतानां पुरतः संख्ये योऽपत्यानि न पोषयेत्। तेषां सहत्यायाः ? तूर्णं गृह्यते नात्र संशयः ॥१॥

२. तथा वशिष्ठः-स्वामिनं पुरतः संख्ये हन्त्यात्मानं च सेवकः। यत्प्रमाणानि यागानि तान्याप्नोति फलानि च ॥१॥

करने से उसकी इस लोक में अपकीर्ति व परलोक में दुर्गति होती है ॥६४॥

भागुरि[१] ने भी युद्ध से पराङ्‌मुख होने वाले सैनिक के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जब विजिगीषु, शत्रु से युद्ध करने के लिए प्रस्थान करे, उस समय उसका सेनाध्यक्ष आधी फौज सदा तैयार-शस्त्रादिक से सुसज्जित रखे, इसके पश्चात् ही विजिगीषु शत्रु पर चढ़ाई करे और जब वह शत्रु-सैन्य के आवास (निवास-स्थान) की ओर प्रस्थान करने में प्रयत्नशील होवे, तब उसके समीप चारों तरफ फौज का पहरा रहे एवं उसके पीछे डेरे में भी फौज मौजूद रहनी चाहिए। इसका कारण यह है कि विजिगीषु कितना ही शक्तिशाली हो, परन्तु वह चढ़ाई के समय व्याकुल हो जाता है और शूरवीर लोग उस पर प्रहार कर देते हैं॥९६॥

शुक्र[२] ने भी शत्रुभूमि के प्रति प्रस्थान करने वाले राजाओं को सदा सावधान रहना बताया है।

जब विजिगीषु दूरवर्ती हो और शत्रु की फौज उसकी ओर आ रही हो, ऐसे अवसर पर जंगल में रहने वाले उसके गुप्तचरों को चाहिए कि वे धुंआ करने, आग जलाने, धूल उड़ाने, अथवा भैंसे के सींग फूँकने का शब्द करने के बहाने उसे शत्रु की फौज आने का बोध करावें ताकि उनका स्वामी सावधान हो जावे॥ ६७॥

गुरु[३] ने भी पर्वतों पर रहने वाले गुप्तचरों का यही कर्त्तव्य बताया है ॥१॥

विजिगीषु शत्रु के देश में पहुँच कर अपनी फौज का पड़ाव ऐसे स्थान में डाले जो कि मनुष्य की ऊँचाई माफक ऊँचा हो, जिसमें थोड़े आदमियों का प्रवेश, घूमना तथा निकास हो जिसके आगे विशाल सभामंडपके लिए पर्याप्त स्थान हो, उसके मध्य में स्वयं ठहर कर उसमें अपनी सेना को ठहरावे। सर्वसाधारण के आने-जाने योग्य स्थान में सैन्य का पड़ाव डालने व स्वयं ठहरने से विजिगीषु अपनी प्राण-रक्षा नहीं कर सकता॥ ६८॥

शुक्र[४] ने भी सैन्य के पड़ाव के बारे में यही कहा है ॥१॥

विजिगीषु पैदल, पालकी अथवा घोड़े पर चढ़ा हुआ शत्रु की भूमि में प्रविष्ट न होवे, क्योंकि ऐसा करने से जब उसे अचानक शत्रु-कृत उपद्रवों का भव प्राप्त होगा, तब वह उनसे अपनी रक्षा नहीं कर सकता ॥१००॥

गुरु[५] ने भी उक्त प्रकार विजिगीषु को शत्रु द्वारा घाते जाने का संकेत किया है ॥१॥

जब विजिगीषु हाथी अथवा जंपान (वाहन विशेष) पर आरूढ़ हुआ शत्रु-भूमि में प्रविष्ट होता

---

१. तथा च भागुरिः-यः स्वामिनं परित्यज्य युद्धे याति पराङ्‌मुखः। इहाकीर्ति परां प्राप्य मृतोऽपि नरकं व्रजेत् ॥१॥

२. तथा च शुक्रः-परभूमिप्रतिष्ठानां नृपतीनां शुभं भवेद्। आवासे च प्रयाणे च यतः शत्रुः परीक्ष्यते ॥१॥

३. तथा च गुरुः-प्रभौ दूरस्थिते वैरी यदागच्छति सन्निधौ। धूमादिभिर्निवेद्यः स चरैश्चारण्यभवैः ॥१॥

४. तथा च शुक्रः-परदेशं गतो यः स्यात् सर्वसाधारणं नृपः। आस्थानं कुरुते मूढो घातकैः स निहन्यते ॥१॥

५. तथा च गुरुः-परभूमिं प्रविष्टो यः पारदारी परिभ्रमेत्। हये स्थितो वा दोलायां घातकैर्हन्यते हि सः ॥१॥

है, तो उसे क्षुद्र उपद्रवों–शत्रु द्वारा मारा जाना आदि का भय नहीं होता ॥१०१॥

भागुरि[१] ने भी उक्त प्रकार से शत्रु–भूमि में प्रस्थान करने वाले विजिगीषु को सुरक्षित कहा हैं ॥१॥

॥ इति युद्ध–समुद्देशः ॥

१. तथा च भागुरिः–परभूमो महीपालः करिणं यः समाश्रितः। व्रजन् जंपणमध्यास्य तस्य कुर्वन्ति किं परे ॥१॥

(३१) विवाह-समुद्देशः

काम सेवन की योग्यता, विवाह का परिणाम, लक्षण, ब्राह्म, दैव आदि चार विवाहों का स्वरूप व श्रेष्ठता–

द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षाः पुमान् प्राप्तव्यवहारौ भवतः ॥१॥ विवाहपूर्वो व्यवहारश्चातुवर्ण्यं कुलीनयति॥ २॥ युक्तितो वरणविधानमग्निदेव-द्विजसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाहः॥ ३॥ स ब्राह्मयो विवाहो यत्र वरायालंकृत्य कन्या प्रदीयते ॥५॥ स देवो यत्र यज्ञार्थमृत्विजः कन्याप्रदाममेव दक्षिणा ॥५॥ गोमिथुनपुरःसरं कन्यादानादार्षः ॥६॥ ''त्वं भवास्य महाभागस्य सहधर्मचार-णीति'' विनियोगेन कन्याप्रदानात् प्रजापत्यः एते चत्वारो धर्म्या विवाहाः॥८॥

अर्थ–१२ वर्ष की स्त्री और १६ वर्ष का पुरुष ये दोनों कामसेवन की योग्यता वाले होते हैं ॥१॥ विवाह पूर्वक किये जाने वाले कामसेवन से चारों वर्ण की सन्तान में कुलीनता उत्पन्न होती है ॥१॥

राजपुत्र[१] जैमिनि[२] ने भी कामसेवन की योग्यता व कुलीन एवं शुद्ध सन्तानोत्पत्ति का उक्त प्रकार समर्थन किया है ॥१-२॥

युक्ति से कन्या का वरण निश्चय करके अग्नि देव व ब्राह्मण की साक्षी पूर्वक वर द्वारा कन्या का जो पाणिग्रहण किया जाता है उसे विवाह कहते हैं॥ ३॥ विवाह के आठ भेद हैं-ब्राह्मय, दैव आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर पैशाच और राक्षस विवाह। उनमें से जिसमें कन्या के पिता आदि संरक्षक अपनी शक्ति-अनुसार कन्या को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके वर के लिए कन्या प्रदान करते हैं, वह ब्राह्म्य विवाह है॥ ४०॥

भारद्वाज[३] और किसी विद्वान्[४] ने भी उक्त प्रकार विवाह का लक्षण एवं भेद निरूपण किये हैं ॥१-२॥

जिसमें यज्ञ (हवन आदि) कर्ता के लिए यज्ञ के निमित्त संरक्षकों द्वारा दक्षिणारूप में कन्या दी

---

१. तथा च राजपुत्रः–यदा द्वादशवर्षा स्यान्नारी षोडशवार्षिकः। पुरुषः स्यात्तदा रंगस्ताभ्यां मैथुनजः परः ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः–स्वर्णकन्यका यस्तु विवाहयति धर्मतः। सन्तानं तस्य शुद्धं स्यान्नाकृत्येषु प्रवर्तते ॥१॥

३. तथा च भारद्वाजः–वरणं युक्तितो यच्च बह्विब्राह्मणसाक्षिकं। विवाहः प्रोच्यते शुद्धो योऽन्यस्य स्याच्च विप्लवः।

४. तदुक्त–ब्राह्मयो दैवस्तथैवार्षाः प्राजापत्यस्तथापरः। गन्धर्वश्चासुरश्चैव पैशाचो राक्षसस्तथा

जाती है, वह 'दैव विवाह' है ॥५॥ जिसमें गौ मिथुन (गाय बैल का जोड़ा) आदि दहेज देकर कन्या दी जाती है, वह "आर्ष विवाह" कहते हैं॥ ६॥

गुरु[1] व किसी विद्वान्[2] ने भी 'दैव और आर्ष विवाह' के उक्त प्रकार लक्षण किये हैं ॥१-२॥

"तू इस महाभाग्यशाली की सधर्मचारिणी (व्यवहार धर्म में सहायता पहुँचाने वाली धर्म पत्नी)हो, इस प्रकार नियोग करके जहाँ पर कन्या प्रदान की जाती है, वह "प्राजापत्य विवाह है ॥७॥

गुरु[3] ने धनिक पुरुष द्वारा धनिक के लिए अपनी कन्या दी जाने को 'प्राजापत्य विवाह' माना है ॥१॥

ये पूर्वोक्त चारों विवाह धर्मरूप-न्याय-संगत (श्रेष्ठ) हैं ॥८॥

गान्धर्व आदि विवाहों के लक्षण व उनकी समालोचना एवं विवाह की अयोग्यता प्रकट करने वाले कन्या-दूषण-

मातुः पितुर्बन्धूनां चाप्रामाण्यात् परस्परानुरागेण मिथः समवायाद्गान्धर्वः ॥९॥ पणबन्धेन कन्याप्रदानादासुरः ॥१०॥ सुप्तप्रमत्तकन्यादानात्पैशाचः ॥११॥ कन्यायाः प्रसह्यादानाद्राक्षसः ॥१२॥ एते चत्वारोऽधमा अपि नाधर्म्या यद्यस्ति वधूवरयोरनपवादं परस्परस्य भाव्यत्वं ॥१३॥ उन्नतत्वं कनीनिकयोः, लोभशत्वं जंघयोरमांसलत्वमूर्वोरचारुत्वं कटिनाभिजठरकुचयुगलेषु, शिरालुत्वमशुभ संस्थानत्वंच वाह्वोः, कृष्णत्वं तालुजिह्वाधरहरीतकीषु, विरलविषमभावो दशनेषु, कूपत्वं कपोलयोः, पिंगलत्वमक्ष्णोर्लग्नत्वंपि (चि) ल्लिकयोः, स्थपुटत्वं ललाटे, दुःसन्निवेशत्वं श्रवणयोः, स्थूलकपिलपरुषभावः केशेषु, अतिदीर्घाति-लघुन्यूनाधिकता समकटकुब्जवामनकिराताङ्ग त्वं जन्मदेहाभ्यां समानताधिकत्वं चेति कन्यादोषाः सहसा तद्गृहे स्वयं दूतस्य चागतस्याग्रे अभ्यक्ता व्याधिमती रुदती पतिघ्नी सुप्ता स्तोकायुष्का बहिर्गता कुलटाऽप्रसन्ना दुःखिता कलहोद्यता परिजनोद्वासिन्यप्रियदर्शना दुर्भगेति नैतां वृणीति कन्याम् ॥१४॥

अर्थ—जिसमें वर कन्या अपने माता-पिता व बन्धुजनों को प्रमाण न मान कर (उनकी उपेक्षा करके) पारस्परिक प्रेम-वश आपस में मिल जाते हैं- दाम्पत्य प्रेम कर लेते हैं वह गान्धर्व विवाह है

---

१. तथा च गुरुः-कृत्वा यज्ञविधानं तु यो ददाति च ऋत्विजः। समाप्तौ दक्षिणां कन्यां दैवं वैवाहिकं हि तत् ॥१॥

२. तदुक्तं-कन्यां दत्वा पुनर्दद्याद्यत्र गोमिथुनपरं। वराय दीयते सोऽत्र विवाहश्चार्षसंज्ञितः ॥१॥

३. तथा च गुरुः-धनिनो धनिनं यत्र विषये कन्यकामिह। सन्तानाय स विज्ञेयः प्राजापत्यो मनीषिभिः ॥१॥

॥६॥ जिसमें कन्या के संरक्षक (पिता आदि) लोभवश वर पक्ष से धनादि ले कर अयोग्य वर के लिए कन्या प्रदान करते हैं उसे 'आसुर विवाह' कहते हैं ॥१०॥ जिसमें सोती हुई व बेहोश कन्या का अपहरण किया जाता है, वह 'पैशाच विवाह' है ॥११॥

जिसमें कन्या बलात्कार पूर्वक (जबरदस्ती) ले जाई जाती है या अपहरण की जाती है, वह 'राक्षस विवाह' है ॥१२॥

गुरु[१] ने भी उक्त गांधर्व आदि विवाहों के लक्षण निर्देश किये हैं ॥१॥

यदि वर-वधू का दाम्पत्यप्रेम निर्दोष है तो उक्त चारों विवाह जघन्य श्रेणी के होने पर भी उन्हें अन्याय-युक्त नहीं कहा जा सकता ॥१३॥

यदि कन्या में निम्न लिखित दूषण वर्तमान हों, तो उसके साथ विवाह नहीं करना चाहिए। जिसकी आँखों की तारकायें उठी हुई व जंघाओं में रोम वर्तमान हो एवं उरु भाग अधिक पतला तथा कमर, नाभि, उदर और कुच कलश भद्दे हों। जिसकी भुजाओं में अधिक नसें दृष्टिगोचर हों और उसका आकार भी अशुभ प्रतीत हो। जिसके तालु, जिह्वा व ओष्ठ हरड़ समान काले हों व दाँत विरले और विषम (छोटे बड़े) हों। जिसका गालों में गड्ढे, आँखें पीली बंदर समान रंग वाली हों। जिसकी दोनों भृकुटियाँ जुड़ी हुई, मस्तक जिसका ऊँचा-नीचा और श्रोत्रों को आकृति भद्दी एवं केश, मोटे, भूरे व रूक्ष हों। जो बहुत बड़ी व छोटी हो। जिसके कमर के पार्श्वभाग सम हो जो कुबड़ी बौनी व भीलों के समान अङ्गों वाली हो। जो वर के बराबर आयु वाली या उससे बड़ी हो, जो वर के यहाँ से आये हुए दूत के समक्ष एकान्त में प्रकट होती हो। इसी प्रकार बीमार, रोती हुई, पति का घात करने वाली, सोती हुई, क्षीण आयु वाली, अप्रसन्न, दुःखी, बाहर निकली हुई (मर्यादा में न रहने वाली) व्यभिचारिणी, कलह- प्रिय, कुटुम्बियों को उजाड़ने वाली, कुरूप व जिसका भाग्य फूटा हो ॥१४॥

पाणिग्रहण की शिथिलता का कुप्रभाव, नव वधू की प्रचण्डता का कारण, उसके द्वारा तिरस्कार और द्वेष का पात्र पुरुष एवं उसके द्वारा प्राप्त होने योग्य प्रणय (प्रेम) का साधन तथा विवाह के योग्य गुण व उनके न होने से हानि-

शिथिले पाणिग्रहणे वरः कन्यया परिभूयते ॥१५॥ मुखमपश्यतो वरस्यानमीलितलोचना कन्या भवति प्रचण्डा ॥१६॥ सह शयने तूष्णीं भवन् पशुवन्मन्येत ॥१७॥ बलादाक्रान्ता जन्मविद्वेष्यो भवति ॥१८॥

---

१. तथा च गुरुः-पितरौ समतिक्रम्य यत्कन्या भजते पतिं। सानुरागा सरंगं च स गान्धर्व इति स्मृतः ॥१॥
मूल्यं सारं गृहीत्वा च पिता कन्यां च लोभतः। सुरूपामथ वृद्धाय विवाहश्चासुरो मतः ॥२॥
सुप्सां वाध प्रमत्तां वा यो मत्वाथ विवाहयेत्। कन्यकां सोऽत्र पैशाचो विवाहः परिकीर्तितः ॥३॥
रुदतां च बन्धुवर्गाणां हठाद्गुरुजनस्य च। गृह्णाति यो वरो कन्यां स विवाहस्तु राक्षसः ॥४॥

धैर्यचातुर्यायत्तं हि कन्याविस्त्रम्भणं ॥१९॥ समविभवाभिजनयोरसमगोत्रयोश्च विवाहसम्बन्धः ॥२०॥ महतः पितुरौश्वर्यादल्पमवगणयति ॥२१॥ अल्पस्य कन्या, पितुर्दौर्बल्यान् महतावज्ञायते॥२२॥ अल्पस्य महता सह संव्यवहारे महान् व्ययोऽल्पश्चायः॥ २३॥ वरं वेश्यायाः परिग्रहो नाविशुद्धकन्याया परिग्रहः ॥२४॥ वरं जन्मनाशः कन्यायाः नाकुलीनेष्ववक्षेपः[1]॥ २५॥

अर्थ—वर-कन्या का पाणिग्रहण शिथिल हो जाने से कन्या द्वारा वर तिरस्कृत किया जाता है ॥१५॥ जब वर लज्जा के कारण अपनी नव वधू के मुख की ओर दृष्टिपात नहीं करे और वधू अपने नेत्र उघाड़ती हुई टकटकी लगाकर उसके मुखकमल की ओर सतृष्ण दृष्टि से देखती रहे, तब वह प्रचण्ड (बेशर्म) हो जाती है ॥१६॥

नारद[2] व जैमिनि[3] ने भी पाणिग्रहण की शिथिलता एवं नव वधू की प्रचण्डता के विषय में यही बताया है ॥१॥ जो वर अपनी नवा (नई) वधू के साथ एक स्थान में शयन करता हुआ लज्जा वश चुपचाप रहता है। अपना कर्तव्य पालन-(चतुरता पूर्वक संलाप, हास्यादि) पतिधर्म का पालन नहीं करता) उसे वह पशु समान मूर्ख समझती है ॥१७॥

यदि वर अपनी नई वधू के साथ जबर्दस्ती काम-क्रीड़ा करने तत्पर होता है, तो उसकी वधू जन्मपर्यन्त उससे द्वेष करती रहती है ॥१८॥ क्योंकि नवा वधू द्वारा प्राप्त होने वाला प्रणय (प्रेम) वर की धीरता व चतुराई के अधीन होता है। सारांश यह है कि यदि वर धीरता व चतुरता से अपनी नवा वधू के साथ प्रेम-पूर्ण दान-मानादि का बर्ताव करता है, तो उसे उसका प्रणय मिलता है, अन्यथा नहीं॥ ५६॥ समान ऐश्वर्य व कुटुम्ब-युक्त तथा विषम (भिन्न) गोत्र वाले वर-कन्याओं में विवाह सम्बन्ध माना गया है ॥२०॥ क्योंकि ऐसा न होने पर जब धनाढ्य की कन्या दरिद्र वर प्राप्त करती है, तब वह अपने पिता के ऐश्वर्य से उन्मत्त होकर अपने दरिद्र पति को नीचा गिनने लगती है। यदि निर्धन की कन्या धनाढ्य वर के साथ ब्याही जाती है, तो वह. अपने पिता की दुर्बलता के कारण अपने धनाढ्य पति द्वारा तिरस्कृत की जाती हैं ॥२१-२२॥ जब छोटा (साधारण पैसे वाला) बड़े (धनाढ्य) के साथ विवाह सम्बन्ध आदि व्यवहार करता है, तो उसमें उसका ज्यादा खर्च व आमदनी

---

१. इसके पश्चात् मु. मू. प्रति में ''अदातरि समृद्धेऽपि किं कुर्युरुपजीविनः। किं शुके किंशुकाः कुर्युः फलितेऽपि बुभुक्षिताः इस प्रकार का पद्यरूप पाठ विशेष पाया जाता है, जिसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार किंशुक (टेसू) वृक्ष के फलशाली होने पर भी उससे शुक (तोते) लाभ नहीं उठा सकते क्योंकि वे भूखे रहते हैं उसी प्रकार धनिक व कृपण (लोभी) मनुष्य के धन से भी सेवकों का कोई लाभ नहीं हो सकता। प्राकरणिक अभिप्राय यह है कि कृपण व धनाढ्य पिता के प्रचुर धन से कन्या लाभ नहीं उठा सकती ॥१॥-सम्पादक

२. तथा च नारदः-शिथिलं पाणिग्रहणं स्यात् कन्यावरयोर्यदा। परिभूयते तदा भर्ता कान्तया तत्प्रभावतः ॥१॥

३. तथा च जैमिनिः-मुखं न वीक्षते भर्ता वेदिमध्ये व्यवस्थितः। कन्याया वीक्षमाणायाः प्रचंडा सा भवेत्तदा ॥१॥

थोड़ी होती है ॥२३॥ किसी प्रकार वेश्या का अङ्गीकार करना अच्छा है, परन्तु अशुद्ध (व्यभिचारिणी या असज्जातीय) कन्या के साथ विवाह करना उचित नहीं, क्योंकि इससे भविष्य में असज्जाति सन्तान उत्पन्न होने के कारण उसका मोक्षमार्ग बंद हो जाता है॥ २४॥ कन्या का पैदा होते ही मर जाना अच्छा है, परन्तु उसका नीच कुल वाले वर के साथ विवाह करना अथवा उसका नीच कुल में पैदा होना अच्छा नहीं॥ २५॥

कन्या के विषय में, पुनर्विवाह में स्मृतिकारों का अभिमत, विवाह सम्बन्ध, स्त्री से लाभ, गृह का लक्षण, कुलवधू की रक्षा के उपाय, वेश्या का त्याग व उसके कुलागत कार्य–

सम्यग्यवृत्ता कन्या तावत्सन्देहास्पदं यावन्न पाणिग्रहः[१] ॥२६॥ विकृतप्रत्यूढोऽपि पुनर्विवाहमर्हतीति स्मृतिकाराः ॥२७॥ आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णाः कन्याभाजनाः ब्राह्मणक्षत्रियविशः॥२८॥ देशापेक्षो मातुलसंबन्धः॥२९॥ धर्मसन्ततिरनुपहता रतिर्गृहवार्तासुविहितत्वमाभिजात्याचारविशुद्धिर्देव-द्विजातिथिबान्धवसत्कारानवद्यरत्वं च दारकर्मणः फलं ॥३०॥ गृहिणी गृहमुच्यते न पुनः कुड्यकटसंघातः ॥३१॥ गृहकर्मविनियोगः परिमितार्थत्वमस्वातंत्र्यं सदाचारः मातृव्यंजनस्त्रीजनावरोध इति कुलबधूनां रक्षणोपायः ॥३२॥ रजकशिलाकुर्कुरखर्परसमा हि वेश्याः कस्तास्वभिजातोऽभिरज्येत ॥३३॥ दानैदौभग्यं सत्कृतौ परोपभोग्यत्वं आसक्तौ परिभवो मरणं वा महोपकारेप्यनात्मीयत्वं बहुकालसंबन्धेऽपि त्यक्तानां तदेव पुरुषान्तरगामित्वमिति वेश्यानां कुलागतो धर्मः ॥३४॥

अर्थ–जब तक कन्या का विवाह-संस्कार नहीं होता, तब तक वह सन्देह का स्थान होती है, चाहे वह सदाचारिणी हो ॥२६॥ जिसकी पहले सगाई की जा चुकी ही ऐसी कन्या का वर यदि विकृत-लूला लंगड़ा या काल-कवलित-हो गया हो, तो उसका पुनर्विवाह-अन्य वर के साथ विवाह करना योग्य है ऐसा स्मृतिकार मानते हैं॥ २७॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अनुलोम (क्रम) से चारों तीनों व दोनों वर्ण की कन्याओं से विवाह करने के पात्र हैं अर्थात् ब्राह्मण चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य व शूद्र) की और क्षत्रिय तीनों वर्ण (क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र) की एवं वैश्य दोनों वर्ण (वैश्य व शूद्र) की कन्याओं के साथ विवाह कर सकता है॥ २८॥ मामा का विवाह आदि सम्बन्ध देश व कुल की अपेक्षा से योग्य समझा जाता है। अर्थात्-जिस देश व कुल में मामा की पुत्री का सम्बन्ध प्रचलित है, वहाँ उसे योग्य माना जाता है, सर्वत्र नहीं ॥२९॥

---

१. मु. मू. प्रति में ''सम्यग्वृता इत्यादि'' पाठान्तर है, जिसका अर्थ वह है कि जब तक कन्या का विवाह संस्कार नहीं होता तब तक वह वरी जाने पर भी (सगाई होने पर भी) संदेह का स्थान रहती है।–सम्पादक

धर्मपरम्परा का अक्षुण्ण चलते रहना अथवा धार्मिक सज्जाति सन्तान का लाभ होना, कामोपभोग में बाधा न आना, गृह व्यवस्था का सुचारु रूप से संचालन, कुलीनता व आचार-शुद्धि, देव, ब्राह्मण अतिथि और बंधुजनों का निर्दोष सम्मान उक्त प्रकार के लाभ धर्मपत्नी द्वारा सम्पन्न होते है ॥३०॥ जहाँ पर स्त्री वर्तमान है, उसे 'गृह' कहा जाता है न कि केवल लकड़ी पाषाण व मिट्टी के संघात से बने हुए गृह को ॥३१॥ कुलबधुओं की रक्षा के निम्न उपाय हैं–१. गृह के काम धन्धों में निरन्तर लगाये रखना, २. उसे खर्च के लिए सीमित (थोड़ा) धन देना, ३. स्वच्छन्द न होने देना-सन्तान-संरक्षण-आदि उत्तरदायित्व पूर्ण कार्यों में स्वतंत्रता देते हुए भी अपने अधीन रखना, ४. नीति एवं सदाचार की शिक्षा देना और माता के समान चिह्न वाले स्त्रीजनों द्वारा रोक रखना-अन्यत्र न जाने देना (उसकी चौकसी रखना) ॥३२॥ वेश्याएँ धोबी की शिला, कुत्तों के खप्पर समान सर्व साधारण व घृणास्पद होती हैं, उनमें कौन कुलीन पुरुष अनुराग करेगा ? कोई नहीं ॥३३॥ वेश्याओं के निम्न प्रकार कुलपरम्परा से चले आने वाले कार्य हैं-

१. दान करने में उनका भाग्य फूटा रहता है-जो कभी भी दान करना नहीं जानती, २. अनुरक्त पुरुषों द्वारा सम्मानित होने पर भी दूसरे पुरुषों से काम सेवन कराना, ३. आसक्त पुरुषों का तिरस्कार वा घात करना, ४. अनुरक्त पुरुषों द्वारा महान् उपकार किये जाने पर भी उनके प्रति अपनापन प्रकट न करना एवं ५. अनुरक्त पुरुषों के साथ बहुत समय तक प्रेम सम्बन्ध रहने पर भी उनके द्वारा छोड़ दी जाने पर अन्य पुरुषों से रति कराना ॥३४॥

॥ इति विवाह-समुद्देशः॥

(३२) प्रकीर्णक-समुद्देशः

प्रकीर्णक व राजा का लक्षण, विरक्त एवं अनुरक्त के चिह्न, काव्य के गुण-दोष, कवियों के भेद तथा लाभ, गीत, वाद्य तथा नृत्य-गुण-

समुद्र इव प्रकीर्णकसूक्तरत्नविन्यासनिबन्धनं प्रकीर्णकं ॥१॥ वर्णपदवाक्यप्रमाणप्रयोगनिष्णातमतिः सुमुखः सुव्यक्तो मधुरगम्भीरध्वनिः प्रगल्भः प्रतिभावान् सम्यगूहापोहावधारणगमकशक्तिसम्पन्नः संप्रज्ञातसमस्त-लिपि भाषावर्णाश्रमसमयस्वपरव्यवहारस्थितिराशुलेखनवाचन समर्थश्चेति सन्धिविग्रहिकगुणाः ॥२॥ कथाव्यवच्छेदो व्याकुलत्वं मुखे वैरस्यमनवेक्षणं-स्थानत्यागः साध्वाचरितेपि दोषोद्भावनं विज्ञप्तेच मौनमक्षमाकालयापनमदर्शनं वृथाभ्युपगमश्चेति विरक्तलिङ्गानि ॥३॥ दूरादेवेक्षणं, मुखप्रसादः संप्रश्नेष्वादरः प्रियेषु वस्तुषुस्मरणं, परोक्षे गुणग्रहणं तत्परिवारस्य सदानुवृत्तिरित्यनुरक्त-लिंगानि ॥४॥ श्रुतिसुखत्वमपूर्वाविरुद्धार्थातिशययुक्तत्वमुभयालंकार-सम्पन्नत्वमन्यूनाधिकवचनत्व-मतिव्यक्तान्यत्वमिति काव्यस्य गुणाः ॥५॥ अतिपरुषवचनविन्यासत्वमनन्वितगतार्थत्वंदुर्बोधानुपपन्नपदोपन्यासमयथार्थयतिविन्या-सत्वमभिधानाभिधेयशून्यत्वमिति काव्यस्य दोषाः ॥६॥ वचनकविरर्थकविरु भयंकविश्चित्रकविर्वर्णकविर्दुष्करकविररोचकीसतुषाभ्यवहारी चेत्यष्टौ कवयः ॥७॥ मनःप्रसादः कलासुकौशलं सुखेन चतुर्वर्गविषयाव्युत्पत्तिरासंसार च यश इति कविसंग्रहस्य फलं ॥८॥ आलप्तिशुद्धिर्माधुर्यातिशयः प्रयोगसौन्दर्यमतीवमसृणतास्थानकम्पितकुहरितादिभावो रागान्तरसंक्रान्तिः परिगृहीतरागनिर्वाहो हृदयग्राहिता चेति गीतस्य गुणाः ॥९॥ समस्वं तालानुयायित्वं गेयाभिनेयानुगतत्वं श्लक्ष्णत्वं प्रव्यक्तयतिप्रयोगत्वं श्रतिसुखावहत्वं चेति वाद्यगुणाः ॥१०॥ दृष्टिहस्तपादक्रियासु समसमायोगः संगीतकानुगतत्वं सुश्लिष्टललिताभिनयांगहारप्रयोगभावो रसभाववृत्तिलावण्यभाव इति नृत्यगुणाः ॥११॥

अर्थ—जो समुद्र के समान फैले हुए सुभाषित-रूप रत्नों की रचना का स्थान है, उसे 'प्रकीर्णक' कहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार समुद्र में फैली हुई प्रचुर रत्नराशि वर्तमान होती है, उसी प्रकार प्रकीर्णक काव्य समुद्र में भी फैली हुई सुभाषित रत्न राशि पाई जाती है ॥१॥ वर्ण पद, वाक्य और तर्कशास्त्र इन विषयों में परिपक्व है बुद्धि जिसकी, स्पष्ट व सार्थक बोलने वाला, मधुर व गम्भीर है वाणी जिसकी, चतुर, प्रतिभाशाली (तेजस्वी), अपने हृदय में योग्य-अयोग्य के ज्ञान को धारण करने की शक्ति से सम्पन्न, समस्त देशों की लिपि, भाषा तथा चार वर्ण (ब्राह्मणादिक) व चार आश्रमों (ब्रह्मचारी आदि) के शास्त्र का वेत्ता, सम्पूर्ण स्व और पर का व्यवहार का जानकार तथा शीघ्र लिखने व बाँचने की कला में प्रवीण ये राजा के गुण हैं। अर्थात् उक्त गुणों से अलंकृत पुरुष राजा होने लायक है ॥२॥ जो कथा को ध्यान पूर्वक न सुने व उसे सुनता हुआ भी व्याकुल हो जाय, जिसकी मुखाकृति उस समय म्लान हो जाय, बात कही जाने पर जो वक्ता के सामने दृष्टिपात न करे, जिस स्थान पर बैठा हो वहाँ से उठकर दूसरी जगह चला जाय वक्ता द्वारा अच्छे कार्य किये जाने पर भी उसे दोषी बतावे, समझाने पर भी जो मौन धारण कर ले कुछ भी उत्तर न देवे, जो स्वयं क्षमा (वक्ता की बात को सहन करने की शक्ति) न होने के कारण अपना काल क्षेप करता हो-निरर्थक समय बिताता हो, जो वक्ता को अपना मुख न दिखावे और अपने वायदा को झूठा करता हो ये कथा से या अपने से विरक्त रहने वाले मनुष्य के चिह्न हैं अर्थात् उक्त चिह्नों से विरक्त की परीक्षा करनी चाहिए ॥३॥ अपने को दूर से आता हुआ देखकर जिसका मुख कमल विकसित हो जाय कुछ प्रश्न किये जाने पर जो अपना सम्मान करे अपने द्वारा पूर्व में की हुई अभीष्ट वस्तुओं (उपकार आदि) का स्मरण करने वाला (कृतज्ञ) परोक्ष में गुणकीर्तन करने वाला व अपने (मित्र के) परिवार से सदा स्नेह-वृत्ति धारण करने बाला ये अपने से अनुरक्त (अनुराग करने वाले) पुरुष के चिह्न हैं। अर्थात् नैतिक पुरुष उक्त लक्षणों से युक्त पुरुष को अपने में अनुरक्त समझे ॥४॥

श्रवण करने से श्रोत्रेन्द्रिय को प्रिय लगने वाला अपूर्व (नवीन) व विरोधादि दोष शून्य (निर्दोष) अर्थ का निरूपण करने के कारण अतिशय युक्त (श्रेष्ठ) शब्दालङ्कार-अनुप्रास आदि और अर्थालंकार (उपमा उत्प्रेक्षा-प्रभृति) से व्याप्त, हीनाधिक वचनों से रहित और जिसका अन्वय अति स्पष्ट हो-जो दूरान्वयी न हो ये काव्य के गुण हैं। अर्थात् उक्त गुण-युक्त काव्य उत्तम माना गया है॥ ५॥ जिसमें श्रुति-कटु वचन (श्रोत्र को अप्रिय लगने वाले कठोर) पदों की रचना व अप्रसंगत अर्थ पाया जावे, दुर्बोध (कठिन) एवं अयोग्य शब्दों की रचना से युक्त, छन्द-भ्रष्ट होने के कारण जिसमें यथार्थ यतिविन्यास (विश्रान्त की रचना) न हो, जिसकी पद-रचना कोषविरुद्ध हो, जिसमें स्वरुचिकल्पित (मन गढन्त) ग्राम्य (असभ्य) पद रचना वर्तमान हो, ये काव्य के दोष हैं। कवि आठ प्रकार के होते हैं-१. वचन कवि जो आचार्य श्री वीरनन्दी कालीदास आदि के समान ललित पदों द्वारा काव्य रचना करता हो, २. अर्थकवि जो महाकवि हरिचन्द्र व भारवि कवि समान गूढ़ार्थ वाले

काव्य का रचयिता हो, ३. उभय कवि जो भगवज्जिनसेचार्य या माघ कवि समान ललित शब्द युक्त और गूढ़ार्थ युक्त काव्य माला का गुम्फन करता हो, ४. चित्र कवि (चित्रालंकारयुक्त काव्य रचयिता), ५. वर्ण कवि (शब्दाडम्बर युक्त) काव्य बनाने वाला, ६. दुष्करि कवि -चाणक्य आदि कवियों के समान अत्यन्त कठिन शब्द कुसुमों द्वारा काव्य माला गुम्फित करने वाला, ७. अरोचकी जिसकी काव्य रचना रुचिकर न हो और ८. सम्मुखाभ्यवहारी-श्रोताओं के समक्ष तत्काल काव्य रचना करने वाला ॥७॥

मानसिक प्रसन्नता, ललित कलाओं (पद्य रचना की कला आदि) में चातुर्य, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों का सरलता से सम्यग्ज्ञान होना, एवं उमास्वामी आचार्य व व्यास आदि के समान संसार पर्यन्त स्थायी कीर्ति रहना इतनी चीजों का लाभ कवि होने से होता है॥ ८॥ षड्ज, ऋषभ गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद, (सा, रे, ग, मा, पा, धा, नी,) इन सातों स्वरों का आलाप शुद्ध (एक स्वर में दूसरे स्वर का सांकर्य-सम्मिश्रण न होना) हो श्रोत्रेन्द्रिय को अत्यन्त प्रिय मालूम हो, (जिसमें अत्यन्त मिठास हो) सुकोमल पद रचना-युक्त अथवा अभिनय (नाट्य) क्रिया में निपुणता का प्रदर्शक हो, जिसके पदोच्चारण में घनाई हो, जिसमें त्रिमात्रा वाले षड्ज व ऋषभ आदि स्वरों का विस्तार (आरोहीपन) व संकोच (अवरोहीपन) वर्तमान हो, जिसमें एक राग से दूसरे राग का संक्रमण वर्तमान हो अथवा राग-वेध पाया जावे, जिस राग में गीत प्रारम्भ किया गया हो उसी राग में उसका निर्वाह (समाप्ति) हो एवं जिसे सुनकर हृदय फड़क (अत्यन्त आल्हादित) उठे ये गायन के गुण हैं ॥६॥ कर्कशता-शून्य, पाँच प्रकार का ताल तथा व गीत व नृत्य के अनुकूल बजने वाला, वाद्य (बाजे) सम्बन्धी दोषों से रहित (निर्दोष) जिसमें यति (विश्रान्ति) यथोचित व प्रकट रीति से पाई जावे एवं जिनके सुनने से श्रोत्रन्द्रिय को सुख प्रतीत हो, ये बाजे के गुण हैं ॥१०॥ जिसमें नेत्र, हाथ व पैरों की संचालन क्रिया का एक काल में मिलाप गाने व बजाने के अनुकूल एवं यथोचित पाया जावे संगीत (गाने बजाने) का अनुसरण करने वाला, जिसमें गायनाचार्य द्वारा सूचित किये हुए सघन और ललित अभिनय (नृत्य) द्वारा अङ्ग-संचालन अभिव्यक्त किया गया हो तथा शृङ्गार आदि नवरस और आलम्बन भाव व उद्दीपन भावों के प्रदर्शन से जिसमें दर्शकों को लावण्य प्रतीत हो, ये नृत्य के गुण हैं अर्थात् उक्त गुणों वाला नृत्य श्रेष्ठ माना गया है ॥११॥

महापुरुष, निंद्य गृहस्थ, तत्कालीन सुख चाहने वालों के कार्य, दान-विचार, कर्जा देने के कटुफल, कर्जा लेने वाले के स्नेहादि की अवधि, सत्यासत्य निर्णय व पापियों के दुष्कर्म-

स महान् यः खल्वार्तोऽपि न दुर्वचनं ब्रूते ॥१२॥

स किं गृहाश्रमी यत्रागत्यार्थिनो न भवन्ति कृतार्थाः ॥१३॥

ऋणग्रहणेन धर्मः सुखं सेवा वणिज्या च तादात्विकानां नायतिहितवृत्तीनां ॥१४॥

स्वस्य विद्यमानमर्थिभ्यो देयं नाविद्यमानं ॥१५॥ ऋणदातुरासन्नं फलं परोपास्तिः कलहः परिभवः प्रस्तावेऽर्थालाभश्च ॥१६॥ अदातुस्तावत्स्नेहः सौजन्यं प्रियभाषणं वा साधुता च यावन्नार्थावाप्तिः ॥१७॥ तदसत्यमपि नासत्यं यत्र न सम्भाव्यार्थहानिः ॥१८॥ प्राणवधे नास्ति कश्चिदसत्यवादः ॥१६॥ अर्थाय मातरमपि लोको हिनस्ति किं पुनरसत्यं न भाषते॥ २०॥

अर्थ—जो शिष्ट पुरुष दुःखी होने पर भी किसी के सामने दुर्वचन (कटु शब्द) नहीं कहता, वही महापुरुष है ॥१२॥ जिसके पास आकर याचक लोग कृतार्थ (संतुष्ट) नहीं होते, वह गृहस्थ निन्द्य हैं ॥१३॥

शुक्र[1] व गुरु[2] ने उक्त प्रकार महापुरुष का एवं निर्धन गृहस्थ को भी आये हुए याचकों के लिए आसन, जमीन, पानी और मीठी वाणी देने का उल्लेख किया है ॥१-२॥

तत्कालीन क्षणिक सुख चाहने वाले पुरुष धनाढ्यों से ऋण लेकर उस धन से दान-पुण्यादि धर्म, सांसारिक सुखों (विवाह आदि) का उपभोग और राजा का सम्मान एवं व्यापार करते हैं, परन्तु भविष्य में स्थायी सुख चाहने वाले नहीं ॥१४॥ दाता याचकों के लिए अपने मौजूद धनादि वस्तु देवें, गैरमौजूद नहीं अर्थात् उसे कर्जा लेकर दान नहीं करना चाहिए ॥१५॥

गर्ग[3] ने भी उक्त दोनों विषयों का इसी प्रकार समर्थन किया है ॥१-२॥ कर्जा देने वाले धनाढ्य पुरुष को निम्न प्रकार कटुफल भोगने पड़ते हैं। १. सबसे पहला निकट फल परोपास्ति (ऋण लेने वाले की सेवा-सुश्रुषा करना), २. कलह (धन-प्राप्ति न होने से कर्जा लेने वाले के साथ लड़ाई झगड़ा होना), ३. तिरस्कार (ऋण लेने वाले के द्वारा अपमानित होना), ४. अवसर पड़ने पर धन न मिलना।

निष्कर्ष—किसी को ऋण रूप में धन देना उचित नहीं ॥१६॥ धनाढ्य के साथ तभी तक स्नेह, प्रिय भाषण व सज्जनता प्रकट करता है, जब तक कि उसे उससे धन-प्राप्ति नहीं हुई अर्थात् धन प्राप्त हो जाने पर वह उसके साथ उक्त शिष्ट व्यवहार (स्नेहादिक) नहीं करता ॥१७॥

अत्रि[4] एवं शुक्र[5] ने भी ऋण देने से हानि व ऋण लेने वाले के बारे में यही कहा है ॥१-२॥ वह वचन असत्य होने पर भी असत्य नहीं माना जा सकता, जिससे सम्भावना किये हुए इष्ट

---

१. तथा च शुक्रः-दुर्वाक्यं नैव यो ब्रूयादत्यर्थं कुपितोऽपि सन्। स महत्त्वमवाप्नोति समस्ते धरणीतले ॥१॥
२. तथा च गुरुः-तृणानि भूमिरुदकं वाचा चैव तु सूनृता। दरिद्रैरपि दातव्यं सभासन्नस्य चार्थिनः ॥१॥
३. तथा च गर्गः-धर्मकृत्यं ऋणप्राप्त्या सुखं सेवापरं परं। तादात्विकविनिर्दिष्ट तद्धनस्य न चापरं ॥१॥
अविद्यमानं यो दयादृणां कृत्वापि वल्लभः। कुटुम्बं पीड्यते येन तस्य पापस्य भाग्भवेत्॥ ३॥
४. तथा च अत्रिः-उद्धारकप्रदानृणां त्रयो दोषाः प्रकीर्तिताः। स्वार्थदानेन सेवा च युद्धं परिभवस्तथा ॥१॥
५. तथा च शुक्रः-तावत्स्नेहस्य बन्धोऽपि ततः पश्चाच्च साधुता। ऋणकस्य भवेद्यावृत्तस्य गृह्णाति नो धनम् ॥१॥

प्रयोजन (प्राण-रक्षा) आदि की क्षति नहीं होती-उसकी सिद्धि होती है, क्योंकि वक्ता के वचनों में सत्यता वा असत्यता का निर्णय लौकिक प्रमाण-किसी के कहने मात्र-से नहीं किया जा सकता, किन्तु नैतिक विचार द्वारा ही किया जा सकता है, अतः गुरुतर इष्ट प्रयोजन की सिद्धि के अभिप्राय से कहे हुए मिथ्या वचन मिथ्या नहीं कहे जा सकते ॥१८॥ प्राण-घात के समय उनकी रक्षार्थ कहा हुआ असत्य वचन असत्य नहीं भी है ॥१९॥

वादरायण[१] ने गुरुतर प्रयोजन साधक वचनों को सत्य और व्यास[२] ने भी प्राण वध आदि पाँच अवसरों पर प्रयुक्त किये हुए पाँच प्रकार के मिथ्या भाषण को निष्पाप सत्य बताया हैं ॥१-२॥

जब कि पापी पुरुष धन के लिए माता का भी घात कर डालता है, तब क्या वह उसके लिए मिथ्याभाषण नहीं करता ? अवश्य करता है। अतः धन के विषय में किसी पर विश्वास नहीं करना चाहिए चाहे वह अनेक प्रकार की शपथ भी खावे॥२०॥

शुक्र[३] ने भी उक्त दृष्टान्त देते हुए उक्त बात का समर्थन किया है ॥१॥

भाग्याधीन वस्तुएँ, रतिकालीन पुरुष-वचनों की मीमांसा, दाम्पत्य-प्रेम की अवधि, युद्ध में पराजय का कारण, स्त्री को सुखी बनाने से लाभ, लोगों की विनयतत्परता की सीमा, अनिष्ट का प्रतीकार, स्त्रियों के बारे में व साधारण मनुष्य से लाभ, एवं लेख व युद्ध सम्बन्धी नैतिक विचारधारा-

सत्कलासत्योपासनं हि विवाहकर्म, दैवायत्तस्तु वधूवरयोर्निर्वाहः[४] ॥२१॥

रतिकाले यन्नास्ति कामार्तो यन्न ब्रूते पुमान् न चैतत्प्रमाणं ॥२२॥

तावत्स्त्रीपुरुषयोः परस्परं प्रीतिर्यावन्न प्रातिलोम्यं कलहो रतिकैतवं च॥२३॥

तादात्विकबलस्य कुतो रणे जयः प्राणार्थः स्त्रीषु कल्याणं वा॥ २४॥

तावत्सर्वः सर्वस्यानुवृत्तिपरो यावन्न भवति कृतार्थः[५]॥ २५॥

अशुभस्य कालहरणमेव प्रतीकारः॥ २६॥

---

१. तथा च वादरायणः-तदसत्यमपि नासत्यं यदत्र परिगीयते। गुरुकार्यस्य हानिं च ज्ञात्वा नीतिरिति स्फुटम् ॥१॥

२. तथा च व्यासः-नासत्ययुक्तं वचनं हिनस्ति, न स्त्रीषु राजा न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारी, पंचानृतान्याहुरपातकानि ॥१॥

३. तथा च शुक्रः-श्रपि स्याद्यदि मातापि तां हिनस्ति जनोऽधनः। किं पुनः कोषपानाद्यं तस्मादर्थे न विश्वसेत् १

४. ''सकलासत्योपायनं किं ? विवाहकर्म'' इत्यादि पाठान्तर मु. मू. प्रति में वर्तमान है जिसका अर्थ यह है कि समस्त झूठी भेंट क्या है ? विवाहकर्म; उसमें दम्पतियों का निर्वाह (जीवन-रक्षा) भाग्याधीन है अर्थात् भाग्य अनुकूल होने पर ही उनका निर्वाह हो सकता है, अन्यथा नहीं। -संपादक।

५. इसके पश्चात् मु. मू. प्रति में ''सहसम्भवो देहोऽपि नामुत्र सहानुयायी किं पुनरन्यः'' ऐसा विशेष पाठ वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि जीव के साथ उत्पन्न हुआ शरीर भी जब इसके साथ दूसरे भव में नहीं जाता तब क्या अन्य पदार्थ जा सकते हैं ? नहीं जा सकते ॥१॥-संपादक।

पक्वान्नादिव स्त्रीजनाद्दाहोपशान्तिरेव प्रयोजनं किं तत्र रागविरागाभ्यां ॥२७॥

तृणेनापि प्रयोजनमस्ति किं पुनर्न पाणिपादवता मनुष्येण ॥२८॥

न कस्यापि लेखमवमन्येत, लेखप्रधाना हि राजानस्तन्मूलत्वात् सन्धिविग्रहयोः सकलस्य जगद्व्यापारस्य च॥२९॥

पुष्पयुद्धमपि नीतिवेदिनो नेच्छन्ति किं पुनः शस्त्रयुद्धं॥३०॥

अर्थ—पूर्व कर्मानुसार मनुष्यों को प्रशस्त कलाएँ, सत्य की उपासना व विवाह संबन्ध प्राप्त होता है, परन्तु विवाह सम्बन्ध हो जाने पर भी दम्पत्ति का निर्वाह उनके भाग्य की अनुकूलता के अधीन हैं ॥२१॥ काम-पीड़ित पुरुष रति (काम-सेवन) के अवसर पर ऐसा कोई ''वचन (सत्य व झूठ) बाकी नहीं रखता, जिसे वह अपनी प्रियतमा (स्त्री) से नहीं बोलता-वह सभी प्रकार के सत्य असत्य वचन बोलता है, परन्तु उसके वे वचन प्रामाणिक नहीं होते।

अभिप्राय यह है कि विषयाभिलाषी व सज्जाति सन्तान के इच्छुक पुरुष को रतिकाल के समय तात्कालिक प्रिय (मधुर) वचनों द्वारा अपनी प्रिया को अनुरक्त करना चाहिए ॥२२॥

गुरु[१] व राजपुत्र[२] ने भी विद्या व विवाह आदि को भाग्याधीन व काम-पीड़ित पुरुष का रतिकालीन उक्त कर्तव्य बताया है ॥१-२॥

दम्पतियों में तभी तक पारस्परिक प्रेम रहता है, जब तक कि उनमें प्रतिकूलता, कलह और विषयोपभोग सम्बन्धी कुटिलता नहीं पाई जाती ॥२३॥ जिस विजिगीषु के पास थोड़े समय तक टिकने वाली अल्प सैन्य वर्तमान है वह युद्ध में शत्रु से विजयश्री किस प्रकार प्राप्त कर सकता है ? नहीं कर सकता। इसी प्रकार स्त्रियों का कल्याण (उपकार) करने से भी मनुष्य अपनी प्राण-रक्षा नहीं कर सकता अतः युद्ध में विजयश्री के लाभार्थ प्रचुर सैन्य शक्ति होनी चाहिए तथा विवेकी पुरुष स्त्रियों के प्रति किये हुए उपकार को प्राण-रक्षा का साधन न समझे ॥२४॥

राजपुत्र[३] व शुक्र[४] ने भी दाम्पत्यप्रेम व अल्प सैन्य वाले विजिगीषु के विषय में उक्त बात का समर्थन किया है ॥१-२॥

जब तक लोग दूसरों के द्वारा कृतार्थ (अपनी प्रयोजन-सिद्धि करने वाले) नहीं होते, तभी तक सभी लोग सभी के साथ विनय शीलता दिखाते हैं, परन्तु प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर कौन किसे पूछता है ? कोई नहीं पूछता ॥२५॥

---

१. तथा च गुरुः—विद्यापत्यं विवाहश्च दंपत्योश्वामिता रतिः। पूर्वकर्मानुसारेण सर्व सम्पद्यते सुखं ॥१॥

२. तथा च राजपुत्रः—नान्यचिन्तां भजेन्नारीं पुरुषः कामपंडितः। यतो न दशयेद्भावं नैवं गर्भं ददाति च ॥१॥

३. तथा च राजपुत्रः—ईषत्कलहकौटिल्यं दम्पत्योर्जायते यदा। तथा कोषविदेहंग्रस्ताभ्यामेव परस्परं ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—तावन्मात्रं बलं यस्य नान्यत् सैन्यं करोति च। शत्रुभिर्हीनसैन्यः स लक्षतयित्वा निपात्यते ॥१॥

अशुभ करने वाले (विरोधी) व्यक्ति से समय पर न मिलना ही उसके शान्त करने का उपाय है। अर्थात् जब शत्रुता करने वाला मनुष्य समय का उल्लंघन और मिष्ट वचनों द्वारा वंचना किया जाता है, तभी वह शान्त होता है, अन्यथा नहीं॥ २६॥

व्यास[1] व नारद[2] ने भी कृतार्थ व अशुभ करने वाले पदार्थ के विषय में उक्त बात की पुष्टि की है ॥१-२॥ जिस प्रकार बुभुक्षित (भूखे) की क्षुधा की निवृत्ति करने के लिए पके हुए अन्न से प्रयोजन रहता है, उसी प्रकार काम रूपी अग्नि से संतप्त हुए पुरुष को भी शारीरिक आताप (मैथुनेच्छा) को शांत करने के लिए स्त्री से प्रयोजन रहता है, अन्य कोई प्रयोजन नहीं। इसलिए उनमें अनुराग (प्रेम)व विराग (विरोध) करने से कोई लाभ नहीं अर्थात् उनके साथ माध्यस्थ्य भाव रखे। क्योंकि उनमें विशेष अनुरक्त व आसक्त पुरुष धार्मिक (दान-पुण्यादि) व आर्थिक (व्यापार आदि) कार्यों से विमुख होने के कारण अपनी धार्मिक व आर्थिक क्षति कर डालता हैं एवं उनसे विरोध रखने वाला काम पुरुषार्थ से वंचित रह जाता हैं, अतः स्त्रियों के प्रति मध्यस्थ भाव ही श्रेयस्कर है॥ २७॥ जबकि तिनके से भी मनुष्य का प्रयोजन (दन्त-शुद्धि आदि सिद्ध होता है तब क्या हाथ पाँव वाले मनुष्य से उसका प्रयोजन सिद्ध न होगा अवश्य सिद्ध होगा ? अतः उसे उत्तम, मध्यम व अधम सभी के साथ मैत्री रखनी चाहिए एवं अधम पुरुष की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए॥ २८॥

गौतम[3] व विष्णुशर्मा[4] ने भी उक्त दोनों बातों का समर्थन किया है ॥१-२॥

विजिगीषु अथवा विवेकी पुरुष किसी भी साधारण व्यक्ति के लेख (पत्र) की अवज्ञा (तिरस्कार) न करे क्योंकि राजा लोग लेख द्वारा ही शत्रु की चेष्टा का ज्ञान करते हैं, इसलिए वे लेखप्रधान कहे जाते हैं एवं सन्धि, विग्रह व समस्त संसार के व्यापार की स्थिति का ज्ञान भी लेख द्वारा ही होता है ॥२६॥ नीति के वेत्ता पुरुष पुष्पों द्वारा भी युद्ध करना नहीं चाहते, तब शस्त्र-युद्ध किस प्रकार चाहेंगे? नहीं चाहेंगे॥ ३०॥

गुरु[5] व विदुर[6] ने भी लेख व युद्ध के विषय में उक्त बात की पुष्टि की है ॥१-२॥

स्वामी और दाता का स्वरूप, राजा, परदेश, बन्धु-हीन दरिद्र तथा धनाढ्य के विषय में, निकट विनाश वाले की बुद्धि, पुण्यवान, भाग्य की अनुकूलता, कर्मचाण्डाल एवं पुत्रों के भेद-

---

१. तथा च व्यासः-सर्वस्य हि कृतार्थस्य मतिरन्या प्रवर्तते। तस्मात् सा देवकार्यम्य किमन्यैः पोषितैः विटैः ॥१॥
२ तथा च नारदः -अ शुभस्य पदार्थस्य भविप्यस्य प्रशान्तये। कालातिक्रमणं मुक्त्वा प्रतीकारो न विद्यते ॥१॥
३. तथा च गौतमः-न रागो न विरागो वा स्त्रीणां कार्यो विचक्षणैः। पक्वान्नमिव तापस्य शान्तये स्याच्च सर्वदा ॥१॥
४. तथा च विष्णुशर्माः-दन्तस्य निष्कोषणकेन नित्यं, कर्णस्य कण्डूयनकेन चापि।
तृणेन कार्यंभवतीश्वराणां किं पादयुक्तेन नरेण न स्यात् ॥१॥
५. तथा च गुरुः-लेखमुख्यो महीपालो लेखमुख्यं च चेष्टितं। दूरस्थस्यापि लेखो हि लेखोऽतो नावमन्यते ॥१॥
६. तथा च विदुरः-पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनः निशितैः शरैः। उपायपतया ? पूर्वं तस्माद्युद्धं समाचरेत् ॥१॥

स प्रभुर्यो बहून् बिभर्ति किमर्जुनतरोः फलसम्पदा या न भवति परेषामुपभोग्या ॥३१॥ मार्गपादप इव स त्यागी यः सहते सर्वेषां संबाधां॥ ३२॥ पर्वता इव राजानो दूरतः सुन्दरालोकाः॥ ३३॥ वार्तारमणीयः सर्वोऽपि देशः॥३४॥ अधनस्याबान्धवस्य च जनस्य मनुष्यवत्यपि भूमिर्भवति महाटवी॥३५॥ श्रीमतो ह्यरण्यान्यपि राजधानी॥ ३६॥ सर्वस्याप्यासन्नविनाशस्य भवति प्रायेण मतिर्विपर्यस्ता॥ ३७॥ पुण्यवतः पुरुषस्य न क्वचिदप्यस्ति दौःस्थ्यं॥३८॥ दैवानुकूलः कां सम्पदं न करोति विघटयति वा विपदं ॥३९॥ असूयकः पिशुनः कृतघ्नो दीर्घरोष इति कर्मचाण्डालाः ॥४०॥ औरसः क्षेत्रजोदत्तः कृत्रिमो गूढ़ोत्पन्नोऽपविद्ध एते षट् पुत्रा दायादाः पिण्डदाश्च[1]॥४१॥

अर्थ—जो साधारण धन वाला हो करके भी अपनी उदारता के कारण बहुत से मनुष्यों का पालन-पोषण करता है, वही स्वामी है और जो स्वामी धनाढ्य होकर कृपणता-वश ऐसा नहीं करता वह दूसरों के द्वारा उपभोग में न आने वाली अर्जुन वृक्ष की फल सम्पत्ति के समान निरर्थक व निन्द्य गिना जाता है॥ ३१॥ जो रास्ते में रहने वाले वृक्ष के समान समस्त अभ्यागत या याचकों के उपद्रव सहन करता हुआ क्लेशित नहीं होता, वही दाता है अर्थात्-जिस प्रकार रास्ते में वर्तमान वृक्ष पान्थों द्वारा किए जाने वाले उपद्रव (पुष्प व फल तोड़ना) सहन करता है, उसी प्रकार भोजन व शयनादि के दान द्वारा अभ्यागतों को सम्मानित करने वाला दाता भी उनके द्वारा दिए जाने वाले कष्ट सहन करता है ॥३२॥

व्यास[2] और गुरु[3] ने भी स्वामी और दाता के विषय में इसी प्रकार का उल्लेख किया॥१-२॥

राजा लोग पर्वतों के समान दूर से ही सुन्दर दिखाई देते हैं, समीप में जाने से नहीं अर्थात् जिस प्रकार पर्वत पार्श्वभाग-आदि के कारण दूर से मनोहर और समीप में जाने पर अनेक थूहर-आदि कटीले वृत्तों व बड़ी-बड़ी विशाल चट्टानों के कारण चढ़ने में कष्टदायक होते हैं, उसी प्रकार राजा लोग भी छत्र-चामरादि विभूति-युक्त होने से दूर से रमणीक दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु पास जाने से कष्टदायक-आर्थिक दण्ड आदि द्वारा पीड़ित करने वाले होते हैं, अतः उनसे दूर रहना ही श्रेष्ठ

---

१. इसके पश्चात् मु.मू. प्रति में ''कानीनः सहोढः क्रीतः पौनर्भवः स्वयंदत्तः शौद्रश्चेति षट्पुत्रा न दायादा नापि पिण्डदाश्च'' ॥१॥ इतना विशेष पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि कानीन (कन्या से उत्पन्न हुआ) सहोढ, (दामाद) क्रीत (पैसे से लिया हुआ) पौनर्भव (विधवा से उत्पन्न हुआ) स्वयंदत्त और शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुआ ये पुत्र अधम होने से न पैतृक सम्पति के अधिकारी होते हैं और न पिता को स्मृत्यर्थ आहारादि दान देने वाले। -संपादक

२. तथा च व्यासः—स्वल्पविक्षोऽपि यः स्वामी यो विभर्ति बहून् सदा। प्रभूतफलयुक्तोऽपि सम्पदाप्यर्जुनस्य च ॥१॥

३. तथा च गुरुः—यथा मार्गतरुस्तद्वत्सहते य उपद्रवं। अभ्यागतस्य लोकस्य स त्यागी नेतरः स्मृतः ॥१॥

है ॥३३॥ सभी देश में उनके बारे में कही जाने वाली लोगों की सुन्दर बातें सुनने से रमणीक मालूम पड़ते हैं, अतः बिना परीक्षा किए ही किसी के कहने मात्र से परदेश को गुण-युक्त जानकर स्वदेश का त्याग करना उचित नहीं ॥३४॥

गौतम[१] और रैभ्य ने[२] भी राजाओं व परदेश के विषय में इसी प्रकार का उल्लेख किया है ॥१-२॥

निर्धन (दरिद्र) और बन्धुहीन पुरुष को अनेक मनुष्यों से व्याप्त पृथ्वी भी महान् अटवी के समान दुःखदायक है, क्योंकि उसे दारिद्रय व कुटुम्बहीनता के कारण वहाँ सांसारिक सुख नहीं मिल सकता। धनाढ्य पुरुष को वनस्थली भी राजधानी समान सुख देने वाली हो जाती है ॥३५-३६॥

रैभ्य[३] ने भी दरिद्र व बन्धुहीन व्यक्ति के बारे में इसी प्रकार का कथन किया है ॥१॥

विनाशकाल के निकट आने पर प्रायः सभी की बुद्धि विपरीत (उल्टी) हो जाती है, क्योंकि निकट विनाश वाला व्यक्ति अपने हितैषियों की निन्दा व शत्रु की प्रशंसा आदि विपरीत कार्य करता है, जिससे प्रतीत होता है कि इसका विनाश निकट है॥ ३७॥ भाग्यशाली पुण्यवान् पुरुष को कभी भी आपत्तियां नहीं होतीं ॥३८॥ दैव- पूर्वजन्म में किए हुए कर्म (भाग्य) की अनुकूलता होने पर भाग्यशाली पुरुष को कौन-कौन सी सम्पत्तियाँ प्राप्त नहीं होतीं ? सभी सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं और उसकी कौन-कौन सी विपत्तियाँ नष्ट नहीं होतीं ? सभी नष्ट हो जाती हैं ॥३९॥

गर्ग[४] व हारीत[५] ने भी निकट विनाश वाले और भाग्यशाली के विषय में उक्त बात का समर्थन किया है ॥१-२॥

दूसरों की निन्दा करने वाला, चुगलखोर, कृतघ्न-उपकार को न मानने वाला (गुणमेटा) और दीर्घकाल तक क्रोध करने वाला ये चारों मनुष्य अनीति के कारण कर्मचाण्डाल हैं ॥४०॥

गर्ग[६] ने भी उक्त चार प्रकार के मनुष्यों को कर्मचाण्डाल माना है ॥१॥

औरस (धर्मपत्नी से उत्पन्न हुआ पुत्र), क्षेत्रज (दूसरे स्थान में धर्मपत्नी से उत्पन्न हुआ), दत्त (गोद लिया हुआ) कृत्रिम-बन्धन से मुक्त किया हुआ, गूढ़ोत्पन्न (गूढ़ गर्भ से उत्पन्न हुआ), और अपविद्ध (पति के अन्यत्र चल जाने पर या मरने के बाद उत्पन्न हुआ) यह छह प्रकार के पुत्र दायाद

---

१. तथा च गौतमः-दुरारोहा हि राजानः पर्वता इव चोन्नताः। दृश्यन्ते दूरतो रम्याः समीपस्थाश्च कष्टदाः ॥१॥
२. तथा च रैभ्यः-दुर्भिक्षाढ्योऽपि दुःस्थोऽपि दूराजसहितोऽपि च। स्वदेशं च परित्यज्य नान्यस्मिंश्चिच्छुमे व्रजेत् १
३. तथा च रैभ्यः-निर्धनस्य मनुष्यस्य वान्धवैः रहितस्य च। प्रभूतैरपि संकीर्णा जनैर्भूमिर्महाडवी ॥१॥
४. तथा च गर्गः-सर्वेष्वपि हि कृत्येषु वैपरीत्येन वर्तते। यदा पुमांस्तदा ज्ञेयो मृत्युना सोऽवलोकितः ॥१॥
५. तथा च हारीतः-यस्य स्यात् प्राक्तनं कर्म शुभं मनुजधर्मणः। अनुकूलं तदा तस्य सिद्धिं यान्ति समृद्धयः ॥१॥
६. तथा गर्गः-पिशुनो निंदकश्चैव कृत्घनो दीर्घरोषकृत्। एते तु कर्मचाण्डाला जात्या चैव तु पंचमः ॥१॥

पैतृक सम्पत्ति के अधिकारी और पिता के स्वर्गारोहण के पश्चात् उसकी स्मृति में अन्नादि (पिण्ड) का दान करने वाले हैं ॥४१॥

अन्य नीतिकारों[१] ने भी उक्त छह प्रकार के पुत्र कहे हैं ॥१-३॥

दायभाग के नियम, अति परिचय, सेवक के अपराध का दुष्परिणाम, महत्ता का दूषण, रति आदि की वेला, पशुओं के प्रति बर्ताव, मतवाले हाथी व घोड़े की क्रीड़ा, ऋण, व्याधि-ग्रस्त शरीर, साधुजीवन-युक्त महापुरुष, लक्ष्मी, राजाओं का प्रेमपात्र व नीच पुरुष-

देशकालकुलापत्यस्त्रीसमापेक्षो दायादविभागोऽन्यत्र यतिराजकुलाभ्यां ॥४२॥ अति परिचयः कस्यावज्ञां न जनयति ॥४३॥ भृत्यापराधे स्वामिनो दण्डो यदि भृत्यं न मुञ्चति ॥४४॥ अलं महत्तया समुद्रस्य यः लघुं शिरसा वहत्यधस्ताच्च नयति गुरुम् ॥४५॥ रतिमंत्राहारकालेषु न कमप्युपसेवेत ॥४६॥ सुष्टुपरिचितेष्वपि तिर्यक्षु विश्वासं न गच्छेत् ॥४७॥ मत्तवारणारोहिणे जीवितव्ये सन्देहो निश्चितश्चापायः॥४८॥ अत्यर्थं हयविनोदोऽङ्गभंगमनापाद्य न तिष्ठति॥४९॥ ऋणमददानो दासकर्मणा निर्हरेत् ॥५०॥ अन्यत्र यतिब्राह्मण-क्षत्रियेभ्यः ॥५१॥ तस्यात्मदेह एव बैरी यस्य यथालाभमशनं शयनं च न सहते ॥५२॥ तस्य किमसाध्यं नाम यो महामुनिरिव सर्वान्नीनः सर्वक्लेशसहः सर्वत्र सुखशायी च ॥५३॥ स्त्रीप्रीतिरिव कस्य नामेयं स्थिरा लक्ष्मीः ॥५४॥ परपैशून्योपायेन राज्ञां वल्लभो लोकः ॥५५॥

नीचोमहत्त्वमात्मनो मन्यते परस्य कृतेनापवादेन ॥५६॥

अर्थ—आचार्य-कुल व राजकुल को छोड़कर दायभाग (पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करना) के अधिकारियों में देश, काल, कुल, पुत्र, स्त्री व शास्त्र की अपेक्षा भेद होता है अर्थात् समस्त देश और सभी कुलों में दायाधिकारी एक समान नहीं होते, जैसे केरल देश में पुत्र की मौजूदगी में भी भागिनेय (भानेज) पैतृक सम्पत्ति पाने का अधिकारी होता है, दूसरा नहीं एवं किन्हीं-किन्हीं कुलों में दुहिता-लड़की का लड़का-दायाधिकारी होता है, इत्यादि, परन्तु आचार्य-कुल में उसका प्रधान शिष्य (जैन धर्मानुसार दीक्षित मुनि) ही आचार्य पदवी के योग्य होगा, अन्य नहीं इसी प्रकार राजकुल में पट्टरानी का ही ज्येष्ठ पुत्र राज्यपद का अधिकारी होगा, दूसरा नहीं ॥४२॥

---

१. तथा चोक्तमन्यत्रः-
औरसो धर्मपत्नीतः संजातः पुत्रिकासुतः। क्षेत्रजः क्षेत्रजातः स्वगोत्रेणेतरेण वा ॥१॥
दद्यान्माता-पिता बन्धुः स पुत्रो दत्तसंज्ञितः। कृत्रिमो मोचितो बन्धात् क्षत्रयुद्धेन वा जितः ॥२॥
गृहप्रच्छन्नकोत्पन्नो गूढजस्तु सुतः स्मृतः। गते मृतेऽथवोत्पन्नः सोऽपविद्धसुतः पतौ॥ ३॥

गुरु[१] ने भी देश-कालादि की अपेक्षा दायभाग का विश्लेषण किया है ॥१॥

ज्यादा परिचय (संसर्ग) से किसका अपमान नहीं होता ? सभी का होता है ॥४३॥ यदि नौकर अपराध करे, तो उसका स्वामी दण्ड का पात्र है, परन्तु यदि वह (मालिक) अपने अपराधी नौकर को नहीं निकाले। अर्थात् अपराधी नौकर के छुड़ा देने पर उसका स्वामी सजा का पात्र नहीं ॥४४॥

बल्लभदेव[२] व गुरु[३] ने भी अति परिचय और नौकर के अपराधी होने से स्वामी के विषय में उक्त बात की पुष्टि की है ॥१-२॥

समुद्र का बड़प्पन किस काम का ? किसी काम का नहीं, जो कि छोटी वस्तु तृणादि को अपने शिर पर धारण करता है और भारी-बड़ी को डुबो देता हैं। उसी प्रकार साधारण लोगों को सम्मानित तथा बड़े पुरुषों को तिरस्कृत करने वाला स्वामी भी निन्द्य है ॥४५॥

विष्णुशर्मा[४] ने भो चूड़ामणि के दृष्टान्त द्वारा सेवकों व पुत्रों को यथा-योग्य स्थान में नियुक्त करने का संकेत किया है ॥१॥

रति (मैथुन), मंत्र व आहार में प्रवृत्त हुए किसी भी पुरुष के पास उस समय न जावे। क्योंकि रति क्रिया में प्रवृत्त पुरुष लज्जा के कारण अपने पास आये हुए मनुष्य से वैर-विरोध करने लगता है। इसी प्रकार मंत्रकाल में आये हुए व्यक्ति से मंत्र-भेद की आशंका रहती है; इससे वह भी द्वेष का पात्र होता है। एवं भोजन की वेला में अज्ञान व लोभवश अधिक खाने वाला यदि वमन कर देता है या उसे उदर रोग हो जाता है; तो आने वाले का दृष्टिदोष समझा जाता है, जिसके कारण आहार करने वाला उससे घृणा व द्वेष करने लगता है। अतः उक्त रति आदि की बेला में किसी के पास नहीं जाना चाहिए ॥४६॥ गाय वगैरह पशुओं पर विश्वास न करे चाहे वे अच्छी तरह से परिचित (विश्वसनीय) भी क्यों न हों॥ ४७॥

शुक्र[५] ने भी रति व मंत्र आदि के समय समीप में जाने का निषेध किया है और बल्लभदेव[६] ने पाणिनीय-आदि के घातक सिंह-आदि के दृष्टान्त द्वारा उक्त बात की पुष्टि की है ॥१-२॥

---

१. तथा च गुरुः-देशाचारान्नयाचारौ स्त्रियापेक्षासमन्वितौ ?। देयो दायादभागस्तु तेषां चैवानुरूपतः ॥१॥
एकस्मै दीयते सर्वं विभवं रूपसम्भवं। यः स्यादद्धुवस्तु सर्वोषां तथा च स्यात् समुद्धवः ॥२॥

२. तथा च बल्लभदेवः-अतिपरिचियादवज्ञा भवति विशिष्टेऽपि वस्तुनि प्रायः। लोकः प्रयागवासी कूपे स्नानं समाचरति।

३. तथा च गुरुः-यः स्वामी न त्यजेद्भृरुत्यमपराधे कृते सति। तत्तस्य पतितो दण्डो दुष्टभृत्यसमुद्भवः ॥१॥

४. तथा च विष्णुशर्माः- स्थानेष्वेव नियोज्यन्ते भृत्स्याश्च निजपुत्रकाः। न हि चूड़ामणिं पादे कश्चिदेवात्र संन्यसेत् ॥१

५. तथा च शुक्रः-रतिमंत्राशन विधं कुर्वाणो नोपगम्यते। अभीष्टतमश्च लोकोऽपि यतो द्वेषमवाप्नुयात् ॥१॥

६. तथा च बल्लभदेवः- सिंहो व्याकरणस्थ कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः।
मीमांसाकृतमुन्ममाथ तरसा हस्ती मुनिं जैमिनिं ॥१॥
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिंगलं।
चाज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः ॥१॥

मतवाले हाथी पर आरोहण (चढ़ना) करने वाले मनुष्य के जीवन में सन्देह रहता है और यदि वह भाग्यवश जीवित बच जाता है, तो निश्चय से उसके शारीरिक अङ्गोपाङ्ग भंग हो जाते हैं-टूट जाते हैं ॥४८॥ घोड़े पर सवार होकर जो उससे अत्यधिक विनोद-क्रीड़ा की जाती है, वह सवार के शारीरिक अङ्गोपाङ्ग तोड़े बिना विश्राम नहीं लेती ॥४९॥

गौतम[१] व रैभ्य[२] ने भी मतवाले हाथी पर सवारी करने से और घोड़े द्वारा अति क्रीड़ा करने से उक्त प्रकार हानि निर्दिष्ट की है ॥१॥

जो ऋणी पुरुष, ऋण देने वाले धनाढ्य पुरुष का कर्जा बिना चुकाये मर जाता है उसे दूसरे जन्म में दास होकर उसका ऋण चुकाना पड़ता है, परन्तु साधु, ब्राह्मण व क्षत्रियों पर उक्त नियम लागू नहीं होता क्योंकि साधु व विद्वान् ब्राह्मणों से धनाढ्यों का हित साधन होता हैं, अतः वे ऋणी नहीं रहते, इसी प्रकार क्षत्रिय राजा लोग जो प्रजा से टैक्स लेते हैं वह कर्जा ही नहीं कहा जाता॥ ५१॥

नारद[३] ने भी कर्जा न चुकाने वाले के विषय में उक्त बात की पुष्टि की है ॥१॥

जिसका भोजन व शयन रोगादि के कारण सुखदायक नहीं है, उसे अपने शरीर को बैरी समझना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार शत्रु के भय से स्वेच्छा-पूर्वक भोजन व शयन नहीं किया जाता, उसी प्रकार शरीर के व्याधि-पीड़ित रहने से भी यथेष्ट भोजन व शयन नहीं किया जा सकता ॥५२॥ जो महापुरुष महामुनि समान उत्तम-मध्यम-आदि सभी जाति के अन्न-भक्षण करने की रुचि रखने वाला तथा समस्त प्रकार के शीत-उष्ण आदि के कष्ट सहन करने में समर्थ एवं सभी जगह (पाषाणादि) पर सुखपूर्वक निद्रा लेने की प्रकृति युक्त है, उसे संसार में कोई कार्य असाध्य (न करने योग्य) नहीं ॥५३॥ यह लक्ष्मी स्त्री की प्रीति-समान अस्थिर-नाश होने वाली है ॥५४॥

जैमिनि[४] व गुरु[५] ने भी रुग्ण शरीर व साधु जीवन के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१-२॥

वही लोग राजाओं के प्रेमपात्र होते हैं, जो कि उनके समक्ष दूसरों की चुगली किया करते हैं ॥ ५५॥ नीच पुरुष दूसरों की निन्दा करके अपने को बड़ा मानता है ॥५६॥

हारीत[६] व जैमिनी[७] ने भी राजाओं के प्रेमपात्र और नीच पुरुष के बारे में इसी प्रकार कहा है ॥१-२॥

गुण-कृत महत्त्व, महापुरुष, सत्-असत्संग का असर, प्रयोजनार्थी व निर्धन का धनाढ्य के

---

१. तथा च गौतमः-यो मोहान्मत्तनोगेन्द्रं समारोहति दुर्मतिः। तस्य जीवितनाशः स्याद्गात्रभंगस्तु निश्चितः ॥१॥
२. तथा च रैभ्यः-अत्यर्थं कुरुते वस्तु वाजिक्रीडां सकौतुकां। गात्रभंगो भवेत्तस्य रैभ्यस्य वचनं यथा ॥१॥
३. तथा च नारदः-ऋणं यच्छति नो वस्तु धनिकाय कथंचन। देहान्वरमनुप्राप्तस्तस्य दासत्वमाप्नुयात् ॥१॥
४. तथा च जैमिनिः-भोजनं यस्य नो याति परिणामं न भक्षितं। निद्रा सुशयने नैति तस्य कायो निजो रिपः ॥१॥
५. तथा च गुरुः-नारुचिः क्व चिद्धान्ये तदन्तेऽपि कथंचन। निद्रां कुशं हि तस्यापि स समर्थः सदा भवेत् ॥१॥
६. तथा च हारीतः-पैशून्ये निरतो लोको राज्ञां भवति बल्लभः। कातरोऽप्यकुलीनोऽपि बहुदोषान्वितोऽपि च ॥१॥
७. तथा च जैमिनिः-आत्मानं मन्यते भद्रं नीचः परापवादतः। न जानाति परे लोके पाते नरकसम्भवम् ॥१॥

प्रति कर्त्तव्य, सत्पुरुष-सेवा का परिणाम, प्रयोजनार्थी द्वारा दोष-दृष्टि का अभाव, चित्त प्रसन्न करने वाली वस्तुएँ व राजा के प्रति पुरुष का कर्त्तव्य-

न खलु परमाणोरल्पत्वेन महान् मेरुः किन्तु स्वगुणेन ॥५७॥ न खलु निर्निमित्तं महान्तो भवन्ति कलुषितमनीषाः ॥५८॥ स वन्हेः प्रभावो यत्प्रकृत्या शीतलमपि जलं भवत्युष्णुं ॥५९॥ सुचिरस्थायिनं कार्यार्थी वा साधूपचरेत् ॥६०॥ स्थितैः सहार्थोपचारेण व्यवहारं न कुर्यात् ॥६१॥ सत्पुरुषपुरश्चारितया शुभमशुभं वा कुर्वतोनास्त्यपवादः प्राणव्यापादो वा ॥६२॥ सपदि सम्पदमनुबध्नाति विपच्च विपदं ॥६३॥ गोरिव दुग्धार्थी को नाम कार्यार्थी परस्परं विचारयति ॥६४॥ शास्त्रविदः स्त्रियश्चानुभूतगुणाः परमात्मानं रञ्जयन्ति ॥६५॥ चित्रगतमपि राजानं नावमन्येत क्षात्रं हि तेजो महतीसत्पुरुषदेवतास्वरूपेण तिष्ठति ॥६६॥

अर्थ—जिस प्रकार सुमेरुपर्वत अपने गुण-उच्चता आदि के कारण महान् है न कि परमाणु की लघुता से उसी प्रकार मनुष्य भी विद्वत्ता व सदाचार-आदि सद्गुणों के कारण महान् होता है, न कि किसी के दुष्ट होने से ॥५७॥ महापुरुष बिना निमित्त के मलिन बुद्धि-युक्त नहीं होते। अर्थात् जिस प्रकार दुष्ट लोग बिना प्रयोजन अचानक कुपित हो जाते हैं, वैसे महापुरुष नहीं होते, वे किसी कारणवश कुपित होते हैं ॥५८॥

गुरु[१] व भारद्वाज[२] ने भी सुमेरु की महत्ता व महापुरुषों के विषय में उक्त बात की पुष्टि की है ॥१-२॥

जिस प्रकार स्वभाव से शीतल जल के उष्ण होने में अग्नि का असर कारण है, उसी प्रकार स्वाभाविक शान्त पुरुष के कुपित होने में दुष्टों की संगति ही कारण समझना चाहिए ॥५९॥

बल्लभदेव[३] ने भी कहा है कि ''घोड़ा, शस्त्र, शास्त्र, वीणा; वाणी, मनुष्य व स्त्री ये पुरुषविशेष (उत्तम व अधम) को प्राप्त कर योग्य-अयोग्य हो जाते हैं ॥१॥

प्रयोजनसिद्धि चाहने वाले मनुष्य को इस प्रकार के मनुष्य की अच्छी तरह सेवा करनी चाहिए, जो कि चिरकाल तक स्थिरशील होकर उसकी प्रयोजन-सिद्धि में सहायक हो॥ ६०॥ दुर्बल-निर्धन पुरुष को स्थिरशील (धनाढ्य) पुरुषों के साथ धन देने का बर्ताव नहीं करना चाहिए, इससे उसकी अत्यधिक आर्थिक-क्षति-धन व्यय-नहीं होने पाता॥ ६१॥

---

१. तथा च गुरुः—नीचेन कर्मणा मेरुर्न महत्त्वमुपागतः। स्वभावनियतिस्तस्य यथा याति महत्वतां ॥१॥

२. तथा च भारद्वाजः—न भवन्ति महात्मानो निर्निमित्तं क्रुधान्विताः। निमित्तेऽपि संजाते यथान्ये दुर्जनाः जनाः ॥१॥

३. तथा च बल्लभदेवः—अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च।
पुरुषविशेषं लब्धवा भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥१॥

शुक्र[१] व गुरु[२] ने भी प्रयोजनार्थी एवं निर्धन पुरुष के विषय में उक्त बात का समर्थन किया है ॥१-२॥

महापुरुषों का ऐसा अपूर्व माहात्म्य है कि उनकी सेवा करने से मनुष्य में ऐसा व्यक्तित्व आ जाता है कि यदि वह असावधानी-वश कोई अच्छा बुरा कार्य कर बैठता हैं-कोई अपराध कर लेता है-तो लोक में उसको निन्दा नहीं हो पाती और न उसे अपने प्राणों के नष्ट होने का खतरा रहता है। इसी प्रकार सत्पुरुषों की सेवा तत्काल सम्पत्ति उत्पन्न करती है एवं विपत्ति का नाश करती है ॥६२-६३॥

हारीत[३] ने भी महापुरुषों की सेवा का इसी प्रकार माहात्म्य निर्देश किया है ॥१-२॥

कौन-सा प्रयोजनार्थी मनुष्य स्वार्थ सिद्धि के निमित्त गाय से दूध चाहने वाले मनुष्य के समान उसकी प्रयोजन सिद्धि करने वाले दूसरे मनुष्य के आचार का विचार करता है ? कोई नहीं करता। अर्थात्-जिस प्रकार गाय से दूध चाहने वाला उसके आचार (अपवित्र वस्तु का भक्षण करना) पर दृष्टि पात नहीं करता, उसी प्रकार प्रयोजनार्थी भी "अर्थी दोषं न पश्यति"-स्वार्थसिद्धि का इच्छुक दूसरे के दोष नहीं देखता" इस नीति के अनुसार अपनी प्रयोजन सिद्धि के लिए दूसरे के दोषों पर दृष्टिपात न करे ॥६४॥

शुक्र[४] ने भी प्रयोजन सिद्धि के इच्छुक पुरुष का यही कर्त्तव्य बताया है ॥१॥

जिनके पुष्कल ज्ञान व सदाचार प्रभृति सद्गुणों से परिचय हो चुका है, ऐसे विद्वान् और कमनीय कन्याएँ (स्त्रियाँ) मनुष्य की आत्मा को अत्यन्त रञ्जायमान (सुखी) करती हैं ॥६५॥ चित्र (फोटो) में वर्तमान राजा का भी तिरस्कार नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसमें ऐसा अपूर्व क्षात्र-तेज (क्षत्रिय सम्बन्धी तेज) विद्यमान रहता है, जो कि राज-पुरुष के शरीर में महान् देवता रूप से निवास करता है ॥६६॥

शुक्र[५] व गर्ग[६] ने भी विद्वानों और कमनीय कामिनियों तथा राजा के विषय में इसी प्रकार का उल्लेख किया है ॥१-२॥

विचारपूर्वक कार्य न करने व ऋण बाकी रखने से हानि, नया सेवक, प्रतिज्ञा, निर्धन अवस्था में उदारता, प्रयोजनार्थी, व पृथक् किये हुए सेवक का कर्तव्य-

---

१. तथा च शुक्रः-कार्यार्थी वा यशोर्थी वा साधु संसेवयेत्स्थिरं; सर्वात्मना ततः सिद्धिः सर्वदा यत् प्रजायते ॥१॥
२. तथा च गुरुः-महद्भिः सह नो कुर्याद्व्यवहारं सुदुर्बलः। गतस्य गोचरं तस्य न स्यात् प्राप्त्या महान् व्ययः ॥१॥
३. तथा च हारीतः- महापुरुषसेवायामपराधेऽपि संस्थिते। नापवादो भवेत् पुंसां न च प्राणवधस्तथा ॥१॥
शीघ्रं समान! नः यो लक्ष्मीर्नाशियेद्व्यसनं महत्। सत्पुरुषे कृता सेवा कालेनापि च नान्यथा ॥२॥
४. तथा च शुक्रः-कार्यार्थी न विचारं च कुरुते च प्रियान्वितः। दुग्धार्थी च यशो धेनोरमेध्यस्य प्रभक्षणात् ॥१॥
५. तथा च शुक्रः-स्त्रियं वा यदि वा किञ्चिदनुभूय विचक्षणाः। आत्मानं चापरं वापि रञ्जयन्ति न चान्यथा ॥१॥
६. तथा च गर्गः-नावमन्येत भूपालं हीनकोषं सुदुर्बलं। क्षात्रं तेजो यतस्तस्य देवरूपं तनौ वसेत् ॥१॥

कार्यमारभ्य पर्यालोचः शिरो मुण्डयित्वा नक्षत्रप्रश्न इव ॥६७॥ ऋणशेषाद्रिपुशेषादिवा वश्यं भवत्यायत्थां भयं ॥६८॥ नवसेवकः को नाम न भवति विनीतः ॥६९॥ यथाप्रतिज्ञं को नामात्र निर्वाहः ॥७०॥ अप्राप्तेऽर्थे भवति सर्वोऽपि त्यागी ॥७१॥ अर्थार्थी नीचैराचराणान्नोद्विजेत्, किन्नाधो व्रजति कूपे जलार्थी ॥७२॥ स्वामिनोपहतस्य तदाराधनमेव निर्वृत्तिहेतु जनन्या कृतविप्रियस्य हि बालस्य जनन्येव भवति जीवितव्याकरणं ॥७३॥

अर्थ—जो मनुष्य कार्य-आरम्भ करने के पश्चात् उसके होने वाले लाभ का विचार करते हैं, वे शिर मुड़ाकर नक्षत्र प्रश्न (शुभ-अशुभ मुहूर्त का पूछना) करने वाले के समान मूर्ख हैं। अर्थात जिस प्रकार शिर मुड़ा कर शुभ-अशुभ मुहूर्त पूछना निरर्थक है, उसी प्रकार कार्यारम्भ करके पश्चात् उससे होने वाले हानि-लाभ का विचार करना भी निरर्थक है, अतः कार्य आरम्भ के पहले उस पर विचार कर लेना उचित है, क्योंकि उतावली से किये हुए कार्य हृदय में काँटे चुभने के समान अत्यधिक पीड़ा पहुँचाते हैं॥ ६७॥ जो मनुष्य शत्रु को बाकी रखने की तरह ऋण (कर्जा) बाकी रखता है, उसे भविष्य में भय रहता है, अतः सुखाभिलाषी पुरुष अग्नि, रोग, शत्रु और ऋण इन चार कष्टदायक चीजों को बाकी न छोड़े, अन्यथा ये बढ़कर अत्यन्त पीड़ा पहुँचाती हैं ॥६८॥

नारद[१] ने भी विचारपूर्वक कार्य करने का एवं शुक्र[२] ने भी अग्नि व रोगादि उक्त चारों चीजों के उन्मूलन करने का उल्लेख किया है ॥१-२॥

कौन-सा नया सेवक शुरू में नम्रता प्रदर्शन नहीं करता ? प्रायः सभी करते हैं। अभिप्राय यह है कि नया नौकर शुरू में विश्वसनीय कार्यों द्वारा स्वामी को प्रसन्न करने में प्रयत्नशील रहता है, पश्चात् विकृत-कार्य में असावधानी करने वाला (आलसी) हो जाता है, अतः नये सेवक पर विश्वास नहीं करना चाहिए ॥६९॥

वल्लभदेव[३] ने भी लोक में प्रायः सभी मनुष्यों को नये सेवकों की विनय द्वारा एवं अतिथि वेश्याओं व धूर्त लोगों के मिष्ट वचनों द्वारा ठगे जाने का उल्लेख किया है ॥१॥

कौन पुरुष इस कलिकाल में की हुई प्रतिज्ञा का निर्वाह (पूर्णरूप से पालन) करता है ? कोई

---

१. तथा च नारदः—अनारम्भेण कृत्यानामालोचः क्रियते पुरा। आरम्भे तु कृते पश्चात् पर्यालोचो वृथा हि सः ॥१॥ शिरसो मुण्डने यद्वत् कृते मूर्खतमैर्नरैः। नक्षत्र एव प्रश्नात्र ? पर्यालोचस्तथैव सः॥ २॥

२. तथा च शुक्र—अग्निशेषं रिपोः शेषं तृणार्णभ्यां च शेषकं। पुनः पुनः प्रवर्धेत तस्मान्निःशेषतां नयेत् ॥१॥

३. तथा च बल्लभदेवः—अभिनवसेवकविनयैः [प्राघूर्णिकोक्तैर्विलासिनीरुदितैः]। धूर्तजनवचननिकरैरिह कश्चिद वञ्चितो नास्ति ॥१॥ सं.

नहीं करता, अतः खूब सोच समझ कर प्रतिज्ञा लेकर उसका पालन करना चाहिए, अन्यथा प्रतिज्ञा-भंग होने से पुण्य क्षीण हो जाता है ॥७०॥ जब तक धन नहीं मिलता-निर्धन अवस्था में-सभी लोग उदार होते हैं। सारांश यह है कि दरिद्रावस्था में प्रायः सभी लोग प्रचुर दान करने के मनोरथ किया करते हैं कि यदि मैं धनाढ्य होता तो प्रचुर दान करता ॥७१॥

नारद[१] व रैभ्य[२] ने भी प्रतिज्ञा भंग से पुण्यक्षीण होने का एवं दरिद्र के त्यागी होने का उल्लेख किया है ॥१-२॥

स्वार्थी जघन्य पुरुष अपनी प्रयोजन-सिद्धि के लिए नीच आचरण से भयभीत नहीं होते, क्या जलाभिलाषी मनुष्य कुँआ खोदने के लिए नीचे नहीं जाता ? अवश्य जाता है। अभिप्राय यह है कि इष्ट प्रयोजन सिद्धि के लिए उत्तम आचरण ही श्रेयस्कर है ॥७२॥

शुक्र[३] ने भी स्वार्थी पुरुष के विषय में उक्त बात का समर्थन किया है ॥१॥

जिस प्रकार अपराध के कारण माता द्वारा तिरस्कृत किये हुए बच्चे की माता ही जीवन रक्षा करती है, उसी प्रकार अपराध-वश पृथक् किये हुए सेवक की जीवन-रक्षा उसके द्वारा की जाने वाली स्वामी की सेवा शुश्रुषा द्वारा ही होती है।

शुक्र[४] ने भी सेवक के कर्तव्य के विषय में उक्त बात की पुष्टि की है ॥१॥

॥ इति प्रकीर्णक-समुद्देशः ॥

इति सोमदेवसूरि-विरचित नीतिवाक्यामृत संस्कृत ग्रन्थ की सागर
(सी. पी.) निवासी परवार जैनजातीय पं॰ सुन्दरलाल
शास्त्री जैनन्यायतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ व
काव्यतीर्थ-कृत भाषा टीका
समाप्त हुई।

---

१. तथा च नारदः-प्रतिज्ञां यः पुरा कृत्वा पश्चाद्भंगं करोति च। ततः स्याद्गमनिश्च हसत्येव जानन्ति के ? ॥१॥
२. तथा च रैभ्यः-दरिद्रः कुरुते वाञ्छां सर्वदानसमुद्भवां। यावन्नाप्नोति वित्तं स वित्ताप्त्या निपुणो भवेत् ॥१॥
३. तथा च गुरुः-स्वकार्यसिद्धये पुंभिर्नीचमार्गोऽपि सेव्यते। कूपस्य खनने यद्वत् पुरुषेण जलार्थिना ॥१॥
४. तथा च शुक्रः-निःसारितस्य भृत्यस्य स्वामिनिर्वृतिकारणं। यथा कुपितया मात्रा बालस्या च सा गतिः ॥१॥

ग्रन्थकार की प्रशस्ति

इति सकलतार्किकचक्रचूड़ामणिचुम्बितचरणस्य, पंचपंचाशन्महावादि विजयोपार्जित कीर्तिमन्दाकिनीपवित्रितत्रिभुवनस्य, परमतपश्चरणरत्नोदन्वतः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः प्रियशिष्येण वादीन्द्रकालानलश्रीमन्महेन्द्रदेवभट्टारकानुजेन, स्याद्वादाचलसिंह-तार्किकचक्रवर्तिवादीभपंचानन-वाक्कल्लोलपयोनिधिकविकुलराजप्रभृतिप्रशस्तिप्रशास्तालङ्कारेण, षण्णवतिप्रकरणयुक्तिचिन्ता-मणिसूत्रमहेन्द्रमातलिसंजल्पयशोधरमहाराजचरितमहाशास्त्रवेधसा श्रीसोमदेवसूरिणा विरचितं (नीतिवाक्यामृतं) समाप्तमिति।

अर्थ—समस्त तार्किक-समूह में चूड़ामणि-शिरोरत्न (श्रेष्ठ), विद्वानों द्वारा पूजे गये हैं चरणकमल जिनके, पचपन महावादियों पर विजयश्री पाने से प्राप्ति की हुई कीर्ति-रूपी स्व गंगा से पवित्र किये हैं तीन भुवनों को जिन्होंने एवं परम तपश्चरणरूप रत्नों के रत्नाकर (समुद्र) ऐसे श्रीमत्पूज्य नेमिदेव, उनके प्रिय शिष्य, 'वादीन्द्रकालानल' (बड़े-बड़े वादियों के लिए प्रलयकालीन अग्नि के समान) उपाधिविभूषित श्रीमान् महेन्द्रदेव भट्टारक के अनुज, 'स्याद्वादाचलसिंह' (स्याद्वादरूप विशाल पर्वत के सिंह) 'तार्किकचक्रवर्ती' 'वादीभपंचानन' (वादीरूप हाथियों के गर्वोन्मूलन करने के लिए सिंह सदृश) 'वाक्कल्लोलपयोनिधि' (सूक्ति-तरङ्गों के समुद्र) 'कविकुलराज' इत्यादि प्रशस्तियाँ (उपाधियाँ) ही हैं प्रशस्त अलङ्कार (आभूषण) जिनके तथा षण्णवतिप्रकरण (९६ अध्याय बाला शास्त्र), युक्तिचिन्तामणि (दार्शनिक ग्रन्थ), त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प (धर्मादि-पुरुषार्थत्रय-निरूपक नीतिशास्त्र) और यशोधरमहाराजचरित (यशस्तिलकचम्पू) इन महाशास्त्रों के बृहस्पति समान रचयिता श्रीमत्सोमदेवसूरि द्वारा रचा गया यह 'नीतिवाक्यामृत' समाप्त हुआ।

अल्पेऽनुग्रहधीः समे सुजनता मान्ये महानादरः, सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्रचरिते श्रीसोमदेवे मयि।
यः स्पर्धेत तथापि दर्पदृढ़ताप्रौढिप्रगाढाग्रहस्तस्याखर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाक् कृतान्तायते ॥१॥
सकलसमयतर्के नाकलङ्कोऽसि वादी, न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः।
न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्वं, वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम्॥ २॥

[दुर्जनांघ्रिपकठोरकुठार] स्तर्ककर्कशविचारणसारः।
सोमदेव इव राजनि सूरिर्वादिमनोरथभूरिः ॥३॥

संशोधित व परिवर्तित

दर्पान्धबोधबुधसिन्धुरसिंहनादे, वादिद्विपोद्दलनदुर्धरवाग्विवादे।
श्रीसोमदेवमुनिपे वचनारसाले, वागीश्वरोऽपि पुरतोऽस्ति न वादकाले॥ ४॥

''छोटों के साथ अनुग्रह, बराबरी वालों के साथ सज्जनता और पूज्य महापुरुषों के साथ महान् आदर का बर्ताव करना'' यह उच्च व चित्र (आश्चर्यजनक) चरित्र वाले मुझ सोमदेव का सिद्धान्त है तथापि जो व्यक्ति अत्यधिक गर्व वृद्धि से दुराग्रही होकर मुझसे स्पर्द्धा करता है-ऐंठ दिखाता है-उसके गर्वरूप पर्वत को भेदन करने के लिए मेरे वचन वज्र-समान व काल-तुल्य आचरण करते हैं ॥१॥ हे वाद-विवाद करने वाले वादी न तो तू समस्त दर्शनशास्त्रों पर तर्क करने के लिए अकलंक देव के समान है, न जैन सिद्धान्त निरूपण करने के लिए हंस सिद्धान्त देव है और न व्याकरण में पूज्यपाद के समान उसका पारदर्शी है, फिर इस समय पर सोमदेव सूरि के साथ किस विरते पर बात करने तत्पर हुआ है ? ॥२॥ श्री सोमदेवसूरि राजा के समान गुण-विभूषित हैं, क्योंकि वे दुर्जनरूप वृक्षों के निग्रह करने के लिए तीक्ष्ण कुठार (कुल्हाड़ी), तर्कशास्त्र (सोमदेवसूरि के पक्ष में न्यायशास्त्र और राजपक्ष में मुद्दई-मुद्दायलों के मुकदमें का न्यायोचित निर्णय) के तीक्ष्ण (गम्भीर) विचार करने में बलिष्ठ हैं तथा अपनी ललित (दार्शनिक) मनोऽनुकूल प्रवृत्ति द्वारा वादियों को परास्त करने वाले (राजकीय पक्ष में मुद्दई के मनोरथों को पूर्ण करने वाला-तराजू की तरह परीक्षा द्वारा मुकदमे की सत्यता का निर्णायक) हैं॥ ३॥ अत्यधिक अभिमानी पंडितरूप हाथियों को सिंह समान ललकारने वाले, वादीरूप गजों को दलित करने बाला दुर्धर विवाद करने वाले और तार्किकचूड़ामणि सोमदेवसूरि के सामने वाद के समय बृहस्पति भी नहीं ठहर सकता, फिर अन्य साधारण पंडित किस प्रकार ठहर सकते हैं ?॥ ४॥

इति ग्रन्थकार की प्रशस्ति समाप्त

अन्त्य मंगल तथा आत्म-परिचय

जो है सत्यमार्ग का नेता, अरु रागादि-विजेता है।
जिसकी पूर्णज्ञान-रश्मि से, जग प्रतिभासित होता है।
जिसकी चरणकमल-सेवा से, यह अनुवाद रचाया है।
ऐसे ऋषभदेव को हमने, शत-शत शीश नवाया है ॥१॥

दोहा

सागर नगर मनोज्ञतम, धर्म-धान्य आगार।
वर्णाश्रम आचार का, शुभ्र रूप साकार ॥२॥
जैनी जन तहँ बहु बसें, दया धर्म निज धार।
पूज्य चरण वर्णी लसें, जिनसे हों भव-पार ॥३॥
जैन जाति परवार में, जनक कनैयालाल।
जननी हीरादेवि थीं, कान्तरूप गुणमाल ॥४॥
पुत्र पाँच उनसे भये, पहले पन्नालाल।
दूजे कुंजीलाल अरु, तीजे छोटेलाल ॥५॥
चौथे सुन्दरलाल वा, पंचम भगवतलाल।
प्रायः सबही बन्धुजन, रह मुदित खुशहाल॥ ६॥
वर्तमान में बन्धु दो, विलसत हैं अमलान।
बड़े छोटेलाल वा, सुन्दरलाल सुजान ॥७॥
भाई छोटेलाल तो करें वणिज व्यापार।
जिनसे रहती है सदा कमला मुदित अपार ॥८॥
बाल्यकालतैं मम रुचि, प्रकटी विद्या हेत।
तातैं हम काशी गये, ललितकला-संकेत ॥९॥

चौपाई

द्वादश वर्ष साधना करी। गुरु पद-पंकज में चित दई॥
मातृसंस्था में शिक्षा लही। गैल सदा उन्नति की गही ॥१०॥

व्याकरण, काव्य, कोष, अति माना। तर्क, धर्म अरु नीति बखाना॥
वाग्मित्व आदि कला परधाना। नानाविध सिख भयो सुजाना ॥११॥

दोहा

कलकत्ता कालेज की, तीर्थ उपाधि महान्।
जो हमने उत्तीर्ण की, तिनका करूँ बखान ॥१२॥

चौपाई

पहली 'न्यायतीर्थ' कूँ जानों। दूजी 'प्राचीनन्याय' प्रमानों॥
तीजी 'काव्यतीर्थ' को मानों। जिसमें साहित्य सकल सुमानों ॥१३॥
गुरुजन मेरे विद्यासागर। ललित कला के सरस सुधाकर॥
पहले शास्त्री अम्बादत्त। जो थे दर्शनशास्त्र महत्त ॥१४॥
दूजे श्रीमद्गुरुगणेश हैं, न्यायाचार्य अरु तीर्थ समान।
वर्णी 'बापू' हैं अति दार्शनिक सौम्य प्रकृति वा सन्त महान् ॥१५॥

दोहा

'सरस्वती' मेरी प्रिया, उनसे हुई सन्तान।
एक पुत्र पुत्री-उभय जो हैं बहुगुण खान ॥१६॥
पत्नी मम दुर्दैव ने, सद्य: लीनी छीन।
वंश बढ़ावन हेतु है, सुत 'मनहर' परवीन ॥१७॥
मेरी शिष्य परम्परा भी है अति विद्वान्।
जिसका अति संक्षेप से अब हम करें बखान ॥१८॥
पहले 'महेन्द्रकुमार' हैं, दूजे 'पवनकुमार'।
'मनरञ्जन' तीजे लसैं चौथे 'कनककुमार' ॥१९॥

चौपाई

विक्रम संवत् बीस सै अरु सात, भाद्र शुक्ल चउदश अवदात।
पूर्ण प्रकाशित जब यह हुआ, शुभ उद्यम का मम फल हुआ ॥२०॥

दोहा

अल्पबुद्धि परमादतैं, भूल चूक जो होय।
सुधी सुधार पढ़ो सदा, जातैं सज्जन होय ॥२१॥

सुन्दरलाल शास्त्री
प्राचीन न्याय-काव्यतीर्थ